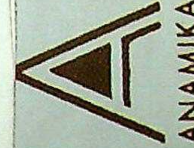
नवजागरणकालीन पत्रकारिता और भारत

नंदुलारे वाजपेयी

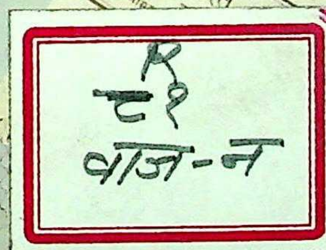


ANAMIKA

नवजागरणकालीन पत्रकारिता और भारत

नंददुलारे वाजपेयी

1



संकलन एवं संपादन
कृष्णदत्त शर्मा


143279

नवजागरणकालीन पत्रकारिता और *भारत*

नवजागरणकालीन पत्रकारिता और *भारत*

1

नंददुलारे वाजपेयी

संकलन-संपादन

कृष्णदत्त शर्मा







अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि.
4697/3, 21ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110 002
दूरभाष : 23281655, 23270239 फैक्स : 011-27868035
E-mail : anamikapublishers@yahoo.co.in

प्रथम संस्करण : 2008

आई.एस.बी.एन. 978-81-7975-188-6 (खंड-1)
आई.एस.बी.एन. 978-81-7975-187-9 (सेट)



भारत में मुद्रित

अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., 4697/3, 21ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110 002 द्वारा प्रकाशित। शिवानी प्रिंटर्स, दिल्ली 110085 द्वारा शब्दांकित,
मुद्रक : क्वालिटी ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

अनुक्रम

वैकल्पिक अनुक्रम

राजनीति

साहित्य और कला



आर्थिक

श्रद्धांजलि-संस्मरण

पत्रकारिता

शिक्षा

साहित्यिक संस्थाएं

पर्व-त्योहार

धर्म और दर्शन

भाषा

भूमिका

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी (1906-1967) की विशेष ख्याति एक आलोचक के रूप में है। कम लोग जानते हैं कि वे आलोचक के साथ-साथ एक प्रखर और तेजस्वी पत्रकार भी थे। 1 सितंबर 1930 से लेकर 10 नवंबर 1932 तक उन्होंने लीडर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित अर्धसाप्ताहिक (पहले साप्ताहिक) पत्र *भारत* का संपादन किया था। इस छोटी-सी अवधि में उन्होंने *भारत* को *आज, कर्मवीर, प्रताप* जैसे शीर्षस्थ पत्रों की पंक्ति में ला खड़ा किया था। इस दौर वाजपेयी जी ने जो संपादकीय टिप्पणियां लिखीं वे अभी तक असंकलित थीं इसीलिए उनका ऐतिहासिक महत्व हमारी आंखों से ओझल रहा। *नवजागरणकालीन पत्रकारिता और भारत* (2 खंड) वाजपेयी जी की उन्हीं टिप्पणियों, अग्रलेखों, साहित्यिक मूल्यांकनों का संकलन है।

प्रस्तुत संकलन में राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य, भाषा, धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति, पत्रकारिता आदि अनेकानेक विषयों से संबंधित पांच सौ से ऊपर टिप्पणियां हैं। चूंकि *भारत* मुख्यधारा का पत्र था, अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें राजनीतिक-आर्थिक टिप्पणियों की प्रमुखता रहे। 1921-22 के असहयोग आंदोलन के बाद 1930-32 का यह दौर राष्ट्रीय आंदोलन का दूसरा उभार था जिसमें राजनीतिक परिस्थितियां विशेष रूप से विस्फोटक हो उठी थीं। सांप्रदायिक समस्या, पृथक् निर्वाचन, साइमन कमीशन, सर्वदलीय सम्मेलन, नेहरू रिपोर्ट, पूर्ण स्वतंत्रता, गांधी-इर्विन समझौता, भगत सिंह-राजगुरु-सुखदेव को फांसी, कराची कांग्रेस, गोलमेज सम्मेलन, नमक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आंदोलन आदि घटनाएं राजनीतिक सरगर्मी का केंद्र बनी हुई थीं। इन राजनीतिक घटनाओं में सबसे प्रमुख थीं—हिंदू-मुस्लिम समस्या और गोलमेज सम्मेलन जिसका प्रमुख कार्य था भारत के लिए शासन-विधान बनाना। प्रस्तुत संकलन में पचास से ऊपर टिप्पणियां हिंदू-मुस्लिम समस्या पर हैं और लगभग पंद्रह टिप्पणियां गोलमेज सम्मेलन पर। उस समय राष्ट्रीय आंदोलन का अर्थ था कांग्रेस और कांग्रेस का अर्थ था महात्मा गांधी। गांधी के व्यक्तित्व में 'मिट्टी को सूरमा बनाने की ताकत' थी। गांधी के इस करिशमाई व्यक्तित्व में लेखक की अविचल आस्था भी है इसीलिए पूरे संकलन में गांधीजी छाए हुए हैं, भले ही प्रत्यक्ष रूप से उनपर बत्तीस टिप्पणियां हों। इसी आस्था

के चलते वाजपेयी जी भगतसिंह और उनके साथी क्रांतिकारियों को अपेक्षित सहानुभूति नहीं दे पाते। अंबेडकर पर भी उन्होंने गांधी के परिप्रेक्ष्य में ही विचार किया है।

संकलन में चालीस के आसपास टिप्पणियां या अग्रलेख आर्थिक विषयों पर हैं जिनमें उस दौर की भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। 1930-32 का दौर संसार-व्यापी मंदी का दौर था। इस मंदी का प्रभाव भारत पर विशेष पड़ रहा था। चीजों के भाव गिर रहे थे जिससे किसानों में बेचैनी बढ़ रही थी। निम्न वर्गों में भीषण दरिद्रता व्याप्त थी। मध्य वर्ग में बेकारी बढ़ रही थी, फिर भी उस पर निरंतर करों के बोझ लादे जा रहे थे। इसी दौर (1932) में आर्थिक समस्याओं को लेकर एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन लूसेन (स्विट्ज़रलैंड) में हुआ जिससे प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी के हर्जाने का कोई हल निकले। इसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों का एक सम्मेलन ओटावा में हुआ जिसका उद्देश्य 'ब्रिटिश साम्राज्य के भिन्न-भिन्न उपनिवेशों में आर्थिक संबंध स्थापित करना और साम्राज्य के अंतर्गत व्यापारिक संरक्षण की दीवाल खड़ी करना' था। इन दोनों सम्मेलनों का विवरण वाजपेयी जी ने हिंदी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। स्पष्ट ही भारत को इन सम्मेलनों से कुछ लाभ होने वाला नहीं था।

भारत की संपादकीय टिप्पणियां बेहद तीखी होती थीं। उनमें साम्राज्यवाद-विरोधी स्वर पर्याप्त मुखर था। अतः लीडर प्रेस को कई बार सरकार की ओर से चेतावनी दी गई। ऐसे में वाजपेयी जी ने *भारत* को साहित्यिक व्यक्तित्व देने का प्रयास किया और इसी क्रम में उनका आलोचक व्यक्तित्व निर्मित हुआ। साहित्य में वे कृतिकार के बजाय कृति को अधिक महत्व देते थे। निराला के नाम अपने पहले पत्र (7 सितंबर 1927) में उन्होंने लिखा : 'कवि की कृति से परिचित होना ही कवि से सच्चा परिचय प्राप्त करना है।' उन्होंने अपने आलोचना-प्रतिमान समसामयिक रचनाशीलता से ग्रहण किए। साहित्य में सामयिकता का महत्व रेखांकित करते हुए 14 नवंबर 1930 के *भारत* में उन्होंने लिखा : ''हम समझते हैं कि अधिकांश साहित्य सामयिक जीवन-प्रवाह का प्रतिबिंब होना चाहिए। जो साहित्यकार देश और काल से परे पहुंचकर साहित्य-सृष्टि करते हैं वे या तो महात्मा होते हैं या सामयिक जीवन से अनभिज्ञ—नीरस, कायर और दंभपूर्ण ढोंगी।' नई रचनाशीलता (छायावाद) को प्रतिष्ठित करने में उन्होंने अग्रणी भूमिका निभाई और प्रसाद-पंत-निराला को 'हिंदी कवियों की वृहत्त्रयी' के रूप में स्थापित किया। रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद की, उनके जीवनकाल में ही, उन्होंने तीखी आलोचना की और उनकी सीमाओं का निर्देश किया। समसामयिक जीवन-प्रवाह से विच्छिन्न होने के कारण उन्होंने रत्नाकर के काव्य को युग का 'अनिवार्य' काव्य नहीं माना। आलोचक के रूप में यह उनका एक युगांतरकारी कार्य था। आलोचना के क्षेत्र

में आज भी उनका यही प्रदेय अधिक स्थायी किस्म का माना जाता है—और यह कार्य उन्होंने *भारत* की संपादकीय टिप्पणियों के माध्यम से संपन्न किया।

संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है शिक्षा। शिक्षा के बारे में उन्होंने कम लिखा है, वे और लिखना चाहते थे, यह *भारत* में प्रकाशित उनकी अंतिम संपादकीय टिप्पणी से स्पष्ट है : 'समाज और शिक्षा-संबंधी समस्याओं पर जितना लिखने की आवश्यकता है उसका अल्पांश भी मैंने अब तक नहीं लिखा।' (अवसर ग्रहण)। शिक्षा के क्षेत्र में वाजपेयी जी 'सामूहिक शिक्षा के प्रसार' के पक्षधर थे और शिक्षा को अधिक-से-अधिक व्यावहारिक बनाना चाहते थे। विश्वविद्यालयों में हिंदी-शिक्षण की स्थिति से वह विशेष रूप से क्षुब्ध थे। हिंदी की यह शिक्षा सामयिक जीवन-प्रवाह से कटी हुई थी। अतः उन्होंने 'हिंदी की पढ़ाई के संबंध में विश्वविद्यालयों के ध्यान देने योग्य बातें' शीर्षक से एक लेख लिखा जो *भारत* के तीन अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुआ। इस लेख में उन्होंने हिंदी-शिक्षण को मध्यकालीनता से मुक्त करने और उसका स्तर सुधारने के लिए कुछ मूल्यवान सुझाव दिए जो आज भी प्रासंगिक हैं।

वाजपेयी जी मुख्यधारा के एक अर्धसाप्ताहिक पत्र के संपादक थे, अतः यह कैसे संभव था कि अंग्रेजी-हिंदी समाचारपत्रों की दशा-दिशा की ओर उनका ध्यान न जाता। भारत से निकलने वाले अंग्रेजी के समाचारपत्र जहां भारतीय सुधारों और भारतीय हितों का विरोध करने में ब्रिटिश अखबारों से भी आगे थे वहां हिंदी के अधिकतर समाचार-पत्रों का स्तर संतोषजनक नहीं था। अतः वाजपेयी जी ने अंग्रेजी समाचारपत्रों की भारत-विरोधी प्रवृत्ति की कटु आलोचना की और हिंदी समाचारपत्रों का स्तर ऊंचा उठाने और उनमें विविधता लाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण और व्यावहारिक सुझाव दिए। इन सुझावों से हम आज भी लाभान्वित हो सकते हैं।

लगभग 75 वर्ष पूर्व प्रकाशित इन टिप्पणियों को लीडर प्रेस से निकलवाना और उन्हें टाइप आदि कराकर व्यवस्थित रूप देना एक कठिन और परिश्रम साध्य कार्य था। यह कार्य वाजपेयी जी के सुयोग्य पुत्र डॉ. सुनृत कुमार वाजपेयी ने संपन्न किया। स्पष्ट ही इसमें लीडर प्रेस का सहयोग भी रहा होगा। हम दोनों के प्रति आभारी हैं। पाठकों की सुविधा के लिए आरंभ में एक वैकल्पिक विषय-सूची भी दे दी गई है। आशा है यह संकलन आधुनिक भारतीय इतिहास, राजनीतिविज्ञान, साहित्य और पत्रकारिता में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए एक उपयोगी स्रोत सिद्ध होगा।

कृष्णदत्त शर्मा

दबा दिया जाए

इस देश में सत्याग्रह का जो व्यापक और बलशाली आंदोलन उठा है और चल रहा है, उसे दबाकर ठंडा कर देने का अंग्रेज जाति का इरादा अब काफी प्रसिद्ध और पुराना हो चुका है। क्या विलायत के अंग्रेज और क्या भारत के अंग्रेज, दोनों ही मन-वचन-कर्म से यह चाहते हैं कि यह हलचल दमन शक्ति से शांत कर दी जाए, इसे दबा दिया जाए! विलायत के अंग्रेज और भारत के अंग्रेज दोनों की परिस्थिति अलग, जलवायु में अंतर, स्वार्थों में विभेद पर भारत के संबंध में दोनों एकमत! इसे विचित्र कह सकते हैं पर इसके सत्य होने में संदेह नहीं कर सकते। भारतीय अंग्रेजों के एक दल के प्रमुख पत्र *इंगलिश मैन* ने अपने पिछले अग्रलेख में स्पष्ट कह दिया है कि सरकार ने विगत महायुद्ध के समय से ही भारत के संबंध में जिस गलत नीति से काम लिया, उसे अब तक नहीं छोड़ा। महायुद्ध के समय उसने भारतीय प्रजा के मन में यह भाव दृढ़ कर दिया कि उसके प्रति उदारता का व्यवहार करना सरकार का कर्तव्य है। यह बड़ी भारी गलती थी। इसके बाद सरकार ने जिस उदार किंतु हरैली नीति से काम लिया वह अब तक चली आ रही है। तभी तो आज 1930 ई. में यूरोपियनों के शासनाधिकार के रहते भारत में यह सब हो रहा है। सरकार को चाहिए कि वह खुल्लम-खुल्ला अपना कर्तव्य करे और सुदूर भविष्य में होने वाले गोलमेज सम्मेलन जैसी वस्तु के आसरे में बैठीं न रहे। पत्र का आशय स्पष्ट है। इसी आशय का एक और संदेश अभी उसी दिन कलकत्ते की यूरोपियन एसोसिएशन ने भेजा है। उसका कहना है कि वर्तमान राजद्रोह और गैर-कानूनी कार्रवाई का कड़ाई से सामना करना चाहिए, इस समस्या को सब दिन के लिए सुलझा देना चाहिए। भारत को राजनीतिक अधिकार देने की बात तो इस समय बिलकुल रोक देनी चाहिए। साइमन साहब की रिपोर्ट बहुत ठीक है, केवल सरकार की शक्ति को और दृढ़ करने का आयोजन उसमें नहीं है। यह होना चाहिए। यह तो उन भारतीय अंग्रेजों की बात हुई जो सरकार के नौकर नहीं, इस देश के निवासी हैं, यहां अपना व्यवसाय चलाते हैं। सरकारी अफसरों का उग्रभाव तो और भी प्रबल है। कहा जाता है कि शिमले में वाइसराय के साथी और सलाहकार इस बात पर जोर दे रहे हैं कि पहले सत्याग्रह आंदोलन को दबा दिया जाए, फिर पराजित और दबे हुए भारतीयों को थोड़े से अधिकार देकर प्रसन्न कर दिया जाए। यह बात कहां तक सत्य है, हम नहीं कह सकते परंतु यह बात हाल की है और श्री जयकर के शिमले में संधि उद्योग करने के साथ, यह कहा जाता है, चल रही है। ये सब तो हुए भारतीय अंग्रेज। विलायत में

भी अंग्रेजों का एक दल बहुत दिनों से हमारी अयोग्यता, मूर्खता और कलह-फूट के बड़े-बड़े चित्र दिखला और अपनी भारत हितैषिता का अधिक से अधिक विज्ञापन कर अपना शासन अनिवार्य बतला रहा है। वे भारत में भारत के हित के लिए हैं और किसी लिए वे हो नहीं सकते! सत्याग्रह की यह हलचल भी हमारी अयोग्यता, मूर्खता और कलह-फूट के ही कारण है। इसलिए सरकार का यह परम कर्तव्य है कि वह अपनी संपूर्ण पाशवशक्ति से उसे दबा दे, ऐसा उनका कहना है।

अंग्रेजों का एक दूसरा न्यायशील दल है जो भारतवर्ष को स्वराज्य देने के पक्ष में है और यहां के राष्ट्रीय आंदोलन से सहानुभूति रखता है। सत्याग्रह आंदोलन को दबाने के निमित्त गवर्नमेंट ने साधारण न्यायालयों और देश के सामान्य कानून से ही काम नहीं लिया, कड़े-कड़े सरकारी कानूनों का व्यवहार भी किया। पुलिस की कड़ाई असाधारण हो गई, फिर भी उसकी निंदा कभी नहीं की गई। अहिंसा व्रत के व्रती अनेक निरस्त्र व्यक्तियों को बड़े कष्टों का सामना करना पड़ा। देश के पूज्य और विदेशों में ख्यात अनेक शांतिपूर्ण नेता जेलों में रखे गए। कितने घायल हुए कितने मरे यह तो अलग कथा है। देश की सबसे बड़ी और प्रभावशाली संस्था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी तथा प्रांतीय अनेक शाखाएं गैर-कानूनी ठहरा दी गईं और उनके प्रमुख सदस्य पकड़ लिये गए। इसके विरुद्ध सर्वत्र जो हलचल उठी, उसे सुना तक न गया। यह सब शायद उस उद्देश्य से कि ऐसा करने से आंदोलन दब जाएगा, किया गया।

इस सप्ताह देहली में जो कुछ हुआ, वह सरकार की दमन-नीति की चरम सीमा है। एक साथ देश के दर्जनों प्रथम श्रेणी के अहिंसाव्रती नेता पकड़ लिये गए। जो विपरीत परिस्थितियों में भी शांति और अहिंसा को बनाए रखने का हृदय से उद्योग कर रहे थे, जिनमें से अनेक ब्रिटेन और भारत के बीच सुव्यवस्थित संबंध की स्थापना के लिए लालायित थे, जिनसे भारत सरकार या विलायत को किसी प्रकार के अनिष्ट की आशा न करनी थी, वे जब समूह के समूह पकड़े गए तब हद ही समझनी चाहिए। यह सब होते हुए भी जब *इंगलिश मैन* कहता है कि सरकार को कड़ी नीति से काम लेना चाहिए तब उसका मतलब हमारी समझ में नहीं आता।

दबा देने की जोशीली सलाह और कड़ी दमन-नीति के होते हुए भी आंदोलन दब कहां रहा है? विलायती वस्तुओं और मादक द्रव्यों का निषेध बढ़ता ही जाता है। सरकार के धमकी वाले कड़े कानून के होते हुए भी यदि विलायत से माल नहीं आता तो इसका स्पष्ट मतलब यह है कि यहां के व्यापारियों और यहां की जनता में बहिष्कार की भावना तीव्र हो चुकी है। वे स्वयं ही विलायती माल मंगाना और उसका व्यवहार नहीं करना चाहते, कांग्रेस के स्वयंसेवक उन पर जोर डालें या न डालें। आर्थिक कठिनाइयों तथा अन्य व्यावहारिक समस्याओं के कारण संभव है, आंदोलन में समय-समय पर शिथिलता आती रहे पर जब तक भारत सरकार के प्रति भारतीय जनता का असंतोष दूर नहीं किया जाता तब तक शांति और व्यवस्था की प्रतिष्ठा सरकार का दमन तो कदापि कर न सकेगा। और यह निश्चय है कि शांति और व्यवस्था की प्रतिष्ठा जो सरकार नहीं कर सकती वह जनता के प्रति अपने कर्तव्य का कुछ भी पालन नहीं करती।

दबा दिया जाए, यह तो सभी कह सकते हैं—कहते हैं पर कैसे दबे इस पर कोई भी विचार

नहीं करता दीख पड़ता। जो आंदोलन पशुशक्ति और हिंसा का आश्रय लेकर आगे बढ़ा हो उसे स्थगित करने के लिए शारीरिक बल, डंडे और कड़े कानून काम में लाए जाएं तो यह स्वाभाविक हो सकता है पर जिस आंदोलन के मूल में प्रबल राष्ट्रीय भावना हो, साथ ही जो शांति, अहिंसा और आत्मबल का आधार लेकर खड़ा हुआ हो उसका मुकाबला दमन नीति नहीं कर सकती। वर्तमान सत्याग्रह आंदोलन जब तक महात्मा गांधी जैसे सात्विक और आत्मनिष्ठ नेता के दिखलाए पथ पर चलता रहेगा तब तक पशुशक्ति उसे रोक न सकेगी। रोकना तो दूर रहा, उसको सहायता ही पहुंचाती रहेगी। यह तो प्रतिक्रिया का वैज्ञानिक नियम है कि प्रत्येक वस्तु अपने विरोधी अवयवों को पाकर उत्तेजित होती है, शांत नहीं होती। जो आंदोलन निष्क्रिय और अंतर्मुखी हो, और जिसमें आत्मशुद्धि की, आत्मत्याग और कष्ट सहिष्णुता की सामूहिक भावनाएं काम कर रही हों, वह तभी दबेगा जब दूसरे पक्ष में भी वैसा ही पवित्र भाव प्रबल हो और वैसी ही निष्क्रियता और सात्विकता से काम लिया जाए।

इतिहास से लाभ उठाने का यह समय है, यही परिस्थिति है। संरक्षण का ठेका तब तक चलता है जब तक उसमें ढोंग न हो, जब तक उसका आधार सत्य हो। फ्रांस, रूस, जर्मनी और इटली आदि की राष्ट्रीय भावनाओं ने प्रबल होकर उन्हें पूर्णतः स्वतंत्र ही कर दिया। भारत में हिंदू और मुसलमानों के जातीय विभेद पर जोर देकर यहां की एक राष्ट्रीयता में संदेह किया जाता है पर यूरोप का पिछली शताब्दी का इतिहास इसके विरोध में साक्षी देता है। जाति या धर्म की विभिन्नता राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े नहीं रख सकती। कुछ परिस्थितियों में तो वह और सहायता ही पहुंचाती देखी गई है। माननीय मालवीयजी ने बंबई के तिलक दिवस वाले सत्याग्रह के दिन मिस्टर गाडविन से बहस करते हुए विलायत के सफ्रोजिस्ट आंदोलन के विषय में जो उल्लेख किया था, वह इतिहास की साक्ष्य भी सरकार को विवेक-संपन्न करने में काम आ सकता है।

अब जब देश के प्रायः सब बड़े कांग्रेस-नेता जेल में पड़े हैं, तब दमन की विवेकहीन नीति से काम लेते रहने में बड़ी-बड़ी आशंकाएं हैं। जनता ही नेता हो गई दीख पड़ती है। सामूहिक आंदोलन की यह बहुत बुरी प्रगति है। ऐसी अवस्था में बड़े-बड़े अनिष्टों की संभावना होती है। जब जनता उत्तेजित हो जाती है तब उसे शांत करने में लोकमान्य नेता ही सफल होते हैं। अन्यथा लाहौर षड्यंत्र और हाल के कलकत्ता षड्यंत्र जैसी भीषण घटनाएं परिणाम में होती हैं। ऐसी घटनाओं से सारे देश में अशांति और अव्यवस्था बढ़ती है और राष्ट्रीय जीवन उच्छृंखल और कलुषित हो जाता है। प्रत्येक देश की शासन सत्ता का यह कर्तव्य है कि प्रजा में ऐसी हानिकारिणी भावनाओं को कदापि बढ़ने न दे और ऐसी व्यवस्था करे जो शासक और शासित दोनों को कल्याणकारिणी हो।

वर्तमान आंदोलन को शांत करने का जो उपाय श्री सप्रू और श्री जयकर कर रहे हैं, वही इस परिस्थिति में एकमात्र उपाय है। इसे न समझना विवेक-बुद्धि से हाथ धो बैठना है। सामूहिक आंदोलन को पशुबल से दबा देने की विधि थोड़े समय के लिए सफल हो सकती है पर प्रतिक्रिया के रूप में जब राष्ट्र नवीन उद्वेग लेकर आगे बढ़ता है तब उसको रोकना

कठिन हो जाता है। आंदोलन थोड़े समय के लिए दब जाएगा पर असंतोष और घृणा की स्थायी भावनाएं तभी दबेंगी जब असंतोष और घृणा के मूल कारण स्थायी रीति से दूर कर दिए जाएंगे। देश के माननीय नेताओं की गिरफ्तारी और *इंगलिश मैन* की सलाह से यदि आंदोलन दबाया जा सकता तो वह कभी का दब गया होता। परंतु जब ऐसा नहीं हुआ तब अवश्य उस प्रणाली में ही त्रुटि है। यदि एक महान राष्ट्र के शासक को महान जिम्मेदारी की दृष्टि से नहीं तो कम से कम साधारण तर्क की दृष्टि से भी सरकार को अपनी वर्तमान दमन नीति की विफलता और कुपरिणामों का विचार कर उसे बदल देने का विवेक दिखाना चाहिए।

अज्ञेय राजनीति

इस देश के राजनीतिक इतिहास में एक राजनीति सत्ययुग के हरिश्चंद्र की थी जिन्होंने स्वप्न में अपना राज्य एक व्यक्ति को दे दिया था और जागने पर सबसे पहले उसे बुलाकर अपना सर्वस्व सौंपा था और दक्षिणा में स्त्री-पुत्र समेत स्वयं बिक गए थे। उनके जीवन की करुण कथा आज भी इस देश के कण-कण में फैली हुई है। दूसरी राजनीति त्रेता के भगवान रामचंद्र की थी, जिन्होंने एक मूर्ख प्रजा की बात सुनकर अपनी जीवनसंगिनी सीता को राज्य से निकालकर जंगल में भेज दिया था। राजमहिषी सीता वन में भटकती रहीं, गर्भ में पुत्र के साथ। आज संसार के सर्वश्रेष्ठ महात्मा और अवतारी गांधी तथा ब्रह्मर्षि मालवीय उसी रामराज्य के गुणगान करते हैं। राजनीति की वह पुण्य कथा आज स्वप्न से भी दूर जा पहुंची है।

द्वापर में भगवान कृष्ण का दूतकर्म भारतीय राजनीति का ऐसा प्रसंग है जिसका मेल आज के सप्रू-जयकर-संधि उद्योग से मिलता है। महात्मा युधिष्ठिर ने भगवान कृष्ण से महाराज दुर्योधन के पास कहला भेजा था कि मेरा विनीत निवेदन इतना ही है कि आप हम पांच भाइयों के रहने के लिए थोड़ी-सी भूमि और जीवनयापन के लिए थोड़ी-सी (पांच गांवों की) संपत्ति दे दें, हमें और कुछ न चाहिए। जवाब में दुर्योधन ने कहा पांच गांव तो बहुत दूर की बात है, सूई की नोक के बराबर भूमि भी बिना युद्ध के नहीं मिलेगी। उत्तर कड़ा था, अनुचित था और उसके बुरे फल फले, पर स्पष्ट कितना था, ज्ञेय कितना था!

पीछे के कौटिल्य आदि राजनीतिज्ञों ने शासननीति में कूटनीति की जटिलता ला दी थी परंतु आज की-सी अज्ञेय राजनीति यहां शायद नई चाल की है। परिस्थिति बदल गई, शासनतंत्र बदल गए। श्री सप्रू और श्री जयकर के संधि-उद्योग को प्रारंभ हुए बहुत महीनों हो गए। ये दोनों देश की प्रखरतम बुद्धि के व्यक्ति, राष्ट्रीय जीवन को शांतिमय और सुव्यवस्थित बनाने के कट्टर पक्षपाती हैं। परंतु अब तक यह उद्योग कहां पहुंचा है, आगे किस ओर जा रहा है, इसका कुछ भी अनुमान संदेह और भ्रम से खाली नहीं। एक ओर *फ्री-प्रेस जर्नल* के कमिश्नर का अनुमान है कि संधि की सभी बातचीत बिलकुल असफल हो गई क्योंकि कांग्रेस की मांग

और सरकार की नीति के बीच समझौते की गुंजाइश नहीं थी। दूसरी ओर हम अपनी आंखों देख रहे हैं, श्री सप्रू और श्री जयकर शिमले से प्रयाग और यरवदा के नेताओं से दुबारा बातचीत करने फिर से चल पड़े हैं। एक ओर कहा जाता है कि सरकार वास्तव में कांग्रेस से मेल करने को उत्सुक है और चाहती है कि कांग्रेस के नेता आगामी गोलमेज सम्मेलन में जाएं और भारत का नवीन विधान बनाने में सहायता दें और दूसरी ओर सरकार की राजधानी देहली में कांग्रेस के सब प्रधान नेता पकड़कर जेल में भर दिए जाते हैं। बिहार, बंगाल और बंबई की कांग्रेस संस्थाएं गैरकानूनी बतला दी जाती हैं। ये सब कितनी अज्ञेय और समझ में न आने वाली बातें हैं।

और मूल प्रश्न कितना सीधा है? कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता हो या न हो, हो सकता है या नहीं हो सकता! कांग्रेस वालों की मांग सरकार इतने दिनों से सुनती आ रही है और कांग्रेस के मूलाधार महात्मा गांधी क्या चाहते हैं, यह सरकार अच्छी तरह जानती है। वाइसराय लार्ड इर्विन ने भी अपनी सच्ची अभिलाषा अपने असेंबली वाले दोनों भाषणों में स्पष्ट कर दी है। सम्राट के प्रतिनिधि भारत के वाइसराय–जो कह चुके हैं वही तो कांग्रेस नेता दृढ़ कराना चाहते हैं। यदि विलायत और भारत की सरकार सच्चे हृदय से वाइसराय के मत को स्वीकार नहीं करती तो उन्हें स्पष्ट सब बातें कह देनी चाहिए। यदि अंतःकरण शुद्ध है तो बाधा कुछ भी नहीं, परंतु जब तक वर्तमान राजनीति इतनी अज्ञेय बनी है तब तक अंतःकरण शुद्ध है यह कैसे कहा जाए? स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने विगत असेंबली वाले मतभेद के प्रसंग में पंडित मोतीलाल नेहरू को जवाब देते हुए लिखा था कि राजनीति में स्थिरता या निश्चय कुछ भी नहीं। आज की राजनीति सचमुच ऐसी ही है।

(सोमवार, 1 सितंबर 1930)

अगले चुनाव

बड़ी व्यवस्थापिका सभा और प्रांतीय कौंसिलों के चुनाव आ गए। देश के भिन्न-भिन्न भागों से जो सदस्य चुनाव के लिए खड़े हो रहे हैं उनके नाम प्रकाशित हो गए हैं अथवा प्रकाशित होते जाते हैं। कुछ ऐसे सदस्यों के नाम भी मालूम हो गए हैं जो बिना विरोध के चुन लिये गए हैं। इस बार के चुनाव के संबंध में कांग्रेस का जो मत है वह भी प्रकट हो चुका है। उस मत के अनुसार पूने में जो पिकेटिंग की गई उसके फलस्वरूप चौबीस स्वयंसेवकों की गिरफ्तारी की खबर भी मिल गई है। उसी मत के अनुसार सूरत के चुनाव में बहुत ही कम लोगों ने भाग लिया, यह समाचार भी आ चुका है। उसी मत के विरोध में कांग्रेस वालों की ही प्रत्यक्ष या गुप्त प्रेरणा से अनपढ़ कुम्हारों, नाइयों, चमारों और भंगियों को असेंबली और कौंसिल के लिए खड़ा किया जा रहा है, यह बात भी छिपी नहीं है। सरकार की ओर से निष्पक्ष रहकर

काम करने का जो संदेश शहरों की सरकारी या नीम सरकारी संस्थाओं के नाम भेजा गया है, वह भी हमारे सामने आ गया है। इन सबके अतिरिक्त देश की बिगड़ी हुई राजनीतिक स्थिति और चुनाव का ठीक-ठीक अर्थ भी न समझ सकने वाली देश की बहुसंख्यक जनता तो हमारे सामने बहुत दिन पहले से है।

व्यवस्थापिका सभा का मतलब है देश के शासन के लिए नियम बनाने वाली अथवा नियम बनाने में सहायता पहुंचाने वाली वह संस्था जो विलायत की पार्लियामेंट ने यहां बनाई है और जिसमें कुछ नियमों के अनुसार यहां के कुछ व्यक्ति सम्मिलित होकर काम करते हैं। प्रजातंत्र का जो प्रवाह आधुनिक पश्चिमीय देशों में आया हुआ है, साथ ही विलायत की साम्राज्य भावना का जो प्रभाव वहां फैल रहा है, उसके साथ इस देश की राजनीतिक जागृति ने मिलकर व्यवस्थापिका सभा के बनाने में योग दिया। इस समय यह जिस रूप में है उस रूप में इसका संगठन प्रजातंत्र के नियमों के अनुसार पूरा-पूरा नहीं है फिर भी इसका उपयोग यदि योग्यता के साथ किया जाए तो इसमें संदेह नहीं कि इस देश की जनता इससे काफी लाभ उठा सकती है। अच्छे-अच्छे लोकहित के कानून बनाकर प्रत्यक्ष में, और सरकार की नीति की पोल खोलकर परोक्ष में अब तक इसने जो काम किया है वह काफी संतोषप्रद है। भविष्य में यदि राष्ट्रीय विचारों के सदस्य और अधिक मनोयोग और तत्परता से इसमें भाग लें तो इस संस्था के अधिक लाभ होने की आशा है।

इस देश में और पश्चिमीय देशों में भी इस प्रकार की संस्थाएं लोकहित के बड़े-बड़े काम कर चुकी हैं और कर रही हैं। भारतीय इतिहास के बौद्धकाल में प्रसिद्ध शाक्य वंश के राजाओं ने कुछ इसी प्रकार की संस्था खोली थी जो प्रजा की सम्मति के अनुसार राजचक्र चलाती थी। आजकल यूरोप, अमेरिका आदि देशों में तो प्रजा की शक्ति अधिकाधिक बढ़ाने का उद्योग हो रहा है। वहां कानून बनाने का संपूर्ण अधिकार उन संस्थाओं को है जो प्रजा की हैं, जिनमें प्रजा के सदस्य रहते हैं। ऐसी संस्थाओं के अधिकार प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं और ऐसी कोशिश की जा रही है कि जनता की इन संस्थाओं के अधिकार में ही वहां की सरकार का तमाम काम रहे। विलायत, अमेरिका आदि की व्यवस्था-सभाएं वहां की जनता के निरंतर उद्योग और कष्ट सहने के बाद मिली हैं और अब वे पूरी सफलता के साथ जनता का राज्य प्रतिष्ठित किए हुए हैं। उन देशों का प्रत्येक नागरिक अपना यह कर्तव्य समझता है कि वह अपने देश की शासन-नीति में भाग ले और वह बड़ी तत्परता के साथ वहां की व्यवस्था-सभाओं के चुनाव देखता है और अपनी सम्मति देता है।

आजकल विलायत के प्रत्येक युवक नागरिक को यह सुविधा मिली है कि चुनाव में अपना वोट—अपनी सम्मति दे सके। उसके सामने देश के प्रत्येक राजनीतिक दल की भविष्य नीति रखी जाती है, वह प्रत्येक दल के पिछले कामों को ठीक-ठीक समझ लेता है तब अपने स्वार्थों और समूह के स्वार्थों का उचित विचार कर अपनी सम्मति देता है। स्त्रियों को भी सम्मति देने का उतना ही अधिकार है जितना पुरुषों को। अपने इस अधिकार को पाने के लिए उन्हें बड़ा प्रयत्न करना पड़ा, बड़े कष्ट सहने पड़े। अंत में विगत महायुद्ध में जब उन्होंने देश सेवा

का उज्ज्वल उदाहरण अपने पुरुष सहयोगियों के सामने रखा तब 1918 में उन्हें वोट देने का अधिकार मिला। अब यह अधिकार उनके लिए बड़ी मूल्यवान संपत्ति है। इस संबंध में जॉन स्टुअर्ट मिल आदि प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ पिछली शताब्दी से ही उद्योग कर रहे थे।

स्विट्ज़रलैंड के ओरी नामक प्रदेश में प्रजातंत्र का भाव इतना अधिक प्रबल है कि वहां की पूरी जनता साल में एक बार एक स्थान पर उपस्थित होकर अपनी इच्छानुसार कानून बनाती, कर लगाती और शासन का प्रबंध करती है। कुछ और देशों में भी ऐसे नियम बन गए हैं जिनके अनुसार प्रजा जब चाहे सरकारी अफसरों को बदल सकती और कानून में परिवर्तन ला सकती है। उसे नए कानून बनाने की सुविधा और अधिकार भी मिले हैं और अपने इस अधिकार को वह काम में भी लाती रहती है।

यह सब कहने का आशय केवल यह है कि यह युग प्रजातंत्र के विकास का है और प्रत्येक देश की जनता अनेक प्रकार के प्रयत्न कर अधिक से अधिक अधिकार पा रही है और अपने यहां की राजनीति में अधिक से अधिक भाग ले रही है। परंतु इस देश की जनता ने अब तक अपना और अपनी सम्मति का मूल्य नहीं समझा है, वह अभी ठीक-ठीक शिक्षित नहीं और न उसे प्रजातंत्र के भावों का विकास करने का अवसर मिल रहा है। विदेशी शासन की स्वार्थपरक नीति के कारण यहां की व्यवस्था-सभाएं यों ही दूसरी जगह से विशेष पिछड़ी हुई हैं, उनके अधिकार बहुत कुछ सीमित हैं और उनके सब सदस्य प्रजा के ही प्रतिनिधि नहीं होते। शिक्षा के अभाव में यहां की जनता राजनीति को समझती ही नहीं, बहुत दिनों से परतंत्र रहने के कारण उसमें 'कोउ नृप होउ हमहि का हानी' का भाव आ गया है और यहां की अनेक सामाजिक रूढ़ियों ने मिलकर उसे और भी शक्तिहीन और अचेत बना दिया है।

ऐसी अवस्था में जब कांग्रेस की ओर से यह कहा जाता है कि आगामी चुनाव में यहां की जनता भाग न ले तो और हानियों के अतिरिक्त सबसे बड़ी हानि यह होगी कि उसमें स्वतंत्र शासन की इच्छा का विकास रुक जाएगा। इस प्रजातंत्र के युग में जब जनता के अधिकारों का समर्थन नहीं तो कम से कम विरोध किए जाने की संभावना न हो तब यहां के थोड़े से वोट देने वालों को भी वोट देने से विरत करने में एक प्रकार से सामयिक प्रवाह का ही विरोध किया जा रहा है। समय का विरोध करना न लाभदायक है, न उचित।

व्यवस्था-सभाएं शक्तिहीन हैं, व्यर्थ हैं और विलायत के साम्राज्यवादियों के बचाव की साधन हैं, यह इस बार कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने नहीं कहा। शायद असेंबली के विगत अधिवेशन के मूल्यवान काम को देखकर ही ऐसा न कहा गया हो। इस बार कांग्रेस नेताओं का कहना है कि देश के वर्तमान आंदोलन को शक्ति के साथ चलाते रहने के लिए यह आवश्यक है कि व्यवस्था-सभाओं का बहिष्कार किया जाए, देश के वर्तमान आंदोलन का लक्ष्य यदि प्रजा-सत्तात्मक शासन की नींव रखना है तब तो व्यवस्था-सभाओं में जाकर देश हित का काम करने वाले व्यक्ति भी आंदोलन में सहायक ही होंगे। परंतु यदि किसी एक ही धारा में सबको बहा ले चलने पर जोर दिया जाता है तब इसका मतलब हुआ राष्ट्र में जड़त्व की सृष्टि, उसके विकास में बाधा।

ये जो नाई, कुम्हार, चमार और भंगी हमारे लिए कानून बनाने को खड़े किए जा रहे हैं और इनकी पैरवी करने में देश की जो जन-शक्ति और धन-शक्ति लग रही है वह बिलकुल वाहियात है। कांग्रेस का न तो यह लक्ष्य है, न होना चाहिए। राजनीतिक दृष्टि से यह इस देश के संबंध में बाहरवालों की धारणा बदल देगा, उनकी सहानुभूति कम पड़ जाएगी। समाज में उच्छृंखलता बढ़ेगी और बड़े-बड़े नेताओं ने विगत असेंबली में सम्मिलित होकर जो काम किए थे, वे भुला दिए जाएंगे। संस्था की प्रतिष्ठा तो नष्ट होगी ही उन नेताओं के प्रति भी सम्मान और श्रद्धा के भाव कम होंगे।

यदि इन अछूत भाइयों को व्यवस्था-सभाओं का उम्मीदवार बनाकर यह समझा जाता हो कि इससे समाज सुधार होगा, अछूतों के प्रति सद्‌भाव और घनिष्ठता पैदा होगी तो यह सबसे बड़ी गलती है। यह अछूतोद्धार नहीं हो रहा है, अछूतों और मूर्ख जनता का व्यंग्य किया जा रहा है। जब अछूत जनता को आगे चलकर शिक्षित होने पर यह मालूम होगा कि जिस 'सभा में उल्लू बोलेंगे', की बात कहकर पीछे हम लोग भर्ती किए गए थे तब प्रतिक्रिया के रूप में बहुत बड़ा विद्वेष फैलने की आशंका होगी। कांग्रेस के नेता अछूतों के प्रति सहानुभूति रखते हैं। यह बात इस तरह के चिढ़ाने वाले तरीकों से नहीं मालूम होगी, उनके साथ उचित व्यवहार करने से मालूम होगी। यदि कांग्रेस अपने सिद्धांत के अनुसार चुनाव में भाग नहीं लेती तो ठीक है पर क्या इस प्रकार अयोग्य व्यक्तियों को व्यवस्था-सभाओं में जाने के लिए प्रेरित करना योग्य और शिक्षित उम्मीदवारों का निरादर नहीं?

सरकार की ओर से जो संदेश इस अवसर पर दिया गया है वह भी ध्यान देने योग्य है। सरकार ने हिदायत की है कि सरकारी और अर्द्धसरकारी संस्थाएं आगामी चुनाव में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी प्रकार सम्मिलित न हों, उससे बिलकुल अलग रहें। पिछले चुनाव में शंका की गई थी कि सरकार की ओर से अनुचित दबाव डाला जाता है और सरकारी अफसर अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हैं। अब की बार यह सब कुछ भी न होगा। सरकार की इस सफाई का उत्तर चुपचाप बैठ रहने अथवा विरोध करने में नहीं है बल्कि जनता के अच्छी संख्या में सम्मिलित होकर अपने सच्चे प्रतिनिधियों को चुन लेने में है।

पिकेटिंग से जो लाभ होने वाला है उसे हम पूने के उस दिन के मामले में देख चुके। पचीसों कांग्रेस स्वयंसेवक पकड़कर जेल भेज दिए गए। उनके अन्य मूल्यवान काम रुक गए। विदेशी वस्तु और मादक द्रव्य निषेध का काम जितना उचित और आवश्यक है, साथ ही कॉलेजों के समझदार विद्यार्थियों पर अनुचित दबाव डालकर उन्हें विद्यालय न जाने देने को विवश करना जितना अनावश्यक है, शायद उससे भी अधिक अनावश्यक है देश की प्रतिनिधि संस्थाओं में प्रवेश करने में व्यर्थ की रुकावट डालना। शक्ति का इससे अधिक दुरुपयोग शायद और कुछ भी न हो।

प्रत्येक दूरदर्शी नेता और विद्वान का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह वर्तमान को देखते हुए, भविष्य को बिलकुल भूल न जाए। देश की राजनीतिक स्थिति इस समय एकदम डावांडोल है। आज तो यह है, कल क्या होगा इसका पता नहीं। वर्तमान संधि उद्योग यदि असफल भी

रहा तब भी इसका भविष्य की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। गोलमेज सम्मेलन में क्या होगा, कौन कह सकता है? साइमन साहब की सिफारिश किस बदले हुए रूप में स्वीकार की जाएगी, मालूम नहीं। हमारा भविष्य यद्यपि अब तक अज्ञात है पर उसमें बड़े ही महत्वपूर्ण परिवर्तन की आशा है। उस परिवर्तन का जो अंश व्यवस्था-सभाओं से संबंध रखेगा उसके अनुकूल बनने और उसका सामना करने के लिए बेचारे नाइयों, कुम्हारों और भंगियों से काम न चलेगा, पढ़े-लिखे देशप्रेमी नेताओं की आवश्यकता होगी। भविष्य की उस आवश्यकता का अभी से विचार न रखना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। तो हम जानबूझकर बुद्धिहीन क्यों बनें?

हमारा अर्थकष्ट

इस समय हमारी आर्थिक व्यवस्था कितनी बुरी हो रही है, इसका सब लोग ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते। व्यापार की मंदी, मजदूरों की बेकारी और किसानों का अर्थकष्ट इस समय जितना बढ़ा हुआ है, वह बड़ा ही भीषण है। बाहर से वस्तुओं का आना-जाना इतना कम पड़ गया है कि बंबई, कलकत्ते आदि के अनेक बड़े-बड़े व्यापारियों का काम फेल होने की नौबत आ गई। कहा जाता है, वहां के कितने ही प्रसिद्ध व्यापारी अपना कारबार बंद कर तीर्थयात्रा करने निकल पड़े हैं। मजदूरों को मजदूरी नहीं मिलती, काम नहीं मिलता। अकेले बंबई में लगभग साठ हजार मजदूर बेकार बैठे हैं, खाने का ठिकाना नहीं। किसानों के पास अन्न जो कुछ हो, पैसा एक भी नहीं। न वे आसानी से मालगुजारी दे सकते हैं और न कपड़े-लत्ते खरीद सकते हैं। और चूंकि यहां की अधिकांश जनता किसान ही है, इसलिए उनकी दरिद्रता का असर सारे देश में पड़ रहा है। एक ओर तो लगान वसूल होने में कठिनाई पड़ रही है और दूसरी ओर व्यापार बिलकुल कम पड़ रहा है। सरकार और व्यापारी दोनों ही इस अवस्था में चिंतित हों तो आश्चर्य क्या है।

सरकार की ओर से अर्थ सदस्य सर जॉर्ज शुस्टर और व्यापारियों की ओर से श्री घनश्यामदास बिड़ला ने हाल में भारतीय अर्थ-समस्या पर अपने विचार प्रकट किए हैं। बिड़लाजी ने सरकार द्वारा लगाए गए इस इल्जाम का विरोध किया है कि यहां का सत्याग्रह आंदोलन ही सारे कष्टों का कारण है और बतलाया है कि सरकार की एक्सचेंज दर के कारण भारत का अर्थ कष्ट बहुत अधिक बढ़ गया है। यहां के एक रुपए का मूल्य 18 पेंस कर देने से हमको पचीसों करोड़ का घाटा रहा है और हमारा व्यापार चौपट हो गया है। हमारे आयात (Import) और निर्यात (Export) के घट जाने का बहुत बड़ा कारण सरकार की यह अर्थ नीति है। इसके विरोध में अर्थ सदस्य सर जॉर्ज का कहना है कि इस समय संसार के प्रायः सभी देशों की आर्थिक अवस्था बिगड़ी हुई है। भारत का माल यदि बाहर नहीं जा रहा तो उसका कारण सरकारी एक्सचेंज दर नहीं बल्कि बाहर वालों का अर्थकष्ट है। इसके लिए

भारत सरकार क्या कर सकती है, यह तो ऐसी बड़ी समस्या है जो भारत सरकार की पहुंच के बाहर है।

प्रश्न यह है कि इन सब झगड़ों को लेकर हम क्या करेंगे? बेचारे मजदूर, किसान और व्यापारी यह सब बहुत सुन चुके, इससे उनकी कठिन समस्या बिलकुल नहीं सुलझ सकी। उन्हें कुछ व्यावहारिक उपाय बतलाने होंगे जिनके अनुसार काम किया जा सके। यह प्रश्न उनके जीवन-मरण का है, साधारण नहीं। सर जॉर्ज शुस्टर ने बड़ी मेहनत के साथ जो उपाय सोचा है उसका आशय यह है कि भारत में एक रिजर्व बैंक की स्थापना की जाए और देश के अर्थकष्ट के समय उसे काम में लाया जाए। सर जॉर्ज का यह भी कहना है कि भारत में सोना बहुत बेकाम पड़ा रहता है। जेवरों आदि के रूप में यह घरों के भीतर ही रह जाता है। किसी आर्थिक काम में नहीं आता। परंतु सर जॉर्ज को यह मालूम होना चाहिए कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा ने रिजर्व बैंक के लिए सिफारिश की थी और उसके अधिकांश सदस्य ऐसे बैंक की स्थापना के पक्ष में थे, पर सरकार को वह मंजूर न हुआ। सोना बेकाम पड़ा रहता है। यह बात सही है पर जनता को क्या पड़ी है कि वह अपने घर की वस्तु यों ही बाहर कर दे। भारतीय नेता सरकार से कितनी ही बार सोने के सिक्के चलाने का अनुरोध कर चुके हैं पर सरकार को यह भी स्वीकार नहीं। ऐसी अवस्था में सर जॉर्ज शुस्टर की सब बातें बातों का जमा-खर्च ही कहा जा सकता है और कुछ नहीं।

भारत की राजनीतिक हलचल और सत्याग्रह आंदोलन पर ही सारा दोष मढ़ना ठीक नहीं। सत्याग्रह आंदोलन के पहले से ही हमारी आर्थिक अवस्था बिगड़ी हुई है। यदि सर जॉर्ज शुस्टर के मतानुसार यह मान भी लें कि सत्याग्रह आंदोलन ही सारी बुराइयों का कारण है तो भी सरकार की जिम्मेदारी दूर नहीं हो सकती। जिसपर जनता के शासन और पालन का भार है, उसका यह भी कर्तव्य है कि वह उसके असंतोष और दुखों को समझे, उन्हें दूर करे। सत्याग्रह आंदोलन के मूल में सरकार का ही हठ है। इस देश की प्रजा की उचित और आवश्यक मांगों को पूरा करने में सरकार अब तक आनाकानी ही करती रही। नर्म से नर्म दल के प्रतिनिधि इतने दिनों से जिसके लिए उद्योग कर रहे हैं लेकिन औपनिवेशिक स्वराज्य देने का वचन भी सरकार नहीं दे सकती। फिर वह आधुनिक राजनीतिक हलचल और आर्थिक कष्ट का कारण नहीं तो और क्या है। तर्क की प्रत्येक दिशा से आखिरी जवाबदेही सरकार पर ही आती है।

देशी राज्य

अकसर कहा जाता है कि भारत के देशी रजवाड़े पिछड़े हुए पुराने तरीकों पर ही अब तक चले आ रहे हैं, वे प्रजा के अधिकार को नहीं मानते और लोक प्रतिनिधि संस्थाओं पर विश्वास नहीं करते। वे स्वयं कानून बनाते और मनमाने ढंग से न्याय करते हैं। वे भारत की पुरानी परिपाटी को छोड़ना नहीं चाहते। भारत की पुरानी परिपाटी क्या थी, क्या नहीं इसे समझने-समझाने

का यह अवसर नहीं, परंतु यह कह देने का अवसर जरूर है कि भारत के पिछड़े हुए कहे जाने वाले कुछ देशी राज्य भी भारत सरकार से कहीं अधिक उदार नीति का व्यवहार करते और प्रजा की आकांक्षा को उससे कहीं अधिक समझते हैं। भारत सरकार स्वार्थ में लिप्त रहने के कारण इस देश की चिरकाल की उचित मांग भी पूरी नहीं कर रही, उसे यह कहने का अधिकार ही क्या है कि दूसरे पिछड़े हुए हैं। और पिछड़े हुए हैं भी तो नहीं। अभी उस दिन दक्षिण भारत के देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने एकत्र होकर स्पष्ट कह दिया कि देशी राज्यों का प्रश्न भारत के प्रश्न के पीछे है। हम पहले भारतीय हैं, पीछे और कुछ। उन प्रतिनिधियों के अध्यक्ष मैसूर राज्य के प्रधान सचिव ने यह भी कहा कि हम देशी राज्यों के प्रतिनिधि की हैसियत से गोलमेज सम्मेलन में जाएंगे और इस बात की कोशिश करेंगे कि देशी राज्यों की मांगें, समस्त देश की मांगों के स्वीकार किए जाने में बाधक न हों। उससे भी अधिक महत्व की बात श्रीमान बीकानेर नरेश ने कही है। भारत से विलायत पहुंचते ही वहां के स्वागत का उत्तर देते हुए महाराज ने कहा कि गोलमेज सम्मेलन में पेश होने वाली भारतीय समस्या को हिम्मत, दूरदर्शिता और सहानुभूति के साथ हल करना चाहिए। भारत और अंग्रेजों के बीच सुलह और भेदभाव ऐसा ही करने से दृढ़ होगा। महाराज के इस कथन में कितनी उदारता और कितना सत्य है। आशा है सरकार इन पिछड़े हुए कहे जाने वाले भारतीय नरेशों की सिफारिश को समझने का विवेक दिखाएगी।

(सोमवार, 8 सितंबर 1930)

आगामी आशा

पिछले सप्ताह सप्रू-जयकर के संधि उद्योग के विफल होने की सूचना आ चुकी। श्री सप्रू ने पूछने पर कहा है कि संधि का प्रसंग मेरे लिए बीती बात हो गई, उसका विचार मैं अब नहीं करता। जिस व्यक्ति ने इतनी चेष्टाएं कीं उसने ही उसे बीती बात कह दिया, ऐसी अवस्था में यह उचित नहीं जान पड़ता कि उस संबंध की बातें हम यहां याद करें। फिर भी पत्रकार की हैसियत से कुछ ऐसी बातें करनी पड़ती हैं जो उचित नहीं होतीं। अनेक कडुए प्रसंग दोहराने पड़ते हैं, अनेक भूल जाने लायक बातें याद करनी पड़ती हैं। बीती ताहि बिसार दे, वाली उक्ति पत्रकार के लिए लागू नहीं होती। उसे पीछे की ओर देखकर आगे चलना पड़ता है। इस नियम को वह टाल नहीं सकता।

यह संधि योजना क्यों न सफल हो सकी, इस पर तरह-तरह के मत तरह-तरह के लोगों ने दिए हैं। हम उतने मतों पर यहां विचार न करेंगे। केवल दो मत ऐसे हैं जिनसे हमारा काम चल सकता है। एक, महात्मा गांधी का मत और दूसरा, वाइसराय का मत। महात्मा गांधी आदि राष्ट्रीय नेताओं का कहना है कि संधि की चेष्टा इसलिए सफल न हो सकी कि वाइसराय ने पं. मोतीलालजी की उन शर्तों को अस्वीकार कर दिया जो उन्होंने *डेली हेरल्ड* के प्रतिनिधि

मिस्टर स्लोकोंब को दी थी और जिनके आधार पर संधि की सारी बातचीत हो रही थी। सप्रू-जयकर इन्हीं स्लोकोंब की शर्तें लेकर संधि करने निकले थे और वाइसराय की अनुमति से नैनी और यरवदा के नेताओं से मिले थे। पं. मोतीलालजी की शर्तों और वाइसराय की विज्ञप्ति में बड़ा अंतर है। पंडितजी स्वच्छंद और स्वच्छ भारत की कल्पना करते हैं और वाइसराय केवल अपनी यह इच्छा प्रकट करते हैं कि वे, उनकी सरकार और विलायत की सरकार कोशिश करेगी कि भारत को वे अधिकार मिलें जिनके पाने की वह योग्यता रखता है। नेताओं का कहना है कि वाइसराय की इस विज्ञप्ति से भारतवर्ष को स्वराज्य नहीं मिलेगा, केवल पिछले जमाने से चले आते हुए सुधारों की एक किस्त मिलेगी। इस प्रधान बात के अतिरिक्त नेताओं ने और बातों पर विचार कर यह बतलाया है कि संधि के लिए अभी समय नहीं आया, अभी देश का त्याग और बलिदान पूरा नहीं हुआ और सरकार को अब तक अपने किए पर कुछ भी पछतावा नहीं हो रहा।

इसी संबंध में वाइसराय का कहना है कि कांग्रेस नेताओं ने संधि की शर्तें पेश करते हुए जो पत्र भेजा है उसकी भाषा बड़ी कड़ी है। सत्याग्रह आंदोलन से जो भयंकर आर्थिक कष्ट यहां की जनता को हो रहा है, साथ ही, जो अशांति यहां फैल रही है उस पर नेताओं ने कुछ भी विचार नहीं किया। उस पत्र के आधार पर कोई बातचीत नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीय नेताओं ने इस संबंध में जो कुछ कहा वह कांग्रेस के लाहौर वाले पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव के बहुत कुछ अनुकूल था। कांग्रेस के प्रेसीडेंट पं. जवाहरलाल का आदर्श लेकर सब चले हैं। महात्माजी की पहली शर्त यह थी कि वे आवश्यक रुकावटों के साथ स्वाधीन शासन स्वीकार कर लेंगे यदि उनकी ग्यारह शर्तों वाला स्वराज्य का सार उन्हें मिले पर पीछे से पं. जवाहरलालजी का विचार करके उन्होंने यह भी कहा कि इनसे भी कड़ी शर्तें मुझे मंजूर होंगी। अंतिम निर्णय पं. जवाहरलाल ही करेंगे। इससे भी यही स्पष्ट पता चलता है कि संधि की सारी बातचीत पर पं. जवाहरलालजी के आदर्शों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और शायद महात्मा गांधी और पं. मोतीलालजी को अपने वयसुलभ संयत और नर्म विचारों पर जोर देने का अवसर न मिला। जब तक कांग्रेस का नया अधिवेशन न हो सके अथवा जब तक पं. जवाहरलालजी के आगे बढ़े हुए विचार भुला न दिए जा सकें तब तक यह संभव भी नहीं था कि महात्माजी और पं. मोतीलाल और कुछ कहते।

सरकार की दमन नीति और शांतिपूर्ण राष्ट्रीय संस्था को गैर-कानूनी ठहराकर देश के पूज्य नेताओं को जेल में भरते चले जाने का काम जिस तेजी से चलाया गया उसकी प्रतिक्रिया भी अवश्य हुई है। नेताओं ने यह कहा भी है। देश की इस समय की जागृति अधिकांश में दमन का ही फल है। यदि सरकार की यह नीति न रहती तो देश की अवस्था कुछ दूसरी ही होती। उस दूसरी अवस्था में नेताओं की राय भी कुछ दूसरी ही होती, हमारी ऐसी धारणा है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि विलायत के भारत विरोधी दलों के चर्चिल साहब और लाट राथरमियर जैसे व्यक्ति चिल्ला-चिल्लाकर जो विष उगल रहे हैं, वह कांग्रेस नेताओं से छिपा नहीं है। उसको लक्ष्य कर यदि कांग्रेस नेताओं ने यह कहा कि अंग्रेज सरकार अपनी

नीति को अब तक छोड़ना नहीं चाहती तो उन्होंने एक हद तक उचित ही कहा।

वाइसराय ने नेताओं के पत्र को कड़ा बतलाया है। यदि भाषा और लिखने के ढंग पर उनका आक्षेप था तो उस पर विशेष ध्यान देना उचित नहीं था। वह तो अप्रधान बात है। वाइसराय को महात्मा गांधी द्वारा भेजे गए उस पिछले पत्र की याद कर लेना चाहिए था जिसमें महात्माजी ने माथा टेककर विनय की थी कि वे देश की आर्थिक दुरवस्था का विचार करें और यह बतलाने की कृपा करें कि लंबी-लंबी तनख्वाहें देकर अफसरों को मालामाल कर देना और देश को दरिद्र बना देना कैसी बात है। वाइसराय यदि थोड़ी उदारता से काम लेते तो यह समझ सकते थे कि महात्मा गांधी के इस आंदोलन का प्रधान लक्ष्य भारतवर्ष की दरिद्रता को दूर करना है। नेताओं ने वर्तमान अर्थकष्ट पर यदि ध्यान नहीं दिया तो इसका कारण और कुछ नहीं केवल यह है कि वे भविष्य की चिरकालिक दरिद्रता मिटा देने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं और कष्ट झेल रहे हैं। वे नेता इस देश की वर्तमान अशांति को अच्छा समझते हों और दरिद्र जनता के प्रति सहानुभूति न रखते हों, यह तो कैसे कहा जा सकता है? महात्माजी की ग्यारह शर्तें इस समझौते में भी आई हैं और वे अधिकांश ऐसी हैं जो देश की दरिद्रता दूर करने का लक्ष्य रखती हैं।

परंतु यह सब होते हुए भी वाइसराय की सदाशयता में कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता। शासन चक्र के शीर्ष पर ऐसे उदार व्यक्ति इस देश को अंग्रेजी राज्य काल में बहुत कम मिले हैं। उन्होंने इस देश के अपने सहयोगियों और विलायत के चर्चिल सरीखे कटुभाषियों के कड़े से कड़े व्यंग्य सुने पर अपनी उदारनीति से वे कभी डिगे नहीं। उन्होंने असेंबली के अपने दोनों भाषणों में अपने सच्चे हृदय का परिचय दिया है और यदि वे सप्रू-जयकर की इस संधि चेष्टा में अपने उन भाषणों से आगे नहीं बढ़ सके तो इसका यह मतलब कदापि नहीं कि वे भारत के प्रति सच्चा प्रेम नहीं रखते अथवा सम्राट की भारतीय प्रजा को सुख समृद्धिपूर्ण और स्वाधीन नहीं देखना चाहते।

हम जब दोनों ओर से विचार करते हैं तब देखते हैं कि एक ओर तो कांग्रेस नेता अपने लाहौर वाले पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव पर खड़े हैं और दूसरी ओर वाइसराय अपने देहली वाले असेंबली के भाषणों पर अड़े हैं। कहें तो कह सकते हैं कि लाहौर से दिल्ली दूर है। पं. जवाहरलाल लाहौर कांग्रेस के प्रेसीडेंट ही नहीं, उसकी आत्मा भी हैं। वर्तमान संधि उद्योग में पं. जवाहरलालजी और अन्य नेता लाहौर में ही डटे रहे, वहां से उतरे नहीं। जवाहरलालजी उतरने को खतरनाक समझते थे। दूसरी ओर वाइसराय भी देहली से आगे नहीं बढ़े। उन्होंने पहले भी कह दिया था कि देहली के भाषण में मैंने अधिक से अधिक जिम्मेवारी दिखाई है और अधिक से अधिक खतरे का स्वागत किया है। उससे आगे बढ़ सकना शायद उनके लिए संभव न था। ऐसी अवस्था में हम यह भी कह सकते हैं कि न तो लौहार कांग्रेस के प्रेसीडेंट जवाहरलाल ने फिर कर देखा और न वाइसराय आगे बढ़कर उनसे मिल सके। मिलने के लिए तो अपनी-अपनी जगह थोड़ी-बहुत छोड़नी ही पड़ती है। ऐसा न हो सका, इसलिए मेल भी न हो सका।

हम को संधि उद्योग के विफल हो जाने का काफी खेद है पर संसार का यह नियम है

कि वह अपनी चिंताओं को एक कोने में रखकर आगे किसी आशा के सहारे खड़ा रहता है। बड़ी से बड़ी निराशाएं उसे हताश नहीं कर देतीं। हम समझते हैं और प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि राष्ट्रीय कांग्रेस के गोलमेज में भाग न लेने से गोलमेज की सफलता में कितनी बड़ी बाधा पहुंची है। भारत-विद्वेषी अंग्रेजी पत्र यह कहा करें कि कांग्रेस भारतवर्ष की थोड़ी-सी पढ़ी-लिखी जनता की ही प्रतिनिधि संस्था है और किसी की नहीं। हम तो यह नहीं मानते। वे अंग्रेजी पत्र तो यहां तक कहते हैं कि कांग्रेस गोलमेज सम्मेलन में इसलिए नहीं जाती कि वह भारत की ही अन्य प्रतिनिधि संस्थाओं का मुकाबला करने से डरती है। उनकी बात को हम प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते। कांग्रेस दल के न जाने से यहां की जनता की सच्ची आकांक्षाएं प्रकट करने का दावा दूसरी कोई पार्टी शायद ही कर सके।

हां, स्वयं वाइसराय और उनकी सरकार भारतीय जनता की आकांक्षा को ठीक-ठीक प्रकट करने का काम अवश्य कर सकते हैं। वाइसराय लार्ड इर्विन की उदारता इसमें सहायक होगी। प्राचीन समय में इस देश के शासक ही जनता के सच्चे प्रतिनिधि होते थे। वर्तमान वाइसराय में उन गुणों की कमी नहीं जो प्रजा के प्रतिनिधि में होने चाहिए। उनकी अब तक की नीति हमारी आशा को विचलित नहीं करती, दृढ़ ही करती रही। विरोध तो होगा ही पर विरोध का सामना करने में ही महत्ता है। सम्राट के प्रतिनिधि लार्ड इर्विन की भारतीय प्रजा अपने अधिकार पाकर और अपने चिरकाल के कष्टों से मुक्त होकर कभी अकृतज्ञ न होगी। विलायत की वर्तमान आर्थिक अशांति के दूर करने का भी यही एक मात्र उपाय है कि भारतीय समस्या को शांति और सम्मान के साथ हल किया जाए। हमने सुना भी है कि वाइसराय और उनकी सरकार आगामी गोलमेज सम्मेलन में अपना मत प्रकट करने के लिए जो संदेश पत्र भेज रही है उसमें बड़ी उदारता के साथ काम लिया गया है। साइमन साहब की सिफारिशें एक कोने में रख दी गई हैं और भारत को प्रतिनिधि शासन दे देने की सिफारिश की गई है। यही हमारी आगामी आशा है जिसकी ओर हमारी ही नहीं लाखों-करोड़ों की दृष्टि लगी हुई है।

मुनिहिं हरियरे सूझ

इंग्लैंड के अनुसार दल के राजनीतिज्ञों में मिस्टर विंसटन चर्चिल का विशेष स्थान है। आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप अपने राजनीतिक विचारों को किसी समय भी निहायत आसानी के साथ बदलकर, एक दल को छोड़कर दूसरे दल में शामिल हो सकते हैं। आपकी दूसरी विशेषता यह है कि आप किसी भी बात को बड़े ही जोरदार ढंग से व्यक्त कर सकते हैं। जब आप बोलते या लिखते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि आप अपने को सर्वज्ञानी और गलतियों की छुआछूत से बिलकुल परे समझते हैं। इन दिनों आपकी कृपा भारतवर्ष पर विशेष रूप से है। सीधे वार्तालाप के असफल हो जाने पर उन्होंने सम्मति प्रकट करते हुए वर्तमान वाइसराय लार्ड इर्विन को बहुत कोसा है। उनकी नेक राय में कांग्रेस वालों से सुलह की बातचीत

करना ही ब्रिटेन और भारत सरकार के लिए अपमानजनक है। जब अमेरिका अंग्रेजों के हाथ से निकला तब भी चर्चिल महोदय सरीखे कुछ हठीले राजनीतिज्ञों ने सम्राट तीसरे जॉर्ज को कुछ ऐसी ही सलाह दी थी। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि क्या जीवन का अधिकतर हिस्सा राजनीतिक कार्यों में बिताने पर भी चर्चिल साहब में इतनी क्षमता नहीं आई है कि वह ठंडे दिमाग से परिस्थितियों पर विचार कर सकें। इस समय भारत में अंग्रेजी राज्य की क्या दशा है? यह ठीक है कि आज भी भारत की राजधानी दिल्ली अंग्रेजों के हाथ में है और वहां निवास करने वाला ब्रिटिश प्रतिनिधि सारे भारत के लिए जितने 'आर्डिनेंस' चाहे, जारी कर सकता है और बल-प्रयोग से हुकूमत कर सकता है। मगर क्या इतने ही से यह कहा जा सकता है कि भारत में अंग्रेजी राज्य रामराज्य की समता कर रहा है अथवा बहुत स्थायी है। क्या मिस्टर विंसटन चर्चिल कह सकते हैं कि भारतीयों के हृदय में अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा, भय अथवा प्रेम इन तीनों में से एक भी बाकी रह गया है। श्रद्धा किस बात के लिए हो, क्या उनकी निःस्वार्थपरायणता के लिए? भय और प्रेम तो इतने काफूर हो गए हैं कि भारत की असंख्य जनता रोज राष्ट्रीय झंडे के नीचे सुबह और शाम ब्रिटिश राज्य के विनाश के लिए अत्यंत उच्च स्वरों में ईश्वर से प्रार्थना करती है। हजारों पुरुष और स्त्री इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जेलखानों में सड़ रहे हैं। इंग्लैंड से आर्थिक संबंध-विच्छेद करने का सफल प्रयास जो बायकाट के रूप में कई महीनों से चल रहा है, क्या चर्चिल महोदय को मालूम नहीं। आश्चर्य है।

यह तो हुई वर्तमान की बात। दलील के लिए हम यह भी मानने को तैयार हैं कि सरकार द्वारा वर्तमान आंदोलन के बारे में की गई रिपोर्टें ठीक हैं। बल से सरकार उसे दबा सकती है। मगर वह जनता को कब तक दबाए रखेगी? मिल्टन के शैतान ने नारकीय यातनाएं सहते हुए भी कहा था कि यद्यपि हम बल के प्रयोग से पछाड़ दिए गए हैं तथापि हम तब तक विजित नहीं हैं जब तक हमारा साहस (Spirit) हमारा साथ नहीं छोड़ता। मनुष्य को तो ईश्वर ने शैतान से ऊंचा बनाया है और उसमें सहनशीलता की मात्रा कहीं अधिक होती है। और तिस पर भी भारतीयों को तो महात्मा गांधी ऐसा नेता मिल गया है, सहनशीलता तो जिसकी सहचरी और अनुगामिनी है। एक बात और भी है, वर्तमान आंदोलन उन लोगों के हाथ में है जिनकी अधिक अवस्था हां-हजूरों को देखते-देखते बीती है। आज का नवयुवक जो 'इनकलाब जिंदाबाद' के नारे लगाता है उसने अपने लड़कपन में बादशाह जॉर्ज पंचम के गद्दी पर बैठने पर मदरसे में बंटे हुए तमगों को बड़ी श्रद्धा और गर्व के साथ लगाया था, जब गत महासमर खत्म हुआ था स्कूल में बंटी हुई मिठाई खाकर अपने को तृप्त समझा था और शायद प्रिंस ऑफ वेल्स और ड्यूक ऑफ केनाट की अभ्यर्थना भी की थी। यही उसकी राजनीतिक शिक्षा थी। मगर, आज का पांच वर्ष का बच्चा भी गर्व के साथ गाता है, 'झंडा ऊंचा रहे हमारा'। बस समझ लीजिए आसार कैसे हैं और भविष्य का क्या रूप होगा मगर चर्चिल महोदय को इतनी फुरसत कहां है कि वह आने वाले समय के बारे में विचार करें। वह तो प्रकांड अनुदार लोगों के साथ होकर जोर से चिल्लाते हैं। 'दबाओ भारतीय आंदोलन को'—ठीक है 'जिंदगी चैन से गुजरती है, आकबत की खबर खुदा जाने'।

वाइसराय यदि सचमुच सुलह के लिए उत्सुक हैं तो यह उनकी सुबुद्धि और राजनीति

परायणता का बड़ा अच्छा सुबूत है। उनको तो संधि वार्तालाप भंग हो जाने से हताश न होकर संधि के लिए नवीन रास्तों की तलाश में लग जाना चाहिए। और चर्चिल महोदय जैसे व्यक्तियों के कहने की परवाह न करनी चाहिए।

(सोमवार, 15 सितंबर 1930)

तर्क

यदि भारत सरकार अपनी ओर से यह विश्वास दिलाए कि वह आगामी गोलमेज सम्मेलन में भारत के स्वतंत्र होने के अधिकार का समर्थन करेगी तो स्वयं मैं महात्मा गांधी और पं. जवाहरलाल से सरकार के इस विश्वास दिलाने की बात कहूंगा। यदि सरकार ने ऐसा विश्वास दिलाया और यदि महात्मा गांधी तथा पं. जवाहरलाल ने उसे स्वीकार किया तो सत्याग्रह आंदोलन स्थगित कर दिया जाएगा। साथ ही सरकार को अपनी दमन नीति बंद कर देनी पड़ेगी और राजनीतिक कैदियों को छोड़ देना पड़ेगा। तब कांग्रेस गोलमेज में शरीक हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

प्रायः यही बात पं. मोतीलाल नेहरू ने मिस्टर स्लोकोंब से कही थी और इसी के आधार पर समझौते का प्रयत्न किया गया था। इसी के अनुसार सरकार की ओर से विश्वास दिलाने की कोशिश की गई परंतु न सत्याग्रह आंदोलन के स्थगित करने का अवसर आया और न कांग्रेस ने गोलमेज में जाना स्वीकार किया। बात जहां थी वहीं रह गई। अब तक निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि गोलमेज सम्मेलन का क्या निर्णय होगा, क्योंकि यद्यपि वाइसराय बड़ी उदारता से भारत के उचित अधिकारों के समर्थन करने की बात कह रहे हैं पर न तो उन उचित अधिकारों का किसी को पता है और न वाइसराय की बात के मान लिये जाने का ही कुछ निश्चय है। पं. मोतीलालजी के ऊपर लिखे वक्तव्य से इतना अवश्य स्पष्ट है कि गोलमेज सम्मेलन में जाने की बात उन्होंने सोची अवश्य थी। यह भी स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य भारत के लिए गोलमेज में जाकर पूर्ण प्रतिनिधि शासन प्राप्त करना था। पूर्ण प्रतिनिधि शासन का अर्थ महात्मा गांधी ने अधिक स्पष्ट कर दिया है। उनकी पहली शर्त यह थी कि गोलमेज सम्मेलन में भारत को आवश्यक रुकावटों के साथ स्वराज्य दिया जाए। यही स्वराज्य गोलमेज की बहस का विषय हो। निश्चय ही महात्माजी का यह स्वराज्य औपनिवेशिक स्वराज्य ही है क्योंकि उन्होंने आवश्यक रुकावटों का जिक्र किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया है कि भारत को ब्रिटेन से अलग हो जाने का अधिकार भी होगा। यह बात बिलकुल स्पष्ट कर देती है कि महात्माजी पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य चाहते हैं। उससे कम तो कुछ भी नहीं, उससे अधिक भी कुछ नहीं।

यही औपनिवेशिक स्वराज्य भारत के अन्य दलों, विशेषकर नर्म दल वालों का भी लक्ष्य

है। नर्म दल वाले जो नेता गोलमेज में जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश औपनिवेशिक स्वराज्य से कम कुछ भी स्वीकार न करेंगे। लक्ष्य के विचार से महात्मा गांधी, पं. मोतीलाल नेहरू और नर्म दल वाले नेताओं को एकता स्वीकार करनी पड़ती है। अंतर इतना ही है कि महात्मा गांधी आदि पहले से वचन लेकर निश्चित लक्ष्य से गोलमेज में शरीक होना चाहते थे और ये गोलमेज के प्रतिनिधि बिना किसी शर्तनामे के विलायत जा रहे हैं। इधर मुसलमानों के सम्मिलित दल ने गोलमेज में मजहबी समस्याओं को प्रमुख प्रश्न बनाने की जो बात कही है, उसका प्रतिकार करने के लिए यदि नर्म दल वाले नेताओं की सम्मिलित शक्ति किसी काम आ सके तो कांग्रेस और हिंदू महासभा को उनके गोलमेज में जाने का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विरोध न करना चाहिए।

गोलमेज में जाने का विरोध कांग्रेस के किसी जवाबदेह व्यक्ति ने नहीं किया। विरोध करने वालों में नवयुवकों के उत्तेजनापूर्ण भाषण और उनके पत्र-पत्रिकाओं की तेज टिप्पणियां हैं। उदाहरण के लिए बंबई के नवयुवकों ने यह सोचा है कि वे गोलमेज में जाने वालों के विरुद्ध प्रदर्शन करेंगे। उन प्रतिनिधियों के जहाज में छेद कर देने की धमकी को हम खेलवाड़ मान सकते हैं पर उसके भीतर छिपी हुई उग्रभावना को हम कम अच्छा समझते हैं। इसी प्रकार कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने अपनी टिप्पणियों में नर्म दल वाले नेताओं पर यह दोष लगाया है कि वे अपनी बात के सच्चे नहीं। वे कहते हैं कि कहां तो यहां के माडरेट चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि महात्मा गांधी और कांग्रेस नेताओं के बिना गोलमेज सम्मेलन सफल न हो सकेगा और कहां अब सामान बांधकर चलने की तैयारी किए बैठे हैं। ठंडे होकर विचार करने से मालूम होता है कि कांग्रेस के शरीक होने के लिए जोर-जोर से चिल्लाने में उन नेताओं की देशप्रियता ही काम कर रही थी। कोई किसी के लिए कुछ कहता है या करता है तो किसी उद्देश्य से। नर्म दल वाले नेता चिल्ला रहे थे और सप्रू-जयकर सरीखे व्यक्ति दौड़े-दौड़े फिरते थे, किस लिए? देशहित के लिए ही तो?

अब जब कांग्रेस ने निश्चय कर लिया कि वह गोलमेज में शरीक न होगी, तब नर्म दल वालों ने अपना कर्तव्य यही समझा कि जिस तरह से भी कुछ लाभ हो वही करने में कल्याण है। एक दिशा से नहीं यदि अनेक दिशाओं से प्रयत्न किया जा रहा है तो हानि तो कुछ नहीं, विशेषकर ऐसी अवस्था में जब एक दिशा में काम हो रहा है और दूसरी दिशा में काम करने वाले व्यक्ति उस पहली दिशा में काम नहीं करना चाहते अथवा काम करने के योग्य नहीं।

देश की सबसे प्रमुख और प्रतिनिधि संस्था कांग्रेस है, यह किसे स्वीकार न होगा। प्रसिद्ध माडरेट नेता श्री श्रीनिवास शास्त्री कहते हैं और सब स्वीकार करते हैं कि कांग्रेस के न जाने से प्रजा की सच्ची आकांक्षाएं प्रकट करने का दावा ठीक-ठीक कोई दूसरा दल नहीं कर सकता। यदि सच पूछा जाए तो देश की असंख्य अंधकार में पड़ी हुई जनता ऐसी है जिसका राजनीतिक हलचल में कोई स्थान ही नहीं। हम किस लिए क्या कर रहे हैं, यह थोड़े लोग जानते हैं। वास्तविक ध्येय और भिन्न-भिन्न प्रणालियों का ज्ञान तो और भी थोड़े लोगों को है। जब तक यहां की जनता राजनीतिक शिक्षा से वंचित है तब तक उसका प्रतिनिधि बनने का अधिकार सचमुच किसी को नहीं। प्रतिनिधि कहलाना तब सार्थक हो सकता है जब देश का प्रत्येक व्यक्ति अपना

मूल्य और अपने अधिकार को समझे और उचित उपाय का ज्ञान रखे। जब ऐसी दशा होगी तब शायद प्रतिनिधि बनने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। शिक्षित देश आसानी से स्वतंत्र हो जाएगा। कुछ पत्र-पत्रिकाएं यदि प्रतिनिधित्व का झगड़ा खड़ा करती हैं तो उन्हें ऊपर की बातों पर विचार करना होगा। आज जो इतना विस्तृत देश पराधीनता में पड़ा है उसका कारण यह है कि यहां की जनता अज्ञान में पड़ी हुई स्वातंत्र्य सुख की कल्पना भी नहीं कर पाती। महात्मा गांधी आदि ने जो कहा है कि देश का त्याग अभी स्वराज्य पाने भर को काफी नहीं हुआ, उसका तत्व समझ लेने पर उन पत्र-पत्रिकाओं को चुप ही रहना पड़ेगा।

यदि इस देश का कोई व्यक्ति गोलमेज में न जाए तो सरकार को और बाहर वालों को यहां के निवासियों का पक्का इरादा समझ में आ जाएगा। कांग्रेस की शक्ति और भी दृढ़ होगी। ऐसा कांग्रेस वालों का कहना है, पर सरकार अगर इस बात की चिंता नहीं करती कि यहां वाले किस दृढ़ता से उसका विरोध कर रहे हैं तो लार्ड इर्विन गोलमेज कॉन्फ्रेंस के लिए इतना प्रयास क्यों करते? बाहर वालों की धारणा क्या होगी, क्या नहीं यह कुछ कहा नहीं जा सकता। और सरकार बाहर वाले अन्य देशों की धारणा की परवाह भी तो अधिक नहीं करती। लीग ऑफ नेशंस में अंग्रेज सरकार का कितना अधिक प्रभाव है, यह सबको मालूम है। जेनेवा से लौटे हुए भारतीय प्रतिनिधि ने साफ-साफ कह दिया है कि जेनेवा में अंग्रेजों का पूरा-पूरा आधिपत्य समझना चाहिए।

सरकार और सरकारी और अर्द्धसरकारी पत्रों ने कांग्रेस के खिलाफ यह इल्जाम लगाया है कि उसने वाइसराय की संधि चेष्टा को ठुकरा दिया, उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। मजदूर दल के प्रसिद्ध पत्र *डेली हेरल्ड* का कहना है कि जो बातें गोलमेज में तय होनी चाहिए थीं उन बातों का वाइसराय से तय करना महात्मा गांधी की गलती थी। यदि उसका कहना ठीक है तो हमें यह देखना है कि गोलमेज में कैसी-कैसी बातें तय होती हैं। भारत के अनेक प्रांतीय गवर्नरों ने भी कांग्रेस की निंदा करने में इस तर्क से काम लिया है कि गोलमेज में भारत को उसके अधिकार मिल रहे हैं फिर कांग्रेस इस नीति पर क्यों चल रही है। अब हमें देखना है कि वे अधिकार क्या हैं जो भारत को मिल रहे हैं। इन सबके अतिरिक्त हमको वाइसराय की उदारता का प्रत्यक्ष प्रमाण पाने की भी कम आकांक्षा नहीं है। जिस गोलमेज के लिए इतनी सब बातें कही गई हैं उसकी बैठक हम देखना चाहते हैं।

इस सप्ताह सत्तर हजार से भी अधिक मजदूरों के बेकार हो जाने से विलायत में बेकारों की संख्या इक्कीस लाख से भी अधिक पहुंच गई है। मजदूरों की समस्या को सुलझा सकना विलायत सरकार के लिए सरल काम नहीं है क्योंकि इस समय संसार के सभी देशों की आर्थिक अवस्था बिगड़ी हुई है और भारत के असंतुष्ट होने के कारण विलायत का सबसे बड़ा बाजार बंद हो रहा है। या तो असंतोष दूर करो या मजदूरों को कष्ट में पड़े रहने दो। सरकार के लिए यह समस्या बड़ी जटिल है। परंतु मजदूर बहुत दिनों तक कष्ट में नहीं रखे जा सकते। यदि भारत की अवस्था सुधारने का प्रयत्न न किया गया तो आगामी कठिनाई भीषण ही दीख पड़ती है। समझौते के लिए इस विचार से भी यह उचित समय है।

भारतवर्ष का अर्थकष्ट भी बड़ा भयानक हो रहा है। अकेले बंगाल के जूट के व्यापार में ही बीसों करोड़ का घाटा लगा है। वहां के व्यवसायी दल ने सरकार से आग्रह किया है कि वह किसानों के यहां पड़े हुए माल को खरीद ले। ऐसा करने से भाव बढ़ेगा जिससे किसानों और व्यापारियों दोनों को ही लाभ होगा। सरकार खरीदने को तैयार नहीं दीख पड़ती। जो अवस्था बंगाल में है वही अवस्था थोड़े-बहुत अंतर से सारे देश में है। इस बार की फसल अच्छी हो रही है, आगामी फसल के अच्छी होने की संभावना है। इसका अर्थ यह हुआ कि गल्ले की कीमत और घटेगी। नतीजा यह होगा कि बेचारे किसान और आर्थिक कष्ट में पड़ेंगे। इस अर्थकष्ट के बहुत से कारण हैं। उन्हें दूर करना आवश्यक है। जब तक शासक और शासित एकमत होकर उसे दूर नहीं करते तब तक जनता के कष्ट का कहीं अंत नहीं दीख पड़ता। संभव है, गोलमेज के समझौते के आधार पर स्थिति में कुछ परिवर्तन हो और अवस्था कुछ सुधरे।

कांग्रेस के अधिकांश नेताओं के जेल में चले जाने के बाद इधर देश में अनेक स्थानों पर जो बमबाजी हुई है और जो हिंसात्मक प्रवृत्ति देखी गई है, उसका कारण चाहे जो कुछ हो पर उसे बढ़ने न देना प्रत्येक शांति-प्रिय देशवासी का कर्तव्य है। कांग्रेस ने अहिंसा को जो महत्व दे रखा है वह सबको मालूम है। महात्मा गांधी जैसे तपस्वी व्यक्ति के जीवन का एकमात्र लक्ष्य अहिंसा है। उसकी रक्षा करनी होगी। यह मान लिया जाए कि कांग्रेस के स्वयंसेवक शक्ति भर अहिंसात्मक बने रहने का प्रयत्न करेंगे पर एक तो पथ-प्रदर्शक के अभाव में और दूसरे मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता के कारण वर्तमान कठिन परिस्थिति में अहिंसा की रक्षा करना विशेष कठिन दीख पड़ने लगा है। इस संबंध में सहयोगी लीडर पत्र के एक विशेष प्रतिनिधि का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि 'महात्मा गांधी यदि जेल के बाहर होते और वर्तमान आंदोलन का नेतृत्व करते तो वे यह बात निश्चय ही स्पष्ट कर देते कि वे मानसिक, वाचिक आदि किसी प्रकार की हिंसा नहीं चाहते। पाशविक हिंसा की तो कल्पना भी नहीं कर सकते। महात्माजी के प्रत्येक अनुयायी का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह उन पूज्य नेता की अभिलाषा की पूर्ति में प्रत्येक रीति से सहायता करे।' यदि आज के कार्यक्रम के किसी अंश से हिंसा की प्रेरणा मिलती है तो उस अंश को ग्रहण नहीं करना होगा। यदि सरकार की कड़ाई सह्य नहीं है तो उस कड़ाई के चक्कर में पड़ना व्यर्थ है। यदि हम अहिंसा को व्यवहार में नहीं ला सकते तो हमें महात्मा गांधी के महान और पवित्र लक्ष्यों को भ्रष्ट करने का कोई अधिकार नहीं। हिंसा से हर तरह से दूर रहना ही होगा।

इस प्रकार देश की बिगड़ती हुई दशा का विचार कर जो माडरेट नेता गोलमेज में जाकर शांति और व्यवस्था लाने की आशा रखते हैं और उसके लिए प्रयत्न करते हैं, वे और नहीं तो महात्मा गांधी के अहिंसा आदेश का उनसे अधिक पालन करते हैं जो देशहित के नाम पर और महात्माजी के अनुयायी बनने का दावा करते हुए एक ही लक्ष्य रखने वाले अपने ही देशवासियों के विरुद्ध प्रदर्शन करने को तैयार हैं और उनके जहाज को डुबा देने की धमकी देते सुने जाते हैं।

हिंदू समस्या

हाल के ढाका, किशोरगंज, बलिया, गोलमेज, रवींद्रनाथ और सर फजली हुसैन के प्रसंग याद कर हिंदुओं के एक दल में असंतोष बढ़ने की संभावना हो रही है। श्री नियोगी ने विगत असेंबली में ढाके की जिन क्रूरताओं का उल्लेख किया था, वे बड़ी ही भयानक थीं। परंतु सरकारी जांच के बाद यह पता चला कि पुलिस ने अपना कर्तव्य ठीक-ठीक किया, हां भविष्य में सौ घुड़सवार और भर्ती किए जाएं जो ऐसे अवसरों पर काम आ सकें। पुलिस ने अपना कर्तव्य भी किया और सौ सिपाही और चाहिए भी। इसका तारतम्य कहां मिलता है? यदि पुलिस ने अपना कर्तव्य किया तो सरकार ने अपना कर्तव्य कहां किया? पुलिस कम थी तो अधिक क्यों नहीं रखा? जनता की निगरानी का अधिकार और भार तो सरकार पर ही है।

किशोरगंज के हिंदू-मुस्लिम दंगे पर सरकार की टिप्पणी यह है कि वह दंगा आर्थिक कारणों से हुआ था, जातीय विद्वेष से नहीं। दूसरी जगह सरकार यह भी कहती है कि कुछ मुसलमान मौलवियों ने अपनी जमात में इस बात का प्रचार किया कि मुसलमान यदि हिंदुओं के प्रतिकूल दंगा करेंगे तो सरकार उनको दंड नहीं देगी।

बलिया में निरस्त्र और शांतिपूर्ण महावीर दल पर गोली चलाई गई। कितने ही घायल हुए। कितने ही मरे। सरकारी विज्ञप्ति यह निकाली गई कि पांच सौ मुसलमानों की लट्ठ बंद भीड़ पास की मस्जिद में खड़ी पंद्रह-बीस हजार हिंदुओं पर आक्रमण करने वाली थी। हिंदुओं का जुलूस जिस रास्ते से जा रहा था उधर से जाने की मनाही की गई थी। इससे हिंदुओं को तितर-बितर कर देने की आवश्यकता पड़ी और गोली चलाई गई। शांतिप्रिय निरस्त्र नागरिकों का धार्मिक जुलूस प्रतिवर्ष जिस रास्ते से जाता रहा हो वह इस वर्ष नहीं जाने पाया। यदि हिंदुओं की जमात, गैर-कानूनी थी तो क्या मुसलमानों की सशस्त्र जमात और अधिक गैर-कानूनी नहीं थी? शांति और व्यवस्था की रक्षा करने में क्या साधारण सात्विक बुद्धि को भी भुला देना जरूरी होता है?

श्री नियोगीजी की सब बातें कल्पनाएं हो सकती हैं। पर पाश्चात्य सभ्यता का आदर करने वाले विश्ववादी कवि रवींद्रनाथ इतने क्षुब्ध क्यों हो गए हैं? उन्होंने शिकायत की है कि सरकार ढाके के मामले में इतनी शांत और चुप क्यों है? वहां के बड़े भीषण समाचार हमारे पास आए हैं। यदि उस दंगे में एक भी यूरोपियन हताहत होता तो सरकार बहुत कुछ कहती, करती पर इस समय इसकी भीषण चुप्पी देखकर आश्चर्य होता है। रवींद्रनाथ राजनीति से संबंध नहीं रखते, वे मुस्लिम संस्कृति को प्यार करते हैं पर वे अपने पास आए हुए अनेक विश्वसनीय पत्रों की अवहेलना कैसे करें।

इधर गोलमेज सम्मेलन के लिए जो प्रतिनिधि चुने गए हैं उनमें हिंदुओं की संख्या यहां की जनसंख्या के हिसाब से बहुत थोड़ी है। जहां तमाम देश में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों की संख्या की तिगुनी से भी अधिक है वहीं गोलमेज में जाने वाले हिंदुओं की संख्या मुसलमानों

से डेढ़ गुनी ही रखी गई है। इनमें भी जहां मुसलमानों के मजहबपरस्त मुहम्मद अली, डॉक्टर शफाल अहमद, मुहम्मद सफी और हिजहाइनिस आगा खां जैसे लोग हैं वहां हिंदुओं के अधिकांश नेता राजनीतिक समस्याओं को प्रमुख स्थान देने वाले हैं। अखिल भारतीय हिंदू जनता के एक मात्र पूज्य नेता महामना मालवीयजी जेल के भीतर हैं। जो जयकर, मुंजे और नरेंद्रनाथ आदि हिंदू नेता हैं वे हिंदू हितों की रक्षा कर सकेंगे या नहीं इसमें संदेह है।

यहां हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हम हिंदू हित को राष्ट्रीय हित में मिला हुआ देखना चाहते हैं, हम विशेषाधिकारों का विरोध करते हैं, पर जब हम देखते हैं कि गोलमेज में जाने वाले मुसलमान नेता एकत्र होकर सर फजली हुसैन की मजहबपरस्ती के स्वर में स्वर मिलाएंगे और यह साफ-साफ कहने को तैयार होंगे कि हम सरकार का साथ देंगे, हिंदुओं का साथ नहीं देंगे, पहले जातीय प्रश्न हल कर लेंगे फिर राजनीतिक मामले तय करेंगे आदि-आदि तब हमको हिंदू हितों और हिंदू-समस्या पर ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि गोलमेज सम्मेलन के निर्णयों के संबंध में हमें शंकाएं हैं फिर भी हम वहां जाने वाले प्रत्येक हिंदू और प्रत्येक न्यायशील मुसलमान नेता का ध्यान इस ओर दिलाते हैं और आशा करते हैं कि वे प्रयत्न करके हिंदू-मुस्लिम प्रश्न को राष्ट्रीय प्रश्न में विलीन कर देंगे पर यदि संयोग से ऐसा न हो सके तो हमारा निवेदन है कि हिंदू समस्या भी उतनी ही तत्परता से सुलझाई जाए जितनी तत्परता से अन्य समस्याएं हल की जाएं।

सरकार को भी इस अवसर से लाभ उठाकर अपने निष्पक्ष होने के दावे को सार्थक करना चाहिए।

(सोमवार, 22 सितंबर 1930)

कम से कम मांग

कांग्रेस के नेताओं ने संधि के लिए उद्योग करने वाले श्री सप्रू-जयकर से अपनी कम से कम मांग यह बतलाई थी कि गोलमेज सम्मेलन में इस देश को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाए। महात्मा गांधी उसे स्वराज्य का सार कहते हैं, उनकी ग्यारह शर्तें उसके रूप का आभास देती हैं। उनकी कम से कम मांग में भारत को विलायत से अलग होने, भारतीय कर की जांच कराने आदि का जो अधिकार मांगा गया है वह किसी विचार से असामयिक अथवा व्यर्थ हो सकता है पर उससे यह बात और दृढ़ हो जाती है कि औपनिवेशक स्वराज्य ही कांग्रेस के नेताओं का ध्येय रहा है और उसके ही संबंध में वे वाइसराय से वचन लेना चाहते थे। वाइसराय ने पहले जो वचन दिया था कि वे, उनकी सरकार और मजदूर सरकार इस बात का उद्योग करेंगे कि भारत को वे अधिक से अधिक उचित अधिकार उसे मिलें जिन्हें पाने के वह योग्य हो चुका है, उसे ही उन्होंने फिर से दोहराया। कांग्रेस नेताओं का संदेह दूर नहीं हुआ। उन्होंने वाइसराय की सदाशयता पर विश्वास करते हुए भी यही समझा कि वाइसराय जिन अधिकारों को दिलाने

की सिफारिश करेंगे वे अधिकार पूर्ण प्रतिनिधि शासन या औपनिवेशिक स्वराज्य से कम होंगे। उन्हें शंका थी कि शायद गोलमेज सम्मेलन में और कुछ न मिले, केवल पुराने समय से चले आते हुए सुधारों की एक किस्त ही मिले। इसी शंका के कारण उन्होंने वाइसराय की संधि संबंधी चर्चा और शर्तों को अस्वीकार कर दिया और गोलमेज सम्मेलन में जाना मंजूर नहीं किया।

परंतु नर्म दल के माडरेट नेताओं को इस प्रकार की कोई शंका नहीं हुई। उन्होंने वाइसराय के उपर्युक्त विश्वास दिलाने पर प्रारंभ से विश्वास किया और अब भी वे अपने विश्वास पर पहले की ही तरह दृढ़ हैं। उनका यह विचार है कि वाइसराय के असेंबली वाले भाषण उनकी उदारता का अधिक से अधिक परिचय देते हैं और कानून कायदे के अनुसार वे उससे अधिक कुछ भी नहीं कह सकते थे। इन नेताओं में अधिकांश का यह मत है कि वाइसराय ने भारत को जिन अधिकारों के देने का जिक्र किया वे औपनिवेशिक स्वराज्य से कुछ भी कम नहीं। हां, वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि औपनिवेशिक स्वराज्य चला सकने में जो त्रुटियां भारतीय स्वराज्य सरकार अभी कुछ दिन कर सकती है, उनपर उन कुछ दिनों तक अंग्रेज सरकार का अधिकार रहेगा। यह अधिकार परिवर्तन काल के अधिकार होंगे और थोड़े ही दिन रहेंगे।

यहां हम यह नहीं कह सकते कि माडरेट नेताओं का विश्वास ठीक उतरेगा या कांग्रेस नेताओं की शंका ठीक ठहरेगी। विलायती मजदूर दल के प्रमुख पत्रों, वाइसराय और अन्य प्रांतीय गवर्नरों की राय में गलती कांग्रेस की है। *डेली हेरल्ड* पत्र ने यह कहा है कि कांग्रेस नेता वाइसराय से वे शर्तें कराना चाहते थे जो उन्हें गोलमेज के प्रतिनिधियों के सामने रखनी थीं। परंतु कांग्रेस नेता इससे सहमत नहीं हैं। वे निजी तौर से वाइसराय और मजदूर सरकार का वचन लेना चाहते थे। उनकी विचारधारा शायद यह थी कि जब वाइसराय भारतवर्ष को अधिक से अधिक अधिकार दिलाना चाहते हैं और अधिक से अधिक अधिकारों का मतलब औपनिवेशिक स्वराज्य ही है तब वाइसराय शब्दों के हेर-फेर में न पड़कर वास्तविक बात क्यों नहीं कह देते? 'औपनिवेशिक स्वराज्य' न कहकर 'अधिक से अधिक अधिकार' कहना कांग्रेस नेताओं के लिए शंकाजनक बना रहा।

यद्यपि माडरेट नेता अधिकतर यह विश्वास रखते हैं कि गोलमेज सम्मेलन में भारतवर्ष को औपनिवेशिक स्वराज्य देने की स्कीम तैयार की जाएगी और यद्यपि उनमें से अधिकांश व्यक्ति सम्मेलन में पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की ही मांग पेश करेंगे पर इधर कुछ मजहबी मुसलमान नेताओं के विचारों का प्रवाह कुछ दूसरी ओर जाता दीख पड़ता है। हमारा मतलब गोलमेज में जाने वाले उन कट्टर मुसलमानों से है जो सर फजली हुसैन की सिफारिशों के अनुसार मजहबी प्रश्नों को प्रमुख स्थान देने वाले हैं। यदि मुसलमान प्रतिनिधि मजहबी कट्टरता से प्रेरित हुए और यदि कुछ हिंदू भी उनके विरोध में दूसरी ओर झुके तो निश्चय ही राष्ट्रीय मांग को धक्का लगेगा। कांग्रेस दल के अभाव में यह परम आवश्यक है कि अन्य सब दलों के नेता एकमत होकर औपनिवेशिक स्वराज्य की सम्मिलित मांग उपस्थित करें। यही उनकी कम से कम मांग हो। इसकी वे वर्षों से पुकार कर रहे थे, अब समय है कि उस पर दृढ़ रहें। देश के एक बलशाली दल का यह मत है कि माडरेट नेताओं का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं और

यदि कुछ है भी तो उनमें इतनी शक्ति नहीं कि वे दृढ़ होकर उस लक्ष्य पर जमे रहें और उससे कम कुछ भी स्वीकार न करें। उस दल का यह भी कहना है कि माडरेटों की भिक्षावृत्ति के कारण सारपूर्ण कोई भी वस्तु नहीं मिल सकती। यह ऐसा अवसर है जिससे माडरेट नेता अपने लक्ष्य पर स्थिर रहकर अपने निश्चय और अपने देशप्रेम का परिचय दे सकते हैं।

वह परिचय किस रूप में दिया जा सकता है, यह बतलाना कोई कठिन काम नहीं है। मुसलमानों की मजहबी और गैरवाजिब मांगों के विरोध में यदि सब एकमत होकर खड़े हो जाएं तो उसका परिणाम यह होगा कि एक ओर तो उनकी इस किस्म की मांगें दब जाएंगी जिससे राष्ट्रीय शक्ति बढ़ेगी और दूसरी ओर उनके निश्चय का भी पता चलेगा। अभी उस दिन की खबर है कि भारत सरकार ने गोलमेज सम्मेलन में पेश की जाने वाली अपनी सिफारिशें तैयार कर ली हैं और मिस्टर हेग उसके प्रतिनिधि बनकर शीघ्र ही विलायत जा रहे हैं। यदि माडरेट नेता वाइसराय और उनकी सरकार पर जोर डालकर यह पूछें कि उनकी सिफारिशें क्या हैं और उन्होंने भारत को कैसे अधिकार देने की राय दी है तो इससे भी उनके निश्चित लक्ष्य का पता चल सकता है। इससे संभव है एक लाभ यह भी हो कि सरकार की सिफारिशों का परिचय पाकर देश की जनता का असंतोष कम हो और शांति और व्यवस्था की प्रतिष्ठा हो। कांग्रेस की नीति में भी परिवर्तन होने की संभावना हो सकती है और देश के ये कष्ट के दिन दूर हो सकते हैं।

परंतु यदि किन्हीं कारणों से ऐसा न हो सके तो गोलमेज सम्मेलन में पहुंचते ही माडरेट नेताओं तथा देश के अन्य प्रतिनिधियों को उचित है कि वे सर्वप्रथम एकमत होकर यह प्रस्ताव रखें कि उनकी कम से कम मांग औपनिवेशिक स्वराज्य की है। इससे कम न तो देश की जनता स्वीकार करेगी, न कांग्रेस स्वीकार करेगी और न वे प्रतिनिधि स्वीकार करेंगे। इससे कम कोई भी मांग पेश करने और इससे कम कोई भी अधिकार प्राप्त करने में देश और कांग्रेस की ओर से जो प्रबल विरोध होगा और जो अड़ंगे उपस्थित किए जाएंगे उनका चित्र भी गोलमेज में जाने वाले भारतीय प्रतिनिधियों को खींचकर विलायती प्रतिनिधियों के सामने रख देना चाहिए। ऐसा करने से वे अपनी निश्चय की दृढ़ता सिद्ध कर सकेंगे और भारतीय राष्ट्र की सहानुभूति और कृतज्ञता प्राप्त कर सकेंगे। अंतिम निर्णय जो कुछ भी हो, उनका कर्तव्य वहीं पूरा हो जाएगा।

1931 की मनुष्य गणना

जात-पांत-तोड़क-मंडल की राय पर विचार

भारतवर्ष की अगली मनुष्य गणना सन् 1931 में होने वाली है। पिछली बार सन् 1921 में जो गणना हुई थी उसमें प्रत्येक परिवार के मुखिया का नाम, उस परिवार के व्यक्तियों की संख्या, उनका धर्म, जाति-पांति और धंधा आदि भी पूछे गए थे और उनका हिसाब भी तैयार

किया गया था। उससे हमारी सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ पता चला था और उसके आधार पर समाज को नियमित करने की सुविधा मिली थी। हम नहीं कह सकते कि उस मनुष्य गणना से लाभ उठाकर समाज की ज्ञानशक्ति, बाहुशक्ति, धनशक्ति और सेवाशक्ति से निगमन का काम कितना किया गया, कुछ किया भी गया या नहीं। प्रत्येक राष्ट्र को प्रत्येक काल में इन शक्तियों की आवश्यकता रहती है, यह किसे स्वीकार न होगा। इन्हीं शक्तियों को उचित रीति से संघठित करने, उनका उचित विभाग करने और उनके आपस के संबंधों का उचित निरूपण करने का काम आजकल के उन्नतिशील पश्चिमीय देशों में जिस तत्परता के साथ हो रहा है उसका हाल हम आए दिन जानते ही रहते हैं। अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ और अंतर्राष्ट्रीय लीग ऑफ नेशंस को हम राष्ट्रों की सेवाशक्ति और बाहुशक्ति को नियमित करने वाली संस्थाएं मान सकते हैं। यह क्रमशः शूद्रों और क्षत्रियों का अंतर्राष्ट्रीय संघ है। इसी प्रकार पश्चिमीय देशों ने ब्राह्मणों और व्यवसायियों के सार्वदेशिक संगठन का काम भी बड़ी सुंदर रीति से चलाया है। ये सब काम रचनात्मक और संगठनात्मक हैं परंतु हमारे देश में कुछ ऐसी हवा बदली दीख पड़ती है जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब उड़कर कहां चले जाएंगे यह अभी कोई कह नहीं सकता। ऐसी ही हवा का एक झोंका अभी हाल में लाहौर की जात-पांत-तोड़क-मंडल नाम की संस्था ने महात्मा हंसराज, भाई परमानंद, श्री संतराम आदि के हस्ताक्षरों से यह राय प्रकट की है कि आगामी 1931 की मनुष्य गणना में जात-पांत का जिक्र न किया जाए। केवल हिंदू-मुसलमान-ईसाई आदि के विभाग ही रहें। एक मित्र ने इस पर शंका की कि हिंदू-मुसलमान-ईसाई आदि ने क्या कसूर किया है जो इनका नाम लिखा जाए। मनुष्य गणना में इन फिरकों की भी क्या जरूरत? सब मनुष्य मनुष्य की हैसियत से क्यों न गिने जाएं। इस सिलसिले में हमने यह सोचा कि बेचारे मनुष्य की ही गिनती क्यों की जाए। जीवात्मा और परमात्मा तो एक है फिर मनुष्यों को ब्रह्म में लीन क्यों न कर दिया जाए। अलग-अलग क्यों मारे-मारे फिरें। आजकल इस देश की हालत भी इतनी अच्छी नहीं कि यहां का कोई मनुष्य ब्रह्म में लीन हो जाने से ऐतराज करे। और यदि करे भी तो सरकार का दमन-चक्र किस दिन काम आवेगा?

परंतु लक्षणों से जान पड़ता है कि पंजाब के कुछ दुखित हिंदुओं का यह दुर्बल मंडल फूंक से पहाड़ न उड़ा सकेगा। देश के थोड़े से अर्द्धशिक्षित, पश्चिमीय रहन-सहन और चाल-ढाल की ओर खिंचे हुए नवयुवकों को छोड़कर यहां की 96 प्रतिशत से अधिक जनता जात-पांत-तोड़क-मंडल के साथ नहीं है। जो नवयुवक तरह-तरह की कल्पनाएं किया करते हैं वे कभी-कभी ऐसा अवश्य सोच लेते हैं कि जाति का झगड़ा हिंदू समाज से दूर कर दिया जाए, पर सोचने भर को ही, आगे नहीं। उनका खान-पान, उनके विवाह आदि संस्कार सब जाति के घेरे के भीतर होते हैं और वे कुछ भी आक्षेप नहीं करते। जब तक यह सब जारी है तब तक थोड़े से व्यक्तियों की राय से मनुष्य गणना से जाति-पांति का विवरण नहीं निकाला जा सकता क्योंकि मनुष्य गणना तो समाज की सामयिक अवस्था का चित्र दिखाती है। वह व्यक्ति की काल्पनिक भावनाओं का विचार नहीं कर सकती। हां, जो थोड़े से व्यक्ति वास्तव

में जात-पांत-तोड़क-मंडल के सिद्धांतों से सहमत हों वे अपनी जाति न लिखाएं तो यह ठीक माना जा सकता है। यदि हम मान भी लें कि आगामी मनुष्य गणना में जाति-पांति का जिक्र नहीं रहेगा तो क्या कागज के कुछ टुकड़ों में उसका जिक्र न रहना इस बात का प्रमाण हो सकता है कि शताब्दियों से हिंदू सभ्यता और हिंदू संस्कृति की छाप को ग्रहण करने वाली वर्ण व्यवस्था रह ही नहीं गई। यह तो कैसे हो सकता है?

जात-पांत-तोड़क-मंडल का नाम ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि इसकी शैली विनाशात्मक है और इसका लक्ष्य कुछ भी नहीं। जात-पांत-तोड़क के कारण चाहे जो कुछ हो पर तोड़ने की संहार-क्रिया के बाद क्या होगा इसका कुछ पता नहीं। हम मानते हैं और क्लेश के साथ मानते हैं कि हिंदू समाज की जाति-पांति का आधुनिक ढंग संसार के लिए हंसी की और हमारे लिए पतन की वस्तु हो रहा है पर हम वस्तुस्थिति की अवहेलना कहां तक कर सकते हैं। जब हम देखते हैं कि आज हजारों वर्षों से हिंदू समाज विजातियों के हाथ में रहा है, हिंदू शासक के न रहने से वह इतने दिनों से अव्यवस्थित होता चला आ रहा है फिर भी जब हम देखते हैं कि रसोई बनाने वाले शूद्र-ब्राह्मण की प्रतिष्ठा 'महाराज' शब्द द्वारा ही हो रही है और मिठाई बेचने वाला कान्यकुब्ज ब्राह्मण वैश्य होकर भी अपने बीस बिस्वों को नहीं भूला है और न समाज ने ही उसे भुलाया है तब हम परंपरा और संस्कारों की दृढ़ता को समझ लेते हैं। खराब होते हुए भी, विपरीत परिस्थितियों में भी वे हमें नहीं छोड़ेंगे। जान पड़ता है, उन्हें लेकर ही चलना होगा।

जब उन्हें लेकर ही चलना है तब तो जात-पांत-तोड़क-मंडल की संहारकारिणी शैली हमारे किसी काम की नहीं रह जाती। यदि इस समय हिंदू राज्य और हिंदू व्यवस्था होती, नवीन स्मृतिकार समाज को या तो स्वतः मान्य होते या अनिवार्य रीति से मान्य ठहराए जा सकते, तब भी जात-पांत-तोड़क-मंडल जैसी क्रांतिकारिणी संस्था को शायद ही सफलता मिलती, पर अवस्था तो बिलकुल दूसरी ही है। नए सामाजिक नियमों को मानने के लिए कोई बाध्य नहीं किया जा सकता। वे नए नियम उपयोगी हैं या नहीं, इसकी जांच भी नहीं की जा सकती। अशिक्षा और अज्ञान के कारण समाज का अधिकांश अपने पुराने पथ पर ही चला जा रहा है। संस्कार और परंपरा दृढ़ता से उसे जकड़े हैं। ऐसी अवस्था में जात-पांत-तोड़क-मंडल अपनी तोड़ने वाली संहारक नीति से समाज का कुछ भी कल्याण नहीं कर सकता।

हम उस समय की याद नहीं करते जब इस देश के पवित्र, ज्ञानवान और त्यागी ब्राह्मण, शक्तिशाली और आत्मबलि करने वाले क्षत्रिय, धन शक्ति से समाज का उदर भरने वाले कल्याणकारी वैश्य और विनीत, सेवाप्रिय शूद्र एक सूत्र में बंधे हुए राष्ट्र के कल्याण की कामना करते थे। हम रामराज्य को जाने देते हैं, वह स्वप्न ही सही। हम महर्षि वसिष्ठ द्वारा की गई शूद्र निषाद की अभ्यर्थना वाले भारतीय आदर्श को भूल जाते हैं। एक पक्ष में त्याग, पवित्रता और सरलता और दूसरे पक्ष में सम्मान भाव, विनय आदि की सात्विक वृत्तियों से होने वाले लोकहित को भी हम भुला देंगे। वे पुरानी बातें हो गईं। पर हम आधुनिक पश्चिमीय राष्ट्रों की नवीन संगठन शैली को अवश्य याद रखेंगे। वे भूलते-भटकते अब रास्ते पर आ रहे हैं।

हम उनका अनुकरण करें। हम पश्चिम के अनुकरण को बड़ा ऊंचा स्थान देते रहे हैं। इस समय भी हम वैसा ही करें।

हम प्रसिद्ध दार्शनिक और विद्वान बाबू भगवान दासजी की इस राय से भी सहमत नहीं कि आगामी गणना में पेशे के अनुसार जाति लिखी जाए। मनुष्य गणना यदि ऐतिहासिक अनुसंधान में कुछ भी स्थान रखती है तो हमको उसमें प्रचलित जाति-पांति को स्थान देना ही होगा। आज हिंदुस्तानी पलटन में ब्राह्मण भी हैं, क्षत्रिय भी हैं, वैश्य और शूद्र भी हैं। डॉक्टर भगवान दासजी के मतानुसार वे सब क्षत्रिए हुए, पर वे आपस में विवाह नहीं करते, एक-दूसरे का बनाया खाते तक नहीं, इसी तरह बीस बिस्वे के कान्यकुब्ज ब्राह्मण हलवाई का काम करते हुए भी कितने ही हजार रुपए लेकर अपने लड़के का विवाह अच्छे पढ़े-लिखे शिक्षित कुल में करने का दावा रखता है, और करता है। इस सत्य की रक्षा करनी होगी। अप्रिय सत्य है तो भी क्या हुआ। सत्य तो सत्य ही ठहरा।

हमारे विचार में तो आगामी मनुष्य गणना में जाति-पांति के सब भेद प्रत्येक व्यक्ति या परिवार के वर्तमान पेशे आदि सब लिखे जाने चाहिए। प्रत्येक प्रांत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा उनके अनेक उपविभागों की संख्या जान लेने पर हम प्रयत्न करके स्थानों के अनुकूल समाज की गतिविधि ठीक करने का काम कुछ सफलता से कर सकेंगे। यदि संभव हो तो एक बार फिर से समाज पर जोर डालकर उसका श्रेय मार्ग दिखाया जाए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की राष्ट्रहितैषी शक्तियों का आधुनिक समय के अनुकूल उपयोग किया जाए। पारस्परिक प्रीति फिर से दृढ़ की जाए। यह सब काम जात-पांत-तोड़क-मंडल के कार्यक्रम से सिद्ध न होगा, शिक्षा के साथ सुहृद्भाव को बढ़ाकर नवीन संगठनात्मक प्रणाली का आश्रय लेने से और उसके लिए शक्ति भर प्रयत्न करने से होगा।

(सोमवार, 29 सितंबर 1930)

मिस्टर आचार्य

मिस्टर और आचार्य को साथ देखकर कोई यह न समझ ले कि यह कोई सामाजिक व्यंग्य है, इसलिए हम पहले ही कह दें कि यह और कुछ नहीं हमारे देश के एक अच्छे प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम है। मद्रास के मिस्टर एम.के. आचार्य को कौन नहीं जानता? आप बहुरूपिए नहीं तो दोरूपिए जरूर हैं। अभी हाल में एक और जुड़ जाने से आप अब तीनरूपिए भी कहे जा सकते हैं। इन तीनरूपिए के तीन तिकट महाविकट हों तो क्या हुआ पर तीन कौड़ी से ये फिर भी अच्छे हैं। ये न सही, इनकी कहानी अच्छी है। कहानी इस तरह चलती है कि पहले ये स्वराज्य दल के प्रतिनिधि होकर असेंबली की ऊंची भूमि में पहुंचे। पर उस ऊंची भूमि में इन्हें कल्पना हुई कि इनकी सनातन धर्म की नैया डूबी जा रही है। कल्पना की अस्वाभाविकता पर हम आश्चर्य नहीं करते क्योंकि मनुष्य स्वप्न में इससे भी अटपट कल्पनाएं किया करता

है। खुलासा यह कि शारदा का प्रसिद्ध विवाह बिल इन्हें भयानक-सा लगा और ये विकल हो उठे। आव देखा, न ताव स्वराज्य दल से भाग खड़े हुए। यहीं से इनके दोरूपिए का इतिहास चलता है। शारदा बिल के विरोध में इन्होंने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। बड़ा जोर बांधा, बहुत-सी नायाब तरकीबें सोचीं, पर कुछ हुआ-हवाया नहीं। लेकिन एक बात है, इनके शारदा के बिल के विरोध का ढंग बड़ा दिलचस्प रहा। महात्मा गांधी ने विरोध करते हुए कहा कि सरकार के यहां कानून पास करना व्यर्थ है, समाज में शिक्षा और प्रचार का काम करना चाहिए। पूज्य मालवीयजी ने समागम की आयु 18 और 14 कही और विवाह की आयु इसके कुछ पूर्व बतलाई। ये सब उचित और सत्य बातें हैं। कम से कम समझ में आती हैं। पर मिस्टर आचार्य ने जैसी बढ़िया-बढ़िया दलीलें पेश कीं, हमारा दुर्भाग्य हम उन्हें समझ भी न सके। हमने सुना है, बहुत से लोग थोड़ा-बहुत समझकर लोट-पोट हो जाने की अशिष्टता से बचने के लिए दूसरी ओर मुंह करके खिसक गए थे।

ऐसे दोरूपिए मिस्टर आचार्य ने इधर हाल में एक तीसरा रूप भी दिखाया है। उसमें भी मनोरंजन का काफी सामान है। उसका हाल इस प्रकार है। मिस्टर आचार्य ने एक लेख पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजा है। उसकी एक प्रति उन्होंने भारत सरकार को भी भेंट की है। वह लेख उन्होंने आगामी गोलमेज सम्मेलन के संबंध में लिखा है, परंतु इसका यह मतलब नहीं कि वे विलायत बुलाए गए हैं या अपनी ओर से जा रहे हैं। उस पत्र में उन्होंने केवल कुछ सिफारिशें की हैं और कुछ रास्ते बतलाए हैं कि गोलमेज में क्या होना चाहिए, क्या नहीं होना चाहिए इत्यादि-इत्यादि। सारांश यह कि मिस्टर आचार्य ने इस क्षेत्र में भी रास्ता दिखाने का काम किया है, वह भी बिलकुल निःस्वार्थ भाव से। उनकी सिफारिश पिछड़ी हुई है तो क्या हुआ, उनकी भूमिका कैसी बेलाग बंधी है। सब शिकायत ही करते हैं, भूमिका कोई नहीं देखता।

भूमिका में मिस्टर आचार्य ने यह दिखला दिया है कि उनके लिए देशबंधु चित्तरंजन दास बनना कितना आसान काम है। स्वर्गीय देशबंधु के गया कांग्रेस के भाषण का हवाला देते हुए मिस्टर आचार्य ने लिखा है कि देशबंधु औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए आजकल के नेताओं की तरह लालायित नहीं थे क्योंकि उनका मत था कि औपनिवेशिक स्वराज्य से मध्य श्रेणी के लोगों को ही अधिक अधिकार मिलेगा और गरीब जनता का दुःख दूर नहीं होगा। मिस्टर आचार्य कहते हैं कि यही राय हमारी भी है। बिलकुल ठीक।

प्रश्न यह है कि क्या मिस्टर आचार्य ने महात्मा गांधी की हाल की ग्यारह शर्तों का जिक्र नहीं सुना और क्या वे नहीं मानते कि देशबंधु के अनुयायी और मित्र कांग्रेस और स्वराज्य पार्टी के सब बड़े-बड़े नेता उन ग्यारह शर्तों के बिना औपनिवेशिक स्वराज्य स्वीकार नहीं करेंगे, अथवा वे शर्तें ही उनके स्वराज्य का सार हैं? क्या वे यह नहीं जानते कि उन ग्याहरह शर्तों में देश की दरिद्र जनता के प्रति कितनी सहानुभूति भरी पड़ी है?

यदि मिस्टर आचार्य नर्म दल के माडरेट नेताओं को लक्ष्य कर उन्हें औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए लालायित ठहराते हैं तो क्या उन्हें यह नहीं मालूम कि कानून-कायदे में और व्यवहार-कुशलता में वे अपनी टक्कर के एक ही हैं? क्या मिस्टर आचार्य किसी ऐसे माडरेट नेता का

नाम ले सकते हैं जो समाज-शिक्षा और राष्ट्रीय चेतना के लिए प्रयत्न करने के पहले औपनिवेशिक स्वराज्य की ओर जा पहुंचा हो। यह तो दादा भाई से लेकर गोखले और अब तक के माडरेटों का कार्यक्रम रहा है कि पहले देश समुन्नत हो, फिर औपनिवेशिक स्वराज्य मिले। इसके लिए वे बदनाम तक हो गए हैं। क्या मिस्टर आचार्य को यह सब कुछ भी मालूम नहीं?

जान पड़ता है कि मिस्टर आचार्य किसी जमाने में स्वराज्य पार्टी में शामिल रहने के कारण अब तक यह समझ रहे हैं कि उन्हें देशबंधु चित्तरंजन दास का नाम लेकर पांचों सवारों में गिने जाने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है। देशबंधु के कवित्वमय आदर्शवाद (Poetic Idealism) की कल्पना भी न कर सकने वाले मिस्टर आचार्य ने पत्र के बाद के हिस्सों में अपनी पोल आप ही खोल दी है।

भूमिका के अनंतर मिस्टर आचार्य ने पत्र में जो सिफारिशें की हैं, उनमें कुछ जो हमारे खास मतलब की हैं, ये हैं: बड़ी व्यवस्थापिका सभा के साथ जो कौंसिल ऑफ स्टेट नामक सभा काम करती है उसमें अब तक के विशेषाधिकारों के अतिरिक्त धार्मिक विशेषाधिकारों के प्रतिनिधि भी रखे जाएं और प्रत्येक प्रांतीय व्यवस्था-सभा के साथ भी कौंसिल ऑफ स्टेट की तरह की विशेषाधिकारों की प्रतिनिधि संस्था खड़ी की जाए। भिन्न-भिन्न फिरकों के अलग-अलग चुनाव हों और अछूतों का एक नया फिरका भी तैयार किया जाए। अल्पसंख्यक ब्राह्मण भी अलग प्रतिनिधि भेज सकें। धार्मिक मामलों में व्यवस्था-सभाएं और सरकार कुछ भी हस्तक्षेप न करें। किसी भी जाति या उपजाति की मजहबी रीतिनीति के संबंध में कोई भी नई बात तब तक न उठाई जाए जब तक उस जाति या उपजाति के दो-तिहाई प्रतिनिधि नवीन प्रस्ताव के पक्ष में न हों।

इससे यह साफ जाहिर होता है कि उनकी ये सिफारिशें तो माडरेट दल की मांगों से भी बहुत अधिक पिछड़ी हुई हैं, देशबंधु की स्वराज्य स्कीम से तो इनकी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। मिस्टर आचार्य विशेषाधिकारों के बड़े तरफदार जान पड़ते हैं, फिर वे देशबंधु की आड़ में क्यों छिपते हैं। देश की दरिद्र जनता के प्रति उनकी सहानुभूति क्या उनके विशेषाधिकारों और प्रांतीय स्टेट कौंसिलों के लिए की गई सिफारिशों में है? समाज की वर्तमान रूढ़ियों को धर्म समझकर उसी में पड़े रहने को ही मिस्टर आचार्य लोकहित मानते हैं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिख, अछूत, ब्राह्मण आदि के अनेक भेदों की सृष्टि कर क्या मिस्टर आचार्य राष्ट्र को एक सूत्र में बांधना चाहते हैं? केवल ग्राम-पंचायतों की स्थापना से ही यदि वे गांवों में रामराज्य का दृश्य देखना चाहते हों तो हम समझते हैं, उनकी बुद्धि उन्हें धोखा दे रही है। वर्तमान राष्ट्रचक्र में परिवर्तन के बिना ग्रामीण पंचायत मूर्खमंडली के सिवा किसी अच्छे नाम से नहीं पुकारी जा सकती। यदि इन्हीं मूर्खमंडलियों की संख्या बढ़ाने का प्रस्ताव करके मिस्टर आचार्य औपनिवेशिक स्वराज्य को दूर हटा देना चाहते हों तो उनका-सा असामयिक प्रस्ताव शायद कोई कर ही न सके।

अंत में हम अपना एक आश्चर्य प्रकट किए बिना नहीं रह सकते। आश्चर्य यह है कि मिस्टर आचार्य आजकल रहते कहां हैं? क्या भूलोक में? हमें तो विश्वास नहीं होता। समस्त

देश ने इस समय एकमत होकर औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग पेश की है। सर्वप्रमुख संस्था कांग्रेस के सर्वप्रमुख नेता महात्मा गांधी से लेकर प्रायः सब माडरेट, देशी नरेश, व्यवसायी और राष्ट्रीय मुसलमान नेताओं की एक पुकार औपनिवेशिक स्वराज्य की है। रास्ते भिन्न-भिन्न हो गए हैं पर लक्ष्य एक है और समय की अवधि भी प्रायः एक। सम्मिलित देश की इस राष्ट्रीय पुकार को मिस्टर आचार्य भूलोक में अवश्य सुनते। उन्हें यह समझने में देर न लगती कि उनकी यह नई स्कीम वास्तव में कितनी अनोखी और अनहोनी है। नई-नई कल्पनाओं की अधिकता इस बात का संदेह उत्पन्न करती है कि वे आजकल कल्पनालोक में अधिक विचरते हैं। यदि यह संदेह ठीक हो तो हमें उनके संबंध में खेद और सहानुभूति के बदले प्रसन्नता ही अधिक होगी क्योंकि कवि शेली की *स्काइलार्क* की भांति वे आसानी से आकाश में उड़ते हुए पृथ्वी के दुःखों और कष्टों की अवहेलना कर सकेंगे। रही दुःख और कष्ट से पीड़ित पृथ्वी, जिसमें मिस्टर आचार्य को आत्मीय और सगा कहने वाले तैंतीस कोटि से अधिक व्यक्ति क्लेश पा रहे हैं, उसका राम मालिक है।

शक्ति और विजय

विज्ञान, दर्शन और पुराण का समन्वय

हम समझते हैं विज्ञान और दर्शन का संबंध शक्ति से है और पुराण का विजय से। विज्ञान और दर्शन बुद्धिवाद का आश्रय लेकर शक्ति का अन्वेषण करते और उसके विशिलष्ट (analytic) तथा संश्लिष्ट चित्र देखते हैं। पुराण केवल विजय का साक्षात्कार करते हैं। विज्ञान और दर्शन यदि आलोचना है तो पुराण कविता है। विज्ञान और दर्शन यदि पुरुष हैं तो पुराण स्त्री।

हम आधुनिक पश्चिमीय विज्ञान की बात नहीं करते। वह अब तक बाहर ही उछल-कूद कर रहा है, अब तक किसी लक्ष्य तक नहीं पहुंचा। हम जिस विज्ञान की बात करते हैं उसके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के अवयवों को ग्रहण कर बने हुए अगणित सूर्य, चंद्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रलोक, विद्युत स्फुलिंग के अनादि-अनंत पिंड, अनादि-अनंत कल्पों में असीम अपार शक्ति लिये विश्व रूप को प्रत्यक्ष कर रहे हैं। हम उस विज्ञान की बात करते हैं जो रति, शोक, करुणा, हास्य, जुगुप्सा, भय, रौद्र और निर्वेद के समन्वित विश्व काव्य की शक्ति का पता लगा रहा है। हमारा मतलब उस विज्ञान से है जो हमारी अंतरंग और बहिरंग शक्तियों का समन्वय करता और अणु-अणु से लेकर तमाम ब्रह्मांड पिंड में एक व्यापक शक्ति का संदेश देता है।

इस विज्ञान में और दर्शन में सारतः कोई भेद नहीं, केवल क्रियात्मक भेद है। विज्ञान अन्वेषण (search) और विश्लेषण (analysis) से जिस तत्व का अनुसंधान करता है।

दर्शन उसके संश्लिष्ट चित्र की अवधारणा करता है। विज्ञान यदि शक्ति का अनुसंधान (research) है तो दर्शन उसका निबंध (thesis) है।

निश्चय ही इस दर्शन में पूर्णता है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय इसके अंतर्गत हैं। अमृत और मृत्यु, इसमें एक रस व्याप्त हैं। *ऋक्, साम, यजुः* और *अथर्व* का यह समन्वय है, इसमें स्थान भेद नहीं, काल भेद नहीं एक पूर्ण अभेद है। इसकी अपार शक्ति *गीता* में प्रत्यक्ष की गई है। अर्जुन यही दर्शन पाकर परम पराक्रमी बने थे और विगतक्लम होकर भगवान कृष्ण से कह उठे थे, 'मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई, मैं गतसंदेह अब युद्ध करूंगा।'

शक्तिमान होकर युद्ध किया और विजय पाई। शक्ति और विजय दोनों का यह संबंध जान लेने लायक है। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि विज्ञान और दर्शन शक्ति से संबंध रखते हैं और पुराण विजय से। अर्जुन के शक्तिमान होकर विजय प्राप्त करने के *महाभारत* के प्रसंग में दर्शन और पुराण का मणिकांचन संयोग देखते ही बन पड़ता है। *महाभारत* दर्शन ग्रंथ भी है और पुराण भी। आर्यसमाज और सनातन धर्म का इस संबंध का झगड़ा व्यर्थ है। *गीता* में जहां भगवान कृष्ण अर्जुन को दर्शन देते हैं वहां अर्जुन बहुरक्त नेत्र, महाबाहु, बहूदर, बहुद्रष्ट्राकराल के उग्र रूप के साथ, कमलासनस्थ सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और दिव्य ऋषियों को भी देख पाते हैं। यही पूर्ण दर्शन जान पड़ता है। यही शक्ति का अक्षय भंडार है—स्थिर, निश्चल, विश्वव्यापिनी शक्ति का। परंतु आगे चलकर युद्ध आदि के प्रसंग पौराणिक हैं। अर्जुन की विजय हुई, यही दर्शन नहीं है। शक्ति टूटकर विजय बन गई है। *गीता* के दार्शनिक अर्जुन वहां कुरुकुल-विजयी अर्जुन बन गए हैं। फिर भी शास्त्रों का साम्य कहीं से खंडित हो गया हो, यह बात नहीं है। मनुष्यों की दृष्टि से अर्जुन जीते, पर शास्त्र में अर्जुन नहीं जीते, धनंजय जीते। वे धनंजय जिनके लिए भगवान ने कहा है कि मैं पांडवों में धनंजय हूं, स्वयं भगवान धनंजय हैं। स्वयं भगवान ने विजय पाई। परमशक्ति ने विजय पाई। शक्ति और विजय में शास्त्रीय साम्य बना रहा।

परंतु अर्जुन के-से भाग्यशाली सब नहीं होते। भगवान कृष्ण का वचन शास्त्र में ही है कि 'हे अर्जुन, मैंने प्रसन्न होकर आत्मयोग से जो दर्शन तुम्हें दिया है उसके आकांक्षी बड़े-बड़े देवता हैं, वह वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, क्रिया, उग्र तप आदि किसी भी प्रकार से इस नृलोक में संभव नहीं है।' विश्व शक्ति के दर्शन दुर्लभ हैं, तब नृलोक वाले क्या करें? विश्व शक्ति के खंड चित्र देखें, आत्म विकास करें, सत्व अथवा देवत्व की ओर अग्रसर हों। उपाय यही जान पड़ता है।

पुराणों में शक्ति के बड़े ही मार्मिक खंड चित्र मिलते हैं। सत्व की विजय के उज्ज्वल चित्र तम का नाश करने वाले हैं। बाह्य आवरण भयानक अवश्य हैं क्योंकि शक्ति का उन्मेष भयानक ही होता है। ब्रह्मा की सृष्टि का नाश करने वाले दैत्यों का नाश करने वाली शक्ति उग्र थी पर उसकी उत्पत्ति क्षीरसागरशायी भगवान विष्णु के कोमल करों से हुई थी। लंका के प्रचंड रावण को पराजित करने वाले राम तो सुंदर थे पर उनकी बंदर-भालुओं की सेना कितनी विकट थी। सुंदरी कमलासना विजया के पति महाकाल रुद्र को भारतीय चित्रकारों

ने कितना भीषण बनाया है। यह सब *गीता* के विश्व रूप की ही झांकी है जिसे पौराणिक कवियों की कल्पना ने भारतीय हृदय में साज दिया है।

इन्हीं खंड चित्रों के दर्शन से भारतीय समाज चिरकाल से शक्ति संचय करता आया है। इन्हीं दर्शनों से लोक में शक्ति की प्रतिष्ठा होती और विजय का सत्य स्वरूप प्रकट होता है। न्याय का समर्थन और अन्याय का विरोध, यही सृष्टि का विकास है। हमारी शक्ति प्रतिद्वंद्विनी नहीं, न्यायोन्मुख, विकासोन्मुख है। हमारी शक्ति की आराधना का तत्व समझ लेने पर आधुनिक नौकरशाही की रामलीला रोक देने की गलती प्रकाश की भांति खुल जाती है। हमारे नागरिक अधिकार मिलें या न मिलें, धार्मिक अधिकार छिन जाएं परंतु विश्व में शक्ति और विजय की सात्विक भावनाओं के प्रसार में अड़ंगा डालना न लोकहित है, न आत्महित।

शक्ति की आराधना का बाह्य भी कितना निःसर्ग, सिद्ध और सुंदर है। भारत की शारदीय सुषमा और कांतिमयी चांदनी प्रसिद्ध ही है। विराममयी वनस्थली के समीप की लहराती हुई पुष्करणी के आसपास विजयादशमी की गोधूली वेला में आई हुई जनता प्यार करने की वस्तु होती है। विजया की महिमा से उस दिन आपस के भेद-भाव दूर कर जब साल भर के विद्वेषी गले मिलते हैं तब स्वर्ग के देवता चकित हो रहते हैं। रामलीलाएं हिंदू समाज की शक्तिशालिनी देवी हैं। उसके दर्शन से विजय की जिस उज्ज्वल भावना का उदय होता है, वह पराजित और तिमिराच्छन्न विश्व को आलोक से जगमगा सकती है।

(सोमवार, 6 अक्तूबर 1930)

समर्थन

यह संयोग की ही बात है कि जिस राष्ट्रीय कांग्रेस ने गत चालीस से अधिक वर्षों से इस देश की सबसे प्रमुख और प्रतिनिधि संस्था के रूप में भारतीय स्वतंत्रता के लिए सबसे अधिक काम किया, वह आगामी गोलमेज के समझौते में शरीक नहीं हो रही। उपन्यास की उस नायिका की कहानी हम जानते हैं जिसमें राजकुमार की देह भर में छिदी हुई सूइयों को एक-एक कर निकाला था पर आंख की थोड़ी-सी सूइयों के बचे रहने पर कहीं चली गई थी। इसी बीच में किसी दूसरी स्त्री ने आकर आंख की थोड़ी-सी सूइयां निकालीं और राजकुमार की प्रेयसी वैभवशालिनी पटरानी बन गई। बेचारी उपन्यास की नायिका कहीं की न रही। कांग्रेस और उस नायिका की सब बातों में समता नहीं की जा सकती। कांग्रेस शक्तिशालिनी है और समझ-बूझकर अलग हुई है। वह नायिका अकिंचन थी और बहुत समय तक उद्योग करने पर भी अकिंचन बनी रही थी। नायिका की कथा करुण हो गई थी, पर कांग्रेस की करुण नहीं कही जा सकती।

कांग्रेस की कथा करुण न सही, पर देश की दशा और सम्मेलन की अवस्था करुण अवश्य हो गई है। राष्ट्र की संपूर्ण चेष्टा राजनीति की ओर लग जाने से उसके विकास में जो बाधा पड़ रही है वह किसी से छिपी नहीं है। सारा देश अस्थिर और अव्यवस्थित हो रहा है। आर्थिक,

व्यावसायिक, नागरिक, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध किसी भी दृष्टि से समय अच्छा नहीं। देश की ऐसी दुरवस्था में यदि गोलमेज सम्मेलन की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा तो यह अस्वाभाविक नहीं। मतभेद का प्रधान विषय यह हो रहा है कि सम्मेलन में जाना चाहिए या नहीं। परंतु जो सम्मेलन में जा रहे हैं, उनके लिए तो विचार करने का विषय यह है कि वहां जाकर क्या किया जाए, किस तरह अपनी बात कही जाए और कैसे उस पर दृढ़ रहा जाए। देश की प्रतिष्ठा कैसे बनी रहे और ब्रिटेन के भारत-विरोधी प्रतिनिधियों का किस तरह मुकाबला किया जाए।

इन प्रश्नों पर यथोचित विचार नहीं किया गया पर जिन लोगों ने इन पर थोड़ा-बहुत विचार किया है उनमें लखनऊ निवासी मिर्जा यार जंग समीउल्ला बेग महोदय का नाम उल्लेखनीय है। आपने इस प्रसंग में हाल में कितने ही लेख लिखे हैं और आपका अंतिम निर्णय यही है कि भारतवर्ष को तुरंत औपनिवेशिक स्वराज्य दे देने में ही ब्रिटेन और भारत दोनों का हित है। यद्यपि आपकी बहुत-सी बातें पहले से ही जनता के सामने रखी जा चुकी हैं, फिर भी एक साथ एकत्र होने के कारण आपकी दलीलों की शक्ति बढ़ गई है और आपके निर्णयों का पक्ष प्रबल हो गया है। इसी कारण हम संक्षेप में आपके लेखों का उल्लेख कर आपके निर्णयों का समर्थन करना आवश्यक समझते हैं।

1. विगत महायुद्ध में अपने संकट के समय भारत की राजभक्ति देखकर और यूरोप के मैदानों में भारतीय सेना को वीरतापूर्वक युद्ध करते देखकर ब्रिटेन ने प्रतिज्ञा की थी कि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाएगा। परंतु अब लार्ड रीडिंग और साइमन साहब जैसे व्यक्ति ब्रिटेन को उस प्रतिज्ञा से खिसककर पीछे हटने को प्रेरित कर रहे हैं। मजदूर सरकार को चाहिए कि वह आगामी गोलमेज सम्मेलन में यह साफ-साफ कह दे कि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य का वचन दिया गया था और ब्रिटेन उसे यह अधिकार देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है।
2. औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ है घरेलू (भारतीय) मामलों में पूरा अधिकार, आत्मरक्षा के लिए सेना के प्रबंध का अधिकार और ब्रिटेन से अलग होने का कानूनी अधिकार परंतु इस स्वराज्य के साथ ही साथ कुछ कर्तव्य और कुछ जवाबदेही भी रहेगी। विदेशियों से संबंध जोड़ने में साम्राज्य और उसके अन्य उपनिवेशों के हितों का ध्यान रखना पड़ेगा। अपने आर्थिक हितों पर विचार करते हुए साम्राज्य के साथ आर्थिक सहयोग करना पड़ेगा। विदेशी आक्रमण के समय संगठित होकर साम्राज्य का साथ देना होगा और अपने को ब्रिटेन की शाखा के रूप में स्वीकार करना होगा।
3. यह कहा जाता है कि भारतवर्ष अभी इस योग्य नहीं हुआ कि वह औपनिवेशिक स्वराज्य पा सके और पाकर उसे संभाल सके। यह बात गलत है। अंग्रेजों के आने के पहले यह देश व्यापार और उद्योग-धंधों में ही नहीं, शासन तंत्र चलाने में भी कुशल रहा है। यहां नियमित डाकखाने थे और संवाद भेजने के अच्छे सुभीते थे। यहां के दर्शन, साहित्य और समाज-व्यवस्था इतने पूर्ण हैं कि उनसे भारतीय प्रतिभा

का पता लगाने में देर नहीं लगती। आज भी हिंदुस्तानी ही अधिकांश राज्य चक्र चला रहे हैं। यह तो उनका जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपने को संभालें, अपनी सेना का प्रबंध करें और अपने देश पर राज्य करें। यदि मान भी लें कि भारत अब तक औपनिवेशिक स्वराज्य को चला सकने के योग्य नहीं हुआ तो इसका कारण और कुछ नहीं, केवल यह है कि उसे अवसर नहीं दिया गया। सबसे बड़ी बात तो है कि स्वराज्य परराज्य से प्रत्येक अवस्था में वरेण्य है।

4. जब तक भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं मिलता तब तक न तो यहां की आर्थिक अवस्था सुधर सकती है और न सामाजिक। इस समय सारे देश की आय का एक-तिहाई करीब बासठ करोड़ रुपए केवल फौज में खर्च कर दिए जाते हैं। शिक्षा, कृषि और ग्राम-सुधार जैसे आवश्यक विषयों के लिए रुपए रह ही नहीं जाते। विदेशीय फौजी विभाग और सिविलियन विभाग जब तक उठा नहीं दिए जाते तब तक सुधार संभव नहीं। साइमन साहब ने जमींदारों पर नए कर लगाकर शिक्षा-विभाग आदि में व्यय करने की जो बात कही है, वह ठीक नहीं। वे इस देश की दरिद्रता को समझ नहीं सके। देश के लाखों-करोड़ों व्यक्ति एक शाम खाकर ही जीवन बिताते हैं, जमींदार भी अधिकांश कर्ज में पड़े हुए हैं। यदि उनके पास की रही-सही पूंजी भी नए कर लगाकर खींच ली जाएगी तो कृषि की अवस्था गिरती ही चली जाएगी। इस देश का प्रधान अवलंब कृषि है, यह तो सभी जानते हैं। फिर भी यहां कृषि संबंधी कोई बड़ी शिक्षा संस्था नहीं है। यहां के विद्यार्थियों को खेती का काम सीखने के लिए विदेशों में भेजा जाता है, यह हंसी की बात है। यदि कोई कहे कि फौज का और अन्य सिविलियन मदों का खर्च घटाया जा सकता है तो हम कहेंगे कि यह तब तक संभव नहीं जब तक यहां विदेशी फौज और विदेशी सिविल सर्विस बनी रहेगी।

5. औपनिवेशिक स्वराज्य मिलने में यदि हमारा ही हित होता तो ब्रिटेन के स्वार्थों का विचार कर हम कुछ ठहर भी सकते थे पर इसमें तो ब्रिटेन का भी हित है। व्यवसाय की दृष्टि से भी और अन्य दृष्टियों से भी जब भारत स्वतंत्र होकर धनवान हो जाएगा तब विलायत के माल की यहां के बाजार में अधिक से अधिक खपत होगी। धनिक देश से विलायत को आर्थिक लाभ कम नहीं होगा। अभी जिस बहिष्कार नीति से विलायती माल की बिक्री यहां कम पड़ गई है और कम पड़ती जा रही है उससे विलायत को नुकसान भी हो रहा है। स्वराज्य मिलने पर ही भारत और ब्रिटेन की मैत्री दृढ़ हो सकती है। एक और बड़ी बात यह है कि इस समय पूर्वी और पश्चिमीय देशों में विद्वेष बढ़ रहा है। कब झगड़ा बढ़ जाएगा यह कोई नहीं कह सकता। पश्चिम के देश अपने साम्राज्य विस्तार की लालसा को फैलाते ही जा रहे हैं। पूर्व वाले उन्हें जगह देने को तैयार नहीं। यदि मान लिया जाए कि अफगानिस्तान भारत पर चढ़ाई कर दे और रूस भी उसका साथ दे तो क्या अवस्था होगी? इस समय यदि भारतवर्ष शत्रु का मुकाबला करेगा तो एक दास की भांति करेगा और इस

विचार से करेगा कि अंग्रेजों का राज्य शायद अफगानों और रूस वालों के राज्य से अच्छा हो। परंतु कुछ वर्षों के बाद यदि ऐसी घटना घटे और यह देश उस समय स्वतंत्र हो तो वही वीरतापूर्वक आत्मरक्षा के लिए शत्रुओं का सामना करेगा। इससे ब्रिटिश साम्राज्य और भारत दोनों को लाभ ही होगा।

6. वर्तमान सत्याग्रह आंदोलन की शक्ति भी समझ लेना चाहिए। जिन लोगों ने सत्याग्रह की अग्नि में कूदकर अपनी वीरता और कष्ट सहन का परिचय दिया है, उनसे सबकी सहानुभूति स्वाभाविक है। यह आंदोलन यद्यपि नवयुवक समाज में सबसे अधिक फैला है पर इसके साथ प्रत्येक भारतीय की सहानुभूति हो गई है और हृदय से कोई भी इसके विपक्ष में नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि शीघ्र से शीघ्र देश की आकांक्षा पूरी नहीं की जाती और उसे औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं दिया जाता तो इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। आंदोलन और अधिक सामूहिक हो जाएगा।
7. हमें कोई ऐसी बड़ी रुकावट नहीं दीख पड़ती जिसके कारण औपनिवेशिक स्वराज्य भारत को तुरंत दिया ही न जा सके। सबसे प्रधान प्रश्न फौज का है। यदि ब्रिटेन का उद्देश्य अपनी फौज रखकर भारतवर्ष को चिरकाल तक पराधीनता में रखना नहीं है तो हम समझते हैं कि फौज का प्रश्न आसानी से हल हो सकता है। साम्राज्य के हित और भारत के हित यदि एक हों तो कोई कारण नहीं कि भारतीय सेना तैयार न की जा सके और वह घर की शांति और बाहर के आक्रमण से अपनी रक्षा का काम न कर सके। हमें फौजी शिक्षा मिलनी चाहिए। फौजी शिक्षा के कॉलेज यहां खुलने चाहिए। यह कहना व्यर्थ है कि मजहबी झगड़ों के कारण भारतीय फौज काम न देगी। यहां पहले भी हिंदू सेना के अध्यक्ष मुसलमान सरदार और मुसलमान सेना के अध्यक्ष हिंदू सरदार रहे हैं, और जब यहां पुलिस शांति स्थापन का काम कर सकती है—कर ही रही है तब फौज क्यों नहीं कर सकेगी? हां, साम्राज्य के हित की दृष्टि से फौज का प्रबंध प्रांतीय सरकारों के हाथ में नहीं, केंद्रीय सरकार के हाथ में रहेगा।

इसके बाद मिर्ज़ा साहब ने साइमन कमीशन की सिफारिशों का खंडन करते हुए अंत में यह सिद्ध किया है कि आगामी गोलमेज सम्मेलन इससे अधिक सामयिक और उचित निर्णय कुछ भी नहीं कर सकता कि वह भारत को तुरंत औपनिवेशिक स्वराज्य दे दे। यहां साइमन साहब की सिफारिशों के खंडन का जिक्र इसलिए नहीं किया जाता कि वे सिफारिशें जितनी बदनाम हो चुकी हैं, उससे अधिक और क्या होंगी।

दर्शन और जीवन

दर्शन क्या है, यह जानने के लिए आजकल के पश्चिमीय पंडितों की सम्मति हमारे काम की

नहीं होगी। आधुनिक युग पश्चिम में विज्ञान का युग कहलाता है और वहां के पंडित अपने को अपूर्व वैज्ञानिक मानते हैं। उनकी प्रत्येक सम्मति में विज्ञान साथ-साथ चलता है, कभी छूटता ही नहीं, कोई भी शास्त्र हो वह विज्ञान पहले है, पीछे और कुछ। विज्ञान के ही मापदंड से सबकी नापजोख की जाती है। यह कोई बुरी बात नहीं। बुरी बात यह है कि उनका विज्ञान बड़ा स्थूल है। वह एकमात्र मनुष्य की बुद्धि का आधार लेकर खड़ा किया गया है। उसकी एकांगिता छिप नहीं सकती। इस प्रकार जब मापदंड ही गलत है तब नापजोख कैसे की जा सकती है?

पश्चिम वालों के मत में तो दर्शन भी विज्ञान है। वह ज्ञान का विज्ञान है। परंतु ज्ञान और विज्ञान का तत्व न जानने के कारण पश्चिम वाले यह भी साथ ही कह देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक है। अपने विज्ञान की बदौलत वे प्रत्येक व्यक्ति की दार्शनिकता की सीमा भी निरूपित करते हैं। कोई कम दार्शनिक है और कोई अधिक। हम लोगों के लिए यह हंसी की बात हुई। हम लोग तो व्यंग्य में कहा करते हैं कि कोई अंधेरे में ब्रह्म-दर्शन करता है, कोई प्रकाश में। परंतु पश्चिम वालों के लिए यह कोई व्यंग्य की बात नहीं, इसे वे सत्य समझते हैं।

जिसे पश्चिमीय पंडित अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा के कारण कम दार्शनिक और अधिक दार्शनिक के नाम देते हैं, हम लोग उसे कहेंगे कम विद्वान और अधिक विद्वान। कम बुद्धिमान और अधिक बुद्धिमान। यहां विद्वान और बुद्धिमान सांसारिक अर्थ रखते हैं, और कुछ नहीं। *गीता* के अनुसार हम विद्वान की पराविद्या का उल्लेख नहीं कर रहे, अपरा का कर रहे हैं। परंतु पश्चिम में तो ऐरे-गैरे हम-आप सब दार्शनिक हैं। कहते हैं, वहां साम्यवाद का युग आया हुआ है। तभी तो।

परंतु यह कैसा साम्यवाद हुआ कि कोई कम दार्शनिक और कोई अधिक दार्शनिक। ठीक है वहां साम्यवाद दर्शन का साम्यवाद नहीं है, रुपयों का साम्यवाद है। रुपया ही आधार, रुपया ही लक्ष्य। रुपए की ओर से आकर रुपए की ओर जाना है। जैसे हमारे दर्शन कहते हैं ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही विलीन होना है। वैसे ही वे भी कहते हैं। अंतर शब्दों का ही है। ब्रह्म और रुपया। आकाश और पाताल नहीं, ब्रह्म और रुपया।

संसार को हमारे देश की सबसे बड़ी देन है हमारा दर्शन। प्राचीन यूनान ने विविध कलाओं के क्षेत्र में अद्वितीय उन्नति की थी, प्राचीन रोम ने शांति, व्यवस्था और साम्राज्य विस्तार का अभूतपूर्व उद्योग किया था, इसी प्रकार और-और राष्ट्रों ने अन्य-अन्य क्षेत्रों में अपनी योग्यता, अपना प्रवेश और अपना सामर्थ्य प्रदर्शित किया था पर भारतवर्ष की प्रधान धुन रही है दार्शनिक बनने की। दर्शन पाने की। हमने इस क्षेत्र में जितना काम किया, और किसी ने नहीं किया। यदि हमने इस क्षेत्र में काम नहीं किया तो और कहीं नहीं किया, साथ ही किसी ने कुछ भी नहीं किया। हमको इस बात का गर्व है कि हमारे बीच जितने दार्शनिक हुए हैं, और कहीं नहीं हुए। हमने इस ओर झुककर, इस ओर तन्मय होकर कष्ट उठाए, संसार की दृष्टि में पतित हुए पर हमें फिर भी संतोष है। पश्चिम वाले जब कहते हैं कि संसार के सभी व्यक्ति थोड़े-बहुत दार्शनिक होते हैं तब वे दर्शन से सैकड़ों-हजारों कोस दूर रहते हैं।

दर्शन बुद्धि नहीं, ज्ञान है। पश्चिम का विज्ञान नहीं, पूर्व की अनुभूति है। वह उद्योग की परिणति है, साधना की सिद्धि है। उसे हम वरदान और आशीर्वाद की भांति ग्रहण करते हैं। वही सर्वस्व उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। उसके मिलने पर दूसरी जिज्ञासा नहीं रह जाती, उसकी प्राप्ति पूर्ण प्राप्ति है। योगी उसे मोक्ष कहते हैं, कोई निर्वाण, कोई ज्ञान, कोई कुछ, हम उसे दर्शन ही कहेंगे। इस दर्शन के अधिकारी पश्चिम वालों के मत में चाहे सबके सब टके सेर के हिसाब से हो जाएं और चाहे उनका यह मत विशेष उदार समझा जाए पर सत्य तो यह है कि दर्शन का अधिकारी युगों में कोई होता है, कभी कोई हो जाता है। पश्चिम वाले यदि जिद करेंगे तो हम अपने दार्शनिक को उनके दार्शनिक से अलग करने के लिए द्रष्टा कहेंगे। उनकी उदारता हमें नहीं चाहिए।

हमारे द्रष्टा की दिव्य और उदार दृष्टि वे क्या समझेंगे? वे उदार बनते हैं, उदार बनाते हैं, हम उदार हुए हैं। अंतर समझ में आ जाना चाहिए। दार्शनिक जब असंख्य-असंख्य सूर्यों को असंख्य-असंख्य कल्पों की अपार अपरिमित आभा को भेदकर दिव्य दृष्टि से दर्शन करता है तब वह द्रष्टा कहला सकता है। उसकी दृष्टि उस अनंत-असीम को ग्रहण करती है जो छाया-प्रकाश, पाप-पुण्य, सृष्टि-प्रलय, भूत-भविष्य, अस्तित्व-अनस्तित्व का कार्य-कारण है, जिसमें कवि और उसकी कविता, चित्रकार और उसकी कला एकरस व्याप्त है, मृत्यु और जीवन, शांति और विद्रोह, सुख-दुःख, दिवा-रात्रि, क्लेश-आनंद एकाकार होकर जिसमें विलीन हो गए हैं। कहीं और भेद नहीं, खंड नहीं, एक अखंड अभेद। पश्चिम के उदार साम्यवादी, जान पड़ता है, हमारे दर्शन की झलक भी नहीं पा रहे।

यह दर्शन भारतीय जीवन का चरम आदर्श है। भारत के शास्त्र, पुराण, काव्य, कलाएं, सामाजिक व्यवस्था आदि सब उसी लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं, उनकी नियति उसी में है। सुख-दुःख के प्रबल घात-प्रतिघातों के बीच, हम उसी का सहारा लेकर खड़े होते हैं। शोक, प्रवंचना, लांछना और कपट से भरे हुए, अस्थिर जगत में हम 'सीय राम मय सब जग जानी' को याद कर परितोष पाते हैं। कठिन क्लेश के समय हमें 'उमा, रामसम हित जग माहीं, गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं' की याद आती है। हमारे काव्यों की अंतिम परिणति आनंद में होती है। हम दुःखांत काव्य या नाटक जानते ही नहीं। हम बाह्य जगत को पश्चिम की-सी बारीकी से नहीं देख पाते पर अंतर्जगत में हमारी-सी सूक्ष्म दृष्टि किसकी है? हम प्रकृति वर्णन में पिछड़े हुए हैं, पर पुरुष वर्णन में हमारे पीछे-पीछे भी कोई नहीं चल पाता। हमारी कविता में लौक़िक ऊहापोह, आडंबर और व्यापकता नहीं, इसका कारण हमारा दर्शन ही तो है। हमारी समाज व्यवस्था में वर्ण-आश्रम आदि के जो विभाग हैं, हमारे शास्त्रों में जो अनेक विधि-निषेध हैं वे सब मिलकर हमें एक ही ओर लिये जा रहे हैं। आनंद की ओर। पश्चिम वाले हमारे ऊंच-नीच के भेद-भाव पर कड़े-कड़े व्यंग्य करते हैं पर वे हमारे अंतर्मुखीन साम्य को समझने की चेष्टा नहीं करते। वे न समझें तो हम उनकी नासमझी को क्यों ग्रहण करें। हमारी समाज नीति, राजनीति, व्यवसाय सबमें धर्म की ओर आनंद की स्वच्छ धाराएं बहती रही हैं, उनमें भेदभाव का, ऊंच-नीच का कूड़ा-करकट जमा हो रहा है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने दर्शन की

रक्षा के लिए सारे कूड़ा-करकट को दूर हटाकर भारतीय जीवन की धारा अक्षुण्ण रखें और अप्रतिहत वेग से उसे बहने दें। प्रकाश के लिए हम पूर्व की ओर देखें, पश्चिम की ओर नहीं।

(सोमवार, 13 अक्तूबर 1930)

नौवां आर्डिनेंस

वाइसराय के स्वेच्छाचार से आठ के बाद नया नौवां आर्डिनेंस भी निकल गया। जान पड़ता है, वे नए इतिहास की सृष्टि करने में लगे हैं। इतिहास के लिए सामग्री इकट्ठी करने वाले पत्र-पत्रिकाएं ही होती हैं। उन्हीं की बदोलत ऐतिहासिक चित्र धुंधले भी हो जाते हैं और साफ भी आ जाते हैं। वाइसराय के चित्र को हम धुंधला नहीं रखना चाहते। इसलिए हम कह देना चाहते हैं कि वाइसराय का भीतरी रूप सुनने में आता है कि भव्य और स्वच्छ है, पर बांहर तो अंग्रेजी राज्य के अब तक के कानून-कायदे से असंतुष्ट होकर वे नए-नए स्वेच्छाचारी विधान बनाते जा रहे हैं। इधर उनका नया नौवां विधान भी निकला है। अंग्रेजी व्यवस्था ही कुछ ऐसी है जो किसी के ठीक समझ में नहीं आती।

इस नए आर्डिनेंस के अनुसार प्रांतीय सरकारों को यह अधिकार दिया जाता है कि प्रांतीय सरकारी गजट में ऐसे किसी भी स्थान को नोटिस दे दें जो उनकी सम्मति में गैर-कानूनी जमात के लिए काम में लाया जाता हो। ऐसा नोटिस दे देने पर मजिस्ट्रेट या उससे लिखित अधिकार प्राप्त कोई भी अफसर उस नोटिस दिए हुए स्थान पर कब्जा कर सकता है और वहां के किसी भी व्यक्ति को निकाल सकता है। मजिस्ट्रेट या वह अफसर कब्जा किए गए स्थान की प्रत्येक अस्थिर जायजाद पर भी अधिकार कर सकता है और प्रांतीय सरकार के पास रिपोर्ट भेजकर उस पर कब्जा भी जमा सकता है। यदि प्रांतीय सरकार की निगाह में वहां की कोई भी वस्तु गैर-कानूनी काम में प्रयोग की जाने वाली ठहरी तो वह जब्त कर ली जाएगी और जो वस्तुएं वैसी नहीं हैं, उन पर सरकार का तब तक कब्जा रहेगा जब तक वह नोटिस दिया हुआ स्थान सरकार के कब्जे में रहेगा। उन वस्तुओं का मजिस्ट्रेट की आज्ञानुसार व्यवहार भी किया जाएगा। उनमें नुकसान पहुंचने का इल्जाम किसी भी तरह किसी भी सरकारी अफसर के खिलाफ, यदि उस सरकारी अफसर ने किसी बुरे उद्देश्य से काम नहीं किया, नहीं लगाया जा सकेगा।

पहले तो यह आर्डिनेंस बिलकुल असमय में निकला है। अंग्रेज सरकार समझौते की तैयारी में लगी है। राष्ट्रीय सरकार के शामिल न होने के कारण यों ही उस समझौते के सफल होने में संदेह किया जा रहा है। जो प्रतिनिधि समझौते के लिए विलायत जा रहे हैं वे भी कड़ी से कड़ी भाषा में दमन की और आर्डिनेंसों की निंदा कर चुके हैं। परंतु इन सब बातों का विचार न कर वाइसराय ने यह नया कड़ा कानून ऐन मौके पर बना दिया। आश्चर्य तो यह है कि सरकार की ओर से यह भी कहा जा रहा है कि सत्याग्रह और कांग्रेस की शक्ति क्षीण होती

जा रही है। मद्रास के एक पत्र *मद्रास मेल* का कहना है कि यह आर्डिनेंस ठीक समय पर निकला है क्योंकि कांग्रेस की शक्ति के क्षीण होने के साथ-साथ हिंसात्मक आंदोलन बढ़ रहा है और उसके अधिक बढ़ने की संभावना है, उसे रोकने में यह आर्डिनेंस समर्थ होगा। यह नासमझी की बात है। वाइसराय का यह आर्डिनेंस कांग्रेस के प्रतिकूल है, न कि क्रांतिकारियों के, यह बात तो स्वयं आर्डिनेंस के स्रष्टा वाइसराय ने अपनी भूमिका में कह दी है। फिर *मद्रास मेल* को बात बनाने की गुंजाइश ही कहां है? आर्डिनेंस के बनते ही उसका प्रयोग गुजरात और बंबई की सैकड़ों कांग्रेस कमेटियों पर सरकारी कब्जा कर लेने के लिए किया गया है। जहां कांग्रेस का आंदोलन प्रबल है, वहीं पर आर्डिनेंस भी जारी किया गया है। इतने थोड़े समय के भीतर जहां सैकड़ों कांग्रेस संस्थाएं अधिकृत कर ली गईं, वहां इस आर्डिनेंस का प्रयोग एक भी क्रांतिकारी हिंसात्मक समिति को दबाने में नहीं किया गया। जो आंदोलन अब तक खुल्लमखुल्ला काम करता रहा है और जिसकी नीति अहिंसात्मक है उसे दबाना क्या हिंसात्मक आंदोलन को दबाना है? *मद्रास मेल* यह बिलकुल उल्टी बात कह रहा है। हम समझते हैं, प्रकट आंदोलन को इस प्रकार दबाने से अधिकाधिक गुप्त समितियों के स्थापित होने और क्रांतिकारी दल के बढ़ने की ही संभावना है।

यद्यपि वाइसराय ने अपनी भूमिका में यह उल्लेख किया है कि इस आर्डिनेंस का उद्देश्य निरीह और बेकसूर व्यक्तियों की संपत्ति छीनकर उन पर अत्याचार करना नहीं है, पर यह उल्लेख कुछ अंश तक कागज के भीतर ही रहेगा। जब यह आर्डिनेंस बना उसके कुछ घंटों बाद ही गुजरात और बंबई के आसपास की अनेक कांग्रेस संस्थाओं पर सरकारी अधिकार कर लिया गया, कांग्रेस ऑफिसों में पाए जाने वाले सभी व्यक्ति, स्त्री, बच्चे, नौकर-चाकर सब पकड़ लिये गए। पेचीले कानून में तो यह सब ठीक है पर साधारण सरल न्यायबुद्धि इसे अन्याय ही समझेगी। अखबारों द्वारा आर्डिनेंस के निकालने की खबर भी नहीं फैल पाई थी उसके पहले ही पुलिस ने कांग्रेस के मकानों को घेर लिया और उसके भीतर के सब स्त्री-पुरुष कैदी बना लिये गए।

हम कांग्रेस की दृष्टि से इस आर्डिनेंस पर विचार नहीं करते। कांग्रेस के अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू ने तो इसका स्वागत किया है, इसे आशीर्वाद समझा है। उन्होंने तो यह साफ कह दिया है कि हम अब सब-कुछ स्वाहा कर चुके हैं। हमारे आगे-पीछे कौन क्या कर रहा है, इसकी हमें परवाह नहीं। हमारे प्रांत के प्रसिद्ध कांग्रेस नेता श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने तो वाइसराय के इस आर्डिनेंस को व्यर्थ बताया है और कहा है कि जाब्ता फौजदारी की धाराएं सर्व समर्थ हैं, उनके रहते हुए इस आर्डिनेंस के रचे जाने का कुछ मतलब ही नहीं। राष्ट्रीय पत्रों ने भी इस आर्डिनेंस का स्वागत किया है और ऐसे-ऐसे चालीस-पचास तक आर्डिनेंसों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम उनकी बात नहीं कहते। जो अपनी इच्छानुसार जेल के बाहर काम कर रहे थे। उन्हें उत्तेजना देकर मूर्खतापूर्ण रास्ते पर चलने को या जेल में घुसकर शरण पाने को प्रेरित करना, तमाम देश को और अधिक अव्यवस्थित और कष्टपूर्ण बना देना यही इस नए नौवें आर्डिनेंस का परिणाम होगा, ऐसा हमें मालूम होता है।

आर्डिनेंसों की बढ़ती हुई संख्या से विचारवानों को एक और शंका हो रही है। अभी तो यह आर्डिनेंस वाइसराय की असाधारण शक्ति से निकलते जाते हैं और इनका प्रयोग भी अभी सीमित समय तक के लिए ही होता है परंतु आगे चलकर ऐसा भी समय आ सकता है जब सरकारी कार्यकर्ता इन असाधारण अधिकारों को पाकर अपना काम हल्का हो गया समझें और भविष्य में इन अधिकारों को स्थायी बनाने का प्रयत्न करें। यह बहुत संभव है कि अभी जो आर्डिनेंस हैं, आगे चलकर उनका रूप बदल जाए और वे साधारण कानून बन जाएं। यदि सरकार की ओर से चेष्टा की गई तो वर्तमान असेंबली तो अवस्था देखते हुए, कुछ आश्चर्य नहीं कि ये आर्डिनेंस कुछ बदले हुए रूप में व्यवस्था बना लिये जाएं। पिकेटिंग आर्डिनेंस भड़काने वाला आर्डिनेंस आदि ऐसे हैं जिन्हें सरकार की ओर से व्यवस्था-सभा में पास कराने के अभिप्राय से रखा जा सकता है। यदि इन आर्डिनेंसों को सामान्य व्यवस्था बनाने की चेष्टा की गई और वह सफल हुई तो जनता के अधिकारों में बड़ी बाधा पड़ेगी और अभी जो क्षणिक है वही स्थायी हो जाएगी। एक बार कानून बन जाने पर फिर उसे बदल सकना बड़ा कठिन हो जाएगा।

यमद्वितीया या भइया दोज

इस देश में यह युग जयंतियों का है। शताब्दियों तक सोचते रहने के कारण हम यह भूल गए हैं कि सोने के पहले हम क्या थे, कैसे रहा करते थे। यह जो नवीन जाग्रति हुई है उसका अभी प्रथम प्रवाह है। प्रथम प्रवाह में समाज नए व क्षणिक आदर्शों को खिलौने की भांति लेकर बालक की तरह खेल करता है। वह उसकी बाललीला होती है। धीरे-धीरे जब वह वयसुलभ विचार, बुद्धि और गंभीरता धारण करता है तब उसके वे खिलौने बदलकर दूसरे रूप धारण करते हैं और आगे चलकर वे छूट भी जाते हैं। वह समाज का प्रौढ़ और स्थिर रूप होता है, उसके पहले का रूप चंचल, अस्थिर और तत्वहीन भी हुआ करता है।

भारतीय समाज का जो रूप जयंतियों में दीख पड़ता है उसे हम शिशु समाज की बाललीला ही समझते हैं। उसमें वीर पूजा का भाव अंतर्निहित है, परंतु वह भाव अतिशय मूर्त और जड़ होने के कारण चंचल है और अस्थायी है। उससे समाज की ज्ञान की नींव पुष्ट नहीं हो सकती। कल हम विपिन चंद्र पाल की जयंती मनाते थे पर आज उनके व्यंग्य चित्रों की भरमार है। किसी समय गोखले, रानाडे और तिलक देवताओं की भांति स्तुत्य थे पर आज हममें से अधिकांश उनकी जन्म-तिथि भी भूल गए हैं। इस अस्थिर आधार पर किसी भी समाज को स्थायित्व की आशा नहीं करनी चाहिए।

स्थायित्व के लिए मूर्त आधार कभी भी उपयोगी नहीं हो सकते। शिशु समाज को क्रियाशील बनाए रखने के लिए वे मूर्त आधार खिलौनों का काम कर सकते हैं। इसलिए जयंतियों का इतना उपयोग हम मान लेते हैं। एक और उपयोग हम यह भी स्वीकार कर लेते

हैं कि इन जयंतियों से वीर पूजा के स्थायी भाव का विकास होगा। परंतु उस स्थायी भाव के लिए जयंतियां उपकरण से अधिक तो कुछ भी नहीं, हां कभी-कभी वे बाधक भी हो जाती हैं। माइकल मधुसूदन दत्त का *मेघनाद* वीर की दृष्टि से तो पूज्य है पर भारतीय जनता के संस्कारों के विरुद्ध पड़ने के कारण उसकी पूजा को जिसे हम उसकी जयंती भी कह सकते हैं—हितकर नहीं मान सकते। वर्तमान समय में भी अनेक ऐसे उदाहरण मिल सकेंगे।

भावनाओं का जैसा स्थायी विकास हमारे पर्वों और त्योहारों से हो सकता है, हम समझते हैं वैसा आधुनिक जयंतियों से नहीं हो सकता। यदि हम अपने पर्वों का अन्वेषण करें और उनका तत्व समझें तो जीवन के अत्यंत उच्च और व्यापक आदर्शों का अभिज्ञान हमें हो सकता है। परंतु उसके लिए यह उपयुक्त समय नहीं जान पड़ता। आजकल प्राचीनता अपराध समझी जाती है और पहले की सब वस्तुएं त्याज्य मानी जाती हैं। पुराने देवी-देवतों को छोड़कर नए देवी-देवतों की आराधना हो रही है। श्रीमती ... देवी और श्रीमान ... देव आदि-आदि हमें जितना आकर्षित करते हैं उतना न सरस्वती, न लक्ष्मी, न विजया, न ऊषा, न और कोई। इस समय तो मिसेज देवियों और मिस्टर देवों की पूंछ सबसे अधिक हो रही है, ऐसी अवस्था में हम पुराना लेखा किसे सुनावें और कैसे सुनावें! समय के अनुसार न चलकर अपनी हंसी कौन कराए? फिर भी आधुनिक साधारण समाज किस्से-कहानियों से अपना मनोरंजन करता है और जो आधुनिक विद्वान हैं वे वादों-प्रवादों की छान-बीन भी किया करते हैं। उन विद्वानों की रुचि का विचार करके यदि हम यमद्वितिया या भइया दोज पर कुछ लिखें तो शायद उसे कुछ लोग पढ़े-सुनें।

दो भाई-बहन थे। वे एक-दूसरे को बहुत प्यार करते थे। इतना प्यार कि हद से ज्यादा। मारपीट और गाली-गलौज तो बड़ी दूर की बात थी उनमें से एक ने दूसरे को कभी कोई कड़ी बात तक नहीं कही थी। इससे उन दोनों भाई-बहनों से पृथ्वी के मनुष्य ही नहीं, आकाश के देवता भी प्रसन्न थे। देवतों ने चाहा कि जो भाई ऐसा है जिसकी बहन ने उसे कभी कोई कड़ी बात तक नहीं कही, वह देवता के तुल्य है, उसे हमारे बीच रहना चाहिए, पृथ्वी उसके लिए उचित स्थान नहीं। इसलिए देवतों ने प्रसन्न होकर यमराज को कहा कि वे जाकर उस लड़के को स्वर्ग में ले आएं। देवतों की दृष्टि में यह बड़ा परोपकार था परंतु जरा पृथ्वी की अवस्था देखिए उस प्यारे लड़के की उस प्यारी बहन और उसके मां-बाप का क्या हाल हो रहा है? क्या असमय में ही दुलारा लड़का और प्यारा भाई उनसे छिन जाएगा? लड़के को अस्वस्थ देखकर घर भर के ही नहीं, पास-पड़ोस के लोग भी रोने लगे। स्वयं सुख पाने में भी पृथ्वी को संतोष नहीं। देवतों का वरदान उन्हें अभिशाप-सा बन गया। यह पृथ्वी की कमजोरी हो, अज्ञान हो, पर वास्तविक पृथ्वी यही है। मां-बाप, बहन, आसपास के लोगों को रोते-पीटते देखकर यमराज को चिंता हुई। उन्होंने विस्मय के साथ देखा कि पृथ्वी के लोग वरदान को वरदान नहीं समझते, यह उनका कैसा अज्ञान है? किंतु वे बहुत देर तक रोना-पीटना सुन नहीं सके, सह नहीं सके। उन्होंने रोने वालों से सारी कथा कह सुनाई और अंत में यह कहा कि तुम लोग यदि इतने मूर्ख हो तो हम क्या करें—हम लौट जाएंगे और जाकर देवतों को सब हाल कह सुनाएंगे जिन्होंने हमें यहां भेजा था। हां, एक बात तुम करो कि इस अपने प्यारे लड़के की प्यारी बहन से कह दो कि वह उसे आज गाली दे, नहीं तो शायद स्वर्ग के देवता

हमारी बात न मानें और तुम्हारे लड़के को स्वर्ग में बुलाने का आग्रह करें। पृथ्वी में लोग जिस तरह प्यार-दुलार के साथ गाली-गलौज भी करते हैं उस तरह न करके तुम पृथ्वी के नियमों का उल्लंघन न करो। जो कोई ऐसा करेगा वह यहां से उठाकर स्वर्ग पहुंचा दिया जाएगा। फिर यदि कोई चिल्लाहट मचावेगा तो हम उसकी बात नहीं मानेंगे। तब उस दुलारे लड़के की प्यारी बहन ने आंखों में आंसू भरकर अपने प्रिय भाई को गालियां दीं और यमराज भी जो गए तो फिर लौटे नहीं।

यद्यपि इस कहानी में प्रारंभ से अंत तक कोमल भावनाएं भरी हुई हैं, परंतु जो अधिक विद्वान हैं और सबको संदेह की दृष्टि से देखते हैं, कहानियों की कला के पारखी बनते हैं वे तो इसमें अस्वाभाविकता ही अधिक देखेंगे। उन्हें यदि वादों-विवादों का अधिक शौक है तो हम उनसे निवेदन करेंगे कि वे इस कहानी में व्याप्त सृष्टि के चिरंतन यथार्थवाद की ओर ध्यान दें। वे देखें कि गाली देने की बात कहने में कितनी वास्तविकता और कितना सत्य भरा हुआ है। यही तो पृथ्वी है, चिरंतन द्वंद्व यही तो है। इसी की ममता तो स्वर्ग से भी अधिक वांछनीय होती है। बेचारी बहन रोती हुई अपने प्यारे भाई को गाली देती है—देनी ही होगी। पृथ्वी में रहते हुए तो उससे छुटकारा नहीं।

एक बात और। उस लड़की की वह गाली कितने निर्लिप्त भाव की है? पृथ्वी में रहती हुई भी वह बालिका क्या स्वर्गीय नहीं? उसके आंसुओं से संसार का सारा कलुष क्या धुल नहीं सकता। इसमें कौन सा 'वाद' है, यह भी वाद-प्रेमियों को पता लगाना चाहिए।

(सोमवार, 20 अक्तूबर 1930)

समझौते की आशा

हमारा मतलब आगामी गोलमेज सम्मेलन के समझौते से है। यह तो सभी जानते हैं कि उक्त समझौता ब्रिटेन और भारत के बीच हो रहा है और यह भी सभी जानते हैं कि इस समय भारत में ब्रिटेन की शासन नीति से घोर असंतोष फैल रहा है। उक्त समझौते का लक्ष्य भारत के असंतोष को दूर करने की चेष्टा करना और परस्पर के कर्तव्यों और अधिकारों का ठीक-ठीक निरूपण करना है। यह तो स्पष्ट ही है कि समझौते में विलायत और भारत दोनों का स्वार्थ छिपा हुआ है क्योंकि और किसी उद्देश्य से किए गए समझौते की तो बात हम नहीं समझते। भारत और विलायत दल तो दो ही हैं, पर परिस्थितियों के कारण उनमें कई विभाग और उपविभाग भी हो गए हैं। भारत में देशी राज्य और ब्रिटिश भारत के प्रधान विभाग के अतिरिक्त आर्थिक और धार्मिक समस्याओं को लेकर कुछ और उपविभाग भी बन गए हैं। विलायत की ओर से एक तो पार्लियामेंट का दल है और दूसरा भारत सरकार का। पार्लियामेंट का कोई एक दल हो ऐसी बात नहीं है। उसमें भी मजदूर, लिबरल और अनुदार दल के तीन खंड हैं। भारत सरकार को हम समष्टि रूप से एक मान लेते हैं यद्यपि लार्ड इर्विन और उनके सहयोगी अब तक प्रायः

भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति के माने जाते रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत और ब्रिटेन के समझौते में पूरी पंचायत जमा हो गई है। इस पंचायत के अतिरिक्त भारतीय कांग्रेस का एक महत्वपूर्ण दल और है जो समझौते की आशा नहीं रखता और इस समय उग्ररूप से स्वराज्य आंदोलन का संचालन कर रहा है। इस दल को ब्रिटेन के प्रति सबसे अधिक असंतोष है और यह विलायत की सदाशयता पर सबसे कम विश्वास करता है। इस असंतोष और अविश्वास का असर भी सम्मेलन के समझौते पर प्रत्यक्ष तो नहीं पर अप्रत्यक्ष रीति से पड़ रहा है।

समझौते की तिथि आगामी नवंबर महीने में तय हो चुकी है और उसमें शरीक होने वाले प्रतिनिधि अपनी-अपनी तैयारी में लग चुके हैं। भारतीय प्रतिनिधियों में से अधिकांश विलायत पहुंच चुके हैं और जो नहीं पहुंचे उनके पहुंचने में बहुत थोड़ी देर है। स्वागत का आयोजन किया जा रहा है। आपस में विचारों का आदान-प्रदान तो कुछ समय पहले से जारी था, अब इस समय चेष्टा की जा रही है कि समझौता पूर्ण रूप से सफल हो। भारत के प्रतिनिधि मांगों को एकमत होकर रखने की चेष्टा कर रहे हैं और उन्हें आशा है कि वे साधारण मतभेद को अलग रखकर मुख्य मांग पर एकमत हो सकेंगे। भारतीय प्रतिनिधि विलायत में प्रचार का काम भी कर रहे हैं। इस देश की परिस्थिति को न समझने वाली विलायती जनता और अधिकारी व्यक्ति भी धीरे-धीरे यह जान रहे हैं कि भारत का असंतोष वास्तव में कितना बढ़ा हुआ है। कांग्रेस की बहिष्कार नीति से वे जिस असंतोष का अनुमान कर रहे थे, उसे विलायत में गए हुए भारतीय प्रतिनिधियों से स्पष्टतः सुनकर वहां वालों का अनुमान और भी दृढ़ हो रहा है।

भारत की स्थिति क्या है, वह क्या चाहता है और इस स्थिति में विलायत का क्या कर्तव्य है, इन प्रश्नों का बड़ा ही मार्मिक उत्तर प्रसिद्ध माडरेट नेता सर तेजबहादुर सप्रू ने भी अभी विलायत पहुंचकर दिया है। उन्होंने साफ-साफ कह दिया है कि इस समय भारतवर्ष में ब्रिटेन के प्रति अथाह असंतोष फैला हुआ है। भारत के राजनीतिक जीवन की यह प्रधान विशेषता हो रही है। उसे अब ब्रिटेन की ईमानदारी पर विश्वास नहीं रह गया। तुरंत औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए एकमत होकर आग्रह करेंगे, ऐसा शुभ लक्षण दीख पड़ता है।

विलायत वाले हमारी मांगों के विरुद्ध अधिकतर यही कहा करते थे कि औपनिवेशिक स्वराज्य के मार्ग में जो कठिनाइयां हैं, उन्हें न समझना गलती है। यह कहकर वे हमारे मजहबी झगड़ों की ओर प्रधानतः ध्यान दिलाया करते थे। पर अब भारत के राष्ट्रीय और एकमात्र आग्रह का प्रश्न सामने आता है। समस्त देश जिसके लिए आग्रह कर रहा हो, वह लक्ष्य बुरा नहीं हो सकता, पर यदि वह किसी के क्षुद्र स्वार्थों में बाधक होने के कारण बुरा समझ भी लिया जाए तो उसको समझने का परिणाम और भी बुरा होगा। सामूहिक आग्रह की शक्ति को न समझना कभी भी उचित नहीं। भारत सरकार यहां के वर्तमान स्वराज्य आंदोलन की शक्ति देख रही है और अपनी कठिन स्थिति का अंदाज भी लगा रही है। विलायत वाले यहां की बहिष्कार नीति का असर देख रहे हैं। गोलमेज में गए हुए सरकार द्वारा ही चुने गए भारतीय प्रतिनिधि भी जिस घोर असंतोष की बात कर रहे हैं और जिस एक लक्ष्य के लिए आग्रह करने वाले हैं उस ओर ध्यान न देना अथवा उसे टालने की चेष्टा करना किसी भी अवस्था में

दूरदर्शिता नहीं कही जा सकती। परंतु मिस्टर बार्टलेट और ओडायर सरीखे दूरदर्शी अब तक विलायत में मौजूद हैं जो अनंतकाल तक भारतीयों को उनकी आत्मा के विरुद्ध पराधीन बनाए रखना चाहते हैं और खुले आम कहते हैं कि हम भारत को छोड़ नहीं सकते। ऐसे लोगों से भगवान विलायत का कल्याण करे।

यहां हमें भारत सरकार की याद भी आती है। वाइसराय लार्ड इर्विन पहले से ही यह विश्वास दिलाते आए हैं कि यदि भारतीय प्रतिनिधि सहमत होकर अपनी मांग पेश करेंगे तो उन्हें अधिकार मिलने में अड़चन न होगी। उन्होंने तो यहां तक कहा है कि वे और उनकी सरकार प्रयत्न करके भारत को उसके वे उचित अधिकार दिलाएगी जिनके पाने के योग्य वह हो चुका है। उनके प्रयत्न करने का यही अवसर है। उसके पहले श्री सप्रू-जयकर की संधि योजना असफल हो चुकी है। इस गोलमेज सम्मेलन में वाइसराय और उनकी सरकार कैसी सिफारिशें करेगी, इस ओर सबका ध्यान लगा हुआ है। सुना जाता है कि वाइसराय और उनकी सरकार की ओर से एक लंबा खर्रा भेजा गया है जो सम्मेलन में भारत सरकार की सिफारिशों को प्रकट करेगा। एसोसिएटेड प्रांत के राजनीतिक संवाददाता ने इस लंबे खर्रे के संबंध में जो अनुमान लगाए हैं वे हमको द्विविधा में डालते हैं। संवाददाता का कहना है कि भारत सरकार की सिफारिशें अटल नहीं हैं। और उनमें इस बात की काफी गुंजाइश रखी गई है कि यदि कोई ऐसी नई स्कीम तैयार की जा सके जो भारतीय जनता को मान्य हो तो वह उसका स्वागत करेगी। यह आशाप्रद बात है। परंतु जो सिफारिशें भेजी गई हैं उनमें भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं मिलता, ऐसा अनुमान भी लगाया गया है। उन सिफारिशों में शायद ऐसी बात रखी गई है कि केंद्रीय सरकार में द्विसत्तात्मक शासन रहेगा, यद्यपि वह आजकल के द्वैध शासन से विभिन्न होगा। इसका तो मतलब यह हुआ कि केंद्र पर ब्रिटिश अधिकार बना रहेगा, प्रतिनिधि शासन की स्थापना नहीं होगी। यह रूप कब तक चलेगा इसका ठिकाना नहीं। यह बड़ी आशंका की बात होगी। हम चाहते हैं कि भारत सरकार सम्मिलित भारतीय प्रतिनिधियों की औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग का समर्थन करे क्योंकि भारतीय जनता को इससे कम कुछ भी स्वीकार न होगा।

सारा देश एकमत होकर शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण औपनिवेशिक राज्य चाहता है। अब सुधारों का दिन गया। विलायत के छोटे-मोटे सुधारों से काम नहीं चल सकता। उसे चाहिए कि वह आगे बढ़कर उदारतापूर्वक भारत की एकमात्र मांग को पूरा करे और उससे अपनी बराबरी का संबंध स्थापित करे। सहयोग तभी संभव है। ब्रिटेन यदि हमारा न्यायकर्ता बनकर अपनी महत्ता दिखाना चाहेगा तो अच्छा नहीं होगा, उसे चाहिए कि वह गोलमेज सम्मेलन के उपयुक्त मैत्री का भाव लेकर हमसे मिले। उसमें हमारा ही नहीं उसका भी लाभ है।

गोलमेज सम्मेलन में जो समस्याएं रखी जाएंगी वे कठिन तो अवश्य हैं पर सम्मेलन की सार्थकता भी तो कठिनाई का सामना करने में ही है। सर सप्रू ने कहा है कि हम सम्मेलन की कठिनाई को सुलझाने की इच्छा से यहां आए हैं। गोलमेज की समस्याएं उतनी जटिल नहीं हैं, परंतु यदि सम्मेलन असफल हुआ तो ब्रिटेन को और भारत को अधिक से अधिक

कठिनाइयां झेलनी पड़ेंगी। सर सप्रू की ये बातें सच्चे सुधारक की बातें हैं। उनकी सम्मति का मूल्य न समझना विलायत के पक्ष में उचित नहीं होगा। यदि ब्रिटिश प्रतिनिधि अपने झूठे स्वार्थों के फेर में पड़कर और अपने धोखा देने वाले नेताओं की बातों में फंसकर भारतीय समस्या को सुलझाने में कुछ भी पिछड़े तो परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा। डॉक्टर मुंजे ने कहा है कि ब्रिटेन को विचार करने का यही अंतिम अवसर है, मिस्टर मोदी ने तो और स्पष्ट कर दिया है कि गोलमेज सम्मेलन के असफल होने का मतलब है भारत में क्रांति और विद्रोह।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि गोलमेज सम्मेलन के सभी भारतीय प्रतिनिधि एकमत होकर औपनिवेशिक स्वराज्य की कम से कम मांग उपस्थित करने वाले हैं। सबसे अधिक मतभेद की संभावना देशी राज्यों की ओर से थी पर उन्होंने जिस उदारता से इस समय काम लिया है वह बहुत ही प्रशंसनीय है। उन्होंने सम्मिलित होकर यह निर्णय कर लिया है कि वे औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त भारत से अपनी बराबरी का संघात्मक (Federal) संबंध जोड़ेंगे। इस निर्णय के लिए वे बधाई पाने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त जिस मजहबी मतभेद की आशंका की जा रही थी, वह भी प्रायः लुप्त हो गया है। सर सप्रू ने अपने एक वक्तव्य में यह भी कहा है कि हमारे मजहबी झगड़े ऐसे नहीं हैं जो सुलझ न सकें। कोई बड़ा झगड़ा तो है ही नहीं, जो कुछ है वह वर्तमान शासन नीति के दूर होते और औपनिवेशिक स्वराज्य के मिलते ही अंत हो जाना चाहिए। हमारे जो कुछ भी मतभेद आपस में हैं, वे हमारे मुख्य लक्ष्य में बाधा नहीं डाल सकेंगे और हम अपनी कम से कम मांग एकमत होकर उपस्थित कर सकेंगे। जान पड़ता है, सर फजली हुसैन की सिफारिश व्यर्थ हो गई और मिस्टर जिन्ना की चौदह शर्तें भी उदारतापूर्वक रोक ली गईं। यह भी जान पड़ता है कि भारतीय प्रतिनिधि अपनी जिम्मेदारी अच्छी तरह से समझ रहे हैं और राष्ट्रीय हित का पूरा-पूरा ध्यान रख रहे हैं। मजहबी प्रश्नों के संबंध में राष्ट्रीय कांग्रेस की भी यही राय रही है और सर सप्रू के वक्तव्य से जान पड़ता है कि ऐसी ही उदारता भारतीय प्रतिनिधि भी दिखाएंगे। आवश्यक और अनिवार्य रुकावटों के साथ यदि गोलमेज सम्मेलन के भारतीय प्रतिनिधियों ने एकमत होकर औपनिवेशिक स्वराज्य का आग्रह किया और यदि अपने विचार तथा परिस्थिति का विचार कर वाइसराय और उनकी सरकार ने उसका समर्थन किया तो ये दोनों ही बातें संभव जान पड़ती हैं—तो हम समझते हैं कि आशा विफल नहीं होगी। यह हम जानते हैं कि पार्लियामेंट के लिबरल और अनुदार दल के अधिकांश निर्वाचित प्रतिनिधि भारत को उसके प्राप्त अधिकार देने में सहायक नहीं होंगे, कुछ तो उल्टा रुकावट ही डालेंगे और हम यह भी जानते हैं कि वर्तमान मजदूर सरकार भारत के प्रश्न को दलबंदी का प्रश्न नहीं बना सकती और भारत के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपना पद त्याग करने को भी तैयार नहीं हो सकती। फिर भी हमारा विश्वास है कि इस देश के प्रतिनिधियों और यहां की सरकार की सम्मिलित सिफारिशों का उल्लंघन पार्लियामेंट के सदस्य नहीं कर सकेंगे चाहे वे कट्टर अनुदार दल के ही क्यों न हों। हम आशा रखते हैं कि ब्रिटेन इस कठिन अवसर पर दूरदर्शिता से काम लेगा और पिछड़े हुए राजनीतिज्ञों की बात मानकर सर सप्रू के शब्द में भारत जैसे मूल्यवान प्रतियोगी को खो नहीं देगा।

भारतीय जीवन का उद्देश्य

कलकत्ते के *लोकमान्य* पत्र ने अपने दीवाली विशेषांक में इसी शीर्षक का एक लेख प्रकाशित किया है। उसके लेखक स्वामी अशोकानंद रामकृष्ण संघ से प्रकाशित *प्रबुद्ध भारत* पत्र के संपादक हैं। स्वामीजी ने भारत की आध्यात्मिकता पर जोर देते हुए लिखा है कि अनंत की खोज और अध्यात्म का अन्वेषण ही इस देश का एक मात्र आदर्श है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए ही भारत व्यष्टि और समष्टि रूप से चेष्टा करता है। जीवन के अनुभवों का बस इतना ही महत्व है कि इससे आपसे आप इसकी निस्सारता प्रकट हो जाती है और जीवन के परे जो चीज है उसकी झलक दिखाई पड़ने लगती है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' के अनुसार त्याग और भोग से सम्मिलित जीवन में अंत में त्याग का ही नाम जीवन रह जाता है। इससे आगे बढ़कर स्वामीजी यह लिखते हैं कि हिंदुस्तान का राजनीतिक पतन होना तो जरूरी ही था क्योंकि यदि ऐसा न होता तो विदेशी जातियों को भारत से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करने का मौका कैसे मिलता। नए आगंतुकों को यहां तक पहुंचने का मौका देने के लिए समय-समय पर हिंदुस्तान को झुकना भी पड़ा है और इसकी राजनीतिक पराधीनता का यही मुख्य रहस्य है। भारत के लिए यह कोई लज्जा की बात नहीं है। हिंदुस्तान का अस्तित्व अब तक आध्यात्मिकता के ही आधार पर निर्भर है और इसी के आधार पर संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक हो सकते हैं।

हम समझते हैं, यह भारतीय जीवन का उद्देश्य तो पीछे है संन्यासी हृदय की निराशावाणी पहले है। यह स्वामीजी के लिए कोई अपमान की बात नहीं क्योंकि बुद्ध से लेकर अब तक कितने छोटे-बड़े महात्मा ऐसी ही बातें कह चुके हैं। बुद्ध के दुःखवाद ने भारतीय जीवन पर उतना अधिक प्रभाव नहीं डाला जितना भावुकों की भावना पर डाला है। इसलिए भावुकगण भारतीय जीवन का चित्र अंकित करने में अपनी भावुकता का ही अधिक परिचय देते हैं, चित्र की यथार्थता पर उतना ध्यान नहीं देते। इसी भावुकता के आवेग में स्वामीजी ने व्यष्टि और समष्टि को अनंत असीम के अनुसंधान में तत्पर बतलाया है और यह भी कहा है कि वर्णाश्रम व्यवस्थाएं तथा अन्य रीति-नीतियां सब अध्यात्म को लक्ष्य करके चली हैं। सदियों की पराधीनता के बाद हम अपने जीवन का उद्देश्य करुणा की भाषा में ही व्यक्त करना सीख गए हैं। हम 'कोउ नृप होउ हमहि का हानी' का पाठ पढ़ते-पढ़ते विलक्षण मायावादी और आध्यात्मिक हो गए हैं। हमारा यह अध्यात्म न जाने कैसे हमारी रक्षा करेगा?

भारतीय जीवन का उद्देश्य व्यष्टि रूप से चाहे जो कुछ रहा हो परंतु समष्टि रूप से यह नहीं रहा कि जीवन का अनुभव करके उसकी निस्सारता से परिचित हो जाएं और जीवन के परे जो चीज है उसकी झलक देख लें। हमारे वर्णाश्रम विभाग, हमारी स्मृतियां हमारे विभिन्न लौकिक शास्त्र जितने ऊहापोह से समन्वित हैं उनकी आवश्यकता ही क्या थी? जीवन की निस्सारता सिद्ध करने के लिए हमने आत्महत्या की सरल विधि ग्रहण कर ली होती, इतने विधि विधान, इतने आडंबर का उद्देश्य क्या था। हमारा समाज जिन व्यापक और विविध आलंबनों

को ग्रहण कर चला है उससे तो जीवन बहुत ही सारपूर्ण जान पड़ता है। न केवल लौकिक शास्त्र ही, *गीता* आदि आध्यात्मिक ग्रंथ भी जोर लगाकर जीवन के सारपूर्ण लक्ष्य का ही प्रतिपादन करते हैं। 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप' में अर्जुन को जीवन की निस्सारता नहीं सिखलाई जा रही।

संन्यास धर्म भारतीय जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक वह वैयक्तिक साधना का मार्ग माना जा सकता है। वह मार्ग वैरागी बुद्ध और ख्रीष्ट का है, मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम और श्री कृष्ण का नहीं जिन्होंने आजीवन अविरत उद्योग करके भारतीय जीवन का उद्देश्य स्थिर किया। हम समझते हैं वे राम और कृष्ण ही थे।

अज्ञात और अनंत की खोज में भटकते रहना यदि इस देश का एक मात्र आदर्श होता, तो हमारा सामाजिक संघटन इतना दृढ़ और नियमित नहीं बन सकता था। हमने लोक व्यवहार की ओर भी कम से कम उतना ही ध्यान रखा था जितना अनंत और असीम की ओर। हमने अपने मंदिरों में मूर्तियों की स्थापना की थी और अपने अनंत असीम को संन्यासियों के लिए छोड़ रखा था। अनेक देवी-देवताओं की पूजा में और अनेक पर्व-त्योहारों में भारतीय जीवन का सार और व्यापकत्व ही विधि रूपों से फैला हुआ है। यदि हम झूठ न बोलें तो निश्चय ही हमें स्वीकार करना होगा कि भारतीय जीवन का उद्देश्य साधारण जनता में सामूहिक रूप से अनंत और असीम का अनुसंधान कभी नहीं माना था।

हम व्यर्थ को झूठे आध्यात्मिक क्यों बनते हैं। आध्यात्मिकता का ढांचा खड़ा करने के फल तो हम काफी भोग चुके हैं। हमें अब संतोष करना चाहिए। ढोंग का परिणाम हमारे समाज के साठ लाख से अधिक साधु नामधारी आडंबरी क्या काफी नहीं हैं? क्या महात्मा तुलसीदास के कलियुग वर्णन में आध्यात्मिकता की पोल पूरी-पूरी नहीं खोली जा चुकी जो हम और अधिक खोजने में लगे हैं। दंभियों ने अपने मत का प्रचार करने के लिए बहुत से पंथ तो प्रकट होकर रखे हैं। अंतर्दृष्टिहीन पाखंडी पंडितों की बाढ़ तो आई हुई है ऐसी अवस्था में यह उचित नहीं जान पड़ता कि हम अध्यात्मवाद पर और अधिक जोर दें।

'हिंदुस्तान का राजनीतिक पतन होना तो जरूरी ही था क्योंकि यदि ऐसा न होता तो विदेशी जातियों को भारत से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करने का मौका कैसे मिलता?' यदि स्वामीजी को आत्मतृप्ति होती हो तो हम उनकी इस विस्मयजनक बात का विरोध नहीं करेंगे।

'नए आगंतुकों को यहां तक पहुंचने का मौका देने के लिए समय-समय पर हिंदुस्तान को झुकना भी पड़ा है और इस राजनीतिक पराधीनता का यही मुख्य रहस्य है ...' रहस्य की इस खोज में स्वामीजी सत्य पर और इतिहास पर अत्याचार करते हैं।

प्रत्येक बात के कहने का एक उचित समय और एक उचित परिस्थिति होती है। जिस समय जिस प्रकार का वातावरण व्याप्त रहता है जीवन पर उसका प्रभाव पड़ता ही है। जीवन का उद्देश्य ढूंढ़ने के लिए कुछ बने-बनाए आदर्शों पर एक कोने बैठकर विचार करना विशेष लाभप्रद नहीं हो सकता। ग्रहणशील और व्यावहारिक दृष्टि की भी अपनी उपयोगिता है। इस समय इस देश में उस आध्यात्मिकता की प्रधानता नहीं है जिसका उल्लेख स्वामीजी ने किया

है। आधुनिक जीवन क्रियाशील और सारपूर्ण बनता जा रहा है। सामाजिक और राजनीतिक चेतना के प्रभाव से जीवन अधिकाधिक ठोस होता जा रहा है। अभी उस दिन भारतीय जीवन के आधुनिकतम प्रतिमूर्ति जवाहरलाल नेहरू ने महात्मा गांधी को लिखा था कि दुनिया रहने लायक जान पड़ने लगी है। इस बात में भी अपनी अलग ही आध्यात्मिकता है, जिसका अनुभव स्वामीजी सरीखे भावुक हृदय व्यक्ति करना चाहें तो सहज में ही कर सकते हैं।

लोंकमान्य ने विज्ञापन रूप में स्वामीजी के उस लेख की जितनी प्रशंसा की है, हम समझते हैं स्वामीजी उसे पसंद नहीं करेंगे, हम भी उसे पसंद नहीं करते।

(सोमवार, 27 अक्तूबर 1930)

राजनीतिक कैदी

पाठकों ने श्री नरदेव शास्त्री के उस लेख को पढ़ा होगा जो *भारत* के पिछले दो अंकों में निकल चुका है और जिसमें उन्होंने वर्तमान राजनीतिक कैदियों के जेल-जीवन के संबंध में अपने अनुभव लिखे हैं। शास्त्रीजी को हम उस विषय का जानकार मानते हैं क्योंकि पिछले असहयोग आंदोलन में और इस बार के सत्याग्रह संग्राम में भी वे जेल जा चुके हैं। और संयोग से उन्हें प्रत्येक श्रेणी के राजनीतिक कैदियों के बीच में रहने का अवसर भी मिल चुका है। शास्त्रीजी के इस लेख में हमें पक्षपात कहीं नहीं दीख पड़ता। उसकी गुंजाइश भी नहीं दीख पड़ती। ऐसी अवस्था में उनके अनुभवों को हम काफी महत्वपूर्ण समझते हैं। शास्त्रीजी ने ए, बी और सी क्लासों का उल्लेख कर उनकी स्थिति पर विचार किया है। राजनीतिक कैदियों में इस प्रकार का विभेद खड़ा करने की नीति को शास्त्रीजी पसंद नहीं करते। इस विभेद से नीची श्रेणी के राजनीतिक कैदियों में असंतोष फैलता है। और वे अपने से ऊंची श्रेणी में रखे गए नेताओं से अधिकाधिक दूर खिंचते जाते हैं। शास्त्रीजी ने बतलाया है कि जेल में नेताओं के प्रति आदरभाव बहुत कम हो जाता है और उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता। प्रत्येक कैदी अपने को नेता समझता है। हम समझते हैं कि उपर्युक्त श्रेणी विभाग के कारण जो भेदभाव फैला है, उसी से यह अनिष्ट उत्पन्न हुआ है। यदि इस अनिष्ट को दूर करना है तो नीची श्रेणी के राजनीतिक कैदियों से केवल मौखिक सहानुभूति दिखलाने से काम नहीं चलेगा, केवल 'सी' क्लास का भोजन स्वीकार कर लेना ही काफी नहीं होगा। अपने ऊंचे दर्जे का ज्ञान ही मिटा देना होगा और नीचे दर्जे के कैदियों में एकाकार हो जाना पड़ेगा। 'ए' क्लास और 'बी' क्लास के सब सुभीते छोड़ देने पड़ेंगे और 'सी' क्लास के सब कष्ट सहन करने पड़ेंगे। यह शास्त्रीजी की सम्मति है।

राजनीतिक कैदियों की उच्छृंखलता का विवरण पढ़कर हमें कम आश्चर्य नहीं हुआ। जेल के भीतर होने वाले मुशायरों और कवि-सम्मेलनों का क्या अर्थ लगाया जा सकता है, जब जेल

के बाहर दीवाली जैसे प्रसिद्ध पर्व में भी उत्सव नहीं मनाए गए और बहुत से स्कूलों-कॉलेजों में खेल-कूद भी बंद कर दिए गए हैं। जेल में पहुंच जाने से स्थिति कुछ दूसरी नहीं हो जाती, संसार कुछ बदल नहीं जाता। जेल वाले यदि यह स्मरण रखें कि जेल के बाहर लाठियों और कड़े कानूनों का दौरदौरा कम नहीं हुआ, यदि उन्हें यह अनुभव होता रहे कि जेल में आकर वे अपने अन्य सहकारियों से अधिक सुरक्षित ही हुए हैं, कष्ट में नहीं पड़े तो बहुत संभव है उनकी उच्छृंखलता कुछ कम हो।

इस बार जेलखानों में नवयुवकों की संख्या अधिक है और इनमें पढ़े-लिखे नवयुवक ही अधिक हैं। इस बार बाजारू लोग उतनी अधिक संख्या में नहीं आए हैं। यदि यह बात सत्य है तो हम समझते हैं कि सरकार की ओर से कुछ सुभीते मिलने से राजनीतिक कैदियों की स्थिति अधिक व्यवस्थित हो सकती है। बाजारू लोगों की कमी यों ही स्थिति को सुधार सकती है। नवयुवक तो उत्तेजनाशील और सहनशील दोनों होते हैं। यदि उनके साथ उचित व्यवहार किया जाए और उनकी आवश्यकताओं पर उचित ध्यान दिया जाए तो वे सहज में ही शांत किए जा सकते हैं। पढ़े-लिखे नवयुवकों की मानसिक तृप्ति के लिए कुछ साधन चाहिए। उनके लिए पुस्तकों का कुछ प्रबंध किया जाना चाहिए और कुछ समाचारपत्र भी उन्हें मिलने चाहिए। अब तक 'सी' क्लास के कैदियों के लिए शायद ऐसा कोई प्रबंध नहीं किया गया। 'सी' क्लास का अर्थ किसी सीमा तक निर्धन और प्रतिष्ठाहीन माना जा सकता है पर अनपढ़ तो नहीं माना जा सकता, इसलिए पढ़े-लिखे 'सी' क्लास के कैदियों की शिक्षा संबंधी योग्यता का विचार अवश्य होना चाहिए।

शास्त्रीजी का यह कथन हमें बहुत पसंद आया कि शांत रीति से दिन यापना करने और जेल के दिनों में स्वाध्याय, जप-तप और आत्मनिरीक्षण करने से बड़ा लाभ होगा। जेल के प्रत्येक नियम को चाहे वह बुरा हो या अच्छा हो ठुकराते रहना और वातावरण को अशांत रखने का यत्न करना यह कोई सदुद्देश्य नहीं है। जेल के अधिकारियों पर ही सारे दोष नहीं मढ़े जा सकते क्योंकि उनको भी तो ऊपर के अधिकारियों की आज्ञा माननी पड़ती है। बात-बात में भूख हड़ताल करने को तैयार हो जाना और अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर उसे छोड़ देना, कभी भी उचित नहीं समझा जा सकता। महात्माजी के सिद्धांत तो बहुत ही ऊंचे हैं। वे तो स्वर्गीय जितेंद्र नाथ दास का-सा महान बलिदान करने वाले और उनके समान दृढ़ व्रत के अनशन की भी नियमित सराहना ही कर सकते हैं। अनशन को वे प्रायश्चित और पवित्रता का साधन मानते हैं। उसे वे झगड़े का अस्त्र नहीं बनाना चाहते।

जेल के भोजन की बहुत-सी शिकायतें सुनने को मिलती हैं। एक प्रतिष्ठित कैदी ने अपने एक मित्र को एक पत्र में लिखा था कि जेल आना हो तो पहले से सेर भर दाल में मुट्ठी भर कंकड़ डालकर खाने का अभ्यास कर लेना। बिहार प्रांत के कैदियों का जो विवरण प्रकाशित हुआ है उससे वहां की असाधारण मृत्यु संख्या का पता लगता है। अधिकांश कैदियों की मृत्यु पेट की ही विविध बीमारियों से हुई है। इससे भी यह पुष्ट होता है कि जेलों में भोजन का प्रबंध बहुत बुरा है। इस समय खाद्य वस्तुएं बहुत सस्ती हैं और छह-सात पैसों में ही साधारण

भोजन की व्यवस्था की जा सकती है, ऐसी अवस्था में सरकार की पुरानी प्रथा को निबाहते जाने और चने की रोटी ही खिलाते रहने की नीति अच्छी नहीं। यदि चने के ही भाव गेहूं भी मिलता है तो गेहूं की रोटी का प्रबंध आसानी से किया जा सकता है। सरकार को चाहिए कि वह इस ओर ध्यान दे और कैदियों की बढ़ती हुई मृत्यु संख्या को कम करने का उद्योग करे।

हम जेल में पड़े हुए देश के महान नेताओं के संबंध में भी दो शब्द कहेंगे। जेल से निकलने के बाद बंबई के नेता जमुनादास द्वारकादास ने यह कहा है कि यरवदा जेल में राजनीतिक कैदियों को महात्मा गांधी से मिलने नहीं दिया जाता और वे प्रायः अकेले ही रखे जाते हैं। इस समाचार से देश की जनता में बहुत बड़ी अशांति फैलने की संभावना है। भारतीय व्यवस्था-सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल के अंबाला जेल में अस्वस्थ रहने और उनकी बीमारी के बढ़ जाने की खबर से सारा देश क्षुब्ध हो रहा है। सरकार फिर भी उन्हें अंबाला में ही रखना चाहती है। अंबाला श्री पटेल के स्वास्थ्य के अनुकूल स्थान नहीं है। उनके अनेक गुजराती मित्रों को उन तक पहुंचने में दिक्कत उठानी पड़ती है। उनके पत्र भी उन्हें ठीक समय पर नहीं मिलते। इन सब त्रुटियों को दूर न करना सरकार की बड़ी अदूरदर्शिता और बड़ा हठ है।

प्रत्युत्तर

ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो चुप रहकर ही अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखते हैं और बोलते ही उसे खो देते हैं। हम समझते हैं मार्क्विस ऑफ जेट लैंड भी ऐसे ही लोगों में हैं। मार्क्विस साहब भारतीय समस्याओं से परिचित समझे जाते थे और उनका नाम भावी वाइसराय के पद के लिए भी लिया जा रहा था। वे आगामी गोलमेज सम्मेलन में विलायत के अनुदार दल की ओर से प्रधान सलाहकार चुने गए थे और ऐसी आशा की जाती थी कि उनसे भारतीय हित में बाधा नहीं पड़ेगी। परंतु अभी हाल में अपने एक भाषण में आपने अपनी योग्यता का पता दे दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि उनसे किसी प्रकार की आशा नहीं की जा सकती। आपने यह राय जाहिर की है कि हिंदुस्तान की नब्बे प्रतिशत से अधिक जनता निरक्षर और मूर्ख है तथा दूर-दूर देहातों में फैली हुई है। इसका नतीजा यह निकला कि प्रतिनिधि शासन की योग्यता उसने अब तक हासिल नहीं की है इसलिए औपनिवेशिक स्वराज्य अभी उसे नहीं मिलना चाहिए।

मार्क्विस साहब को यह कौन बतलाए कि उनके सभ्य और पंडित देश में स्वतंत्र शासन की नींव कब डाली गई थी और जब डाली गई थी तब उसकी क्या अवस्था थी। ख्रीष्ट की बारहवीं शताब्दी में ही विलायत में प्रतिनिधि शासन बन चुका था, यद्यपि उस समय वहां उस शब्द का अर्थ समझना भी कठिन काम था। तब से लेकर लगातार छह सौ वर्षों तक विलायत की क्या वैसी ही स्थिति रही थी जैसी अब है? हम तो समझते हैं आज से केवल साठ वर्ष पहले इंग्लैंड की निरक्षरता भारत की इस समय की निरक्षरता से कम नहीं थी फिर भी वहां प्रतिनिधि शासन साठ के दस गुना वर्षों से चला आ रहा था।

यहां की जनता दूर-दूर गांवों में फैली हुई है। यह कोई पाप नहीं है। ऐसा तो अमेरिका में भी है, रूस में भी है; प्रत्येक बड़े देश में है। तो क्या इससे उन देशों में प्रतिनिधि शासन चल नहीं रहा और क्या भारत में भी थोड़ा-सा प्रयत्न करने से वह चल नहीं सकता?

यदि मार्क्विस महोदय की बात मान भी ली जाए तो आखिर भारतीय समस्या का अंत कहां है? आज डेढ़ सौ से अधिक वर्षों से ब्रिटेन इस देश पर शासन कर रहा है और इसे सभ्य और शिक्षित बनाने में लगा हुआ है। वह भारतीय आय का चौदहवां हिस्सा यहां की नब्बे प्रतिशत अशिक्षित जनता को पंडित बनाने में खर्च करता है। फल सिद्धि नहीं हो रही तो क्या किया जाए, उद्योग तो किया ही जा रहा है। जान पड़ता है मार्क्विस ऑफ जेट लैंड सरीखे व्यक्ति *गीता* के निष्काम कर्म पर विश्वास करने लगे हैं।

परंतु जान पड़ता है मार्क्विस महोदय *गीता* का अर्थ उतनी आसानी से नहीं समझ सकते जितनी आसानी से अपने देशवासियों की बातें समझते हैं। जान पड़ता है कि अपने देशवासियों में भी वे औरों की ओर उतना ध्यान नहीं देते जितना लार्ड रोथरमियर, वीभर ब्रूक, मेस्टन और मिस्टर वार्टलैंड जैसे लोगों की ओर देते हैं। यदि वे भारतीय समस्या को सममुच समझना चाहते हैं तो इस सत्संग से काम नहीं चलेगा। दृष्टि को उदार बनाना पड़ेगा, स्थिति को समझने के लिए सार ग्रहण की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए यदि वे फेनर ब्राकले और मिस्टर एंड्रूज जैसे देशवासियों की बातें सुनने के लिए तैयार नहीं तो उन्हें कम से कम मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड के उस छोटे से किंतु तथ्यपूर्ण लेख को तो पढ़ ही लेना चाहिए जो अभी उस दिन *न्यू लीडर* पत्र में प्रकाशित हुआ है और जिसका कुछ अंश हम *भारत* के इस अंक में दे रहे हैं। उतना ही पढ़कर वे अपना सुधार कर सकते हैं और भारतीय सुधार में सहायक हो सकते हैं।

आर्थिक समस्या

अपने अर्थकष्ट के संबंध में हम पहले भी लिख चुके हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाएं भी बराबर लिखा करती हैं पर अवस्था कुछ सुधर नहीं रही। राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों के एक साथ मिल जाने और मिले रहने के कारण वास्तविक स्थिति का ठीक-ठाक ज्ञान नहीं होता और उसी कारण सुधार भी नहीं होता। सरकार ने हमारी आर्थिक अवस्था के प्रति उदासीन भाव धारण कर लिया है और वह हमारी स्थिति में सुधार करने को तैयार नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश नेताओं के पास इतना समय नहीं कि वे मनोयोग के साथ इस समस्या पर विचार कर सकें। वे अधिकतर आदर्शों की ओर उत्तेजना देकर चुप हो रहते हैं। उदाहरण के लिए प्रयाग के प्रसिद्ध नेता श्री पुरुषोत्तम दासजी टंडन ने कहा है कि यहां के किसानों की अवस्था अच्छी है। यहां की समस्त जनता इस समय दोनों समय भोजन करती है। खाने की वस्तुएं इस समय असाधारण रीति से सस्ती हैं। रुपए किसानों के पास नहीं हैं, वे मालगुजारी नहीं दे सकेंगे। सरकार को महात्मा गांधी के अनुसार भूमि कर आधा ही नहीं कर देना होगा, एक-चौथाई कर

देना होगा। श्री सेनगुप्त ने कराची के व्यापारियों को उत्साह प्रदान करते हुए जेल में गए हुए पचास हजार से अधिक सत्याग्रहियों और बड़े-बड़े महापुरुषों के आत्म त्याग की बात कही है। टंडनजी का कथन ठीक है परंतु विचारने की बात यह है कि क्या सरकार वास्तव में भूमि कर को एक-चौथाई कर देगी। यदि सरकार नहीं करेगी तो क्या देश भर की जनता सत्याग्रह करने को तैयार हो जाएगी? हमें तो कम संभावना दीख पड़ती है।

अभी उस दिन बंबई के प्रसिद्ध व्यापारी सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास ने सरकार की अर्थनीति की कड़े शब्दों में आलोचना की है और कहा है कि सरकार ने अपनी इस नीति के कारण हिंदुस्तान को हताश कर दिया है और सत्याग्रह संग्राम की शक्ति को बेहद बढ़ा दिया है। कांग्रेस में जिन कारणों से प्रेरित होकर यह आंदोलन प्रारंभ किया उनका कुछ भी विचार न कर सरकार के आंदोलन को दबा देने में ही अपनी बहादुरी समझी। वह बीमारी की दवा नहीं कर रही, बीमारी के ऊपरी-लक्षणों को ही मेटना चाहती है जो संभव नहीं। उन्होंने बतलाया है कि इस समय भारतीय व्यवसायों की स्पष्ट स्थिति यह है कि वे राष्ट्रीयता और स्वदेश प्रेम के भावों से प्रेरित होकर कष्ट सहेंगे और देश का साथ देंगे। भारत में व्यवसाय करने वाले अंग्रेजों को सर पुरुषोत्तम ने अच्छी फटकार बतलाई है और यह कहा है कि वे हिंदुस्तान की मनोवृत्ति को लेश मात्र भी नहीं समझ सके हैं। अंग्रेज व्यवसायी इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि उनका इस देश में व्यवसाय करने का अधिकार तो है ही, अपनी इच्छानुसार व्यावसायिक सुभीते पाने का भी जन्मसिद्ध अधिकार है। कलकत्ते के यूरोपियन एसोसिएशन के मिस्टर एंड्रूज सरीखे लोगों का यह भ्रम अब बहुत शीघ्र दूर हो जाएगा।

सर पुरुषोत्तम ने भारतीय व्यवसाय की सच्ची स्थिति बतला दी है। सरकार को चाहिए कि वह इस मूल्यवान सम्मति की कद्र करें और सत्याग्रह आंदोलन को शांति के साथ समझें। रोग की दवा न करना बुद्धिमानी न कही जाएगी। परंतु जब हम देखते हैं कि अर्थ सचिव सर जॉर्ज शुस्टर भारत की आर्थिक अवस्था के संबंध में उदासीन ही नहीं, विरोधी भाव भी धारण किए हुए हैं तब हमें सरकार की बेसमझी का पता लग जाता है। बंगाल के किसानों के घरों में पड़े हुए जूट को खरीदकर बाजार दर ठीक करने के आग्रह को सर जॉर्ज शुस्टर मानने को तैयार नहीं हुए। औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग को वे किस दृष्टि से देखते हैं, यह बात भी छिपी नहीं है। उन्होंने देहली में प्रतिनिधि शासन की स्थापना करने और अर्थ विभाग की व्यवस्था-सभा के निर्वाचित सदस्य के हवाले कर देने के विपक्ष में ही अपनी राय दी है। ये सब बातें स्पष्ट रीति से सिद्ध कर देती हैं कि सरकार अब तक इस देश के वर्तमान शक्तिशाली आंदोलन को नहीं समझती है और यहां की आर्थिक अवस्था में सुधार न कर अपनी स्थिति को और भी कठिन बना रही है।

मजदूरों की स्थिति और भी डावांडोल है। वे अब तक तो बुरी आबोहवा में कष्टप्रद जीवन व्यतीत कर अपना शारीरिक और नैतिक पतन ही कर रहे थे; अब बेकार होकर और अधिक क्लेश में पड़ गए हैं। जब नौकरी का ही ठिकाना नहीं तब लाइब्रेरी, क्लब तथा अन्य सुविधाओं की तो बात ही कहां है? और-और देशों से इस देश के मजदूरों की तुलना नहीं की जा सकती।

यहां बेकारी की अवस्था में भीख भी मांगे नहीं मिलती। अन्य देशों में तो सरकारी सुभीते रहते हैं। यहां की बड़ी ही विकट स्थिति है, यह मनुष्यता के विनाश का प्रश्न है। इससे बचने का एक मात्र उपाय विलायत और भारत के बीच बढ़ते हुए भेदभाव को कम करना और इस देश की मांगों की ओर ध्यान देना है। बिना औपनिवेशिक स्वराज्य के भारत कभी भी विलायत से संतुष्ट न होगा और असंतोष की अवस्था में कभी भी सुधार न हो सकेगा। भारत की ही नहीं, विलायत की आर्थिक अवस्था भी तभी सुधर सकेगी अन्यथा नहीं।

(शुक्रवार, 31 अक्तूबर 1930)

सम्मेलन और वाइसराय

गोलमेज सम्मेलन का नाम लेते ही जिस एक व्यक्ति की ओर हमारी दृष्टि सबसे पहले खिंचती है वे हैं वाइसराय लार्ड इर्विन। इसके कई कारण हैं। हम समझते हैं कि सम्राट की ओर से सम्मेलन की जो घोषणा की गई थी, वह सबसे अधिक लार्ड इर्विन की ही सलाह का परिणाम था। उन्होंने विलायत जाकर अधिकारियों को भारतवर्ष की स्थिति समझाई थी और समझौते की सिफारिश की थी। भारतवर्ष में भी उन्होंने निजी तौर से नहीं, असेंबली के सरकारी भाषणों में भी कई बार समझौते पर जोर दिया था और इस बात की चेष्टा की थी कि सम्मिलित भारत एकमत होकर अपनी मांग उपस्थित करे और अधिक से अधिक प्रतिनिधि शासन का अधिकार प्राप्त करे। उन्होंने अपनी ओर, अपनी सरकार की ओर से इस बात का विश्वास दिलाया था कि वे प्रयत्न करके भारत को उसके प्राप्य अधिक से अधिक अधिकार दिलाएंगे, कुछ रुकावटें परिवर्तन काल के लिए भले ही रखी जाएंगी। उन्होंने यह विश्वास भी प्रकट किया था कि विलायत की मजदूर सरकार भी भारत की सम्मिलित मांग का विरोध नहीं करेगी। इन सब बातों से वाइसराय की उदारता का पता चला था और इस देश में ब्रिटेन के प्रति अविश्वास का भाव तीव्र होते हुए भी वाइसराय का प्रायः सब पर विश्वास बंधा हुआ था। इधर अनेक कड़े कानूनों की सृष्टि करने में उनकी कमजोरी को ही दोष दिया जा रहा था और किसी को नहीं। कम से कम गोलमेज सम्मेलन के तो वे ही सूत्रधार समझे जाते थे और ऐसी आशा की जाती थी कि उनके प्रयत्न से सम्मेलन को सफलता मिलेगी, भारत को उसका खोया हुआ भारतीय व्यवसाय और विश्वास ही नहीं, एक महान स्वतंत्र और सम्मिलित राष्ट्र का सहयोग और कृतज्ञता भी मिलेगी।

परंतु इधर जो समाचार सुन पड़े हैं वे कुछ दूसरे ही प्रकार के हैं। यद्यपि वे समाचार अभी अनुमान के रूप में ही प्रकट किए गए हैं और यद्यपि उनके सत्य होने की संभावना कम लोगों को और कामना किसी को भी नहीं है, फिर भी वे हमारे सामने आकर जिस अनिष्ट की सूचना दे रहे हैं, वह भुलाया नहीं जा सकता। विलायत के मजदूर दल के प्रसिद्ध पत्र *डेली हेरल्ड* ने अभी उस दिन यह सूचना प्रकाशित की है। वाइसराय ने गोलमेज के लिए भारत

सरकार की ओर से जो सिफारिश भेजी है उनके साथ अपनी ओर से एक अलग विज्ञप्ति भी भेजी है। उस विज्ञप्ति में साइमन कमीशन की सिफारिशों की आलोचना करते हुए लिखा गया है कि उन सिफारिशों की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वे प्रांतों में तो प्रतिनिधि शासन का अधिकार देती हैं पर केंद्रीय देहली शासन में कुछ भी अधिकार नहीं देतीं। इस त्रुटि को पूरा करने के लिए विज्ञप्ति में यह सिफारिश की गई है कि केंद्रीय शासन के कुछ विभाग बड़ी व्यवस्था-सभा के निर्वाचित सदस्यों के मातहत कर दिए जाएं और शेष कुछ विभाग सरकार के मातहत रहें। फौज और अर्थ विभाग, शांति और व्यवस्था विभाग तथा देशी राज्य और अंतर्राष्ट्रीय नीति से संबंध रखने वाले विभाग पर सरकार का प्रभुत्व उसी प्रकार बना रहे जिस प्रकार इस समय है, शेष कुछ विभाग जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में कर दिए जाएं। इस प्रकार वाइसराय की विज्ञप्ति के अनुसार देहली के केंद्रीय शासन में भी द्विसत्तात्मक या द्वैध प्रणाली का सूत्रपात किया जाता है। यह प्रणाली कब तक बनी रहेगी और उसका कभी अंत भी होगा या नहीं इस संबंध में किसी को कुछ भी ज्ञात नहीं।

यदि वाइसराय या गवर्नमेंट ने यही विज्ञप्ति भेजी है तो कहना न होगा कि वे नर्म दल के भारतीय नेताओं की आशा पर पानी फेर रहे हैं जो अब तक कुछ और ही समझ रहे थे और सम्मेलन में जाकर औपनिवेशिक स्वराज्य ले आने का बहुत कुछ निश्चय कर चुके थे। वे नेता वाइसराय के सहयोग से विलायत के पिछड़े हुए अनुदार और लिबरल दल के नेताओं का मुकाबला करने की बात सोच रहे थे। प्राप्त समाचारों से पता चलता है कि विलायत में पहुंचे हुए भारतीय प्रतिनिधि एकमत होकर, औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग उपस्थित करने का विचार करते हैं और इसके लिए वे बहुत कुछ तैयारी भी कर चुके हैं। उन्हें सफलता की बहुत कुछ आशा है।

यदि अर्थ विभाग और फौज विभाग, शांति और व्यवस्था विभाग, देशी राज्य और अंतर्राष्ट्रीय नीति के विभाग सरकार के हाथ में ही रहेंगे तो निश्चय ही जो कुछ अधिकार भारतीय व्यवस्था-सभा के प्रतिनिधियों को मिलेंगे, वे नहीं के बराबर होंगे। यह तो किसी सीमा तक माना जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय नीति और देशी राज्यों के संबंध में निर्णय करने के अधिकार परिवर्तन काल में विलायत के प्रतिनिधि के हाथ में ही रहें और यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि फौजी विभाग की समस्या भी अभी कुछ समय तक हम नहीं सुलझा सकते पर वाइसराय की और बातों का तो अर्थ ही हमारी समझ में नहीं आता। आखिर हम अधिकार चाहते हैं, नुमाइश तो नहीं चाहते। देश की स्थिति वाइसराय को अच्छी तरह मालूम है। शक्तिशाली कांग्रेस इसी नुमाइश का विचार कर गोलमेज सम्मेलन में नहीं गई। यदि सरकार की उपर्युक्त सिफारिश स्वीकार कर ली गई और सम्मेलन उनसे आगे न बढ़ सका तो सरकार समझ सकती है कि उनकी सिफारिशों पर अमल करने के लिए हिंदुस्तान की जनता तैयार होगी या नहीं।

यदि हम अर्थ विभाग पर अधिकार पाकर अपनी आय-व्यय संभालने और शांति-व्यवस्था विभाग पर अधिकार पाकर अपनी उन्नति करने के योग्य भी नहीं समझे जाते तो समझौते की कोई भी बात करने का कुछ भी अर्थ नहीं। वह समझौता हमारी अयोग्यता का व्यंग्य है और कुछ भी नहीं। अर्थ विभाग पर अधिकार पाए बिना भविष्य का सारा रास्ता रुक जाता

है और सारे अधिकार झूठे जो जाते हैं। प्रांतीय द्वैतशासन का हाल हमसे छिपा नहीं है। शांति और व्यवस्था के लिए यदि देश की पुलिस को भी हम नहीं संभाल सकते तो हम कोई भी अधिकार पाने के योग्य नहीं। हम चाहते हैं कि फौज विभाग पर भी हमारा अधिकार रहे हम शीघ्रातिशीघ्र कम खर्च की भारतीय सेना तैयार कर सकें। यदि सेना में विलायती अफसर रहेंगे तो हमारे अधिकार में रहेंगे और हमारे होकर रहेंगे। पर यह सब सरकार की विज्ञप्ति के अनुसार बहुत दूर की कल्पनाएं जान पड़ती हैं और अभी जिस प्रारंभिक औपनिवेशिक स्वराज्य की सिफारिश की गई है वह वास्तविक अधिकार से कोसों दूर पड़ी है।

हमें यह सुनकर और भी विस्मय हुआ है कि *डेली हेरल्ड* पत्र की वे शर्तें बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर कही गई हैं। वास्तव में वाइसराय ने अपनी ओर से कोई भी विज्ञप्ति अलग नहीं भेजी, अपनी सरकार की ओर से ही बड़ा-सा पोथा भेजा है। कहा जाता है कि इस बड़े पोथे में बहुत अधिक पिछड़ी हुई सिफारिशें हैं, अधिकांश साइमन रिपोर्ट का ढंग ही ग्रहण किया गया है। इसके अनुसार केंद्रीय शासन में व्यवस्था-सभा के जिन निर्वाचित प्रतिनिधियों को थोड़े-बहुत अधिकार मिलेंगे वे व्यवस्था-सभा से अपना संबंध छोड़ देंगे और विलायत की पार्लियामेंट के उत्तरदायी होंगे। यदि व्यवस्था-सभा उनमें से किसी प्रतिनिधि के विरोध में बहुमत से प्रस्ताव पास करेगी तो उसे निकालने का अधिकार गवर्नर जनरल और उनकी कौंसिल के हाथ में रहेगा। साइमन साहब की केवल इस सिफारिश का विरोध किया गया है कि बड़ी व्यवस्था-सभा के चुनाव सीधे जनता की ओर से न होकर प्रांतीय सभाओं की ओर से ही हों। वाइसराय के पोथे की इस पिछड़ी हुई नीति को देखकर सहयोगी *लीडर* पत्र के प्रतिनिधि ने उचित ही कहा है कि कांग्रेस ने उनसे अविश्वास प्रकट कर ठीक ही किया और यह भी कहा है कि उनका पोथा विलायत के अनुदार और लिबरल दल के भारत विरोधी प्रतिनिधियों के विरोध में सहायक सिद्ध होगा और साइमन कमीशन की सिफारिशों का पल्ला छोड़कर वे इस पोथे को ही अपना ब्रह्मास्त्र समझकर धारण करेंगे। वास्तविक बात तो अभी कुछ दिनों बाद प्रकट होगी पर लक्षण बुरे ही दीख पड़ते हैं।

बंबई का संयम

अभी पिछले रविवार को भारत की प्रथम नगरी बंबई ने जिस संयम से पुलिस सार्जेंटों के प्रहारों को सहन किया वह भूल जाने की बात नहीं है। प्राप्त समाचारों से जान पड़ता है कि इस बार की लाठियों की वर्षा सबसे अधिक कठोर थी। सुना जाता है कि घायल हुए सैकड़ों व्यक्तियों में अधिकांश को सिर पर गहरी चोट लगी है। बहुत से बुरी तरह घायल किए गए हैं। कुछ मरणासन्न हो रहे हैं। स्त्रियों के साथ जिस ज्यादती के समाचार आए हैं वे ब्रिटेन के परंपरागत स्त्री सम्मान के भाव का विचार करते हुए आश्चर्य में डालने वाले हैं। कहा जाता है कि पुलिस सार्जेंटों ने स्त्रियों के, नवयुवतियों के हाथों से झंडा छीनने के लिए उनसे हाथापाई की और उन्हें

झटके दिए। दो-तीन युवतियों ने सार्जेंटों के दुर्व्यवहार का जो विवरण न्यायालय में दिया है, वह विचाराधीन है, उस पर हम अभी अपनी सम्मति नहीं दे सकते, परंतु इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि भले घरों की सम्माननीय स्त्रियों से हाथापाई करनी और उन्हें मोटर लारियों पर बैठाल कर दूर स्थानों में छोड़ आना, अंग्रेजी राज्य के इतिहास में एक नए पृष्ठ के लिखने की सूचना दे रहा है।

दमन और अहिंसा

हम दमन और अहिंसा का संबंध जानना चाहते हैं। कुछ लोग यह कहा करते हैं कि सरकार की कठोर दमन नीति के कारण अहिंसा प्रतिदिन क्षीण होती जाती है और हिंसात्मक आंदोलन की शक्ति बढ़ती जाती है। सरकार की ओर से इस देश की राजनीतिक अवस्था का जो विवरण प्रति सप्ताह निकला करता है उसमें भी अनेक बार प्रकाशित किया गया है कि कांग्रेस के आंदोलन में कमी आ रही है और जनता में हिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ रही है। जहां-जहां सरकार की ओर से कठोर दमन चक्र का व्यवहार किया गया वहां-वहां अहिंसात्मक आंदोलन दब गया। इन सब बातों से तो जान पड़ता है कि दमन और अहिंसा का परस्पर विरोधी संबंध है, और दमन के कारण अहिंसा दब सकती है। परंतु हम इन बातों पर विश्वास नहीं करते।

लाहौर कांग्रेस में महात्मा गांधी ने वाइसराय के प्रति सहानुभूति का प्रस्ताव रखा था। पाठकों को स्मरण होगा कि कांग्रेस अधिवेशन के कुछ पहले ही वाइसराय की ट्रेन को उलटने का षड्यंत्र देहली के पास किया गया था। सहानुभूति के प्रस्ताव में इस प्रकार के षड्यंत्रों का विरोध किया गया था, परंतु उक्त प्रस्ताव कांग्रेस में बड़ी कठिनाई से और थोड़े से वोटों से पास हो सका था। स्मरण रखना चाहिए कि लाहौर कांग्रेस में उस प्रस्ताव का समर्थन करने वाले महात्मा गांधीजी जैसे नेता थे और उस समय सरकार की ओर से आजकल के-से दमन की कल्पना भी नहीं कि गई थी। फिर भी प्रस्ताव के पास होने में कठिनाई पड़ी थी। इससे हम समझ सकते हैं कि उस समय भारतीय वायुमंडल में कितनी उग्र हिंसात्मक प्रवृत्ति फैल रही थी और कांग्रेस जैसी अहिंसा की नीति पर काम करने वाली संस्था भी अहिंसा को कितना थोड़ा महत्व देती थी।

उसके बाद का हाल देखिए। महात्मा गांधी के नेतृत्व में थोड़े से अहिंसा व्रतधारी सैनिक नमक-कर तोड़ने के अभिप्राय से साबरमती आश्रम से निकले। किसी को कुछ आशा न थी, कम से कम कुछ निश्चय न था। स्वयं महात्माजी को आंदोलन के भविष्य के संबंध में बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। उन्होंने तो प्रारंभ में ही कह दिया था कि मुझे सरकार और देश के क्रांतिकारियों का साथ-साथ मुकाबला करना है। दोनों ओर से लड़ाई लड़नी है। इसके बाद भी धरसाना के नमक गोदाम पर धावा करने के पहले महात्माजी ने यह लिखा था कि यदि अहिंसा का कट्टर पक्षपाती कोई नहीं मिलेगा तो मुझे अकेले जाकर गोदाम पर चढ़ाई करनी पड़ेगी। स्मरण

रखना चाहिए कि तब तक देश में इस समय की-सी दमन की ज्यादती नहीं फैली थी। दमन ज्यादती से न फैलने के कारण महात्माजी तक को उस समय देश की और अपने अनुयायियों की अहिंसा का कुछ निश्चय नहीं था, ऐसा हमें जान पड़ता है।

और आगे बढ़ने पर हम गुजरात में, बंबई नगरी में तथा लखनऊ आदि में दमनचक्र का दौरदौरा देखते हैं। धीरे-धीरे सारा देश ही दमन का अड्डा बन गया। गिरफ्तारियों की धूम मच गई और अनेक स्थानों में पुलिस की लाठियों का जैसा प्रसार दीख पड़ा वह सबको मालूम है। अहिंसा की शक्ति इसी अवसर पर दीख पड़ी। बड़े-बड़े नेताओं के और आंदोलन के सूत्रधार स्वयं महात्मा गांधी के जेल में चले जाने से संभावना तो यह थी कि अहिंसात्मक आंदोलन दब जाएगा पर दमन के कारण वह दबा नहीं, बढ़ता ही गया।

हम तो समझते हैं जिन-जिन जगहों में अत्याचार और दमन जोर-शोर से था उन-उन जगहों में अहिंसात्मक आंदोलन भी वेग से आगे बढ़ा। गुजरात में धरसाना पर जो सामूहिक धावा किया गया था उसमें प्रायः दो हजार व्यक्ति सम्मिलित हुए थे और कई सौ व्यक्ति लाठियों से घायल होकर अस्पताल पहुंचाए गए थे। उनकी अहिंसा की शक्ति कम नहीं हुई, दृढ़ ही हो गई। वाडला आदि अन्य स्थानों में भी जो अहिंसात्मक धावे किए गए, हम समझते हैं उनमें धरसाना की अहिंसा की विजय से विशेष उत्तेजना मिली थी। हमारे प्रांत में भी लखनऊ जैसे विलासप्रिय नगर ने दमन के प्रतिकार में अहिंसा की जो प्रखर शक्ति दिखलाई वह भी हमारी इस धारणा को पुष्ट ही करती है कि अत्याचार के साथ-साथ अहिंसा बढ़ती है, घटती कभी नहीं।

दमन से यह आशा करनी व्यर्थ है कि अहिंसात्मक आंदोलन का रूप बदलेगा और वह हिंसा की ओर अग्रसर होगा। अब तक के उदाहरणों को देखते हुए हम तो इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अहिंसावादियों की शक्ति क्षीण नहीं होगी, उल्टा बढ़ेगी ही। अब तक बंबई ने जिस अटल अहिंसा का परिचय दिया है, वह उस नगरी के लिए गौरव की वस्तु है। उससे हम देशवासियों का मस्तक ऊंचा होता है। बंबई में यों ही अहिंसात्मक आंदोलन सबसे अधिक आगे बढ़ा हुआ था, नवीन दमन-नीति से तो उसके प्रति सबकी सहानुभूति और सम्मान भाव और भी बढ़ जाएगा। अभी उस दिन बंबई कार्पोरेशन जैसी अराजनीतिक संस्था ने भी लाठी वर्षा का विरोध किया है और डॉक्टरों और व्यवसायियों के प्रधान मंडलों ने उसकी घोर निंदा की है। लाठी वर्षा को भीषण और घृणास्पद बतलाया गया है। बंबई की जनता तो कितनी ही बार इसकी निंदा कर चुकी है। नर्म दल के जो पत्र अब तक चुप्पी साधे हुए थे वे भी स्पष्ट शब्दों में सरकार की इस कार्रवाई को खतरनाक बतला रहे हैं।

अहिंसा की शक्ति इस प्रकार बढ़ती है। जनता की और मनुष्यमात्र की सहानुभूति निरीह और अहिंसात्मक व्यक्तियों पर ही हो सकती है, अत्याचारी पर नहीं हो सकती। अभी उस दिन मिस्टर एंड्रूज सरीखे व्यक्ति ने भी यह स्वीकार किया है कि लाहौर कांग्रेस के समय भारतीय वायुमंडल में जो अहिंसात्मक प्रवृत्ति दीख पड़ी थी, इस समय वह बहुत ही क्षीण हो गई है, हिंसा का संबंध अहिंसात्मक आंदोलन से नहीं लगाया जा सकता। दमन ने अहिंसा की वृद्धि में सहायता पहुंचाई है, बाधा नहीं डाली।

अहिंसा आत्मा की शक्ति है, दमन पशु शक्ति है। आत्मशक्ति को पशुशक्ति क्षीण नहीं कर सकती। अहिंसा का अर्थ शिथिलता और कमजोरी नहीं है। इसका यही अर्थ समझने वाले इस पर अविश्वास करते हैं। इसको ग्रहण न कर सकने वाले व्यक्ति ही इसका विरोध करते हैं। इसका अर्थ न समझ सकने के कारण ही देश में कभी-कभी हिंसात्मक प्रवृत्ति के चिह्न दीख पड़ते हैं। परंतु जो इसका अर्थ समझते हैं और इसकी शक्ति से परिचित हो गए हैं, वे दमन को अपना सहायक और हिंसा को अपनी परीक्षा मानते हैं।

(सोमवार, 3 नवंबर 1930)

कठिनाइयां और अड़ंगे

सर तेजबहादुर सप्रू ने अभी उस दिन विलायत में कहा था कि गोलमेज सम्मेलन में रखी जानी वाली समस्याएं कठिन अवश्य हैं, पर कठिनाइयों को हल करने के ही लिए तो सम्मेलन किया गया है और हम सब यहां आए हुए हैं। उन्होंने यह आशा भी प्रकट की थी कि वे कठिन समस्याओं को सुलझा सकेंगे और भारतीय प्रतिनिधि एकमत होकर तत्काल औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग रख सकेंगे। उनके इस आशावाद को देखकर हमारे यहां के कुछ राष्ट्रीय पत्रों ने उन्हें असंभव के लिए आशा करने वाला बतलाया था और यह कहा था कि जिस प्रकार कांग्रेस और वाइसराय के बीच मेल कराने की उनकी आशा विफल हो गई, इसी प्रकार यह आशा भी असफल हो जाएगी। सम्मेलन के भविष्य के संबंध में हम अभी कुछ भी नहीं कर सकते परंतु हम समझते हैं कि सर सप्रू के आशावाद में सच्चे देश हितैषी और सुधारक की आकांक्षा छिपी हुई है, साथ ही अपनी शक्ति और ब्रिटेन की ईमानदारी में विश्वास भी छिपा हुआ है। सर सप्रू यह आशा रखते हैं कि हिंदू, मुसलमान आदि विभिन्न जातियों और ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्य आदि विभिन्न विभाग संपूर्ण राष्ट्रीय और भारतीय प्रश्न के सामने अपने क्षुद्र स्वार्थों का परित्याग कर देंगे, साथ ही, वे यह आशा भी रखते हैं कि ब्रिटेन की ओर से यह सम्मेलन स्वतंत्र सम्मेलन (Free-conference) समझा जाएगा और इसमें प्रत्येक समस्या पर निष्पक्ष रीति से विचार किया जाएगा। वाइसराय लार्ड इर्विन की ही भांति सर सप्रू को भी यह विश्वास जान पड़ता है कि भारत के विभिन्न दल एकमत होकर जो मांग रखेंगे उसका भारत सरकार समर्थन करेगी और मजदूर सरकार उसे स्वीकार करेगी। इसलिए वे अन्य बातों की चिंता न कर आपस के विभेदों को मिटाने और सम्मिलित क्रम से कम मांग उपस्थित करने में तत्परता से लगे हुए हैं। सर सप्रू ही नहीं, सम्मेलन के प्रायः सभी भारतीय सदस्य ऐसी ही चेष्टा कर रहे हैं।

परंतु प्राप्त समाचारों से पता लगता है कि आपस के मतभेद को दूर कर लेने पर भी भारतीय प्रतिनिधियों की सारी कठिनाई का अंत नहीं होगा। विलायत में और भारत में भी

कुछ ऐसी संस्थाएं और व्यक्ति काम कर रहे हैं जो कोशिश करके सम्मेलन की सफलता में अड़ंगे रखने और आपस में मत-भेद खड़ा करने का उद्योग करते हैं। हिंदू-मुस्लिम समस्या, अछूत समस्या, देशी राज्य समस्या आदि जितनी कठिन हैं उनसे भी कठिन बनाई जा रही हैं और तरह-तरह के प्रयत्न करके उनकी कठिनाई बढ़ाई जा रही है। उदाहरण के लिए अभी उस दिन विलायत की इंडियन एंपायर सोसायटी नाम की संस्था ने माइकेल ओडायर सरीखे कुछ लोगों के हस्ताक्षर से एक लेख वहां के *स्पेक्टेटर* पत्र में प्रकाशित कराया है। इसमें उन लोगों ने अछूत समस्या की जटिलता दिखलाने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार मिस्टर अंबेडकर भारतीय अछूतों के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं, क्योंकि उनकी राय अछूत जनता की राय से नहीं मिलती। लेख में कुछ इधर-उधर के उदाहरण देकर यह साबित करने का उद्योग किया गया है कि अछूत ब्रिटेन के ही मातहत रहना चाहते हैं, उन्हें हिंदुओं से बड़ा भय है और वे औपनिवेशिक स्वराज्य के विरोध में हैं। इसी प्रकार कलकत्ते के *इंगलिश मैन* पत्र में हिंदू-मुस्लिम समझौते पर आक्षेप किया है और यह कहा है कि सर सप्रू और मिस्टर जयकर हिंदुओं की ओर से जैसा समझौता कर रहे हैं, उसमें डॉक्टर मुंजे की राय नहीं ली गई और वह पं. मदनमोहन मालवीय तथा हिंदू महासभा को स्वीकार नहीं होगा। इसके साथ ही यह धमकी भी दी गई है कि यदि इसी प्रकार के समझौते किए गए तो सम्मेलन कभी भी सफल नहीं हो सकेगा। यहीं पत्र ने मिस्टर विंसटन चर्चिल की उस व्यर्थ की बात की भी याद दिलाई है जिसमें कहा गया है कि सम्मेलन का निर्णय अंतिम नहीं होगा, वह प्रस्ताव मात्र होगा, फैसला करने वाली पार्लियामेंट होगी। इस तरह की बहुत-सी और-और बातें लिख-लिखकर और कह-कहकर भारतीय प्रतिनिधियों में मतभेद और निराशा फैलाने की कुचेष्टा की जा रही है और उनकी कठिनाइयों को बेहद बढ़ाया जा रहा है।

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त बहुत से और अड़ंगे भी हैं। मान लें कि आपस के सारे मतभेदों को उदारतापूर्वक दूर कर सब भारतीय प्रतिनिधि तत्काल औपनिवेशिक स्वराज्य की सम्मिलित मांग रख सकेंगे। उसके बाद क्या होगा? क्या औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जाएगा? उत्तर कुछ भी नहीं दिया जा सकता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि अड़ंगे डालने वालों की चले तो निश्चय ही निकट भविष्य में औपनिवेशिक स्वराज्य मिलना कठिन है। मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड की तरह हम भी औपनिवेशिक स्वराज्य के चक्करदार और पेचीले शब्द को हटा कर यह पूछते हैं कि क्या साइमन रिपोर्ट के प्रांतीय स्वायत्त शासन से आगे बढ़कर केंद्रीय शासन के सब विभाग भारतीय प्रतिनिधियों के अधीन किए जाएंगे? क्या अन्य विभागों के अतिरिक्त फौज विभाग, अर्थ विभाग, देशी राज्य और अंतर्राष्ट्रीय विभाग, शांति और व्यवस्था विभाग भी भारतीय व्यवस्था-सभा के नियंत्रण में रखे जाएंगे? अड़ंगे डालने वालों की राय सुनिए :

1. *फौज विभाग*—ध्यान देने की बात है कि इस विभाग का विशेषज्ञ कोई प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन के लिए नहीं चुना गया। इससे तो स्पष्ट यही प्रकट होता है कि ब्रिटेन की ओर से यह निश्चय किया जा चुका है इस विभाग को भारतीयों के हाथ

में देने का प्रश्न ही सम्मेलन में नहीं आवेगा। दूसरी ध्यान देने की बात यह भी है कि यद्यपि सर फिलिप बेटल्ड (भारतीय प्रधान सेनापति) ने बड़े ही विशद शब्दों में गुरखा और सिख पल्टनों की असाधारण प्रशंसा की है, फिर भी कभी सेना के भारतीयकरण के लिए एक शब्द भी नहीं कहा। प्रसिद्ध स्क्रीन कमेटी की संयत और नर्म रिपोर्ट के अनुसार भी सैनिक शिक्षा का कॉलेज भारत में नहीं खोला गया है और न ही उनकी अन्य सिफारिशें ही काम में लाई गईं। जो अड़ंगा डालने वाले यह कहते हैं कि भारतीय अछूत सरकार के तरफदार हैं, उनसे इतना तक भी नहीं किया गया कि उन्हें फौज में भर्ती कर सैनिक शिक्षा देते और आगामी सेना के भारतीयकरण में सहायता पहुंचाते।

2. *अर्थ विभाग*—अर्थ सचिव सर जॉर्ज शुस्टर से अधिक महत्वपूर्ण और जवाबदेह व्यक्ति इस क्षेत्र में कोई दूसरा नहीं है। पर वे कहते हैं कि इस विभाग को भारतीय प्रतिनिधि के हाथ में कर देने से एक नहीं, तीन-तीन कठिनाइयां पड़ेंगी। एक तो लंदन में भारतीय ऋण को क्षति पहुंचेगी, रिजर्व बैंक की स्थापना के मूल में ही धक्का पहुंचेगा और कर में कमी हो जाने की आशंका रहेगी। सर जॉर्ज ने भारत की अयोग्यता पर यह नवीन प्रकाश डाला है। इसका परिणाम क्या होगा, यह हम समझ सकते हैं।

बिना फौज विभाग और अर्थ विभाग पर अधिकार पाए औपनिवेशिक स्वराज्य का बहुत अधिक मूल्य घट जाता है। भूतपूर्व प्रेसीडेंट पटेल ने अपनी बनारस की पिछली वक्तृता में कहा था कि औपनिवेशिक स्वराज्य से फौज घटा लेने पर वही रह जाता है जो एक से एक घटा लेने पर रह जाता है, अर्थात् शून्य, कुछ भी नहीं। और अर्थ विभाग का भी बहुत कुछ उतना ही महत्व है। तब तक हमारा राष्ट्रीय विकास किसी प्रकार संभव नहीं जब तक अर्थ विभाग हमारे हाथ में नहीं आता। देश की भीषण अशिक्षा और अज्ञान दूर नहीं हो सकेंगे। भारतीय जनसंख्या के नब्बे प्रतिशत ग्राम निवासी किसानों का कुछ भी सुधार नहीं हो सकेगा, स्थिति प्रधानतः अब की-सी ही बनी रहेगी।

और तो और, शांति और व्यवस्था विभाग को भी भारतीय प्रतिनिधि के हाथों में कर देने का विरोध किया जा रहा है। अभी उस दिन इंडियन पुलिस एसोसिएशन की जो बैठक हुई थी उसमें यह कहा गया है कि इस विभाग को भारतीय प्रतिनिधि के हाथों में कर देने से कई हानियां होंगी। एसोसिएशन ने तो साइमन कमीशन की रिपोर्ट को भी बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई बतलाया है और कहा है कि पुलिस विभाग को सरकार के हाथों से अलग कर देने से तमाम विभाग अनिश्चित हो जाएंगे और उसकी कार्रवाई डावांडोल हो जाएगी। व्यवस्था-सभा के प्रतिनिधियों का अधिकार बढ़ जाने से पुलिस उनके वश में हो जाएगी और स्वतंत्र रीति से निष्पक्ष होकर शीघ्र काम न कर सकेगी। व्यवस्था-सभा की दलबंदी के साथ-साथ पुलिस को भी अपनी नीति बदलते रहना पड़ेगा। इस प्रकार पुलिस विभाग अपना स्थायित्व खो देगा

और इसकी केंद्रीय सत्ता बिलकुल मिट जाएगी। जान पड़ता है कि भारत की पुलिस एसोसिएशन तमाम संसार में जनता के बढ़ते हुए अधिकार की खबर नहीं पा रही। समस्त सरकारी विभाग अधिकाधिक व्यवस्था विभाग के नियंत्रण में जा रहे हैं इसका उसे पता नहीं। उसे अधिकारों की ख्वाहिश है, आज्ञा पालन की नहीं। इतने दिनों के स्वेच्छाचार के बाद वह अपनी बुरी आदत को ही अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा है। इस देश में पुलिस का कठोरता से गहरा संबंध हो गया है, इस संबंध को तोड़ना होगा। पर पुलिस एसोसिएशन ऐसा करने को तैयार नहीं दीख पड़ती।

और भी अनेक अड़ंगे हैं। विलायत के *डेली मेल, डेली एक्सप्रेस, मार्निंग पोस्ट, इवनिंग न्यूज* आदि समाचारपत्र संघबद्ध होकर विद्वेष का प्रचार कर रहे हैं और मतभेद को उत्तेजना दे रहे हैं। भारतीय जनता की प्रबल आकांक्षा से वे परिचित नहीं हैं, दूर से ही बातें बनाते हैं। उनकी सम्मति का हमारे लिए तो कुछ भी मूल्य नहीं, हम समझते हैं किसी भी समझदार और दूरदर्शी व्यक्ति के लिए कुछ भी मूल्य नहीं।

धन्य धर्म, धन्य भगवान

ट्रिब्यून के उप-संपादक किन्हीं श्रीयुत जंगबहादुर सिंह महाशय ने भाद्रपद की *सुधा* में एक लेख लिखा है। शीर्षक रखा है 'धिक् धर्म, धिक् भगवान'। वे कहते हैं कि 'इस लेख में मैंने भगवान को चुल्लू भर पानी में डूब मरने की सलाह दी है। मैंने निधड़क होकर नवयुवकों से कहा है कि यदि भगवान आत्महत्या करने के लिए राजी न हो तो तुम धर्म का चक्रव्यूह तोड़कर उसे मार डालो और बड़े समारोह से उसकी कपाल-क्रिया करो। भगवान के अंधभक्त यह सुनकर मुझे कच्चा चबा जाने के लिए व्यग्र हो जाएंगे। फिर भी वेद, कुरान, इंजील गलत है, यह लेख सही है।' इसके उपरांत महाशयजी ने रूस के धर्म-विद्रोहियों की शरण लेकर टावस्की और टाल्सटाय के नाम पर बहुत-सी जली-कटी सुनाई हैं। हमें उसका जवाब देने की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए प्रायश्चित करने की आवश्यकता अवश्य है।

जिस आदमी ने यह लेख लिखा है उसे भगवान ने भारतवर्ष में ऐसे समय में पैदा किया है जब अहिंसा के अवतार महात्मा गांधी के प्रभाव से सारे देश में उच्च सदाचार और सात्विकता की लहर आई हुई है। जिस आदमी ने यह लेख लिखा है वह ऐसे पत्र में काम करता है जो उन महात्मा गांधी की नीति का अनुयायी है और अहिंसा को उद्देश्य-सिद्धि का साधन मानता है। वह आदमी रूस से पकड़कर नहीं लाया गया, यहीं की उपज है। ऐसी अवस्था में यह भगवान की अजब लीला है कि उसने श्रीयुत जंगबहादुर सिंह को ऐसी परिस्थिति के बीच इस देश में उत्पन्न किया है। इस वसंत ऋतु के अंधड़ का अर्थ हमारी समझ में न आया।

क्या राजनीति, क्या समाजनीति सबमें धर्म की हमें एक लहर व्याप्त दीख पड़ती है। जीवन को हम अलग-अलग कठघरों में कैद नहीं मानते। जीवनधारा प्रवाह है। जीवन धर्म

है। राजनीति, समाजनीति सब जीवन के अंग हैं। इसलिए उनमें धर्म की एक-सी झलक मिलनी चाहिए। जो इसे स्वीकार नहीं करता, वह झूठा और फरेबी है। एक क्षेत्र में हिंसात्मक प्रवृत्ति दिखाकर दूसरे क्षेत्र में अहिंसा का नाम लेना अपनी सच्चाई पर कलंक लगाना है। हम यह नहीं मानते कि महात्मा गांधी राजनीति में अहिंसावादी हैं, वे सब नीतियों में अहिंसावादी हैं, उनका जीवन और उनका धर्म अहिंसावाद पर स्थित है।

तब मिस्टर जंगबहादुर सिंह जवाब दें कि उन्होंने राजनीति में कौन-सा धर्म धारण किया है? और उनके जीवन का धर्म उनके राजनीतिक धर्म से किस प्रकार मिलता है? यदि वे धर्म के नाम से ही खार खाए बैठे हों तो वे नाम बदल दें और यह बतलाएं कि *ट्रिब्यून* पत्र के संपादकीय विभाग में काम करते हुए उन्होंने झूठी अहिंसा का समर्थन कर महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों को क्यों धोखे में डाल रखा है और अपने सिद्धांतों की हत्या करके क्यों अपनी कमजोरी ही नित्यप्रति बढ़ाते जा रहे हैं? रूस के जार और जार के स्रष्टा की हत्या करने की बात एक में मिलाकर कह देने से काम नहीं चलेगा, यह भी बतलाना होगा कि रूस के अनीश्वरवादी कुछ व्यक्ति कितने हिंसा प्रिय, कठोर और नृशंस हैं?

हमारे देश में चार्वाक आदि और निरीश्वरवादी भी हो गए हैं परंतु उनके जीवन में एक साम्य और समन्वय मिलता है। चार्वाक ने वेदों की निंदा की थी महीधर-कृत *भीष्म* को लक्ष्य करके। चार्वाक की अंतिम प्रेरणा सत्य और धर्म की ओर ही मानी जाएगी क्योंकि उसने वेदों की निंदा करने में कतिपय तामसिक क्रियाओं को ही निंदा का लक्ष्य बनाया था। परंतु मिस्टर जंगबहादुर सिंह बिना किसी कारण और बिना कोई कारण बतलाए अपने लेख को सही ठहराते हैं, वेद, कुरान, इंजील सबको गलत। मिस्टर जंगबहादुर सिंह राजनीति में अहिंसावादी हैं, समाजनीति में क्रांतिवादी और धर्म में अनीश्वरवादी। ऐसे बहुरूपिए हमने कम देखे हैं।

परंतु हम मिस्टर जंगबहादुर के मूल में स्थित इस बहुरूपिएपन की अकाट्य कमजोरी को थोड़ी देर के लिए भूल जाएंगे और यह मान लेंगे कि वे गुप्त रीति से रूसी आदर्शों के अनुयायी हैं, किन्हीं कारणों से प्रकट नहीं होना चाहते। हम यह भी मान लेंगे कि धर्म और ईश्वर के कारण दुनिया में बड़े-बड़े अनर्थ हुए हैं। यूरोप के पोप-पादरियों और भारत के धर्म-गुरुओं ने समय-समय पर बड़ी से बड़ी अधार्मिकता का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त मिस्टर जंगबहादुर और जो कुछ कहें हम बहस के लिए मानने को तैयार हैं। तब हम उनसे यह पूछने के हकदार हैं या नहीं कि आखिर आपकी दुनिया कैसी होगी?

इस प्रश्न का दार्शनिक उत्तर हम नहीं चाहते। मिस्टर जंगबहादुर जैसे व्यक्तियों को दर्शन से क्या मतलब? वे सीधे-सादे ढंग से अपनी दुनिया का चित्र हमें दिखा दें। इस लेख में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे तो बड़ा ही भयानक चित्र हमारे सामने आता है। पुराणों में एक देवता के राक्षस हो जाने की बड़ी ही रोचक कथा मिलती है। पहले वह देवता था। न जाने उसे क्यों अपने शरीर से बहुत अधिक अनुराग हो गया। वह दिन-रात अपने आप में मस्त रहता। इसी बीच में उसे सुंदर-सुंदर वस्त्रों की साध बढ़ी। आजकल के मिस्टर लोगों की तरह वह भी नित्यप्रति कितनी ही बार अपनी पोशाक बदलता रहा। फिर वह समय भी आया जब वह अपने

रूप का ही अंधभक्त होकर जल में अपनी परछाईं देखने में ही सारा समय लगा देता। इसके बाद उसके राक्षस बना दिए जाने की कहानी है। मिस्टर जंगबहादुर सिंह की स्कीम ठीक उसी ओर ले जाने वाली है जिस ओर जाकर देवता राक्षस बन गया था।

मिस्टर जंगबहादुर सिंह से हम वह जानना चाहते हैं कि उन्होंने जीवनदायिनी कोमल श्रवण मधुर कल्पना क्यों खो दी है। लाखों, करोड़ों सूर्य, चंद्रमा, असंख्य ग्रह-उपग्रह और विद्युत ज्योति में वे केवल आग ही क्यों देखने लगे हैं। अनंत, असीम महाकाल के चरणों में लिपट रहने के सिवा वे कुछ और कर नहीं सकते, व्यर्थ को करने की मृगतृष्णा क्यों रखते हैं? जो अनंत कृति और अनंत शांति, अंतिम सत्य और अंतिम धर्म है, अनादि शक्ति और अनंत विश्राम जिसमें एक रस व्याप्त होकर सार्थक हो रहे हैं। ज्ञान और बुद्धि की जो चरम परिणति है, उसे छोड़कर मिस्टर जंगबहादुर कहां जाएंगे? वे सत्य बोलने, चोरी न करने आदि के जिन नैतिक आदर्शों की बात करते हैं उन्हीं का विराट रूप तो भगवान है। उन आदर्शों की प्रेरणा उन्हें कहां से मिलेगी। यदि वे जड़त्व को ही आधार मानकर चलेंगे। मिस्टर जंगबहादुर यदि विश्व प्रेम और विश्व बंधुत्व का आनंद नहीं ले सकते तो कम से कम अपने भाई-बंधु, मित्र और स्त्री में तो तादात्म्य का, एकता का, अनुभव करते हैं, वही अनुभव बढ़ाना होगा। वही विराट बनकर आनंद का चिरस्रोत भगवान बन जाएंगे। मिस्टर जंगबहादुर तब देखें कि केवल भाई-बंधु मित्र और स्त्री ही नहीं, केवल संसार के सब जीव ही नहीं, तमाम ब्रह्मांड ही एक सूत्र में ग्रथित एक शोभनतम आत्मीयता की आभा चमक रहा है। मिस्टर जंगबहादुर उस समय रुपयों की पश्चिमीय आग से बचकर अपने को कृतकृत्य मानेंगे। भगवान की कृपा से उनकी दोनों आंखें खुलकर उस समय जिस सुशृंखल और ज्योतिर्मय सृष्टि की एकता देखकर तृप्त होगी, वह रूसी साम्यवाद से करोड़ गुणा अधिक अभीप्सित होगी। उनका यह दर्शन अचल चिरंतन धर्म होगा। धन्य धर्म, धन्य भगवान!

(शुक्रवार, 7 नवंबर 1930)

विलायत की बेजानकारी

दुनिया के इतिहास में बेजानकारी के बहुत अच्छे-अच्छे नमूने मिलते हैं। एक बेजानकारी रोम के नीरो बादशाह की थी जो अपनी विशाल नगरी के अग्निदाह से नष्ट होते समय बेजानकार बनकर वीणा बजा रहा था। दूसरी बेजानकारी महात्मा ख्रीष्ट को फांसी पर लटका देने वाले उन कठोर धर्मांधों की थी जिनके विषय में स्वयं ख्रीष्ट ने कहा कि ये बेजानकार क्षमा किए जाएं क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। तीसरी बेजानकारी लखनऊ के वाजिदअली शाह के जमाने के शतरंज के खिलाड़ियों की थी, जिन्हें ऐश-आराम के सामने और सब बातें भूल गई थीं जिसके कारण अवध का बड़ा प्रांत पलक मारते खो गया था। चौथी बेजानकारी से अमेरिका महादेश ब्रिटेन के हाथ से छूट गया। अभी उस दिन विलायत में किसी ने भूतपूर्व

गवर्नर मिस्टर तांबे से यह पूछा कि हिंदुस्तान से आए हुए प्रतिनिधियों में कोई अंग्रेजी जानता है या नहीं? यह बेजानकारी का एक और उदाहरण है। और हाल की बात है विलायत के खैरख्वाह एक हिंदुस्तानी पत्र में लिखा मिला है कि विलायत वालों को यह पता नहीं कि हिंदुस्तानी क्या चाहते हैं। इसलिए अधिकांश लोग साइमन रिपोर्ट का ही समर्थन करते हैं। यह विलायत की नई बेजानकारी हुई। इस प्रकार और भी ऐसी बेजानकारियों का पता लगाया जा सकता है जो अपने-अपने ढंग की अनूठी निकलेंगी।

पर अनूठी हों चाहे जो हों, दो प्रकार की बेजानकारी निर्दोष होती हैं और माफ की जा सकती हैं, तीसरी नहीं। एक तो बालक की बेजानकारी और दूसरे मूर्ख की बेजानकारी—इसके अलावा प्रत्येक बेजानकारी के लिए और संस्कृत का ऋत ज्ञानान्न मुक्तिः का ब्रह्मावर्त लागू होता है। प्रत्येक अज्ञानकर को अपनी बेजानकारी का जिम्मेदार होना पड़ता है। और बेजानकारियों के विषय में चाहे हम कुछ भी न कह सकें पर विलायत के बेजानकारों के संबंध में तो हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि वह न बालक की बेजानकारी है और न मूर्ख की।

अधिक नहीं तो पिछले कम से कम चालीस वर्षों से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस देश की राजनीतिक प्रगति का चित्र विलायत के सामने रख रही है। दादाभाई से लेकर राणाडे, गोखले, तिलक, स्वर्गीय सुरेंद्रनाथ बनर्जी और आधुनिक महात्मा गांधी द्वारा अनेक बार इस देश की आकांक्षा प्रकट की जा चुकी है। हमारी राजनीतिक योग्यता का स्पष्ट परिचय स्वर्गीय चित्तरंजन दास द्वारा प्रस्तावित, पंडित मोतीलाल द्वारा अनुमोदित और माननीय विट्ठल भाई पटेल द्वारा प्रदर्शित व्यवस्था कार्य से बढ़कर और क्या हो सकता है? ब्रिटेन हमारी वीरता और सैनिक शक्ति का परिचय विगत महायुद्ध में अच्छी तरह पा चुका है। एक ही अवसर मिला पर यह एक ही अवसर काफी से अधिक है। सामाजिक क्षेत्र में स्वर्गीय राजा राममोहन राय और स्वामी दयानंद ने युगांतर उपस्थित कर भारत को आधुनिक परिवर्तित परिस्थिति का सामना करने लायक बना दिया है। साहित्य में महाकवि रवींद्रनाथ से लेकर उत्कर्षपूर्ण कितने ही साहित्यकार हमारे बीच हुए हैं, और हो रहे हैं और भविष्य के लिए आशाओं के नए द्वार खुलते जा रहे हैं। वैज्ञानिकों में जगदीशचंद्र और रमण जगत प्रसिद्ध हैं, शिक्षा कार्य में महामना मालवीय जी, सर सैयद अहमद खां और स्वर्गीय आशुतोष मुखर्जी संसार से श्रेष्ठ शिक्षा उन्नायकों के समकक्ष जा बैठे हैं। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञान में रामकृष्ण और विवेकानंद की ख्याति भारत की सीमा का उल्लंघन कर देश-देशांतरों में व्याप्त हो चुकी है। स्त्री समाज की रत्न भारतीय कोकिला सरोजिनी देवी संसार की आदरणीय महिलाओं में गिनी जाती हैं। इन महापुरुषों के अतिरिक्त मध्य श्रेणी के अनेक व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे मिलेंगे जिनसे हमारा राष्ट्रीय जीवन ऊंचा होकर संसार की नजरों के सामने आ रहा है। किंतु इतने पर भी विलायत की बेजानकारी नहीं मिट रही।

हमने एक भी उपाय बाकी नहीं रखा। भारत सरकार की जानकारी के लिए भारत में और विलायत की जानकारी के लिए वहां भी बराबर प्रयत्न किया गया। बल्कि इस संबंध में राष्ट्रीय दलों में कुछ मतभेद भी हो गया था पर श्रीमती विक्टर बेसेंट और उनकी होमरूल

लीग ने विलायत को ही अपना प्रचार क्षेत्र बनाया और वे वहां बराबर काम करती रहीं। बीच-बीच में कितने ही प्रभावशाली भारतीय नेता विलायत जाते रहे और यहां की स्थिति को स्पष्ट करते रहे। इसी संबंध की एक अंतिम घटना अभी उस दिन घटी है जब सर तेजबहादुर सप्रू ने यह सूचना दी कि भारत में ब्रिटेन के प्रति बेहद असंतोष फैला हुआ है और वह पूर्ण प्रतिनिधि शासन के सिवा और किसी बात से संतुष्ट नहीं हो सकता।

हमने और कड़े उपायों से भी काम लिया। पिछले असहयोग के समय के सामूहिक आंदोलन ने संसार की आंखें खोल दी थीं। देश ने अप्रसन्न होकर सम्राट के सुपुत्र प्रिंस ऑफ वेल्स तथा उनके चाचा ड्यूक ऑफ केनाट की अभ्यर्थना नहीं की, स्वागत नहीं किया। कुछ समय बाद जब गोरा, साइमन कमीशन हमारी जांच करने आया तो देश भर ने काले झंडों से और हड़तालों से उसका जवाब दिया। उसकी सिफारिशों की अरथी निकालकर नदियों और तालाबों में बहा दी गई। यहां के किसी भी उत्तरदायी व्यक्ति या दल ने कमीशन की रिपोर्ट के पक्ष में एक शब्द भी नहीं कहा परंतु इस सबका असर विलायत की बेजानकारी को कुछ भी कम न कर सका। जैसाकि आज हम उपर्युक्त खैरख्वाह पत्र में पढ़ते हैं, ब्रिटेन आज भी अधिकांश में साइमन रिपोर्ट को ही भारत संबंधी समस्याओं के हल करने का साधन मानता है।

इनसे भी कड़े उपाय काम में लाए गए। कानून भंग अथवा सत्याग्रह का वर्तमान भयंकर दृश्य सामने आया। रचनात्मक काम करके हमने विलायत के करोड़ों रुपयों के माल का बहिष्कार किया। विलायती कपड़ों के व्यापार को जबर्दस्त धक्का लगा और लाखों विलायती मजदूरों के बेकार हो जाने और पचासों बड़ी-बड़ी मिलों के बंद हो जाने का दृश्य देखा गया। दूसरी ओर अहिंसात्मक रीति से कानून भंग किया गया और फलस्वरूप पुलिस की लाठियां और डंडे सहे गए। कई स्थानों में गोलियां भी चलीं। लगभग पचास हजार देशवासी सरकारी जेलखानों में जा चुके हैं और उनका तार बराबर बंधा हुआ है। स्त्री जाति की अभूतपूर्व जाग्रति से हमारा सामाजिक जीवन और भी उन्नत हुआ। उनकी ही सहायता से मादक वस्तुओं का सफल निषेध हो सका जिससे हमारी नैतिक प्रगति भी अच्छी हुई। इधर गुजरात प्रांत में आंदोलन ने भीषण रूप धारण किया है, जो हजारों व्यक्ति लाखों का अन्न और बहुत बड़ी भूमि-संपत्ति छोड़कर, दूर स्थानों को निकले जा रहे हैं, उन सबके भीतर राष्ट्र के स्वतंत्र होने की प्रबल आकांक्षा ही छिपी हुई है। अधिकांश निरीह जनता को कष्ट में देखकर सारे देशवासियों की ही नहीं, अमेरिका आदि सुदूर देशों की सहानुभूति भी हमें मिल रही है। संसार के प्रायः सभी सभ्य देश हमारा कार्य देख रहे हैं, पर पत्र के कथनानुसार ब्रिटेन अब तक बेजानकार ही बना हुआ है।

खुद ब्रिटेन के ही समझदार और उदार कितने ही बड़े-बड़े व्यक्ति बेजानकारी की दवा कर रहे हैं। पार्लियामेंट के सदस्य मिस्टर फेनर ब्राकवे ने *भारतीय विपत्ति* नाम की पुस्तक लिखकर अपने देशवासियों की आंखें खोलने की चेष्टा की है और लंबी-लंबी बातें हांकने वालों को कड़ी फटकार बतलाई है। धार्मिक सी.एफ. एंड्रज ने साइमन रिपोर्ट के प्रतिवाद में पुस्तक लिखकर बेजानकारों को जानने का अवसर दिया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में नवीन भारतीय

जाग्रति का आध्यात्मिक आधार स्वीकार किया है और विलायत को उससे सम्मानपूर्वक समझौता करने की राय दी है। और हाल में प्रसिद्ध मजदूर पत्रकार मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड ने भारतीय उग्रस्थिति का दिग्दर्शन कराया है और अधिकारियों को यह नेक सलाह दी है कि यही अवसर है जो हाथ से न जाने देना चाहिए। यदि पीछे पछताना न हो तो ब्रिटेन को चाहिए कि साठ हजार भारतीय देशभक्त कैदियों को बिना शर्त छोड़कर अपनी उदारता का परिचय दे। उन्होंने और भी बहुत-सी खरी बातें सुनाई हैं जिन्हें बेजानकारों को जानना चाहिए और जानकर तदनुसार काम करना चाहिए। इनके अतिरिक्त सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार जॉर्ज बर्नार्ड शा और आयरलैंड के उद्धारक मिस्टर डिवेलरा आदि बहुत-सी स्पष्ट रीति से भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का समर्थन कर रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति के बीच यह कोई कैसे मान सकता है कि ब्रिटेन सचमुच हिंदुस्तान की हालत से बेजानकार है इसलिए साइमन कमीशन की सिफारिशों की लकड़ी टेककर अंधे की तरह चलता है। यदि ब्रिटेन साइमन कमीशन की रिपोर्ट पढ़कर उसका जानकार बन सकता है तो कोई कारण नहीं कि वह अपने देशवासियों की उपर्युक्त पुस्तकें आदि पढ़ के अपनी जानकारी को दुरुस्त नहीं कर सकता। हां, यदि ब्रिटेन की बेजानकारी का अर्थ उन थोड़े से अधिकार लोलुप सत्ताधारियों की बेजानकारी हो, जो जनता के प्रतिनिधि बनकर शासनचक्र चलाते हैं और अपने क्षुद्र स्वार्थों को भूल जाने की धृष्टता करते हैं तो बात दूसरी है। यदि ऐसी बात हो तो ब्रिटेन को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से, सामूहिक रूप में, अल्पसंख्यक अधिकार प्राप्त व्यक्तियों की बेजानकारी दूर करने का उद्योग करना चाहिए।

विदेशी समाचारपत्र

यह एक बहुत सीधी-सी बात है कि जिस देश से जो समाचारपत्र निकलते हैं वे अपने यहां की समस्याओं की सबसे अधिक जानकारी रखते हैं और उनसे उनकी सहानुभूति भी सबसे अधिक होती है। इसमें संदेह करने की कुछ भी गुंजाइश नहीं कि दूसरे दूर देशों के समाचारपत्र उस देश की स्थिति को खूबी के साथ नहीं समझ सकते और न उसके बारे में कोई निश्चित राय दे सकते हैं। परंतु यह बात हमारे देश से निकलने वाले और हमारे ही देश में बिकने वाले बहुत से समाचारपत्रों के लिए लागू नहीं हो सकती। यह सुनकर बाहर वालों को आश्चर्य हो सकता है परंतु जिन्होंने यहां के कुछ एंग्लो-इंडियन पत्रों को देखा है उनके लिए तो यह नित्यप्रति की मामूली बात है। जो पत्र निकलते तो भारत से हैं पर घरेलू घटनाओं (Home News) का शीर्षक देकर विलायत की खबरें प्रकाशित करते हैं, उनकी मनोवृत्ति आसानी से समझ में आ सकती है। वे इस देश के आंदोलन और इस देश की आकांक्षाओं से सहानुभूति रखेंगे, ऐसी किसी बात की आशा नहीं हो सकती। यह संयोग की ही बात है कि इस प्रकार के असाधारण पत्र इस देश को छोड़कर किसी भी समय सभ्य और स्वतंत्र देश में प्रकाशित नहीं होते।

ऐसे ही असाधारण पत्रों में कलकत्ता से प्रकाशित होने वाला *स्टेट्समैन* पत्र है। क्या संपादकीय स्तंभों में, क्या समाचारों में इस पत्र ने अपनी समझ में विलायत के हित का बराबर ध्यान रखा है। इसकी समझ यह है कि विलायत का एक मात्र कर्तव्य भारत पर अटल राज्य बनाए रखना है। यह समझ गलत हो इसकी उसे चिंता नहीं। यह समझ विलायत के लिए हानिकारिणी हो इसकी उसे परवाह नहीं। यह समझ जल्दी ही छोड़ने को बाध्य होना पड़ेगा यह उसके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता। जिस तरह भी हो भारत में अंग्रेजी राज्य बरगद की जड़ की तरह लंबा होकर कौवे की तरह चिरायु हो, यही पत्र की आकांक्षा, यही उद्देश्य जान पड़ता है।

थोड़ा-सा विचार करने पर ऐसे पत्रों का जीवन निरर्थक और सारहीन ही नहीं नकली और झूठा भी जान पड़ता है। जिस देश में उत्पन्न होकर ये जीवनयापन करते हैं उसके लिए ये व्यंग्य स्वरूप ही होते हैं। जिसके झूठे स्वार्थों की रक्षा करने का ये दावा करते हैं उसकी भी हानि ही करते हैं। ये थोड़े से शिक्षित, स्वार्थी, संकीर्ण दृष्टि और बेपरवाह व्यक्तियों का समय नष्ट करने के, उन्हें अंधकार में डाल रखने के सिवा और कोई अच्छा काम नहीं करते। इन्हें पढ़कर न देश की परिस्थिति का ज्ञान हो सकता है और न विदेश की। हमें कभी-कभी ऐसे पत्रों से सहानुभूति भी होती है क्योंकि इन बेचारों को प्राप्त समाचारों को अपने रंग में रंगने, उनमें अपनी नीति की पालिश़ चढ़ाने आदि का कठिन काम करना पड़ता है पर अंत में इनकी मेहनत व्यर्थ हो जाती है और सत्य बात सबकी समझ में आ जाती है।

स्टेट्समैन पत्र का एक हाल का उदाहरण लेकर देखिए। दुनिया जानती है कि भारत के बहिष्कार आंदोलन से विलायत को बड़ा धक्का पहुंचा है। वहां के मजदूर लाखों की संख्या में बेकार हो गए हैं और करोड़ों का व्यवसाय बिलकुल बंद हो गया है। इस बहिष्कार आंदोलन का सीधा उद्देश्य विलायत को इस बात की सूचना देना है कि भारतीय राष्ट्र विलायत से अपने अधिकार चाहता है और बिना अधिकार प्राप्त किए वह उससे व्यावसायिक सहयोग करने को तैयार नहीं। आंदोलन का सीधा परिणाम भी यही है कि विलायत के मजदूर और व्यवसायी—वहां की साधारण जनता—भारत के बढ़ते हुए असंतोष को समझें और अपने स्वार्थों का विचार कर विलायत सरकार पर जोर डालें कि भारत का असंतोष दूर किया जाए। यह कौन नहीं समझता कि भारत पर ब्रिटिश शासन अटल रखने में नौकरशाही के अल्पसंख्यक ओहदेदारों का स्वार्थ भले ही सिद्ध होता हो और उनके गर्व की वृद्धि भले ही होती हो पर विलायत की अधिकांश जनता को इससे कुछ भी मतलब नहीं। वह तो यही चाहेगा कि भारत में उसका व्यवसाय बढ़े, उसे अधिक लाभ हो। इसी में उसका स्वार्थ है। यदि इस समय इस देश में विलायती माल नहीं बिक रहा तो विलायत के अधिकांश व्यवसायी और मजदूर जनता की स्पष्ट नीति और कर्तव्य यही होगा कि वह व्यवसाय-बंदी के कारण की तलाश करे और उन्हें दूर करने का उपाय सोचे। बुद्धि इस बात को स्वीकार करने को कभी भी तैयार नहीं होती कि विलायत की जनता नौकरशाही के थोड़े से व्यक्तियों के झूठे अधिकारों का विचार कर अपने जीवन की समस्या पर ध्यान नहीं देगी और अपने भारतीय व्यवसाय के पुनरुद्धार की

चेष्टा नहीं करेगी। *स्टेट्समैन* पत्र को यह बात कठिनता से स्वीकार हो सकती है कि विलायत की जनता भारतीय बहिष्कार आंदोलन से बिगड़ उठी है और इस देश के अधिकारों को देने में उदारता से काम लेने को तैयार नहीं है। पत्र का यह कहना कुछ लोगों की झूठी सिद्ध होने वाली मृगतृष्णा को थोड़े समय तक भले ही बनाए रख सकता है और कुछ भी नहीं कर सकता। यह हम किसी प्रकार मान भी लें कि इस देश में व्याप्त असंतोष के भीषण स्वरूप को विलायत के अधिकार प्राप्त व्यक्ति सहानुभूति के साथ नहीं देखते। पचीसों हजार भारतीयों के जेल चले जाने, सैकड़ों नगरों की असंख्य हड़तालों, सामूहिक कानून भंग के भीषण दृश्यों का असर सत्ताधारियों पर न पड़े यह संभव है पर यह संभव नहीं कि विलायत की साधारण जनता जो मनुष्य का हृदय रखती है और जिसके हृदय को स्वार्थ ने कड़ा और निर्जीव नहीं बना दिया है वह इस देश के नित्यप्रति के समाचारों को सुनकर आश्चर्यचकित न होती होगी। इसके साथ ही जब वह अपने व्यवसाय की हानि होते देखती होगी और अपने लाखों देशवासियों के बेकार होकर कष्ट में पड़ने का विचार करती होगी तब वह अवश्य स्थिति में सुधार करने की बात सोचती होगी। हम तो समझते हैं कि यदि विलायत की साधारण जनता पर भारतीय समस्या के निर्णय का भार सौंपा जाए तो वह सत्ताधारियों से कहीं अधिक उदारता का परिचय दे और उनसे कहीं अधिक सफलतापूर्वक स्थिति में सुधार करे। हां, शर्त इतनी ही है कि उसे सब समाचार बतलाए जाएं और *स्टेट्समैन* जैसे काल्पनिक और निकम्मे समाचारपत्र उसे देखने को न मिलें।

(सोमवार, 10 नवंबर 1930)

प्रधानमंत्री का भाषण

सम्राट की मजदूर सरकार के प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड किसी जमाने में भारत के बहुत बड़े मित्र और हितैषी माने जाते थे। वे इस देश की स्थिति से अच्छी तरह परिचित थे और उससे बड़ी सहानुभूति रखते थे। पिछले चुनाव के पहले उन्होंने ये विचार प्रकट किए थे कि वे भारत को पूर्ण प्रतिनिधि शासन दे देने के पक्ष में हैं। परंतु जब से वे विलायत के प्रधानमंत्री के पद पर पहुंचे तब से बहुत से जवाबदेह और जानकार व्यक्तियों ने उनकी बदली हुई नीति का जिक्र किया है और इस बात में संदेह प्रकट किया है कि वे पहले की भांति अब भी भारत को उसके अधिकार देने के लिए उतने ही उत्सुक हैं। हम मनुष्य की उदारता और सच्चाई पर विश्वास करते हैं और अधिकार प्राप्त व्यक्तियों की उलझनों को समझते हैं, परंतु हम ऐसे व्यक्तियों की सम्मति को झूठ भी नहीं मान सकते जो स्थानीय अवस्था से भली-भांति परिचित हैं और उससे निकट का संबंध रखते हैं। हाल में विलायत से भारत आई हुई श्रीमती-डॉक्टर एनी बेसेंट का ही उदाहरण लेकर देखें। वे हमारे देश की सेवा लगातार पचास से अधिक वर्षों से कर रही हैं और विलायत तथा भारत की एक-सी जानकारी जितनी उन्हें है, बहुत कम

लोगों को होगी। उन्होंने आजीवन यही प्रयत्न किया है कि उक्त दोनों देशों में सम्मानूपर्ण समझौता हो जिससे दोनों का प्रेमपूर्ण संबंध दृढ़ होकर चिरकाल तक चल सके। वे सत्याग्रह और कानून भंग की सराहना नहीं करतीं, उन्हें वे उचित भी नहीं समझतीं। उन्होंने विलायत से यहां आकर अभी उस दिन प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड की शिकायत की है और कहा है कि वे अपने वचनों को भूल गए हैं। उन्होंने उसी सिलसिले में जो यह कहा है कि—हमें अब अपने आप पर और ईश्वर पर भरोसा करना होगा, उसमें उन वयोवृद्धा रमणी की निराश करुण वाणी ही व्यंजित होती है। अपने आप पर और ईश्वर पर भरोसा करना होगा, यह किसी राजनीतिक कार्यक्रम की ओर संकेत करना नहीं जान पड़ता, केवल पचास-साठ वर्षों की कठिन तपस्या के सिद्ध न होने की व्यथा ही प्रकट करता है।

ऐसी अवस्था में हम मिस्टर मेकडानल्ड के अंतिम 11 नवंबर वाले भाषण की काफी कड़ी जांच करेंगे। लंदन के लार्ड मेयर के भोज में शामिल होकर स्थानीय गिल्ड हॉल में मिस्टर मेकडानल्ड ने पुरानी रस्म के अनुसार घरेलू, साम्राज्य संबंधी तथा विदेशी समस्याओं पर जो विचार प्रकट किए हैं उनके बारे में पहली ज्ञातव्य बात यह है कि वे पुरानी परिपार्टी का निर्वाह करते हुए, बतौर रस्म अदाई के कहे गए हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि रस्म अदाई कोई ऐसी वस्तु है जिसका संबंध काल्पनिक बातों से ही होता है। हां, इसका मतलब यह अवश्य है कि ऐसे मौकों पर अलंकृत शब्दों और कवित्वपूर्ण भाषा में जो कुछ कहा जाता है, उसमें सार मात्र ग्रहण करना चाहिए।

प्रधानमंत्री ने भारतीय समस्या पर विचार करने के पहले विलायत की बेकारी समस्या का खाका खींचा और यह बतलाया कि हमें पैदावार के नए जरियों का पता लगाना होगा, व्यापार में बहुत बड़े-बड़े सुधार करने होंगे और सभी ब्रिटिश उपनिवेशों को अपने लिए लाभप्रद समझौता कर महान आर्थिक संघ की स्थापना करनी होगी। ऐसा संघ हमारी सम्मिलित आध्यात्मिक परंपरा के अनुकूल होगा।

इसके उपरांत प्रधानमंत्री ने गोलमेज के समझौता-सम्मेलन का उल्लेख करते हुए कहा कि सम्राट के मंत्रियों के ऊपर इस समय बहुत बड़ी जिम्मेदारी का बोझ है। आगामी कार्य ऐसा है जिसमें केवल बुद्धि और तर्क की सहायता से स्थिति नहीं समझी जा सकेगी वरन् आत्माजन्य साम्य ज्ञान से काम लेना पड़ेगा। हमें केवल उपनिवेशों की जनता से साम्य नहीं स्थापित करना है, उस आश्चर्यजनक भारतीय जनसमूह को भी समझना है जो अपने प्राचीन दार्शनिक ज्ञान तथा उज्ज्वल ऐतिहासिक गाथा के लिए प्रसिद्ध है। जब तक हम आत्माजन्य अभेद बुद्धि से काम नहीं लेते तब तक हम चाहे जितने उपाय सोचें और काम में लाएं, हमें शांति और संतोष नहीं मिल सकेंगे। हम उस देश के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर स्वाधीनता को विस्तृत करेंगे क्योंकि ऐसा करके ही हम उनके साथ एक साम्राज्य में रह सकेंगे। वे अपने देश में स्वराज्य का सुख भोगेंगे क्योंकि उनके राष्ट्रीय सम्मान और संतोष के लिए ऐसा होना आवश्यक है।

अंत में प्रधानमंत्री ने इस देश के वर्तमान सत्याग्रह आंदोलन का विरोध करते हुए कहा कि राष्ट्रीय आत्म-सम्मान और शांति, संतोष के लिए समझौते की बातचीत न कर व्यवस्था

भंग करने की नीति शोचनीय है। ऐसा करने से तो विद्वेष उत्पन्न होता है, हानि और कष्ट मिलते हैं। और ऐसे लोगों के मार्ग में बाधा पड़ती है जो अपने अधिकार मांगते हैं और जो उन अधिकारों को देने की इच्छा रखते हैं?

सब बातों को मिलाकर देखने से एक सीधी-सी बात जो प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रह सकती है वह है विलायत की बेकारी। मजदूर सरकार के लिए बेकारी की समस्या बहुत बड़ी उलझन डाल रही है। प्राप्त समाचारों से जान पड़ता है कि यदि यह समस्या भली-भांति न हल की गई तो इसमें मजदूर सरकार की स्थिति डावांडोल हो जाएगी। मजदूर दल भारतीय समस्या को अपनी समूह की समस्या नहीं बनाना चाहती। कहा जाता है कि वह इस देश के हित के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपना पद त्याग करने को तैयार नहीं है। परंतु उस दल को अपने ही देश की बेकारी-समस्या का सामना करने में यदि पदच्युत हो जाना पड़े तो किसी को आश्चर्य न होगा। मिस्टर मेकडानल्ड यद्यपि अपने भाषण में बेकारी-समस्या और भारतीय समस्या का आपस का संबंध स्पष्ट रीति से कहीं भी स्वीकार नहीं करते, पर हम समझते हैं कि उन्होंने गोलमेज के भारतीय प्रतिनिधियों के साथ जिस आत्माजन्य साम्य स्थापित करने आदि का बहुत ही उदार आदर्श रखा है उसकी तह में विलायत की बेकारी भी भीतर-भीतर व्याप्त अवश्य है। अभी उस दिन चांसलर ऑफ एक्सचेकर (सर्वोच्च आर्थिक पदाधिकारी) मिस्टर स्वीडन ने कहा था कि यदि भारत की क्रयशक्ति प्रति व्यक्ति पीछे एक फार्दिंग (पैसा) भी बढ़ जाए तो विलायत की बेकारी का अस्तित्व ही मिट सकता है, मिस्टर स्वीडन ने भारतीय जनता की क्रयशक्ति की कमी का जिक्र करते हुए उसके वर्तमान असंतोष की बात नहीं कही। परंतु जान पड़ता है, प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड मिस्टर स्वीडन की उपर्युक्त बात को हमारे देश की स्थिति के साथ मिलाकर देख रहे हैं। यद्यपि वे खुलकर कुछ भी नहीं कहते पर जान पड़ता है कि मिस्टर जिनवाला जैसे आर्थिक विशेषज्ञों की शुभ सम्मति का उन पर असर पड़ा है।

प्रधानमंत्री की और जितनी बातें हैं उनके बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि वे सचमुच इस देश के राष्ट्रीय सम्मान भाव की रक्षा के लिए उसके अधिकारों को स्वीकार करने के पक्ष में हों तो इससे अच्छी और दूसरी बात क्या हो सकती है? यदि वे वास्तव में इस देश की प्राचीन महत्ता का विचार कर आधुनिक गिरी हुई अवस्था से मुक्त करने के लिए विदेशी शासन चक्र उठा लेने के पक्ष में हों तो उनकी इस उदारता के लिए यह महान देश उन्हें आशीर्वाद देगा। आत्मिक साम्य तो भारतवर्ष का चिरकालिक लक्ष्य रहा है। हमारा वेदांत दर्शन जिस साम्य की ओर संकेत करता है, यदि मिस्टर मेकडानल्ड उसके अंश मात्र की भी पूर्ति कर सकें तो वे हमारी निगाह में बहुत ऊंचे उठ जाएंगे। ब्रिटेन और भारत का संबंध दृढ़ होकर चिरस्थायी रहे, यह हमारे लिए कोई नई बात नहीं है। समस्त संसार को एक अटूट सूत्र में ग्रथित एक महान सभ्य पथ पर चलते हुए देखने की लालसा तो इस देश की धार्मिक शिक्षा है। यदि प्रधान सचिव की उपर्युक्त सभी बातें सत्य हों तो हम उनकी शुद्ध बुद्धि की प्रशंसा जितनी भी करें, थोड़ी होगी।

भाषण में एक स्थान पर मिस्टर मेकडानल्ड ने कुछ संदेहात्मक शब्दों का प्रयोग भी किया

है। वे भारत में स्वाधीनता का विस्तार करने की बात कहते हैं। इसका अर्थ सब कुछ हो सकता है और कुछ भी नहीं हो सकता। हम यह अनेक बार जोर देकर कह चुके हैं और आगामी सम्मेलन के पूर्व एक बार फिर कह देना चाहते हैं कि सम्मेलन की सफलता स्वाधीनता के विस्तार में नहीं है। संपूर्ण स्वाधीनता शासन के देने में हैं। शब्दों की भाषा में पड़ने का अब समय नहीं रह गया है। राष्ट्रों के चिरकालिक भविष्य का निर्णय करने में शब्दों की माया जो अनिष्ट कर सकती है वह हम अच्छी तरह जानते हैं। यदि ब्रिटेन और भारत के पारस्परिक संबंध को दृढ़ करना है तो भारतीय स्वतंत्रता का इतना बड़ा विस्तार करना होगा जिसमें दोनों महान देश बराबरी के आधार पर स्थित होकर संसार के कल्याण में सहायक हो सकें। इससे विभिन्न किसी भी प्रकार का स्वाधीनता-विस्तार न तो स्वीकार किया जाएगा और न चल सकेगा।

मिस्टर मेकडानल्ड इस समय ब्रिटेन के सबसे अधिक उत्तरदायी व्यक्ति हैं। उन्होंने अपने भाषण में सम्राट के मंत्रियों की जिस महान जिम्मेदारी का उल्लेख किया है वह सबसे अधिक उन पर ही लागू है।

हमें यह आशा करनी चाहिए कि वे इस बड़ी जिम्मेदारी को पूरा अनुभव करेंगे और अपने पिछले भाषण के अनुरूप आत्माजन्य साम्य के भाव को धारण करेंगे। भारत सचिव मिस्टर वेजल्ड बेन के उत्साह, प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड के भाषण और स्वयं सम्राट के मनोयोग से जो आशाएं बंधी हैं, वे यदि विफल हुईं तो आगामी कठिन स्थिति की कल्पना की जा सकती है। ब्रिटेन के हित और भारत के न्यायपूर्ण अधिकार का विचार कर हम नहीं समझते कि हमारे लिए अभी से उस भीषण कल्पना को अपने हृदय में स्थान देना उचित होगा।

साहित्य में कृति और कृतिकार

जिस प्रकार धार्मिक और दार्शनिक अनुसंधान में ईश्वर और जगत के दो प्रधान पक्ष हैं उसी प्रकार साहित्य में भी कृति और कृतिकार के दो पक्ष माने जा सकते हैं। संसार के विद्वानों ने साहित्य में कृति और कृतिकार पर दो प्रमुख दृष्टियों से विचार किया है। पूर्वीय और पश्चिमीय पंडितों ने साहित्य की जो व्याख्याएं की हैं उनमें कुछ तो कृति को प्रधानता देती हैं और कुछ कृतिकार को। उदाहरण के लिए हम पिछली शताब्दी के अंग्रेज विद्वान मेथ्यू आर्नल्ड की व्याख्या देखें। उसके मतानुसार साहित्य जीवन की व्याख्या है। उसकी इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर जान पड़ता है कि वह साहित्य में कृतिकार को प्रधानता देता है, कृति को नहीं। 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' इसमें बेचारा जीवन नीचे गिर गया है, व्याख्या ऊपर आ गई है। व्याख्या पर जोर पड़ते ही, व्याख्याकार ही प्रमुख स्थान ले लेता है। 'साहित्य जीवन की व्याख्या है', इसकी ध्वनि यह भी है कि व्याख्याएं अनेक, बहुरूप और विभिन्न हो सकती हैं। साफ प्रकट होता है कि साहित्य पर व्यक्ति का आधिपत्य है। उसे अधिकार मिला हुआ है कि वह अपनी इच्छानुसार जीवन संबंधी व्याख्या करे। थोड़ी-सी और अंतर्दृष्टि से विचार

करने पर मालूम पड़ेगा कि जिस प्रकार धर्म और दर्शन में ईश्वर की प्रधानता स्वीकार करने वाले अधिकांश असाधारण कोटि के व्यक्ति होते हैं और साधारण जनता जगत के नाना जंजालों में पड़ी रहती है, उसी प्रकार साहित्य में आदर्श की ओर झुके हुए ही अधिकांश विवेचक कृतिकार को मुख्य समझते हैं, कृति को उसकी अनुगामिनी मात्र मानते हैं।

परंतु यहीं एक भ्रम पैदा होता है। धर्म और दर्शन में जो स्थान ईश्वर को दिया गया है, साहित्य में वही स्थान कृतिकार को नहीं दिया जा सकता। आदर्शवादी विवेचकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। वे कृतिकार की सीमित शक्ति और बंधेज का विचार करें। धर्म और दर्शन में ईश्वर की कल्पना बिलकुल दूसरे प्रकार की है। ईश्वर निर्गुण, निर्लिप्त, निराकार, निस्सीम और निरवयव है। साहित्यिक कृतिकार कितना भी महान हो देश और काल के घेरे में बंधा हुआ है। उसकी कृति कितनी भी व्यापक हो, वह सीमारहित नहीं हो सकती। संक्षेप में साहित्यकार जीव है, ईश्वर नहीं। हम यह मानते हैं कि जीव भी अपने शुद्ध रूप में ब्रह्म ही है और हम उसकी महान संभावनाओं को स्वीकार भी करते हैं, परंतु हम समझते हैं साहित्यकार (जीव) को इतना बड़ा गौरव नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि जब जीव अपनी समस्त दुर्बलताओं को दूर कर ब्रह्मत्व प्राप्त करने योग्य होता है तब वह साहित्य-सृष्टि नहीं करता।

हमारे देश में साहित्य संबंधी जितने मतमतांतर चले हैं उनमें से अधिकांश कृति को ही प्रमुख मानते हैं, कृतिकार को नहीं। प्रसिद्ध रस संप्रदाय को ही देखें। उसके मूल सूत्र 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' में कहीं भी कृतिकार नहीं दीख पड़ता। उसका तमाम परवर्ती विवेचन मानव-मनोवृत्तियों पर अवलंबित है। स्मरण रखना चाहिए कि मन, बुद्धि और अहंकार हमारे शास्त्रों में इंद्रियों के घेरे में ही रखे गए हैं। मन की वृत्तियां जगत के नाना रूपों से ही संबंध रखती हैं। रस की निष्पत्ति में सहायक आलंबन, उद्दीपन, संचारी, व्यभिचारी आदि जो कुछ भी हैं, जगत के घेरे में ही हैं। साहित्य संबंधी यह विवेचन यथार्थवाद की ओर अत्यधिक झुका हुआ है। शृंगार, हास्य, करुणा आदि के साथ बीभत्स, भयानक और रौद्र आदि मिलाकर जगत का द्वंद्वात्मक नग्नचित्र ही सामने रखा गया है। पीछे से शृंगार को रसराज ठहराकर तथा ईश्वर पक्ष और जीवपक्ष का विभेद खड़ा कर, उस नग्नचित्र को मूंदने की चेष्टा की गई पर हम नहीं कह सकते वह कहां तक सफल हुई। रसानुभव करने वाले सामाजिक अथवा साहित्य रसिक का सीधा संबंध साहित्यिक कृति से है, कृतिकार से नहीं, यह तो प्रकाश की भांति स्पष्ट है।

कृतिकार शीर्षक देकर ही विवेचन कर रहे हैं, इसलिए हम इस संप्रदाय की उस पार्थिवोन्मुख प्रवृत्ति की ओर यहां ध्यान नहीं देंगे, जो भारतीय दर्शन के साथ मेल न खाने के कारण हमें कुछ समय से खटकने लगी है। यहां हम इस संप्रदाय की व्यावहारिक एक बहुत बड़ी त्रुटि का उल्लेख करेंगे। अधिकांश कवियशोलिप्सु आलंबनों और उद्दीपनों का ढांचा खड़ाकर नित्यप्रति जिन कृतियों को सामने रखते हैं वे सभी विवेचकों को मालूम हैं। कवि-कर्म कितना अनुत्तरदायित्वपूर्ण और सरल हो गया है कि क्या कहना? कवियों की बाढ़ जितनी हमारे देश में चिरकाल से रही है और निम्न कोटि की तुकबंदी जितनी अधिक परिमाण में हमारे यहां निस्संकोच लिखी जाती है, शायद और कहीं नहीं। इस संप्रदाय की ओट में कृतिकार अपने

को सुरक्षित रखकर टट्टी की ओट शिकार खेलने की सुविधा रखता है। उसे अपने व्यक्तित्व पर आक्षेप किए जाने की शंका नहीं रहती।

हमारी समझ में सिद्धांत चाहे जो हो व्यवहार में कृति और कृतिकार के बीच समझौता होना चाहिए। अंग्रेजी में (Subjective Poetry) और (Objective Poetry) के विभाग कर कृतिकार और कृति में मेल मिलाने का प्रयत्न किया गया है। फ्रांस के विद्वान आलोचक टेन (Taine) ने साहित्यिक कृति को देश-काल के घेरे में रखकर और घेरे से बाहर भी रखकर कुछ इसी प्रकार की चेष्टा की है। परंतु हमको इतने से संतोष नहीं होता। उदाहरण के लिए टेन के सिद्धांत पर विचार करें। वह कहता है कि साहित्य पर देश-काल का प्रभाव पड़ता है, कृतिकार की कृति स्वच्छंद नहीं होती, साथ ही, वह यह भी कहता है कि कुछ दूरदर्शी, अंतर्दृष्टिसंपन्न साहित्यकार देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर साहित्य सृष्टि करते हैं और देश-काल के मार्ग-प्रदर्शक बनते हैं। हम कृति और कृतिकार के इस संबंध को और व्यावहारिक बनाना चाहते हैं। कुछ और नियम बनाने होंगे, यद्यपि वे नियम सर्वांश में सत्य न हों। हम टेन के सिद्धांतों में कुछ बातें जोड़ना चाहते हैं। हम समझते हैं कि अधिकांश साहित्य सामयिक जीवन-प्रवाह का ही प्रतिबिंब होना चाहिए। जो साहित्यकार देश और काल के परे पहुंचकर साहित्य सृष्टि करते हैं वे या तो महात्मा होते हैं या सामयिक जीवन से अनभिज्ञ—नीरस, कायर और दंभपूर्ण ढोंगी। ढोंगियों से बचने के लिए हमें महात्माओं के व्यक्तित्व की रक्षा करनी होगी। जिस देश-काल में जीवन- प्रवाह तीक्ष्ण और प्रखर होता है उस देश-काल में साहित्य को जीवन का प्रतिबिंब होना चाहिए। जीवन की क्रांति का प्रतिबिंब होना चाहिए। फ्रांस की राज्य क्रांति के समय रूसो, वाल्टेयर आदि साहित्यकारों के अतिरिक्त औरों का आविर्भाव होना क्या स्वाभाविक होगा? जिस देश में जिस काल में जीवन प्रवाह स्थिर, निर्जीव और देश की परंपरागत सभ्यता और संस्कृति का बाधक बन जाता है, उस देश में उस काल में ही प्राचीनता की पुकार से प्रेरित होकर देश के चिरकालीन संस्कारों की शक्ति लिये हुए महात्माओं की उत्पत्ति होती है जो साहित्य की गंदी धाराओं को शुद्ध करते हैं। महात्मा तुलसीदास की उत्पत्ति विदेशी शासन काल और हिंदुओं की निराशा और अंधकार युग में हुई थी। उनकी उत्पत्ति हमें बिलकुल ठीक समय पर हुई जान पड़ती है।

साहित्य में ढोंग रोकने के लिए इन कुछ नियमों को लेकर चलना ही होगा। सामयिक हिंदी साहित्य में तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। आज देश भर में व्याप्त तीव्र राष्ट्रीय आकांक्षाओं को ग्रहण कर स्थायी साहित्य की रचना जैसी होनी चाहिए थी, नहीं हो रही। ऐसे युग बहुत कम आया करते हैं, परंतु हम पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा। हमारे बीच इस समय रद्दी साहित्यकारों की ही अधिकता है जो रसराज के नाम पर अपनी अद्भुत विलक्षण और विस्मयजनक रुचि का परिचय दे रहे हैं। मध्य श्रेणी के कुछ स्वनामधन्य साहित्यकार अवश्य ऐसे हैं जिनकी वाणी में सामयिक जीवन की ध्वनि सुन पड़ती है परंतु इस युग की संपूर्ण शक्ति से समन्वित किसी ऐसी कृति के दर्शन अब तक नहीं हो रहे जिसमें कृतिकार अपना अस्तित्व भूलकर अपनी चिरंतन व्यापक कृति में विलीन हो गया हो।

महाकवि रवींद्रनाथ ने अभी हाल में साहित्य के कृतिपक्ष पर विशेष जोर देने की बात कही है। हिंदी की आधुनिक स्थिति में महाकवि की बात पावन संदेश के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए।

(शुक्रवार, 14 नवंबर 1930)

सरकारी सिफारिशें

सरकारी सिफारिशें निकल गईं। वे वही निकलीं जिनका आभास हमें पहले ही मिल गया था और जिनके संबंध में हम पिछले अग्रलेखों में विचार कर चुके थे। जी-हुजूरी और सरकार माई-बाप हैं का युग वर्षों हुए गुजर गया, पर जान पड़ता है कि हमारी सरकार अपने वात्सल्य भाव को न छोड़ने में विवश है। वह शक्तिशाली नौजवान राष्ट्र की ओर नहीं देखती।

सिफारिशों को पढ़ना प्रारंभ कीजिए तो जान पड़ेगा कि राजनीतिक अवस्था का इतना वास्तविक ज्ञान भारत सरकार को है, वह उससे अवश्य लाभ उठावेगी, पर आगे बढ़िए, सब ज्ञान मटियामेट हो गया। सुख और प्रकाश से संयुक्त जैसे कोई नाटक अंत में अंधकारपूर्ण और विषादमय (Tragic) हो गया हो। कोशिश की गई है कि विषय विवेचन में आधुनिक वैज्ञानिक तर्क शैली (Scientific Exposition) से काम लिया जाए। कम से कम ऐसा जानने की कोशिश की गई है। देखिए न, पहले सामग्री (data) एकत्र की गई है, उसके उपरांत सिद्धांत (hypothesis) कहा गया है और अंत में निष्कर्ष (conclusion) निकाला गया है। और क्या चाहिए।

यदि आप इतने से संतुष्ट न हों तो भारत सरकार कह सकती है कि हमारी तर्कशैली में उपादान (data) और सिद्धांत (hypothesis) ठीक हैं, हमारी समझ में हमारा निष्कर्ष भी ठीक है पर यदि तर्क के लिए उसे हम बेठीक भी मान लें तो हमें तीन में से दो बातों के ठीक होने के कारण दो-तिहाई नंबर अवश्य मिलने चाहिए। आप इस सत्य-तर्क का क्या जवाब देंगे?

सचमुच सिफारिशें बड़े ढंग से लिखी गई हैं। पहले सरकार कहती है कि 'आर्थिक और शिक्षा संबंधी उन्नति के साथ भारत में व्यक्तिगत और राष्ट्रीय आत्मसम्मान का भाव स्वभावतः बढ़ गया है। राष्ट्रीय मांग औपनिवेशिक राज्य की है।'

इसके आगे बढ़िए सरकार कहती है कि 'वह समय बीत गया है जब आसानी से शासितों की छिपी सहमति की कल्पना करके काम चलाया जाता था। अब नवीन प्रणाली, यथासंभव, ऐसी होना चाहिए जिसमें जाग्रत राष्ट्र की अनुमति प्राप्त की जा सके। सारपूर्ण कुछ अधिकार भारत को दिए जाने चाहिए, जिनके लिए समय विपरीत नहीं है। समय आ गया है कि जब साम्राज्य की व्यापक नीति का विचार कर हमें अधिक से अधिक उद्योग करके और कुछ खतरे भी सह के ऐसा विधान बनाना होगा जिससे भारतीयों की आकांक्षाओं की 'उचित रीति से' पूर्ति हो।

इसके उपरांत 'यथासंभव' उचित रीति से पूर्ति का जो अर्थ है वह आपके सामने है।

यह बात दूसरी है कि यथासंभव और उचित रीति को आप असंभव और अनुचित रीति करार दें पर यह तो मतभेद की बात हुई। मतभेद के लिए कोई क्या कर सकता है? सरकार भी कुछ नहीं कर सकती।

परंतु सरकार के 'यथासंभव' और 'उचित रीति' से इन दो शब्दों ने उसके तमाम तर्क को सच्चा बना दिया है और उसकी सभी सम्मतियों को अकाट्य ठहरा दिया है। इसके लिए सरकार की ओर से ये दोनों शब्द बधाई पाने योग्य हैं। इन दोनों शब्दों की नींव पर ही यदि भविष्य का सारा विधान खड़ा किया गया और भारत और ब्रिटेन के महाराष्ट्रों के भविष्य संबंध के प्रासाद तैयार किए गए तो उनकी स्थिरता का अंदाज हम लगा सकते हैं।

भारत सरकार को यह कौन बतलाए कि इस प्रकार के तर्क से काम नहीं चलेगा। शब्दों की आड़ में राष्ट्रों का भविष्य बिगाड़ देना किसी के लिए हितकर नहीं। आगामी कठिन स्थिति की सूचना हम नहीं दे सकते। यदि शब्दों का कुछ अर्थ है और महत्व है तो हम प्रधानमंत्री के हाल के शब्दों को दोहरा देना ही काफी समझते हैं। उनकी राय में तर्क बुद्धि से कुछ भी लाभ न होगा। प्राचीन दर्शन और उज्ज्वल ऐतिहासिक गाथा का गौरव रखने वाले भारतीयों को समझने के लिए आत्माजन्य साम्य और अभेद बुद्धि की आवश्यकता पड़ेगी। तर्क से हम विविध उपाय सोच सकते हैं, इमारतें भी खड़ी कर सकते हैं पर उनसे हमें संतोष और शांति नहीं मिल सकती। मिस्टर मेकडानल्ड के बहुमुखी जीवन में ये शब्द किसी शुभ मुहूर्त में निकले जान पड़ते हैं। इन्हें समझे बिना काम नहीं चल सकता।

पर आत्माजन्य साम्य तो बहुत दूर की बात रही, भारत सरकार की तमाम सिफारिशों में भारत के प्रति अविश्वास भरा पड़ा है। सरकार ने एक स्थान पर कांग्रेस नेताओं की उस मांग का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने भारतीय ऋण आदि की जांच कराने की बात कही है। उसकी संपूर्ण सिफारिशों में जिस अविश्वास की धारा बह रही है उसका मूल उद्‌गम उसका अमिट स्वार्थ है पर ऐसे ही ऐसे बहाने ढूंढ़कर वह उसे छिपाने की कोशिश करती है।

सरकार की जिस भेद नीति का उल्लेख चिरकाल से देश और विदेशों के अनेकानेक महापुरुष करते आ रहे हैं, उसका इन सिफारिशों में न होना आश्चर्य की बात होती। कहा जाता है कि सरकार अल्पसंख्यक जातियों की हित रक्षा में बड़ी तत्पर रहती है पर सर्वप्रथम अल्पसंख्यक मुसलमान जाति के मुखपत्र *मुस्लिम आउटलुक* का कहना है कि सरकार ने सीमा प्रांत और सिंध में अल्पसंख्यक जातियों की हित रक्षा के लिए जो सिफारिशें की हैं, उनसे तो केवल गवर्नर का स्वेच्छाचारी अधिकार बढ़ता है। अल्पसंख्यक जातियों की यदि ऐसी ही हित रक्षा की जाएगी तो वे उस हित रक्षा को तिलांजलि दे देंगी।

बंबई की विपत्ति

एक तरह से सारे बंबई प्रांत में और विशेषकर गुजरात तथा बंबई नगरों में आज सात महीनों

से विपत्ति की जो भयानक घटा घिरी हुई है, उसका अंत कहां है? यों तो सारा देश ही राजनीतिक उथल-पुथल में निमग्न होकर जीवन की शांति और सुख समृद्धि से हाथ धो बैठा है पर बंबई की दशा सबसे भिन्न और असाधारण है। गुजरात के विस्तृत भूभाग के किसान अपने घर द्वार छोड़कर अज्ञातवास के लिए निकल पड़े हैं। उनके कष्टों का कहीं वार-पार है? मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड जैसे अंग्रेज सज्जन ने अपने गुजरात भ्रमण के जो सत्य विवरण प्रकाशित किए हैं वे किसी प्राचीन युग की गाथाएं जान पड़ती हैं। इस प्रकार के सामूहिक अज्ञातवास के कष्ट हमारे देश के इतिहास में अब तक नहीं सुन पड़े। प्रश्न यह है कि सभ्यता की इस बीसवीं सदी में अंग्रेज सरकार ने जनता की इस घोर विपत्ति को दूर करने का पिछले कई महीनों में क्या उद्योग किया है?

मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड का तीखा किंतु खरा उत्तर सबने सुन लिया है। गुजरात आज अत्याचारी का क्रीड़ा क्षेत्र बन रहा है। सरकार क्रुद्ध होकर दमनचक्र चला रही है। स्वयं प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने इतना कहकर छुट्टी पा ली कि ऐसे आंदोलनों से विद्वेष बढ़ता है और रोष चढ़ता है। किसी भी जवाबदेह बड़े अंग्रेज अफसर ने शायद ही कभी यह अभीष्ट बात कही हो कि 'कानून भंग करने वाले सत्याग्रही का दूसरा कोमल पक्ष भी है। वह मनुष्य है और कष्ट सहन की उसे साध नहीं।' वह अब से कुछ समय पहले व्यवस्थाप्रिय था और सामान्य स्थिति में वह शिष्ट और शांत रहेगा। सरकारी कार्यकर्ता शायद कभी इस बात की कल्पना नहीं करते कि आंदोलनकारियों में से अधिकांश शिक्षित और चरित्रवान हैं तथा कुछ तो संसार के श्रेष्ठ नागरिक समझे जाने योग्य हैं। सत्याग्रह के सूत्रधार संसार में अहिंसा का संदेश सुनाने वाले महापुरुष गांधी हैं, इसका भी उन पर कोई असर नहीं पड़ रहा है। जान पड़ता है उनकी संपूर्ण विचारशक्ति कानून की धाराओं में बह गई है।

फिर भी एक प्रश्न है। बंबई में उस दिन जो प्रचंड लाठी वर्षा से घबराकर तथा स्त्री-जाति के प्रति असद्व्यवहार से कष्ट पाकर वहां के नागरिकों के प्रसिद्ध मंडल ने 'शरीफ' को सभा करने का निवेदन पत्र भेजा था वह तो व्यवस्था उल्लंघन करने का या कानून तोड़ने का काम नहीं था। कार्पोरेशन के अध्यक्ष मिस्टर हुसेन भाई लालजी को बंबई के गवर्नर ने जो रूखा और कड़ा जवाब दिया वह यदि उचित भी हो, शरीफ की सभा न होने देने में औचित्य कहां है? साफ मालूम पड़ता है कि सरकार बंबई की विपत्ति को प्रतिदिन बढ़ाने में ही लगी है।

सत्याग्रह और असहयोग

यहां न तो हम सत्याग्रह और असहयोग की तात्विक व्याख्या करेंगे और न उनके सूक्ष्म संबंध को दिखाएंगे। हमको स्मरण नहीं कि स्वयं महात्मा गांधी ने इन दोनों शब्दों की सृष्टि एक साथ की थी या अलग-अलग। हम यह भी नहीं जानते कि उन्होंने इन दोनों का संयुक्त गहन विवेचन किसी एक स्थान पर किया है या नहीं। यद्यपि आज ये दोनों शब्द भारतवर्ष में घर-घर तथा

अन्य सभ्य देशों में भी विशेष रीति से प्रचलित हो गए हैं और यद्यपि संसार की प्रायः प्रत्येक भाषा में इनके अविकल अनुवाद करने की चेष्टा की जा चुकी है, परंतु हम नहीं जानते कि इन शब्दों का ठीक-ठीक आशय कितनों ने समझा है। यह ठीक है कि इस समय हमारे देश के पचास हजार के लगभग सत्याग्रही और असहयोगी कैदी इन दोनों शब्दों के साथ संपर्कित होने के कारण अपने हृदयों में गौरव तथा अपने असंख्य देशवासियों के हृदयों में श्रद्धा की सृष्टि करते हैं पर इससे तो इन दोनों शब्दों की जटिलता कुछ भी घटती नहीं, और बढ़ती ही है। आज जिस सत्याग्रह और असहयोग की गतिविधि की ओर दुनिया की आंखें लगी हुई हैं, बड़े-बड़े महापुरुष जिन्हें संसार के इतिहास में नवयुग की सृष्टि करने वाले कहते हैं, मिस्र और फिलिस्तीन जैसे प्राचीन महान देश जिसका चमत्कार देखकर अनुकरण करने में अपना परमहित मानते हैं उन महान आदर्शों की व्याख्या करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं। अभी उस दिन महात्मा गांधी ने सर सप्रू को जो अंतिम पत्र दिया था उसमें उन्होंने लिखा था कि ब्रिटेन हमारे सत्याग्रह और असहयोग का अध्यात्म नहीं समझ रहा। ब्रिटेन के न समझने का कारण उसका स्वार्थ, उसकी विभिन्न संस्कृति अथवा और कुछ हो सकता है पर हम स्वीकार करते हैं कि ऐसी कोई भी बाधा न होते हुए भी हमारे लिए उसे समझना विशेष कठिन जान पड़ता है। यदि हम आदर्शों को छोड़कर वस्तुस्थिति की ओर ध्यान दें और पिछले छह-सात महीनों के इतिहास को देखें तो संभव है, हम आगे चलकर सत्याग्रह और असहयोग को समझ सकें। विगत मार्च मास में जब महात्मा गांधी समुद्रतट की प्रसिद्ध यात्रा के लिए निकले थे तब उनका लक्ष्य सत्याग्रह करना था। नमक-कानून भंग का संपूर्ण प्रसंग था सत्याग्रह। धरसाना का धावा मानो सत्याग्रह की लड़ाई थी। इससे विभिन्न स्वदेशी प्रचार अथवा विलायती बहिष्कार के आंदोलन को असहयोग कहना अधिक उचित होगा। पिछले 1921 के आंदोलन में असहयोग कार्यक्रम के अंतर्गत व्यवस्था-सभाओं, न्यायालयों, सरकारी पदों, स्कूलों-कॉलेजों और विदेशी-वस्त्रों के बहिष्कार के अंग थे। व्यवहार प्रणाली से सूचना मिलती है कि सत्याग्रह अधिक उग्र और तीव्र प्रयोग है और असहयोग अधिक भद्र और संयत है। सत्याग्रह में पुरुषत्व अधिक है, असहयोग में नारीत्व अधिक। जान पड़ता है, स्वदेशी प्रचार, मादक द्रव्य निषेध आदि कार्यों में स्त्री जाति की सहायता लेने में महात्माजी ने इसी विचार का उपयोग किया है।

सत्याग्रह को अंग्रेज सरकार अपने प्रभुत्व का अपमान समझती है। सरकार की ओर से नित्यप्रति इसकी निंदा सुन पड़ती है। अभी उस दिन ब्रिटेन के सबसे अधिक उत्तरदायी व्यक्ति प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने गिल्ड हॉल के उद्यान-भोज में भाषण देते हुए कहा कि व्यवस्था भंग करने वाले के प्रति तो क्रोध और विद्वेष बढ़ता है। भारत के वाइसराय लार्ड इर्विन ने जो विरोधियों में भी अपने उच्च चरित्र की ख्याति पा चुके हैं, कितने ही कड़े कानून बनाकर सत्याग्रह को दबाने की चेष्टा की है। हम समझते हैं कि सत्याग्रह की उग्रता का विचार कर नर्म दल के नेता उसे (Direct action) की संज्ञा देते हैं। यह संज्ञा यूरोप के उन मजदूर संघों को दी गई थी जो हड़ताल आदि सामूहिक उपायों से काम लेते थे। यदि सत्याग्रह (Direct action) है तो असहयोग भी वही है। परंतु असहयोग की विधि अंग्रेजी विधान

के पंजे में कम फंसती है। हम आपके देश का कपड़ा नहीं पहनेंगे, अपने देश का पहनेंगे, आप हमारा क्या कर सकते हैं? हम अपनी पंचायतें कायम करेंगे, अपने स्कूल-कॉलेज खोलेंगे, आपको क्या ऐतराज है? यद्यपि ये बातें सरकार को बुरी लगती हैं पर व्यवस्था कुछ कर नहीं सकती। उसके साधारण कानून की पहुंच वहां तक नहीं है। आर्डिनेंस से भी इन मामलों में शायद ही कुछ कामयाबी हो। नर्म दल के नेता विदेशी बहिष्कार और मादक द्रव्य प्रचार आदि की असहयोग नीति के पक्ष में राय देते हैं। वे ऐसे वैध और रचनात्मक कार्यों को ग्रहण करने में आर्थिक, नैतिक और सामाजिक लाभ तो देखते ही हैं, व्यवस्था की लीक भी कहीं से टूटती हुई नहीं देखते परंतु विलायत के स्वार्थलिप्त, संकीर्णबुद्धि कुछ लोगों का पारा इतना चढ़ा रहता है कि वे जब उबल पड़ते हैं तब कह देते हैं कि क्या कांग्रेस और क्या माडरेट, सब हिंदू मात्र एकमत होकर अंग्रेजी राज्य को मिटा देने के लिए उद्योग कर रहे हैं। बेचारों के स्वार्थ में इतना बड़ा धक्का लगता है कि उनका दिमाग विचलित होकर कानून-कायदे सब भूल जाता है।

अहिंसा के प्रयोग का जितना अवसर सत्याग्रह में मिल सकता है, असहयोग में नहीं। सहनशक्ति की वृद्धि अहिंसा की भी वृद्धि करती है। जेल जाने की बात नहीं कही जा सकती। पर डंडों की कड़ी मार जितनी सत्याग्रहियों पर पड़ी है, असहयोगियों पर नहीं पड़ी। महात्मा गांधी ने सत्याग्रहियों के लिए प्रथम धर्म अहिंसा बतलाया है। उनका यह विश्वास है कि अहिंसा की शक्ति से हिंसकों और आक्रमणकारियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। बुद्ध की भांति गांधी भी अहिंसा से हिंसक को द्रवित कर देने का विश्वास रखते हैं। हम यदि उक्त आदर्शों को मान नहीं सकते तो उन पर श्रद्धापूर्वक विश्वास कर सकते हैं। व्यक्तिगत साधना की यह फल-सिद्धि हमें स्वीकार है। पर जब दो बड़ी-बड़ी जातियों और समूहों का प्रश्न आता है तब हमारी शंका बढ़ती है। हमारी यह जिज्ञासा है कि अब तक के अहिंसा प्रदर्शन और कष्ट सहन का कौन-सा शुभ परिणाम प्रत्यक्ष हुआ है और यदि कुछ प्रत्यक्ष भी हुआ है तो क्या उतने के लिए इतना विराट त्याग आवश्यक था? निश्चय ही हमारा यह प्रश्न महात्माजी से नहीं, उन लाठी खाने वालों से है जो एक बार चोट का विचार करके कांप उठे हों। यह प्रश्न सामूहिक सत्याग्रहियों से है।

हमारे लिए बड़े कटु अनुभव की बात है कि ब्रिटेन के किसी अधिकारी व्यक्ति ने आज तक सत्याग्रहियों के कष्ट सहन का उल्लेख तक नहीं किया और उल्टा बंबई के गवर्नर साइक्स महोदय ने उस दिन की मर्मांतक लाठी वर्षा को हल्की बतला कर और स्त्रियों के प्रति किए गए असद्व्यवहारों को चुटकी में उड़ाकर शासन-चक्रधारियों की मनोवृत्ति का परिचय दे दिया। जब बंबई का यह हाल है तब तो मतलब यह निकला कि हिंदुस्तान भर की यह अहिंसा और कष्ट-नियंत्रण सरकार की निगाह में शराफत के अलावा और कुछ भी नहीं।

सिद्धांत की दृष्टि से नहीं कह सकते पर व्यावहारिक दृष्टि से हम यह अवश्य कहेंगे कि असहयोग की शांत और रचनात्मक नीति सत्याग्रह की कष्टप्रद प्रणाली से विशेष हितकर होगी। स्वदेशी ग्रहण और विदेशी बहिष्कार से विलायत को थोड़े समय में ही बड़ा धक्का लगा है। हम यदि इसकी एक ही दिशा में संपूर्ण मनोयोग से काम करें तो हमें अपनी उद्देश्य-सिद्धि में कुछ भी संदेह नहीं रहेगा। सुना जाता है कि सरदार वल्लभ भाई पटेल बंबई के लिए शीघ्र

ही नवीन रचनात्मक कार्यक्रम निकालेंगे। हमें यह आशा करनी चाहिए कि उनके नवीन कार्यक्रम से बंबई के घाटा सहने वाले व्यापारियों का वर्तमान अर्थजन्य असंतोष दूर हो सकेगा। यदि बंबई के व्यापारियों की स्थिति सुधारी जा सकी और यदि वे स्वदेशी के लाभ समझ सके तो विलायती वस्तु के वे असहयोगी बंबई के लाठी खाए हजारों सत्याग्रहियों का बदला चुका सकेंगे।

(सोमवार, 17 नवंबर 1930)

विज्ञान-विशारद सर सी.वी. रमण

भारतवर्ष में जब से अंग्रेजी राज्य हुआ और जब से पूर्व और पश्चिम में परस्पर विचारों का आदान-प्रदान चलने लगा तब से पश्चिमीय विद्वानों का एक प्रमुख दल इस देश की अयोग्यता का ही भरपूर विज्ञापन करने में लगा है। अपनी सभ्यता और संस्कृति का गर्व करना एक बात है और पराधीन राष्ट्र के महान प्राचीन इतिहास को अनेक प्रकार से हीन सिद्ध करना दूसरी बात है। हम पहली बात का विशेष विरोध नहीं करते पर जब हम देखते हैं कि हमारा पूर्व इतिहास और दर्शन, काव्य और विज्ञान, संपूर्ण सभ्यता और संस्कृति ही निम्न कोटि की ठहराई जाती है, तब हमें क्लेश पहुंचता है। पराधीन होने के नाते चाहे हम अपना पक्ष समर्थन करने में असमर्थ रहें, शक्ति-संपन्न और साधन-संपन्न होने के कारण चाहे हमारे विपक्षी अपनी विद्वेषपूर्ण और स्वार्थपूर्ण नीति का अधिक से अधिक प्रचार कर सकें, पर इसमें संदेह नहीं कि यदि हम स्वतंत्र होते और यदि संसार अपने हित के लिए हमारा संदेश सुनने को तैयार होता तो हम निश्चय ही अपने प्राचीन गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए, संसार को कल्याण का संदेश सुना सकते।

परंतु आज की स्थिति हमारे अनुकूल नहीं। आज तो ज्ञान के आगार वेदों को गड़ेरियों के गीत, दर्शन ग्रंथों को पश्चिम से प्रभावित, आदिकाव्य *रामायण* को *इलियड* की छाया, प्राचीनतम ग्रंथों को ख्रीष्ट के उपरांत कृत, कालिदास को यूरोपीय मध्यम श्रेणी का कवि, प्राचीन इतिहास को अर्द्धसभ्य बर्बरों का इतिहास आदि-आदि जो कुछ भी हमारे पश्चिमीय स्वामियों के मुखारबिंद से निकल जाए, वही हमें स्वीकार करना पड़ता है। हमारे स्वामियों को यह अधिकार है कि वे सभ्यता की इस बीसवीं शताब्दी में प्रबल भारतीय राष्ट्रीय आकांक्षाओं को दबा दें और संसार को यह सूचना दे दें कि अनेक संप्रदायों और जातीय विद्वेषों का रंगस्थल भारत अभी स्वराज्य पाने के योग्य नहीं बनाया जा सका है। वेदांतिक साम्य की सृष्टि कर विश्व को एकरस देखने वाला उदार और सारग्राही भारत, उनकी इस कार्रवाई को चुपचाप सुन लेगा।

संतोष की बात इतनी ही है कि संसार बिलकुल मूर्ख नहीं है, वह बहुत-सी बातों की अपनी जांच करता और अपना निर्णय करता है। उसमें उदारता और पक्षपातहीनता अब भी वर्तमान है। धर्म की ओर वह अब भी प्रवृत्त है। इस बात का एक प्रमाण भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर सी.वी. रमण महोदय को प्रदत्त संसार का सर्वश्रेष्ठ नोबेल पुरस्कार है। अपनी एक संतान को

इस प्रकार यशस्वी होते देख, पराधीन मातृभूमि का मस्तक ऊंचा हो जाता है। यह पुरस्कार लगभग एक लाख रुपयों का है और संसार में अब तक अद्वितीय है। इसे प्राप्त करने का गौरव संसार के चुने हुए महानपुरुषों को ही मिलता है। यह प्रसन्नता की बात है जहां अमेरिका जैसे पश्चिमीय प्रमुख देश को अब तक एक बार ही यह पुरस्कार मिल सका है वहां भारत जैसे सुदूर स्थित, पूर्वीय, पराधीन देश को दो बार यह पुरस्कार प्राप्त हुआ है। महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर भारत के प्रथम पुरस्कृत व्यक्ति हैं और उनके पीछे यह सम्मान इस बार सर सी.वी. रमण को मिला है।

सर सी.वी. रमण कलकत्ता विश्वविद्यालय के भौतिकशास्त्र (Physics) के प्रसिद्ध अध्यापक हैं। रमण महोदय की जन्मभूमि मद्रास प्रांत है। शिक्षा प्राप्त कर लेते ही ये विज्ञान के अध्यापक नहीं हुए थे, वरन् अर्थ विभाग के उच्चतम पद (Financial Civil Service) पर नियुक्त हुए थे। यदि रमण महोदय इसी विभाग में बने रहते तो शायद उन्हें विशेष सम्मान और कीर्ति न मिलती परंतु कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रख्यात शिक्षा उन्नायक स्वर्गीय सर आशुतोष मुखर्जी का ध्यान इनके कुछ लेखों की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने रमण महोदय को विश्वविद्यालय में बुलाया। तब से वे लगातार अपने विषय का विशेष रीति से अनुसंधान करते रहे और अब से कुछ समय पहले प्रकाश (Light) और ध्वनि (Sound) संबंधी अपने अन्वेषणों के लिए उनकी बड़ी ख्याति हुई। श्री रमण ने यूरोप में भी बहुत समय तक भ्रमण किया। अभी-अभी सम्राट पंचम जॉर्ज की अनुमति से उन्हें ब्रिटेन की विज्ञान संबंधी रॉयल सोसायटी का 'ह्यूग्स मेडल' दिया गया था।

हमें स्मरण है कि महात्मा गांधी को इस प्रसिद्ध पुरस्कार के देने की बात की जा रही थी, परंतु उन्होंने पहले ही सूचना देकर पुरस्कार लेना अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने अपने को अयोग्य और अपने महान कार्य को पहली सीढ़ी कहा था। अपना महात्मा होना उन्हें स्वीकार नहीं था। सर जगदीश चंद्र बोस भी निश्चय ही ऐसे वैज्ञानिक हैं जिन्हें उक्त पुरस्कार दिया जा सकता है। भारत में इस समय कुछ और व्यक्ति भी हैं जिनकी योग्यता और प्रतिभा को देखते हुए नोबेल पुरस्कार का दिया जाना सर्वथा संगत होगा।

हम सर सी.वी. रमण को उनकी इस पुरस्कार प्राप्ति पर हार्दिक बधाई देते हैं और विश्वास रखते हैं कि उनका यह सम्मान सारे भारत को सम्मानित करेगा।

सरकारी केंचुवा

एक छोटा-सा रेंगने वाला जंतु होता है जो अधिकतर बरसात के दिनों में पैदा हुआ करता है। उसे केंचुवा कहते हैं। केंचुवा के दो मुंह होते हैं। एक तो आगे रेंगने के लिए दूसरा पीछे खिसकने के लिए। इन दोनों मुंहों की सहायता से केंचुवा जब जिधर चाहता है, चलता है। विधाता की सृष्टि में इन आगे-पीछे चलने वाले उभयमुखी जंतुओं का एक अनोखा स्थान है।

अभी उस दिन भारत सरकार ने आगामी सुधार-योजना के लिए जो सिफारिश-पत्र भेजा

है, वह भी हमारे सामने केंचुवे के रूप में ही प्रकट हुआ है। प्रारंभ में वह सरकारी केंचुवा आगे की ओर रेंगता है पर थोड़ा-सा आगे चलकर वह अचानक पीछे खिसकता दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए उसकी अग्रगति नीचे लिखे रूप में प्रकट होती है। सत्याग्रह आंदोलन की शक्ति और कांग्रेस के पीछे भारतीय जनता की सामूहिक गति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि देश की हिंदू जनता सारतः आंदोलन में सहयोग दे रही है। जिन्होंने किन्हीं कारणों से आंदोलन में प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया है वे भी उसके उद्देश्यों से निश्चय ही सहानुभूति रखते हैं। इसमें भी संदेह नहीं कि अल्पसंख्यक जातियां भी प्रधान राष्ट्रीय आकांक्षाओं का समर्थन करती हैं। यहीं यह भी स्वीकार किया गया है कि भारत की राष्ट्रीय मांग तत्काल औपनिवेशिक स्वराज्य की है। अंत में यह कहा गया है कि आगामी विधान बनाने में भारत की वर्तमान असंतोषजनक अवस्था का ध्यान रखना चाहिए। वह समय बीत गया जब शासितों की छिपी हुई स्वीकृति की कल्पना कर लेने भर से काम चल जाता था। नई प्रणाली में निश्चित गति से अग्रसर होने वाले जाग्रत राष्ट्र की इच्छा का विचार करना उचित होगा।

पर इसके बाद ही सरकारी केंचुवे की गति बिलकुल असंभावित रूप से बदल गई है। वह अचानक पीछे की ओर खिसकने लगा है। भारत के भविष्य का निर्णय करने के लिए पत्र में जो कुछ लिखा गया है वह सब केंचुवे की पश्चात् पद-गति ही है, फिर भी जिन कुछ लोगों को आशा हो कि केंचुवे की चाल से ही सारा राष्ट्र प्रसन्न होकर ब्रिटेन के प्रेम-पाश में बंध जाएगा, वे कला के और सौंदर्यज्ञान के क ख ग से भी परिचित नहीं जान पड़ते।

विलायती समझौते में गए हुए भारतीय सदस्य इस केंचुवे की चाल से कितने प्रसन्न हैं, इसका पता प्राप्त समाचारों से लगता है। सर तेजबहादुर सप्रू ने अपनी पिछली वक्तृता में स्पष्ट रीति से अपना विरोध प्रकट किया है। श्री चिंतामणि ने कहा है कि हम समझौता-सम्मेलन की आगामी नीति (Policy) जानना चाहते हैं। यदि सच पूछा जाए तो श्री चिंतामणि के इस कथन में वही अविश्वास छिपा हुआ है जिसके कारण कांग्रेस नेता सम्मेलन में शरीक नहीं हुए और सप्रू-जयकर की संधि चेष्टा भंग हो गई। सबसे प्रमुख संस्था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इस सरकारी केंचुवे के संबंध में क्या मत है, यह तो सभी समझ सकते हैं।

भारत सरकार ने अपनी पिछली साप्ताहिक विज्ञप्ति में लिखा है कि हमारी सिफारिशों (हमारे केंचुवे की चालों) के संबंध में भारत की क्या सम्मति है यह अभी नहीं ज्ञात हुआ। भारत सरकार को यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि यह देश उसकी सिफारिशों को केंचुवा की अग्र-पश्चात् गति समझता है और विपत्ति की घटा से घिरे हुए वर्तमान वायुमंडल में उसकी उत्पत्ति को आश्चर्य की दृष्टि से नहीं देखता।

प्रांतीय व्यवस्था-सभा के चुनाव

प्रांतीय व्यवस्था-सभा के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव हो गया। पिछली बार के अध्यक्ष रायबहादुर

लाला सीताराम इस बार भी चुने गए। उनका पिछली बार का कार्य उपयुक्त और सर्वजन प्रशंसित हुआ था। इससे आशा थी कि उनका चुनाव इस बार निर्विरोध होगा, परंतु चौधरी रामभरोसे डोम उनके विरोध में खड़े हुए थे। चौधरी साहब बनारस से प्रांतीय सभा के सदस्य चुने गए हैं। उनके अध्यक्ष पद का समर्थन चौधरी राम चंदर और चौधरी जगन्नाथ ने किया था। वे दोनों साहब भी अछूतों के सदस्य हैं। यद्यपि कुल मिलाकर यह पूरा अभिनय मनोरंजन ही रहा होगा, पर मनोरंजन भी हर समय अच्छा नहीं लगता। बेवक्त की शहनाई पसंद नहीं की जाती। हम रायबहादुर लाला सीताराम की उदार बुद्धि को जानते हैं तथापि उनके साथ इस अवसर पर किए गए परिहास को अच्छा नहीं समझते।

इस अभिनय का एक दूसरा पक्ष भी है। यदि विरोध में डोम को खड़े होते देख श्री सीतारामजी बैठ गए होते और यदि उपर्युक्त डोम सदस्य चुन लिये जाते तो क्या होता? व्यवस्था-सभा में ऐसे-ऐसे कायदे (Rulings) अध्यक्ष महोदय बनाते कि उनका एक नया इतिहास ही तैयार हो जाता।

राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखने वाले योग्यतम सदस्य के अध्यक्ष पद का विरोध जिन अछूत सदस्यों ने किया उनकी भविष्य नीति क्या होगी, यह भी एक सामयिक प्रश्न है। क्या वे राष्ट्र विरोधी सरकारी दल का साथ नहीं देंगे?

खैरियत इतनी ही है कि इस अछूत साहबों की संख्या बहुत कम है नहीं तो व्यवस्था-सभा को इस बैठक में बड़े रंग देखने में आते।

कहानी तत्व

किसी अनादि युग में ईश्वर ने जगत की सृष्टि करके कहानियों का श्रीगणेश किया था। जगत पहली कहानी और भगवान पहले कथाकार हैं। मनुष्य कहानी को समझने वाला पहला भावुक या रसज्ञ है। उसने भगवान की सृष्टि को कहानी के रूप में ही ग्रहण किया। तमाम विश्व-ब्रह्मांड के अगणित सूर्य, चंद्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, विद्युत ज्योति और पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश के पंचतत्वों से निर्मित अनंत पशु, पक्षी, जीव और जड़ तक की सूक्ष्मतम और महत्तम प्रगति में मनुष्य कहानी का रसास्वाद अनादि काल से कर रहा है और शायद अनंत काल तक करता जाएगा। दूर के प्रसंगों को जाने दीजिए, मनुष्य नदियों की धारा, धारा के जल और जल की बूंद में, वायु के मृदुलतम और भीषणतम झोकों के फलस्वरूप हिलने वाले और टूट पड़ने वाले वृक्षों, उनकी अनंत शाखा-प्रशाखाओं, उनके पत्तों-पत्तों में तथा अग्नि की शिखा में, दीपक के प्रकाश में, सर्वत्र चिरकाल से एक कहानी का अनुभव करता आ रहा है। आंखें खुलते ही उसने अपने चतुर्दिक् जो प्रसार देखा वह उसके लिए अज्ञेय, किंतु मनमोहक कहानी थी। पशु-पक्षी और जीवजगत से उसका घनिष्ठ संबंध होने के कारण उस क्षेत्र में उसकी भावना ने अनंत कहानियों का विस्तार देखा। अंत में जब मनुष्य ने अपने सरीखे, अपनी ही आकृति,

अपने ही रंग-रूप तथा अपनी ही आत्मा से समन्वित मनुष्य को अपनी भांति सुख-दुःख पाते निशि-दिवस व्यतीत करते, आते-जाते देखा तब उसकी भावना अधिक समय तक निष्क्रिय न रह सकी, वह पुकार उठी। वाणी का विकास हुआ। मनुष्य ने एक-दूसरे से आत्मिक साम्य स्थापित किया। यहीं से कहानी की व्याख्या प्रारंभ हुई। मनुष्य ने पहली बार प्रथम कथाकार भगवान को उसकी अद्‌भुत आनंदमयी रचना के लिए जो कृतज्ञतासूचक हार्दिक संदेश भेजा होगा, उसकी कल्पना कर हम आज भी आनंदमग्न हो जाते हैं।

जहां से कहानी की व्याख्या प्रारंभ हुई वहीं से उसका आदियुग माना जाना चाहिए। इस युग में कुछ बहुत ही मौलिक कहानियों की सृष्टि की गई। मनुष्य ने मनुष्य के प्रति सहानुभूति सीखी, सम्मान सीखा। प्यार और भय की भावनाएं स्थिर हुईं। जीव जगत हमारे प्राणों के निकटतम आकर प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार की तथ्यपूर्ण अद्‌भुत, मौलिक उद्‌भावनाओं का यह युग कहानियों के इतिहास में अद्वितीय महत्व रखता है। संसार के आदि-ग्रंथ वेद में इस काल के मौलिक असंख्य चित्र मिलते हैं। इसी युग में ज्ञान के प्रकाश में मनुष्य ने अपने-अपने स्रष्टा के और उसकी सृष्टि के दर्शन किए।

आदि कवि वाल्मीकि ने अपने अमर महाकाव्य में मनुष्य की चिरंतन कथाओं को सजाकर रख दिया है। संसार के नाना रूपों में जो अपरिमित कथाएं सन्निहित हैं, उनका पारस्परिक संबंध क्या है, वे एक-दूसरे पर किस प्रकार निर्भर हैं आदि से संबद्ध *रामायण*-महाकाव्य के विविध खंड-चित्रों नें मानो मनुष्य की कहानियों में समन्वय का आग्रह किया है। अणु-अणु एकत्र करके जैसे महान का आविर्भाव किया गया हो। हम समझते हैं, यथार्थ का इतना बड़ा समीकरण संसार के इतिहास में और कहीं हुआ ही नहीं।

शक्ति-संपन्न मनुष्य अपनी प्रगति में कहीं रुका नहीं। जगत का जो विराट चित्र हमारे महाकाव्यों में मिलता है, उसमें कहीं भी नुक्ताचीनी को जगह नहीं। इसी समय कल्पना की अभिनव शक्ति की प्रभूत छटा हमारे दर्शन-ग्रंथों और काव्यों में दीख पड़ी। काव्यों में नई-नई कहानियों की बहुलता दर्शनीय हुई। जगत के सुषमापूर्ण उपवनों ने किसी अपूर्व-नंदन-वन की याद दिलाई जो सुरबालाओं की क्रीड़ा-भूमि, सुधा की धाराओं से समन्वित, सुरधेनु की विहार स्थली आदि की विशेषताओं से अलंकृत है। विविध देवलोक, ब्रह्मलोक, क्षीरसागर आदि की सृष्टि का यह युग कहानियों के विकास में विशेषरीति से उल्लेखनीय है।

दर्शन-ग्रंथों की कहानियां सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। ऐसा तो नहीं कि साधारण मनुष्य को विचार-ग्राह्य हों, पर इसमें संदेह नहीं कि संसार की भविष्य की कहानी में जिस विश्वैक्य के मूल्यवान पृष्ठ के लिखे जाने की कल्पना से हम संतोष पाते हैं, उसमें दर्शन ग्रंथ उपकरण का काम देंगे। *गीता* में भगवान कृष्ण की कृपा से अर्जुन के जिस विराट दर्शन का उल्लेख है, मनुष्य समाज की अंतिम कहानी का वह अंतिम पृष्ठ हो, ऐसी हमारी कामना है।

हमारे देश में सदैव आदर्शों को प्राधान्य दिया गया है पर आदर्श का आधार अनुभूति है, जो यथार्थ है। हम आधुनिक पंडितों को कल्पना विशिष्ट कहते देख कष्ट पाते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि हम मनुष्य की निसर्गसिद्ध दुर्बलता और त्रुटि को नहीं

समझते। हम उसकी परिमित दृष्टि, परिमित शक्ति और परिमित जीवन से पूरे-पूरे अभिज्ञ हैं और नीचे उतरकर हम उसके छल-कपट, उसके दंभ-अहंकार और मिथ्या ज्ञान को भी देख पाते हैं। परंतु यह सब होते हुए भी हम उसकी महान संभावनाओं पर विश्वास रखते हैं, और संसार के भविष्य को बड़ी आशा के साथ देखते हैं। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ कहानी भविष्य में ही लिखी जाने को है।

यह भाव हममें आदर्शों की उत्तेजना उत्पन्न करेगा। 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदान्, समुपबृंहयेत्' के आदर्श वाक्य का अर्थ समझकर हम अपनी कहानियों में ज्ञान का उत्तरोत्तर विस्तार करेंगे और इस प्रकार संसार के भविष्य को उज्ज्वलतम बनाएंगे।

(*हिंदी की श्रेष्ठ कहानियां* पुस्तक की हमारी भूमिका का अंश)

(शुक्रवार, 21 नवंबर 1930)

कानून और मनुष्य

राष्ट्रपति पं. जवाहरलाल नेहरू जिस दिन जेल से छूटे थे, उसके दूसरे ही दिन उन्होंने प्रयाग की एक बड़ी सभा में भाषण दिया था। छह महीने तक जेल के भीतर बंद रहने के कारण और राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष होने के नाते उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे पिछले छह महीने की राष्ट्रीय प्रगति की चर्चा करते और उसके संबंध में अपने विचार प्रकट करते। सत्याग्रह आंदोलन के प्रधान सूत्रधार होने की हैसियत से उनके लिए यह भी आवश्यक था कि वह आंदोलन की भविष्य नीति बतलाते और आगामी कार्यक्रम ठीक करते। ऐसे अवसरों पर कही गई बहुत-सी बातें एक साथ मिलकर भाषण को उत्तेजनापूर्ण बना देती हैं, यद्यपि सच पूछा जाए तो साधारणतः उनमें से कुछ बातें केवल शिष्टाचार (Formality) के विचार से भी कही जाती हैं। पेशावर की दुर्घटना में देश के अनेक भागों में सहानुभूति दिखाई गई, भगत सिंह तथा क्रांतिकारियों की हिंसात्मक नीति की निंदा करते हुए भी कितनी ही बार उनके स्वदेश प्रेम की प्रशंसा की गई। इसी प्रकार समानांतर संस्थाएं खोलने के प्रस्ताव पर भी काफी कहा-सुनी हो चुकी है और कर न देने का निश्चय कर चुकने वाले बारडोली आदि के किसानों की प्रशंसा के पृष्ठ के पृष्ठ आए दिन समाचारपत्रों में छपा करते हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू के भाषण में जो राजविद्रोहात्मक बातें पाई गईं, वे ऊपर के कुछ प्रसंगों से ही संबंध रखती थीं। इतनी लंबी सजा सुनाने में परिस्थिति का और मनुष्य मनोवृत्ति (Human Element) का ध्यान नहीं रखा गया है।

उपर्युक्त भाषण के आठ दिन बाद पं. जवाहरलाल एक सभा से लौटते समय पकड़ लिये गए। निवास स्थान आनंद भवन पास होने के कारण उन्होंने वहां जाकर शीघ्र लौटने के संबंध में राय ली, पर अधिकारी सहमत नहीं हुए। उनके ऊपर राजविद्रोह का प्रधान अपराध लगाकर मुकदमा चलाया गया और कुल मिलाकर उन्हें अट्ठाईस महीने की कड़ी कैद की सजा दी गई।

जवाहरलालजी के वृद्ध और रुग्ण पिता त्यागमूर्ति पंडित मोतीलाल नेहरू एक दिन पहले मसूरी से प्रयाग लौटे थे। वे प्रयाग आकर घर पर अपने पुत्र से मिल नहीं सके। इससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ने की संभावना प्रसिद्ध डॉक्टरों तक ने स्वीकार की है। परंतु जवाहरलालजी की लंबी और कठोर सजा से तो वृद्ध पिता और भी क्षुब्ध हुए होंगे। यद्यपि कानून की दृष्टि से सजा में नुक्ताचीनी करने की रत्ती भर भी जगह नहीं है और यद्यपि सामान्य स्थिति में कानून की पाबंदी करने वाला यह देश सजा के विरुद्ध एक शब्द भी न कहता, पर विगत 16 नवंबर को देश के अनेक भागों में जिस समारोह के साथ जवाहर दिवस मनाया गया उसमें जनता का अपने नवयुवक नेता के प्रति प्रेम और सम्मान तो प्रकट ही होता है, वयोवृद्ध, अस्वस्थ और त्यागी पिता के प्रति आज्ञापालन का भाव भी प्रकट होता है। 16 तारीख को जवाहर दिवस मनाने का प्रस्ताव त्यागमूर्ति पं. मोतीलाल नेहरू ने ही किया था।

यदि कानून की दृष्टि से देखा जाए तो 16 तारीख को देश भर के बड़े-छोटे नगरों में लाखों की संख्या में जनता ने गैर-कानूनी काम किया। जिस भाषण के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष को कड़े कैद की लंबी सजा मिली उसका ही अधिकाधिक प्रचार जुलूस निकालकर तथा सभाओं में पढ़कर किया गया। इन सभाओं में जनता बड़ी संख्या में उपस्थित हुई थी और उसने पं. जवाहरलालजी के भाषण के उन अंशों को विशेषकर दोहराया था जो राजद्रोहात्मक थे। इस गैर-कानूनी कार्रवाई को रोकने के लिए बहुत से स्थानों में तो कुछ भी नहीं किया गया, कुछ स्थानों में गिरफ्तारियां हुईं, कुछ में लाठियां चलीं और एक स्थान में गोली भी चली। इस प्रकार राजद्रोह के प्रचार का दंड भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूप से दिया गया। इस प्रकार व्यवस्था की समदर्शिता की रक्षा कैसे की जा सकती है?

असल बात यह है कि सामूहिक असंतोष के समय में कानून के शब्दों पर सबसे अधिक ध्यान देना, सबसे अधिक अदूरदर्शिता दिखाना है। मौलाना मुहम्मद अली ने अभी-अभी विलायत के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बर्की की उस पुकार का जिक्र किया है जिसमें उसने मनुष्य को प्रधानता दी है और सिद्धांतों को पीछे रख छोड़ा है। (Man Not Measures) 'मनुष्य की ओर ध्यान दो, कायदों की ओर नहीं', इस समय वास्तव में यह नवीन नीति ही उपयुक्त सिद्धि होगी। विशेषकर जब कोई आंदोलन सामूहिक हो जाता है और प्रचलित शासन-नीति से असंतोष का भाव गहरा हो जाता है तब तो कानून-कायदे को छोड़कर मनुष्यं का ही अध्ययन करना आवश्यक पड़ता है। असंतोष के कारणों की जांच करनी पड़ती है, उसकी ठीक-ठीक दवा करनी पड़ती है, केवल बाहरी लक्षणों (Symptoms) को दूर करने से काम नहीं चल सकता।

सर तेजबहादुर सप्रू ने विलायत में जाकर सबसे मार्के की बात यह कही है कि आज भारत में ब्रिटेन के प्रति बेहद असंतोष और अविश्वास फैला हुआ है। इस समय भारत की राजनीति का प्रधान लक्षण यही है। श्री सप्रू के इन शब्दों का भाव ग्रहण करते हुए और कानून के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हुए हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि दफा 124 ए इस समय इस देश में व्यापक होकर लागू हो सकती है। सर तेजबहादुर ने इस सत्य का भी उल्लेख किया है कि

हम (गोलमेज के भारतीय प्रतिनिधि) अपने देशवासियों की निगाह में विश्वासघातक हैं और उनकी चुटकी और उनका परिहास सहकर यहां आए हैं। भारतीय जनता अपने ही सम्माननीय देशवासियों को क्यों विश्वासघातक समझती है—इसका तत्व ढूंढ़ने के लिए उसे मूर्ख कह देने भर से काम नहीं चलेगा, वर्तमान शासन-नीति के प्रति फैले हुए उग्रविराग (Disaffection) को समझना होगा।

यदि हम कानून से अलग होकर मनुष्य की दृष्टि से विचार करें तो आसानी से समझ सकेंगे कि राजद्रोह फैलाने में राजद्रोह का अभियोग लगाकर दी गई लंबी और कठोर सजाएं भी सहायता ही पहुंचाती हैं। वर्तमान दमनचक्र जिस तेजी से चल रहा है और इधर हाल में देश के प्रतिष्ठित नेताओं को जो लंबी और कड़ी सजाएं दी गई हैं, उनसे यह आशा करनी व्यर्थ है कि कानून से स्थापित ब्रिटिश राज्य के प्रति अनुराग का भाव उत्पन्न होगा। विगत 16 तारीख की जवाहर-दिवस की देशव्यापी घटनाएं इसका उदाहरण हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि महात्मा गांधी की ग्यारह शर्तों में एक शर्त का अंश यह भी था कि दफा 124ए (राजविद्रोह की धारा) रद्द कर दी जाए। उनकी यह शर्त राजनीतिक कैदियों को छोड़ देने की प्रधान शर्त के साथ पेश की गई थी। राजनीतिक कैदियों को छोड़ने को महात्माजी ने सरकार के हृदय-परिवर्तन की सूचना कही थी। हम समझते हैं, 124ए को रद्द कर देने की शर्त रखने में भी उन्होंने उसी हृदय-परिवर्तन का ध्यान रखा था। महात्मा गांधी जैसे तपस्वी नेता कानून की धाराओं में मनुष्य के हृदय को ही ढूंढ़ते हैं, यह बात भी ध्यान देने योग्य है।

महात्मा गांधी ही नहीं देश-विदेश के बहुत से विचारक हृदय-परिवर्तन के लिए आग्रह कर चुके हैं। प्रसिद्ध मजदूर पत्रकार मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड ने भारत की स्थिति को अपनी आंखों देखा था और यह सिफारिश की थी कि समझौता-सम्मेलन के बैठते ही राजनीतिक कैदी बिना किसी शर्त के छोड़ दिए जाएं। इससे ब्रिटेन की उदारता का ही परिचय मिलता है। स्वयं प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने आत्माजन्य साम्य स्थापित करने की बात कही है। हम समझते हैं कि आत्माजन्य साम्य कानून के शब्दों पर अक्षरशः चलने से नहीं स्थापित हो सकता, उसके लिए मनुष्य को और उसकी परिस्थितियों को मनुष्य की आंखों से देखना आवश्यक होगा।

साहित्यिक आख्यायिकाएं

आदमियों में कहानियां कहने और सुनने का शौक बहुत पुराना है। लड़कपन में हम लोगों ने मां की गोद में बैठकर कभी किसी पराक्रमी राजकुमार और कभी किसी रूपवती राजकुमारी का वृत्तांत सुना है। शायद सृष्टि की आदिम अवस्था में भी जब हम लोग पढ़ने-लिखने की क्रियाओं से नितांत अपरिचित थे, आज की भांति ही कहानियां कही और चाव से सुनी जाती थीं। उन कहानियों का सीधा-सादापन ही उनका सौंदर्य था। यह बात नहीं है कि उनमें कल्पना

का अभाव था। कल्पना का आधार लेकर तो उनका जन्म ही हुआ था। उनमें मनुष्य की आकांक्षाएं कल्पना का आवरण धारण करके किसी अनिश्चित देश और काल में सफल और तृप्त होती दिखाई देती थीं। असभ्य पुरुष चाहता था कि उसमें अपरिमित शक्ति आ जाए—इतनी शक्ति कि जितना वास्तव में प्राप्त करना असंभव है। इसी आकांक्षा को लेकर कल्पना के सहारे वह एक ऐसे बलवान पुरुष को अपनी कहानी का नायक बनाता था जो हिमालय पहाड़ को सात रोज तक अपनी हथेली पर रख सकता था या बहती हुई धारा को रोक सकता था। इसी प्रकार प्रत्येक कहानी की नायिका एक युवती होती थी जो कोमलता में गुलाब के फूल से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। सहानुभूति के बल पर हमारे पूर्वजों को इसी में संतोष और सुख मिलता था। आख्यायिकाओं की सृष्टि पहले-पहल स्वप्नों के लोक में हुई थी, किंतु उनका विस्तार और उन्नति वास्तविकता और यथार्थवाद की ओर होता रहा है। आधुनिक आख्यायिकाओं में जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है।

किंतु ये घरेलू कहानियां साहित्यिक आख्यायिकाओं की कक्षा में नहीं रखी जा सकतीं। वे परिष्कृत नहीं होतीं और उनमें कला का स्पष्ट आभास नहीं होता। बूढ़ी नानी की कहानी और प्रसिद्ध फ्रांसीसी कहानी-लेखक मोपासां की गल्पों में वही अंतर है जो किसी छोटे बच्चे के पलने के पास बैठकर गाई जाने वाली लोरी और *विनयपत्रिका* के एक ललित पद में। साहित्यिक कहानियों का प्रादुर्भाव वास्तव में प्रायः सारे संसार में 19वीं शताब्दी में हुआ, वैसे तो *पंचतंत्र* की कहानियां पांचवीं शताब्दी के लगभग लिखी गई थीं। अंग्रेजी में चॉसर के पहले कई शताब्दियों से गीत में कथानक चले आ रहे थे और फ्रांस के *चंजा* (Chanson) में कहानियों के रूप में ही वीरों और प्रेमियों के यश गाए जा चुके थे। 19वीं शताब्दी में ही फ्रांस में वैल-जैक फलावर्ट और जोला ने गल्पों को कला के उच्च आदर्श तक पहुंचाया। उसी शताब्दी में रूस में दोस्तोयवस्की, तुर्गनेव और टाल्सटाय ने आख्यायिकाएं लिखकर रूसी साहित्य को महत्व प्रदान किया। जर्मनी में तो लोग 19वीं शताब्दी के अंत तक साहित्यिक चेतना से वंचित-से प्रतीत होते थे। गत यूरोपीय महासमर के बाद ही उस देश के साहित्यिक उच्च श्रेणी की कहानियां तैयार कर पाए हैं। अमेरिका में हॉथर्न, पो और ग्रेटहार्ट ने गल्प लेखन का प्रारंभ गत शताब्दी के मध्य काल के निकट किया। अंग्रेजी साहित्य में तो स्टेविंसन और किपलिंग ने 1880 के लगभग कहानियां लिखने का श्रीगणेश किया।

जब हम कोई कहानी पढ़ते हैं तब हमारे सामने अनेक चित्र उपस्थित होते हैं। कभी एक कमरे में एक नवयुवक आराम कुर्सी पर बैठकर एकांत में कुछ सोचता हुआ दिखाई देता है तो कभी हमें एक वृद्ध पुरुष एटलांटिक महासागर को पार करने वाले एक जहाज की डेक पर आने वाली आपत्तियों की चिंता से आकुल टहलता हुआ दिखाई देता है। गल्प-लेखक इन्हीं चित्रों को क्रिया अथवा बातचीत के द्वारा गुंफित करके अपनी कहानी तैयार कर देता है। जितने ही स्पष्ट और भावपूर्ण (Suggestive) ये चित्र होंगे उतना ही मनुष्य की कला की प्रवृत्ति को वे अपनी ओर आकृष्ट कर सकेंगे। चित्र ऐसा होना चाहिए कि उसे देखते ही आने वाली परिस्थितियों का आभास हो जाए। जब तक वह कहानी के प्रवाह को आगे बढ़ाने में सहायता

नहीं देता, वह कितना ही सुंदर क्यों न हो, अनर्गल है। किसी जरूरी काम के लिए विदेश से घर लौटते समय यदि आप रास्ते की किसी सुंदर इमारत का निरीक्षण करने के लिए दस रोज तक रुके रह जाएं तो बहुत से लोग ऐसे होंगे जो आपकी बुद्धि की सत्ता स्वीकार करने में हिचकिचाहट का अनुभव करेंगे। कहानियों में चित्रण-कला के कुछ बहुत अच्छे उदाहरण मोपासां की रचनाओं में मिलते हैं।

कहानियों में चित्र के बाद आती है बातचीत (संभाषण का महत्व विचारणीय है) के सहारे कहानी आगे बढ़ती है। सिद्धहस्त कहानी-लेखक अपने पात्रों में बातचीत कराते समय दो बातों का ध्यान रखते हैं। पहली बात यह कि वे अपने पात्रों के चरित्र और मानसिक अवस्थाओं से भलीभांति परिचित रहते हैं। वे निश्चय रूप से जानते हैं कि अमुक पात्र किस अवस्था में क्या कहेगा और उसका आचरण क्या होगा। दूसरी बात यह कि जब दो या अधिक पात्र आपस में बातचीत कर रहे हैं तब वे उन पर खूब ध्यान रखते हैं और बिना प्रयोजन की बातचीत में नहीं पड़ने देते। बातचीत जहां तक हो सके छोटे वाक्यों में होनी चाहिए और उसमें सुस्ती न आने देना चाहिए।

अंग्रेजी के लेखक डिकिंस, आस्टिन और आरनोल्ड बेनेट की कहानियों में पात्रों में आपस की बातचीत का ढंग बहुत उत्तम और स्वाभाविक होता है।

कुछ कहानियों की रोचकता उनके वस्तु (Plot) में होती है। वे एक जटिल समस्या उपस्थित करके उसे असाधारण रीति से सुलझाने की चेष्टा करती हैं। अधिकतर जासूसी कहानियां इसी प्रकार की होती हैं। कैनन डायल की एक कहानी में चारों तरफ से बंद एक कमरे में एक आदमी की हत्या हो जाती है। किस तरह से इस अद्भुत हत्याकांड का पता लगाया जाता है, यह जानकर पाठक चकित रह जाते हैं। दूसरे प्रकार की कहानियां ऐसी होती हैं जिनमें कहानी में कोई पेच नहीं होता, कोई उलझन नहीं होती। एक सीधी-सी बात को लेखक अपनी करामात से जाल का असर दे देता है। अंग्रेजी लेखक स्टेविंसन में घटनाओं को एकत्र करके एक हैरत पैदा करने वाली कहानी लिखने की ताकत नहीं थी, लेकिन उसकी कहानियां कला की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट हैं, निहायत रोचक हैं। ऐसी कहानियों की रोचकता बढ़ाने के लिए लेखक को अनेक प्रकार से पाठकों पर प्रभाव डालना पड़ता है। उनमें एक विशेष मानसिक अवस्था उपस्थित करनी पड़ती है। इस कार्य के लिए लेखक अपनी आवश्यकतानुसार विविध प्रकार के वायुमंडल तैयार करते हैं।

हिंदी की श्री चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी' कहानी में अद्भुत मादकता का उपयुक्त वायुमंडल तैयार किया गया है।

छोटी कहानियों का गद्य कथानक साहित्य में वही स्थान है जो कविता में lyric या रेखता का है। यह किसी एक भाव को ही लेकर लिखी जाती है और जहां वह भाव व्यक्त हो गया उससे एक कदम आगे बढ़ना गल्प-लेखक के लिए पाप है। छोटी कहानी के लिए न तो भूमिका की आवश्यकता होती है, न उपसंहार की। रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानियों को देखने से पता चलता है कि कितनी सहसा वे समाप्त हो जाती हैं।

छोटी कहानियों को दो श्रेणियों में बांटा गया है—एक सत्तात्मक और दूसरी छायात्मक। छायात्मक कहानियां उस गल्प को कहते हैं जिनमें संसार के जड़ पदार्थों की ओर विशेष ध्यान न देकर मानसिक परिस्थितियों के विश्लेषण और चित्रण में अधिक ध्यान दिया गया है। यदि छायात्मक का अर्थ यही है तो यह कहा जा सकता है कि भविष्य में कम से कम कुछ काल तक छायात्मक कहानियों का जोर बढ़ता जाएगा। शीहोब वाल्टर, डोलामेर और कैथराइन मैंसफील्ड ऐसे गल्प लेखकों ने कहानियों के क्षेत्र में जो प्रयोग किए हैं। उन्हें देखते हुए यह मालूम होता है कि सत्तात्मक कहानियों की अपेक्षा छायात्मक कहानियों में कला का सूक्ष्मतर रूप प्रकट होता है। आशावादी होने के नाते हम कह सकते हैं कि आने वाले युग में जड़ की अपेक्षा चेतन और सूक्ष्म का महत्व अधिक रहेगा।

(सोमवार, 24 नवंबर 1930)

कांग्रेस का भय

विलायती अनुदार दल के प्रतिनिधि लार्ड पील के भाषण का वह अंश ध्यान देने योग्य है, जहां उन्होंने अपने दल को भारतीय कांग्रेस की नीति से भयभीत बतलाया है और यह कहा है कि ऐसा न हो कि इस सम्मेलन में जो कुछ अधिकार दिए जाएं उन्हें लेकर कांग्रेस अपनी विद्रोही नीति को ही अधिकाधिक बढ़ाती जाए। उन्होंने कांग्रेस के भारतीय ऋण न चुकाने के प्रस्ताव का उल्लेख किया है और यह शंका प्रकट की है कि इससे लंदन से भारत की साख उठ जाएगी। जहां तक हमें स्मरण है, कांग्रेस के कार्यक्रम से विरोध तो कितनी ही बार दिखाया गया है, परंतु उससे भयभीत होने का यह पहला ही मौका है जिसे पार्लियामेंट के एक शक्तिशाली दल ने प्रकट किया है। कड़ाई (strong hand) से शासन करने का समर्थन करने वाले अनुदार दल के अन्य व्यक्ति शायद लार्ड पील के उपर्युक्त भय को पसंद न करें। हम समझते हैं, अपने दल की ओर से भय प्रकट करते हुए लार्ड पील ने मिस्टर चर्चिल आदि का विचार नहीं किया। माइकेल ओडायर, लार्ड रोथरमियर, वीभर ब्रुक आदि की राय में शायद लार्ड पील ने अपनी प्रथम वक्तृता को भरसक नर्म और मीठी बनाने की चेष्टा की है।

कांग्रेस को लार्ड पील ने जिस रूप में समझा है वह आश्चर्यजनक है। उत्तर देते हुए श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा कि कांग्रेस कुछ वंशगत अपराधियों की संस्था नहीं है जो बात-बात पर अड़ंगे डालती रहेगी और शांति की प्रतिष्ठा नहीं होने देगी, परंतु पता नहीं लार्ड पील पर इस कथन का क्या प्रभाव पड़ा। यदि किसी ने न समझने का निश्चय कर लिया है तो हम समझते हैं, उसे जबर्दस्ती समझाने का कुछ विशेष असर नहीं पड़ सकता। जिस संस्था के प्रमुख महात्मा गांधी जैसे तपःनिष्ठ महापुरुष हैं, सत्य जिनका साधन है, अहिंसा जिनका आदर्श है, जो कष्ट सहन को विजय का उपाय समझते हैं, जिन्हें किसी से स्वप्न में भी रत्ती भर विद्वेष नहीं। यदि भारत पराधीन न होता तो जो राजनीतिक आंदोलन से अलग

महात्मा बुद्ध की भांति संसार में कल्याण का संदेश सुनाते फिरते, उनके आंदोलन से कोई भी सत्यनिष्ठ व्यक्ति क्यों भयभीत होगा। पर राजनीति के क्षेत्र में तो सत्यनिष्ठ के अतिरिक्त और भी बहुत से पेच रहते हैं।

श्री चिंतामणि ने भी अपने ढंग से जवाब दिया है। उन्होंने कहा है कि लार्ड पील जिस अनुदार दल के प्रतिनिधि हैं उसकी तो यह नीति ही रहती है कि वह जिस बात को असंभव समझकर छोड़ना चाहता है, उसे छोड़ने के पहले बड़े जोर-शोर से उसका पक्ष समर्थन करता है। यदि लार्ड पील आज साइमन कमीशन की रिपोर्ट को क्रांतिकारिणी बतलाते हैं और बड़े वेग से उसकी हां में हां मिलाते हैं तो वह इस बात का प्रमाण है कि स्वयं उनका अनुदार दल भी साइमन रिपोर्ट पर बहुत हद तक आस्था नहीं रख सकता और बाध्य होकर अपनी नीति बदलना चाहता है। कांग्रेस से भयभीत होने का भी यही मतलब है कि उसकी शक्ति वे समझने लगे हैं और अपनी वर्तमान अनुदारता से काम चलता नहीं देखते।

सम्मेलन के भारतीय सदस्यों ने ही नहीं, विलायत के प्रसिद्ध समाचारपत्रों और व्यक्तियों ने भी लार्ड पील का भ्रम मिटाने की चेष्टा की है। अभी उस दिन, *मैनचेस्टर गार्जियन*, नामक प्रसिद्ध पत्र ने भारतीय स्थिति की बड़ी ही मार्मिक आलोचना करते हुए लिखा है कि कांग्रेस से भयभीत होना निरर्थक है बशर्ते कि भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाएं पूरी की जाएं। यदि भारत की मांग का ध्यान रखते हुए उसे तत्काल संघात्मक औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाए तो कोई कारण नहीं कि कांग्रेस से भयभीत हुआ जाए। वैसी अवस्था में यह आशंका भी मिट जाएगी कि केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में कांग्रेस दल का ही बोलबाला रहेगा। कुल संख्या का लगभग एक-चौथाई तो देशी राज्यों के प्रतिनिधि रहेंगे। लगभग एक-तिहाई अल्पसंख्यक जातियों के सदस्य रहेंगे। ऐसी अवस्था में व्यवस्था-कार्य बड़े ही व्यवस्थित ढंग से हो सकेगा।

पर सौ बात की एक बात है भारत की राष्ट्रीय मांग पूरी करने की, स्वराज्य का सार देने की। इसे ही पूरा करने, न करने पर विलायत का भविष्य निर्भर है। ब्रिटेन के लिए यह कठिन परीक्षा का समय है। यदि उदारता और दूरदर्शिता दिखाकर स्थिति सुधारी गई तो सुधारी गई, नहीं तो निश्चय ही अनुदार दल इस समय जिस कांग्रेस के भय की आशंका करता है वह प्रतिदिन बढ़ता ही जाएगा। फिर तो केवल कांग्रेस ही नहीं, संपूर्ण भारत ही ब्रिटेन के लिए भय की वस्तु हो जाएगा। यदि ब्रिटेन के प्रसिद्ध पत्रकार मिस्टर जॉर्ज स्लोकोंब के शब्दों में कहा जाए तो शीघ्रातिशीघ्र भारत का अधिकार उसे न देने पर ब्रिटेन के सामने केवल दो बातें रह जाएंगी। या तो वह भारत को छोड़कर चला जाए अथवा सैनिक शक्ति से इस देश पर फिर से आक्रमण करे और सारे देश को फिर से जीते। इसका अर्थ हुआ, लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का नाश और करोड़ों की संपत्ति का स्वाहा। साथ ही मिस्टर स्लोकोंब यह भी चेतावनी देते हैं कि इस बीसवीं सदी में अंतर्राष्ट्रीय मत की उपेक्षा कर इतने बड़े पैमाने पर जन-संहार नहीं किया जा सकता। निश्चय ही भारत के सत्य, न्यायपूर्ण और तर्कसम्मत अधिकार को शीघ्र से शीघ्र न देने का फल होगा. देशव्यापी अशांति और असंतोष। ब्रिटेन के लिए वह स्थिति भयानक हो सकती है। इस समय लार्ड पील और उनके अनुदार दल का कांग्रेस-भय निराधार और व्यर्थ है।

भारतीय एकमत

समझौता-सम्मेलन की दूसरी सामूहिक बैठक समाप्त हो गई। यद्यपि इसमें बीस सदस्यों के भाषण हुए और यद्यपि प्राप्त समाचारों से जान पड़ता है कि सभी भाषण बड़े ही गंभीर हुए और उनसे स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट की गई पर उनमें भी हमें सर तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर, डॉक्टर मुंजे और मौलाना मुहम्मद अली की वक्तृता श्रेष्ठ जान पड़ीं। देशी नरेशों में प्रायः सबने ही बड़ी ही उदार बुद्धि का परिचय दिया जिसके लिए उन्हें हमारे धन्यवाद की आवश्यकता नहीं। भारतीय राजत्व के उच्च आदर्श की छाप इस पराधीन युग में भी उनमें बनी है। यह हमारी सभ्यता और संस्कारों की दृढ़ता ही प्रमाणित करता है। सर तेजबहादुर सप्रू ने अपने चालीस मिनट के भाषण में संपूर्ण भारतीय स्थिति का परिचय दिया और औपनिवेशिक स्वराज्य की विरोधी भारत सरकार के प्रस्तावों का खंडन किया। भारत की तीव्र राष्ट्रीय आकांक्षा सुधारों की छोटी-मोटी किस्तों से तृप्त नहीं होगी, धीरे-धीरे आगे बढ़ने की नीति भयानक सिद्ध होगी, सर तेजबहादुर की वक्तृता का आशय यही था। श्री जयकर ने कांग्रेस के नवयुवक दल की शक्ति का जिक्र किया और यह बतलाया कि यदि आज तत्काल औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं मिलता तो आज से छह महीने बाद भारत को किसी प्रकार संतुष्ट नहीं किया जा सकता। हिंदुओं और मुसलमानों के जातीय प्रतिनिधि डॉक्टर मुंजे और मौलाना मुहम्मद अली ने मानो एक प्राण होकर पूर्ण प्रतिनिधि शासन के लिए आग्रह किया। इस प्रसंग में मौलाना मुहम्मद अली की उदारता विशेष रीति से उल्लेखनीय है क्योंकि भारतवर्ष में वे कुछ दिनों से हिंदू विपक्षी और कट्टर मजहबी मांगों के पक्षपाती समझे जाते थे। जान पड़ता है, विदेशों में जाकर ही उन्हें मातृभूमि का गौरव मालूम हुआ है और यह अनुभव हुआ है कि हिंदुओं और मुसलमानों को चिरकाल तक इस देश के सुख-दुःख, आशा-निराशा और आनंद-विषाद में एक होकर भाग लेना है। हिंदू-मुस्लिम विभेद को मौलाना ने विदेशी भेद-नीति का फल बतलाया है और अंग्रेजी स्कूलों की शिक्षा को दोष लगाया है। अछूतों के प्रश्न को डॉक्टर अंबेडकर ने बड़ी सुगमता से हल करते हुए बतलाया कि स्वराज्य प्राप्ति के बिना अछूतों की अवस्था नहीं सुधर सकती। इसी प्रकार श्री जोशी ने मजदूरों की मांग पेश करते हुए तत्काल स्वराज्य के लिए जोर डाला। विलायती अनुदार दल के प्रतिनिधि लार्ड पील को सर फिरोज सेठना ने खरा उत्तर दिया। श्री शास्त्री ने कांग्रेस की उग्रनीति का कारण बतलाया और अंग्रेजों के भय को निर्मूल सिद्ध किया। ऐसे ही क्रिश्चियनों के प्रतिनिधि श्री के.टी. पाल और स्त्री-प्रतिनिधि बेगम शाह नवाज़ ने भी उचित रीति से अपना पक्ष सामने रखा। मिस्टर जिन्ना ने साइमन कमीशन की रिपोर्ट को मरी हुई और भारत सरकार की सिफारिशों को पुराने युग की बतलाकर अखिल भारतीय संघ का जो मनोरम दृश्य रखा, मानो वह समस्त भारतीय प्रतिनिधियों का एक लक्ष्य हो। हम भारतीय प्रतिनिधियों को एकमत होकर एक लक्ष्य उपस्थित करने के लिए उन्हें धन्यवाद देंगे क्योंकि अब गोलमेज सम्मेलन में चाहे कुछ भी अधिकार न दिए जाएं पर ब्रिटेन को यह कहने का अवसर नहीं मिलेगा कि

भारत की रायों में परस्पर विभेद था। इसलिए संरक्षक ब्रिटेन उनके हितों का विचार करके उन्हें कुछ भी न देने को विवश हुआ है।

हिंदू-मुस्लिम एकता

दो अद्भुत महान जातियां अपना भविष्य ढूंढ़ रही हैं। दोनों महान हैं, दोनों अद्भुत विलक्षण हैं। एक सबसे प्राचीन और एक सबसे नवीन। एक सृष्टि के प्रभात की प्रथम उषा-रश्मि को ग्रहण कर ज्योतिष्मती हुई थी और दूसरी प्रौढ़ शक्ति से शक्तिमती। एक ने आर्यावर्त के सुरम्य पंचनद प्रदेश और मध्यदेश की सुधा-स्रावणी तरंगिणियों के शस्यश्यामलांचल में अपने तक सिद्ध ज्ञान का आलोक बिखेरा था और दूसरी ने अरब के वीर, शक्ति संपन्न निवासियों में अभिनव उत्साह और कला-प्रेरणा दृढ़ की थी। एक ने ऋषियों, दार्शनिकों, कवियों और पंडितों की ज्ञान गरिमा से दिग्दिगंतव्यापिनी ख्याति पाई थी और दूसरी ने यौवन सुलभ पराक्रम दिखाकर तत्कालीन ज्ञात-जगत के एक कोने से दूसरे कोने तक विजय का डंका बजाया था। एक ने अंतर्जगत की समस्याओं के समाधान में तल्लीन होकर मनुष्य समाज की चिरीप्सित निगूढ़ आकांक्षाओं की तृप्ति की थी, दूसरी ने शासनाधिकार प्राप्त कर बाह्य नियंत्रण का भार लिया था और नवीन उद्योग-धंधों के क्षेत्र में सुंदरतम प्रवेश दिखाया था। यह नहीं कि दोनों पूर्व और पश्चिम की भांति एक-दूसरे से पराङ्मुख हों, नहीं। दोनों एक-दूसरे की अपेक्षिणी हैं, पूरिका हैं। दोनों मिलकर जगत को रहने योग्य बना सकती हैं, उसके उच्चतम उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती हैं। दोनों एक साथ होकर संसार की प्रगति में सहायक हो सकती हैं। उसे आगे बढ़ाकर पूर्ण बना सकती हैं।

संयोग से दोनों को एक साथ रहने का अवसर भी मिला। जैसाकि स्वाभाविक था। गंगा-यमुना की भांति दोनों के विचार-प्रवाह एक-दूसरे से मिले। एक-दूसरे का असर भी एक-दूसरे पर पड़ा। किसी काल में कम, किसी काल में अधिक। एक जाति पर कम, दूसरी पर अधिक। पर दोनों का सम्मिलन तो निस्संदेह हुआ। एक ने अपनी शक्तिमत्ता के बल पर दूसरे पर शारीरिक अधिकार जमाया और दूसरी ने अपनी चिरसंचित आत्मशक्ति की अमिट छाप डाली। एक का शारीरिक आधिपत्य रहा और दूसरी का मानसिक आधिपत्य। तत्कालीन कलाओं में दोनों की एकता दीख पड़ी। तत्कालीन साहित्य में दोनों ने जो मणिकांचन योग दिया वह आज भी हमारी आंखों को चमत्कृत करता है। तत्कालीन शासन-व्यवस्था में भी दोनों का एक-सा हाथ रहा। मध्यकाल के धार्मिक आंदोलन में दोनों ही एक घेरे में आने लगे। दोनों ने आपस का भेदभाव दूर कर राम और रहीम की एकता समझी और कबूल की। भक्ति के पावन स्रोत में मग्न होने के लिए दोनों ही एक-दूसरे की होड़-सी करने लगे। नानक और कबीर, दादू और रैदास उतने ही मान्य ठहरे जितने सूर और तुलसी। सभ्यता और संस्कारों का अद्भुत सम्मिलन हुआ। यदि सम्मिलन का वह प्रवाह कुछ काल और चल पाता तो निश्चय ही दोनों जातियां आज दो शरीर एक प्राण होतीं। सम्राट अकबर का शासन काल दोनों जातियों के निकटतम संपर्क का

काल था। *आईने अकबरी* में जिस नवीन मिश्रित धर्म की घोषणा की गई है हम उसकी बात नहीं कहते। हम बात कहते हैं फतेहपुर सीकरी की इमारतों की। रहीम आदि कवियों की, रसखान और हरिदास आदि गायकों की। हम प्राणों के सम्मिलन की बात कहते हैं।

हम पुरानी गाथा क्यों गाएं, अभी कल का दृश्य तो हमारे सामने है। असहयोग आंदोलन अभी कल की ही तो बात है। हमने अपनी आंखों से देखा है कि उपर्युक्त दोनों जातियां जिन्हें हिंदू और मुस्लिम संज्ञा दी गई है, कंधे से कंधा मिलाकर एक लक्ष्य की ओर एक रास्ते से बढ़ रही हैं। हमने समूह के समूह देखे हैं, गले मिलते, हाथ जोड़ते, बंदे कहते। हमने भारत माता के वे चित्र देखे हैं जिनमें दोनों ही जातियों के वीर कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि के प्रतिनिधि रूप में चित्रित किए गए हैं। दोनों को एक साथ जेल में रहते, कष्ट सहते, एक-दूसरे की सहायता करते किसने नहीं देखा? एक देश में रहने वाले, एक देश के सुख-दुःख में सहायक हों, यह तो सामान्य मानव धर्म है। फिर जिन्हें चिरकाल तक एक स्थान पर एक साथ निवास करना है, एक ही पड़ोस में रहकर आनंद में अथवा विषाद में काल-यापन करना है वे अपने काल्पनिक कुछ भेदों को मिटाकर एक हो जाएं, इसमें आश्चर्य क्या है?

बिलकुल आज की बात है। दोनों ही जातियां समधिक संख्या में सत्याग्रह आंदोलन में भाग ले रही हैं। एक विदेशी निरीक्षक ने अपनी आंखों देखकर लिखा है कि आज बंबई में हिंदू और मुसलमान, पारसी और ईसाई एक साथ अस्पताल में रहते हैं। एक तश्तरी में भोजन करते हैं, एक गिलास में पानी पीते हैं। यह उचित है या अनुचित, प्रश्न यह नहीं है, प्रश्न यह है कि यह हो रहा है या नहीं? हो रहा है। जान पड़ता है कि राष्ट्रीयता की धुन में मग्न जातियां आवश्यक आचारों को भी तिलांजलि देकर एकरस हो जाने को तुल गई हैं। उनका सम्मिलन-प्रवाह अबाध है।

हम देखते हैं, जहां क्रियाशीलता है, गति है, उद्वेग है वहां मानव-हृदय एकता की ओर बढ़ता है परंतु जहां स्थिरता, तर्क आदि हैं वहां झगड़े खड़े होते हैं, विभेद खड़ा होता है। जान पड़ता है, मनुष्य की सामान्य प्रवृत्ति साम्य की ओर है, वैषम्य अस्वाभाविक है। चाहे औरंगजेब के जमाने को देखें अथवा मस्जिद के सामने बाजों वाले इस जमाने को, प्रकट यही होता है कि मनुष्य जब कुछ नहीं करता तब झगड़ा करता है। महात्मा गांधी ने अद्‌भुत तत्वज्ञ के रूप में इसके प्रतिकार का शायद एक उपाय बतलाया था। एक बड़े किले के भीतर झगड़ालू हिंदू-मुसलमान छोड़ दिए जाएं और फाटक बंद कर लिया जाए। बस निर्णय हो जाएगा। हम इसका यह मतलब लगाते हैं कि जब और कुछ नहीं किया जा सकता तब लड़कर भी लड़ाई मिटाई जा सकती है।

यदि हजारों वर्षों से एक देश में एक साथ एक भावधारा और विचारधारा के संगम में निवास कर हमने एक-दूसरे को नहीं पहचाना तो हमारे मनुष्य होने में संदेह है। हम जिस ज्ञान की संपत्ति का गर्व करते हैं जिस विश्वैक्य के आदर्श के लिए हमारी ख्याति है, वह हमारे किस मतलब की रही? यदि हम सैकड़ों-सहस्रों वर्षों से एक साथ रहकर क्षुद्र स्वार्थजन्य विभेद को नहीं मिटा सके तो हम व्यर्थ ही मनुष्य कहलाए। किसी देश की सभ्यता और संस्कारों का

क्या मतलब है यदि उस देश के निवासियों के जीवन में उनकी आभा न दीख पड़े। हम मनुष्य हैं, हमारा अतीत महान है, हमारे आदर्श उच्च हैं। हमें एक साथ मिलकर रहना है—सौ वर्ष नहीं, हजार वर्ष नहीं, अनंत वर्ष। हम झगड़ा करने के लिए नहीं पैदा हुए। हमारे जीवन का लक्ष्य इतना नीच नहीं हो सकता। फिर क्यों न हम एक बार अपनी चिरसंचित शक्ति लेकर खड़े हो जाएं और एक स्वर से कह दें कि भारतीय अपनी भविष्य जीवनधारा को शुद्ध और अबाध बनाने की आकांक्षा रखते हैं, वे क्षणिक परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर अपनी भविष्य गति में रोड़े नहीं अटका सकते।

यदि प्राचीनता का अभिमानी और व्यापक अंतर्दृष्टि रखने वाला यह देश, गोलमेज सम्मेलन में गए हुए हिंदू और मुसलमान जातीय प्रतिनिधियों से इतनी-सी आशा रखते तो क्या वह बहुत होगी? व्यावहारिक कठिनाइयों को हल करते समय देश के चिरंतन आदर्श पथ-प्रदर्शक ही होते हैं, वे भुला नहीं दिए जाते।

(शुक्रवार, 28 नवंबर 1930)

संघ-शासन विधि

समझौता-सम्मेलन की दूसरी बड़ी बैठक के समाप्त होने पर जो सबसे बड़ा और व्यावहारिक प्रश्न सामने आया है वह संघ (Federal) शासन विधि का है। इस नवीन प्रश्न के संबंध में बहुत वाद-विवाद उठ खड़े हुए हैं। यह आश्चर्य की बात जान पड़ती है कि जो विदेशी पत्र-पत्रिकाएं अब तक जी-भर भारत के स्वराज्य के अधिकार का विरोध कर रही थीं और पानी पी-पी कर हमारी अयोग्यता का लंबा-चौड़ा व्याख्यान कर रही थीं, वे भी इस नवीन कार्यक्रम के संबंध में उदार मत रखने लगी हैं। जब हम एक ओर श्री जयकर द्वारा लिखे गए उस पत्र को पढ़ते हैं जिसमें उन्हीं ने श्री केलकर आदि को विलायत से सूचना दी है कि संघ-शासन विधि की जांच कमेटी बन गई है, इसलिए निराश होने की कोई बात नहीं है और दूसरी ओर *डेली टेलीग्राफ* जैसे कट्टर भारत विरोधी पत्रों को इस संबंध में चुपचाप बैठे देखते हैं तब हमारी शंकाएं और भी बढ़ जाती हैं। यद्यपि देशी नरेशों की उदारता की बड़ी से बड़ी तारीफ की गई है और यद्यपि स्वयं प्रधानमंत्री तक ने इस उदारता पर अचंभा प्रकट किया है और इसे युग परिवर्तनकारी बतलाया है, फिर भी यद्यपि विचार करने पर इस नवीन शासन विधि के संबंध में अनिश्चय और संदेह बना ही रहता है।

असल में संघ-शासन विधि कुछ ऐसी अनिश्चित प्रणाली है कि यह पूर्ण राष्ट्रीय और जन सत्तात्मक भी हो सकती है, साथ ही, इसके ठीक विपरीत थी। उदाहरण के लिए अमेरिका के संयुक्त प्रदेश में जो संघ विधि प्रचलित है वह जन-शासन के आधार पर स्थित है। परंतु यही प्रणाली सर्वत्र नहीं देखी जाती। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें कहने को तो यह शासन विधि प्रचलित है पर वास्तव में वहां वास्तविक अधिकार स्वेच्छाचारी कुछ व्यक्तियों अथवा

एक ही व्यक्ति के हाथ में आ गए हैं। ऐसी अवस्था में यदि हम सचमुच प्रजा के अधिकारों की वृद्धि चाहते हैं और स्वराज्य का सार मांगते हैं तो हमें उसे ठीक तरह से परखना होगा, और परखकर ही स्वीकार करना होगा।

मिस्टर जिन्ना ने अपने स्वाभाविक कवित्वपूर्ण उद्वेग में कह दिया कि अब हम औपनिवेशिक स्वराज्य से भी आगे बढ़कर संपूर्ण भारतीय उपनिवेश का दृश्य देख रहे हैं। इसी प्रकार मिस्टर शास्त्री और श्री सप्रू भी सच्चे आशावादी की भांति अपनी राय बदलकर संघ-विधि का समर्थन करने लगे हैं, पर आगे चलकर कुछ जटिल समस्याएं भी निश्चय ही सामने आएंगी जिन्हें हल करने के लिए कवित्व और आशावाद से कहीं अधिक व्यावहारिक दृष्टि की आवश्यकता पड़ेगी। कठिनाइयों की सूचना अभी से मिलने लगी है। पहले केवल तीस ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि संघ-शासन विधि की जांच कमेटी में चुने गए थे पर अब सबके सब मनोनीत कर लिये गए हैं।

हम देशी राज्यों की अद्भुत उदारता को स्वीकार करते हैं, हम यह मानते हैं कि पाश्चात्य शिक्षा-शिक्षित सुयोग्य मंत्रियों को पाकर देशी नरेशों ने अपनी मध्यकाल (Medieval Period) की बादशाही छोड़ दी है और वे जनता के अधिकारों को स्वीकार करने लगे हैं परंतु सभी देशी नरेशों के एक साथ इतने महान हृदय-परिवर्तन पर अवश्य ही कुछ न कुछ आश्चर्य होता है। विलायत के प्रसिद्ध पत्र *मैनचेस्टर गार्जियन* ने अपने विशेष प्रतिनिधि का एक उपयोगी लेख छापकर उक्त आश्चर्य को दूर कर दिया है। उस लेख से पता चलता है कि देशी नरेशों ने संपूर्ण भारतीय उपनिवेश में शरीक होने की जो स्वीकृति दी है उसमें उनका स्वार्थ भी कम नहीं है। वे अपनी प्रजा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अधिकारेच्छा को बहुत दिनों तक दबाकर नहीं रख सकते। वे यह जानते हैं कि आज नहीं तो कल राज्यों की जनता भी ब्रिटिश भारत की जनता की भांति अपने अधिकारों को शक्तिशाली तरीके पर पेश करेगी। इसके साथ ही वे सम्राट के साथ की गई पुरानी शर्तों और संधियों से अब संतुष्ट नहीं जान पड़ते। बाहर का बहुत अधिक दबाव और बात-बात पर दबाव उन्हें शायद अच्छा नहीं लग रहा। इसलिए वे भारतीय संघ में प्रवेश कर अपना आत्मसम्मान बढ़ाना चाहते हैं।

इस प्रकार हमें देशी राज्यों की उदारता का अर्थ समझकर संतोष हो जाता है पर हमारी दो अन्य प्रमुख शंकाएं फिर भी बनी रहती हैं। यदि इन दोनों शंकाओं का नामकरण किया जाए तो वे किसी तरह मजहबी शंका और सरकारी-शंका कही जा सकती हैं। मजहबी शंका द्वारा हम उन कट्टर मुसलमान प्रतिनिधियों की ओर संकेत करते हैं जो बहुत दिनों से ढाई चावल की खिचड़ी (Separatist) नीति का जोर-शोर से समर्थन कर रहे थे और जो नवीन संघ विधि का स्वागत करने के लिए तैयार हो गए हैं। यह तो मानी हुई बात है कि इस संघ विधि से सबसे बड़ी हानि यह होगी कि भारत की राष्ट्रीय एकता मिट जाएगी और प्रांतीय संकीर्णता जोर पकड़ेगी। परंतु सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात उस अवस्था में होगी जब प्रांतीय संकीर्णता के साथ मजहबी कट्टरपन आ मिलेगा और रही-सही एकता भी नष्ट हो जाएगी।

इस अनिष्ट को दूर करने के लिए हमें भविष्य विधान में विचार करना होगा, उसके लिए

सुविधा रखनी होगी। यदि सिंध, सीमा प्रांत, पंजाब और बंगाल चार मुस्लिम प्रांत बन जाते हैं तो यह कोई विशेष चिंता की बात नहीं। स्वयं राष्ट्रपति जवाहरलालजी ने राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से मुसलमान भाइयों को मुंहमांगे अधिकार देने की बात कही है और हिंदू महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉक्टर मुंजे और श्री जयकर भी चार मुस्लिम प्रांतों की स्वीकृति देने के पक्ष में हैं। यह सब तो उदारता की और राष्ट्रीयता की बातें हुईं। यदि इस उदारता और राष्ट्रीयता का जवाब दूसरे पक्ष से भी उतनी ही तत्परता के साथ दिया गया तब की तो बात ही दूसरी है, पर यदि ऐसा न हो सका तो हमारे लिए चिंता की बात होगी। निश्चय ही कट्टर मजहबी मुसलमान भाइयों के प्रति हमारी शंका बिलकुल गहरी नहीं है और हम आशा करते हैं कि वह प्रतिदिन निर्मूल ही होती जाएगी।

सबसे बड़ी शंका हमें विलायत के विलक्षण राजनीतिज्ञों से है। इसे ही हमने सरकारी शंका कहा है। अभी उसी दिन शक्तिशाली अनुदार दल के प्रतिनिधि लार्ड पील ने भारतीय कांग्रेस से अपने दल को भयभीत बतलाया है और यह कहा है कि ऐसा न हो कि गोलमेज सम्मेलन में जो नए अधिकार दिए जाएं उनकी सहायता से कांग्रेस अपनी विद्रोही नीति को ही आगे बढ़ाती जाए। निश्चय ही उनका यह भय हमें भयभीत कर देता है। उदार दल के पत्र *मैनचेस्टर गार्जियन* ने इसी संबंध में लिखा है कि अगर हिंदुस्तान को संघात्मक औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाएगा तो यह शंका व्यर्थ होगी कि कांग्रेस दल केंद्रीय व्यवस्था-सभा में अधिक संख्या में पहुंचकर सब अधिकार अपने हाथ में कर लेगा और मनमानी नीति का अवलंबन करेगा। संघ-शासन विधि में कांग्रेस का बहुमत नहीं रह सकेगा क्योंकि उसमें लगभग एक-चौथाई देशी राज्यों के प्रतिनिधि और लगभग एक-तिहाई अल्पसंख्यक जातियों और अछूतों आदि के प्रतिनिधि रहेंगे।

शंका और अविश्वास के द्वारा कोई भी मूल्यवान काम कभी नहीं हो सकता। शंकाएं दूसरे पक्ष में नई-नई शंकाओं की सृष्टि करती हैं और अविश्वास भी अविश्वास से बढ़ता है। यद्यपि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कांग्रेस के संबंध की बहुत-सी सच्ची बातें कह दी हैं पर जान पड़ता है, अभी स्वार्थग्रस्त अधिकारियों का भ्रम दूर नहीं हुआ। कांग्रेस देश की सबसे महान राष्ट्रीय संस्था है। अल्पसंख्यक जातियों और अछूतों का एक प्रमुख दल इस राष्ट्रीय संस्था के साथ है। देशी नरेशों के अनेक विद्वान और देशप्रेमी प्रतिनिधि अवश्य ही राष्ट्रीयता के नाते कांग्रेस की नीति का समर्थन करेंगे। ऐसी अवस्था में सीधी-सी बात जो प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रह सकती, वह यह है कि कांग्रेस से अविश्वास और संदेह करना व्यर्थ होगा। कांग्रेस देश की जनता की संस्था है। अतः जनता की प्रतिनिधि सभा में उसका बहुमत होना स्वाभाविक है। इस सत्य को बहुत समय तक छिपाकर नहीं रखा जा सकता। छिपाकर अपने को अंधेरे में डाल रखना और आत्मवंचना करना है। यदि हृदय उच्च और उदार है तो कांग्रेस के बहुमत से शंकित होने की कुछ भी आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। पर यदि ऐसा नहीं है तो अधिकारियों के प्रति हमारी शंका के उचित और सत्य होने में कुछ भी संदेह नहीं रहता।

रेलवे दुर्घटनाएं

कुछ विचारवान और समझदार विद्वानों की राय है कि रेलवे की सृष्टि ही हिंदुस्तान के लिए एक बड़ी दुर्घटना है। परंतु वह दुर्घटना तो अब दूर नहीं की जा सकती। दूसरे प्रकार की रेलवे दुर्घटनाएं वे हैं जो आए दिन कितनी ही सुन पड़ती रहती हैं। आज ट्रेन लड़ी, आज पटरी से उतरी, आज बाढ़ से धंस गई, आज सोते हुए कुली पिस गए इत्यादि-इत्यादि। वे या तो रेलवे कर्मचारियों की मनुष्योचित असावधानी, उच्छृंखलता अथवा विधि-विडंबना के कारण होती हैं। इसमें जो अंश उच्छृंखलता से संबंध रखता है उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। परंतु हम यहां एक अन्य प्रकार की दुर्घटनाओं के बारे में लिख रहे हैं जिस पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। रेलवे के तीसरे दर्जे के मुसाफिरों के कष्टों के संबंध में बहुत अधिक लिखा गया और प्रायः सब रद्दी की टोकरी में पड़ गया। यहां हम उनके कष्टों की ओर नहीं उनके जीवन के एक बड़े खतरे की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। जो मुसाफिर गाड़ियां स्टेशनों पर ठहरकर मुसाफिरों को चढ़ने-उतरने का अवसर देती हैं, वे इतने कम समय के लिए ठहरती हैं कि हिंदुस्तान के तीर्थ करने वाले बड़े-बूढ़े, अपरिचित प्राचीन आदमी और आंखों में पट्टी बांधकर चलने वाली, गहनों के भार से दबती हुई स्त्रियां ठसाठस भरे हुए डब्बा में से चढ़-उतर भी न पाएं तो इससे बहुत बड़े खतरे हो सकते हैं। हम अकसर इस प्रकार के दृश्य देखा करते हैं। परंतु रेलवे अधिकारी इस बिलकुल साधारण बात का उचित उपाय करते नहीं दीख पड़ते। हम हिंदुस्तान के बेवकूफ बूढ़ों और बेशऊर जनानों से चाहे जितने भी नाराज हों पर हमें समझ रखना चाहिए कि रेलगाड़ियों को जन से और रेलवे विभाग को धन से भरने वाले वे ही हैं, न तो पहले-दूसरे दर्जे के चटपट चढ़ने-उतरने वाले महापुरुष और न वर्दी पहने हुए नौकरी बजाने वाले!

भाव और भाषा

हिंदी के भाग्य से साहित्य के क्षेत्र पर पहली ही वृष्टि ने अनेक पौधे उगा दिए। पर उनके अधिकांश बांस, वंशलोचन पैदा करने की जगह फांस ही बनकर रह गए। जिस शून्य दृष्टि को प्रकृति अपने चमत्कार भरने का कोष समझती है, वह अपनी चमक को छोड़ अहंकार ही भर कर तेज-दृप्त कहलाने पर तुल गई। दूसरों को साधनाजन्य भाव तथा रूप देकर प्रसन्न करने की जगह कठोर चितवन से स्तंभित करने का इरादा आ गया। इस तरह साहित्य को अनधिकारी जान रचनात्मिका प्रकृति ने संग छोड़ दिया। उबलकर कुछ दिनों तक तो गर्म पानी की तरह फूटते रहे, पर आंच जब धीरे-धीरे घट गई तव प्राकृतिक नियम को सत्य कर आप ही ठंडे पड़ गए, साहित्यिक जीवन समाप्त हो गया।

साहित्य के सितार को हर वक्त चढ़ा रखने से जगह-जगह की जो टक्करें तारों में लगती

हैं, उनसे तार ढीले पड़ जाते या हमेशा के लिए टूट जाते हैं। फिर वे इच्छानुसार नहीं बजते। उनका स्वर भी मंद पड़ जाता है। इसलिए बाह्य संसार से आलाप-परिचय के समय साहित्य के सितार को उतारकर ही मिलाना चाहिए। अधिकांश नवयुवक साहित्यिक वार्तालाप के समय खास तौर से तार कस लेते हैं और अपनी झंकार से दूसरे को मात करने पर अड़ जाते हैं। दूसरे को उनके अपार साहित्यिक ज्ञान से कहां तक मतलब है, सहयोग है, कुछ है या नहीं, इसकी चिंता नहीं करते। इतनी बड़ी अशिष्टता का प्रकृति जब ब्याज समेत ऋण वसूल करती है तब उनका एक ही किस्त में दिवाला निकल जाता है।

बहुत से लोग काव्य की साधना करते-करते कुछ ही दिनों में तारीफ की साधना करने लगते हैं। उनका लक्ष्य काव्य-रचना की ओर जितना नहीं, प्रशंसा पाने की ओर उससे दस गुना ज्यादा रहता है। हिंदी में जितने शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, टैगोर और खैयाम हैं, शायद खैयाम ही की तरह कुछ रुबाइयां लिखकर खत्म हो गए। तारीफ ने ऐसी मार दी कि तरह बदल गई। काव्य सोचते हैं तो चित्रों की जगह तारीफ करने वालों के मुंह मुलकते हैं। जोश ठंडा पड़ जाता है। पंक्तियां शिथिल अपनी ही आंखों की मरीज मालूम पड़ती हैं। भाव गया, शब्दों के कसीदे काढ़ने लगे। यह दशा बहुत ही चिंतनीय है।

भाव और चित्र कोई भी कवि दूसरी भाषा से प्राप्त कर सकता है और उनमें कुछ परिवर्तन कर अपनी चीज कर सकता है। पर यह काव्य की कोई बहुत बड़ी उपज नहीं। और इस तरह किसी भाषा की कभी कोई बहुत बड़ी चीज नहीं मिल सकती। चित्रों को कुछ देर तक अपने ही भीतर रखकर कवि को देखना पड़ता है, उसके सौंदर्य की जांच करनी पड़ती है, उनकी कैसी छवि हो तो वे और चमकें, इसके निर्णय की योग्यता बढ़ाने के लिए अपने को काफी मार्जित कर लेना पड़ता है, तभी उनको बाहर चमत्कृत रूप से रखने में उसे सफलता मिलती है। इन विचारों के साथ एक देशीय तथा व्यापक विचार भी वैसे ही संबद्ध है, जैसे एक देश के साथ तमाम पृथ्वी, अतएव उनका ज्ञान भी कम आवश्यक नहीं। बड़े-बड़े कवियों की खूबियां, उनकी विशेषताएं भी मालूम रहनी चाहिए। उनके साथ सबसे अधिक आवश्यक है भाव-प्रवणता जो साफल्य की एक मात्र कुंजी है। दिग्दंती की तरह काव्य की पृथ्वी को अपने कलम के दांत पर हिलाते रहने से काव्य के भूकंप की जितनी संभावना है, और इससे नाश की, उतनी सृष्टि-सौंदर्य की आशा नहीं। न किसी दूसरे की अनिंद्य अंकित वारांगना का ध्यान काव्य में अप्सरालोक रच सकता है। संभव है, उस वारांगना की रूप-चिंता से चित्र भीतर ही रह जाए और बाहर काव्य में जहर का ही स्रोत फूट पड़े, साहित्यिक वैतरणी पार करने की चिंता में पड़ जाएं। इसीलिए भाव सभी साहित्यों की तरह काव्य साहित्य का भी सम्राट है। शब्दों के सैन्य का यह सेनापति है। उनकी जांच इसी के हाथ रहती है। फिर कोई शब्द एक-एक जरूरत पर भर्ती किए गए रंगरूट की तरह काव्य में नहीं आ सकता, वहां उसके शिक्षित सिपाही लड़ते हुए मिलेंगे। जरूरत पड़ने पर नए रंगरूट को भी वह शिक्षित कर मैदान में रखेगा। भाव जिस जमीन पर रहता है, प्रशंसा उसी को ढहाती है। एक बार जमीन ढही कि भाव की जगह प्रशंसात्मक अभिमान ने ले ली। फिर इसके रोचक जाल

के भीतर भाव को कवि जितना भी बुलाए, वह स्वतंत्रवीर आ नहीं सकता। फिर कवि के हाथ सिर्फ शब्दों का खेल, कुछ सीखी हुई कारीगरी रह जाती है, जिसे दूसरे पाठक के हृदय का भाव किसी तरह भी ग्रहण नहीं करता। भाव पर भाव का ही प्रभाव पड़ता है और किसी का नहीं।

भाव के बाद काव्य के अन्यान्य अंग हैं। स्वाभाविक भावुक कवि प्रशंसा कभी पसंद नहीं कर सकता। संतों के साहित्य का इसीलिए इतना महत्व है और उनके शब्द प्राणों के इतने नजदीक पहुंचे हुए हैं, जैसे वे आत्मा से बातें कर रहे हों। कोई फांस नहीं, कोई कर्कशता नहीं। प्रशंसा के परमाणु किस तरह भाव के वाष्प को उड़ाकर अपनी चाटुकारिता से आत्मा को प्रसन्न कर बहिर्मुख कर देते हैं, इसकी हर मौके पर आजमाइश की जा सकती है, कोई कर सकता है, और इन प्रशंसा से प्रसन्न न होना, रुष्ट भी नहीं, इसे दबा लेना कितना कष्ट-साध्य है, इसकी भी परीक्षा हमारे मित्र कर सकते हैं, कुछ अच्छा लिखने लगे, लोगों ने प्रशंसा से गुदगुदाया अच्छा लगा, 'फिर अच्छा लगे' की आशा हुई कि दो ही चार महीने में ठंडे। निस्तेल दीपक फिर नहीं जल सकता।

अनेक अध्ययन तथा विचार के पश्चात् अभिव्यक्ति के लिए निश्चित की हुई रीतियां कला प्रख्यात हैं। भावशून्य कला वैसी है, जैसे बल-शून्य दांव। इससे प्रतिपक्षी गिर नहीं सकता। कला अपने आसन पर साम्राज्ञी के अतुल वैभव तथा ऐश्वर्यमयी क्रांति से तभी बैठ सकती है, जब वह पार्वती की तरह भाव के शिव की अर्द्धांगिनी बन रही हो। उसका रूप तभी मनोहर है, उसमें तभी चमत्कार है, जब याद किए हुए दांव-पेचों की तरह अपने वक्त पर भाव के आवेश में आप निकल गई हो। गवैए कितने ही कलाविद् हों, हर गाने की तान से परिचित हों, वक्त की चीजें गाते हों, पर यदि भाव का माधुर्य गले में नहीं तो सारी कला चक्की की पिसाई और संगीत हिंहनाद है।

भाव के साथ कला और कला के साथ भाषा संबद्ध है, जैसे कम विकास के सूक्ष्म-स्थूल तीन रूप, एक ही वाक्य में, अपना विवेचन करा रहे हों। भावात्मक चित्र या अभिव्यक्ति के लक्ष्य पर चलती हुई भाषा कभी शिथिल नहीं हो सकती। वह निराभरण, निरलंकार भले ही हो, उसमें दैत्य के लक्षण नहीं मिल सकते। उसकी गति सधवा-साध्वी की गति है। सालंकार होने पर भी यदि गणिका की गति में कला-जन्य भंगिमाओं के अतिरिक्त दूसरा विशद उद्देश्य नहीं तो वे अलंकार और वह कला पाठकों के मानसिक सूर्य के प्रकाश में प्रदीप की तरह निष्प्रभ, साहित्य की भूमि पर गौरी के गले की मंदारमाला से टूटकर मदारों के विष-गंध फूल हैं।

जब हिंदी कैसी हो, उर्दू कैसी हो तो हिंदी वाले अपनाएं, हिंदी के मुहावरों के प्रयोग पद्य में कैसे हों, इस प्रकार की विचारात्मक बातें प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में समर्थित होती रहती हैं, उस समय लेखकों और संपादकों के काव्य-ज्ञान का रहा-सहा भ्रम बिलकुल दूर हो जाता है। पद्य साहित्य की रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी पड़ती है। तअज्जुब क्या यदि कुछ दिनों में इन्हीं का सिखलाया हुआ सत्याग्रह इन्हीं की इस प्रगति को रोकने के लिए कवियों को करना पड़े?

ग़ालिब और रवींद्रनाथ ऐसे कवि हैं, जिनके काव्य में भाव की ही प्रधानता है। बायरन

में ओज, कीट्स में माधुर्य, वर्ड्सवर्थ में प्रकृति-चित्र, शेली में कल्पना, काव्य-लालित्य और सुकुमारता, टेनीसन में सादगी-सफाई, ये इन कवियों के प्रधान गुण हैं। संस्कृत-साहित्य में कालिदास श्रीहर्ष की पंक्ति में नहीं बैठ सकते, यदि काव्य के केवल बाह्य लक्षण, कला और भाषा पर विचार किया जाए पर जहां अलंकृत न होने पर भी अपनी सरल, भावमयी दृष्टि से कविता कुमारी का सौंदर्य अपनी ऊंचाई का परिचय दे सकती है, लोगों को अपने तुले हुए पद-क्षेपों से अपार शोभा दे सकती है, वहां कालिदास अनतिक्रम्य महाकवि हैं। यदि कुछ देर के लिए दर्शनशास्त्र को भी काव्य मान लें और तुलना करें तो शंकर के सामने कोई भी भाष्यकार नहीं टिकते। शंकर भाव में जितने ऊंचे हैं भाषा में उतने ही सरल। दूसरे भाष्यकार ने कहीं उस सूत्र में अपने शब्दों के मनके इतने ठोस पिरो दिए हैं कि मंत्र का जप कर सिद्ध करने के लिए वे उंगलियों में अलग-अलग आते ही नहीं। लोग समझ जाते हैं, यह दुर्बल के समर्थन का प्रबल उपाय है।

विशाल भारत ने जिस तरह पद्यकारों की सफरमैना की पलटन निकाली है, अगर कुछ दिन भी साहित्य में यह साहसिकता जारी रही तो भाषा की सफाई तो होगी ही, भाव भी साफ हो जाएगा। फिर साहित्यिकों का साहित्य से भी कोई मतलब रहेगा या नहीं, हम नहीं कह सकते, सेवा अवश्य रह जाएगी।

हिंदी के लिए ऊंचे स्वर से साहित्यकार बनने वाले बहुत हैं, पर शांतिपूर्वक काम करने वाले दो ही एक। चित्त के आकाश में असंख्य भाव हैं, पर उन्हें शुद्ध होकर ग्रहण करने वाला कोई नहीं। सहस्रों शृंखलाओं से जकड़े हुए, अठारह साल में तीन बच्चे के बाद, नौकरी के लिए सिर लटकाए दर-दर की खाक छानने वाले हिंदी कवि और मुद्राकवियों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कोई बहुत बड़ा साहित्यिक कार्य कर डालेंगे, शुद्ध-शांत होकर हजरत मूसा की तरह भाव का स्वर्गीय प्रकार देखेंगे, भाव के वृहत्तम आधार हो सकेंगे, साहित्य की श्रीवृद्धि कर सकेंगे। जिन्हें अपनी ही चिंता से फुरसत नहीं, जो अपनी ही बला नहीं टाल सका, वह दूसरे को कौन-सी पारिजात लाकर दे देगा? दूसरे की बेड़ियां क्या खोलेगा? मुक्त, निश्चित जीवन ही भावों को पकड़ सकता है, सौंदर्य की परियों की छवि स्वर्ग से उतारकर काव्य को अर्पित कर सकता है।

हमारे देश में जीवन की जटिलताओं से दूर, सुख के मृदुल अंक में पले हुए अनेक महाराज, राजाधिराज और तअल्लुकदार हैं जिनके हृदय में तृष्णा की जगह साहित्य की प्यास हो तो साहित्य अनेक अंशों में उपकृत हो जाए पर वे साधारण जनों से भी तुच्छ हो रहे हैं। वृहत् जब छोटे दायरे में आता है तब शक्ति स्वयं उसे वृहत् कर सृष्टि करा लेती है। इसी तरह छोटा भी वृहत् के वृत्त में पहुंचकर वृहत्तम सृजन संस्कार पैदा करा लेता है। पर हिंदी के लिए तो वह स्वर्ग अभी अप्राप्य-सा दीख पड़ता है। कब वह तूफान इस साहित्य में उठेगा, ईश्वर जाने।

(शुक्रवार, 1 दिसंबर 1930)

रोग और उसकी ओषधि

वर्तमान शासन-चक्र इस रूप में नहीं चल सकता, यह बात प्रत्येक समझदार भारतवासी को अच्छी तरह मालूम हो गई है। आज की शासन-नीति देश का आर्थिक अहित कर रही है, देश की सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति में बाधा डाल रही है, यह बात सभी समझ गए हैं। हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कारों की रक्षा के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वर्तमान राजा-प्रजा का संबंध बदल दिया जाए। इन सभी बातों को आज से कितने ही वर्ष पूर्व देश और विदेश के महापुरुष बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कह चुके हैं। उन्होंने यह निश्चयपूर्वक बतला दिया है कि वर्तमान राज्य-चक्र बेहद व्ययसाध्य और हानिकर है। जिस प्रजा-सत्तात्मक शासन की सृष्टि करने का लक्ष्य रखा गया है, वह वर्तमान नीति के रहते निकट भविष्य में संभव नहीं दीख पड़ती। प्रजा को जो थोड़े-बहुत अधिकार नाममात्र को दिए गए हैं वे नहीं के बराबर हैं। ब्रिटेन का यह दावा भी ठीक नहीं जान पड़ता कि वह अशिक्षित भारतीयों को शिक्षित बनाकर उन्हें जिम्मेदार बनाना चाहता है और उन्हें शासन का अधिकार सौंपना चाहता है। यदि उसका यह दावा ठीक भी हो तो बहुत अधिक सुस्ती के साथ काम किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त सरकार की फौज-नीति तथा अन्य नीतियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शासितों के प्रति अविश्वास और संदेह का भाव विशेष प्रबल है। निश्चय ही कुल मिलाकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि वर्तमान शासन नीति रोगग्रस्त हो गई है, उसकी उचित ओषधि की जानी चाहिए।

महात्मा गांधी या अन्य कोई नेता जब कभी कोई निहायत सीधी और सत्य बात भी कहते हैं तो यह स्वार्थ-ग्रस्त अधिकारियों की निगाह में प्रचार (Propaganda) में सहायक हो जाती है और यही समझकर वह टाल दी जाती है। इस समझ के लिए पीछे आर्थिक अथवा नैतिक हानि भी उठानी पड़े तो वह उठाई जाती है। महात्माजी ने जिस नमक-कर के उठा देने की बात सत्याग्रह आंदोलन के प्रारंभ में कही थी उस समय उन्होंने वाइसराय को पत्र में यह भी लिखा था कि इस संबंध में सब बातें बहस करके तय की जा सकती हैं। परंतु उस समय उस बिलकुल उचित और तर्कपूर्ण बात पर ध्यान नहीं दिया गया जिसके परिणाम में सरकार को नमक-कर की आय से अधिक घाटा उठाना पड़ेगा। परंतु सम्मान का झूठा दम भरने वाले अधिकारियों ने कभी भी अपनी भूल स्वीकार नहीं की।

शिमले में थोड़े से अधिकार प्राप्त व्यक्ति नीचे मैदानों के करोड़ों दीन-दुःखी किसानों की अवस्था नहीं समझ सकते। यह बात आश्चर्यजनक समता के साथ महात्मा गांधी, सर तेजबहादुर सप्रू और विलायती *डेली टेलीग्राफ* पत्र के भारतीय प्रतिनिधि मिस्टर ऐशमीड वार्टलेट ने कही है। तीनों के दृष्टिकोण अलग हैं, तीनों अलग-अलग प्रसंगों के संबंध में विचार करते हैं पर तीनों मिलकर इस एक तथ्य पर पहुंचे हैं। महात्मा गांधी ने विशेषतः देश की आर्थिक दुर्दशा को ध्यान में रखा है। सर तेजबहादुर ने व्यवस्था की दृष्टि से विवेचन किया है और मिस्टर वार्टलेट ने शायद आंखों देखा चित्र अंकित किया है। महात्मा गांधी सत्याग्रह

की वर्तमान भीषण अग्नि में कूद पड़े हैं, सर तेजबहादुर विलायत को अंतिम बार भारत की मांग और उसकी स्थिति बतलाने समझौता-सम्मेलन में गए हैं और मिस्टर वार्टलेट तो शायद शिमले की स्थिति को इसलिए कोसते हैं कि वे शीघ्र से शीघ्र भारत में मार्शल-ला जारी कर सारे देश पर सैनिक अधिकार क्यों नहीं कर लेते?

जो कुछ भी हो इन तीनों सम्मतियों में विलक्षण साम्य दीख पड़ता है। महात्माजी कहते हैं, 'हम लोगों को यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट जान पड़ती है कि शिमले की ऊंचाई पर से भारत के शासक यह समझने में असमर्थ हैं कि नीचे मैदानों में रहने वाले जिन लाखों-करोड़ों आदमियों के परिश्रम से सरकार का इतनी ऊंचाई पर जाकर रहना संभव होता है, उनकी आर्थिक कठिनाइयां क्या हैं? नमक एक ऐसी प्राकृतिक देन है जो गरीब आदमियों के लिए वायु और जल को छोड़कर बाकी और सब चीजों से बढ़कर महत्व की है। उस नमक पर सरकार ने जो अपना एकाधिकार कर रखा है उसके विरुद्ध गत पांच महीनों में निर्दोष आदमियों ने अपना जो खून बहाया है, उससे यदि सरकार की समझ में यह बात नहीं आई कि इसमें उसकी कितनी अनीति है तो फिर बड़े लाट की बतलाई हुई भारतीय नेताओं की कोई कॉन्फ्रेंस कुछ भी नहीं कर सकती। बड़े लाट ने यह भी कहा है कि जो लोग यह कानून रद्द कराना चाहते हों, उन्हें एक ऐसा साधन भी बतलाना चाहिए जिससे सरकार की उतनी ही आय बढ़ जाए जितनी उस नमक से होती है। यह कहकर उन्होंने जले पर नमक छिड़का है, उनके इस रुख से यही सूचित होता है कि यदि सरकार का वश चलेगा तो वह भारत में अनंत काल तक अपनी उस परम व्ययसाध्य प्रणाली को प्रचलित रखेगी जिससे भारत अब तक कुचला जाता रहा है।' महात्माजी ने यहां भारत के उस अर्थ-कष्ट की ओर संकेत किया है जो इस देश की वर्तमान शासन नीति से प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

सर तेजबहादुर सप्रू ने सीधा व्यवस्था पर ही आक्षेप किया है। उन्होंने विलायत के पार्लियामेंटरी शासन का रहस्य बतलाते हुए कहा है—अंग्रेजों ने भारत में कौन-सी प्रणाली खोल रखी है? पार्लियामेंट के प्रायः 700 सौ आदमी चार-पांच करोड़ (विलायती) जनता के प्रतिनिधि होकर छह हजार मील दूर बत्तीस करोड़ आदमियों पर शासन करते हैं। परंतु पार्लियामेंट के इन सात सौ आदमियों में भी कितने ऐसे हैं जिनके पास इतना समय है, इतना सामर्थ्य है और इतनी उदार दूरदर्शिता है कि वे भारत के भावों को समझ सकें? असल में छह-सात आदमी विलायत में और लगभग उतने ही आदमी भारत में मिलकर एक महान देश का शासन चला रहे हैं। हमारे लिए यह स्वाभाविक है किं हम ऐसी शासन नीति का विरोध करें।

मिस्टर वार्टलेट की बातें सुनकर आश्चर्य में पड़ जाना होता है। वे विलायती *डेली टेलीग्राफ* पत्र के प्रतिनिधि हैं। उस पत्र की यह निश्चित नीति है कि भारत का शासन दृढ़ता के साथ और कड़ाई के साथ किया जाए। वह अब तक के कड़े कानूनों और भिन्न-भिन्न कठोरताओं से संतुष्ट नहीं है और चाहता है कि भारत में अंग्रेजी राज्य अटल करने के लिए कड़ी नीति काम में लाई जाए। ऐसे पत्र के प्रतिनिधि मिस्टर वार्टलेट ने जो कुछ कहा है उसका महत्व उनकी नीति के कारण और अधिक हो जाता है। आशा है, उसे उनके देशवासी अधिकारी

व्यक्ति ध्यान से सुनेंगे। वे कहते हैं कि 'शिमले में एक परम संतुष्ट राजकुल निवास करता है। पोलो, टेनिस और गोल्फ के खेलों में वह संलग्न रहता है। घोड़े की सवारी करना और नाच नचाना वहां के खास धंधे हैं। सबसे अधिक समय सालाना नाच की तैयारी में साज बाज करने में लगता है। चंद अफसरों को छोड़कर वहां कोई भी ऐसा नहीं है जो महात्मा गांधी या उनके स्वराज्य आंदोलन की रत्ती भर परवाह करता हो। नीचे मैदानों में जो क्रांति की तैयारी की जा रही है उसका किसी को पता नहीं। शिमला को देखकर निराशा और खेद होता है। अंत में मिस्टर वार्टलेट पूछते हैं—'यह कैसे संभव है कि भारत जैसे विशाल देश का शासन छोटे से शिमला से किया जा सके?'

वे ही मिस्टर वार्टलेट भारत के वाइसराय के संबंध में कहते हैं—'वाइसराय सचमुच में सिंहासन पर आसीन होते हैं। संसार के स्वेच्छाचारी शासकों में वे सबसे अधिक शक्तिशाली हैं। शायद मुसोलिनी उनसे कुछ अधिक शक्ति रखता हो तो रखता हो। परंतु मुसोलिनी तो सदियों बाद किसी देश में आते हैं, यहां तो हर पांचवें वर्ष मुसोलिनी पहुंच जाते हैं। वाइसराय को सत्य बातें कम सुनने को मिलती हैं क्योंकि निष्पक्ष आलोचना के लिए मौका ही नहीं दिया जाता। भारतीय गवर्नरों के संबंध में उनकी राय है कि बहुत से प्रांतीय गवर्नर जिस शान और शौकत से रहते हैं तथा जिस विलक्षण ढंग से अतिथियों का स्वागत करते हैं, उसे देखकर हंसी आती है। यदि इंग्लैंड के राजकुल ने सम्राट पद को अधिक से अधिक उदार और समूह सम्मत बना दिया है तो सम्राट के भारतीय प्रतिनिधि ठीक उल्टी ओर चले जा रहे हैं। भारतवासियों को यह पुराने जमाने की बादशाही चाल-ढाल सबसे अधिक नापसंद है।'

बेचारे मिस्टर वार्टलेट ने यह सब खरी बातें कहकर इन्हें अपने पत्र की नीति के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है, जो स्वभावतः सफल नहीं हो सकती। फिर भी हम यहां उसका विवेचन नहीं करेंगे। हम यहां केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि अद्भुत तपस्वी नेता महात्मा गांधी, विलक्षण व्यवस्था के जानकार सर तेज़बहादुर और अपनी आंखों से स्थिति को देखने वाले मिस्टर वार्टलेट तीनों ही एक स्वर से वर्तमान शासननीति को रोगग्रस्त ठहराते हैं। इसके लिए उनकी दवाएं अलग-अलग हैं। परंतु यदि रोग एक है तो दवाएं चाहें जितनी हों उनका लक्ष्य एक ही होगा अर्थात् रोग को मिटाने का।

कुछ लोगों का शायद अब तक यह मत बना हुआ है कि वर्तमान-शासन नीति बहुत अधिक रोगग्रस्त नहीं है और थोड़ा-सा सुधार कर देने से ही फिर से ठीक-ठीक काम करने लग जाएगी। यह शुद्ध भ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। रोग बहुत बढ़ चुका है। साधारण सुधार से वह सुधर नहीं सकता। श्री चिंतामणि ने स्पष्टतः कह दिया है कि वर्तमान शासन प्रणाली अपनी साख खो चुकी है। इस प्रणाली के आधार पर मेल की आशा करना निश्चय ही व्यर्थ है। जो राज्यचक्र महात्मा गांधी तथा मालवीयजी जैसे तपःनिष्ठ आत्माओं को जेल में डालने पर ही चल सकता है, उसका अंत अवश्यंभावी है। निश्चय ही जो राज्य-प्रणाली जनता के आर्थिक और सामाजिक हितों के विरोध में खड़ी होकर, अविश्वास और संदेह की नींव पर स्थित हो और थोड़े से विदेशी लोगों के हाथ में एक महान देश और उसके संपूर्ण भविष्य

को सौंप देती हो वह बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। हमारा ही नहीं, देश-विदेश के सभी विचारवान महापुरुषों का यही मत है।

(शुक्रवार, 5 दिसंबर 1930)

काशी विश्वविद्यालय—1

संसार के इतिहास में कितनी ही जातियां फूलीं-फलीं, और मुरझा गईं। बहुतों के स्मृतिचिह्न मिलते हैं, बहुतों के वे भी नहीं मिलते। एक शून्य अनस्तित्व ही उनके जीवन काल की करुण कथा कहने को रह गया है। मानो उन्होंने कभी प्रकाश नहीं देखा, अंधकार में रहे, अंधकार में ही बिला गए। आज की जितनी उन्नतिशील जातियां हैं वे अभी कल की हैं। उनका कोई इतिहास नहीं। यदि है तो इतना ही कि वे अभी हजार वर्ष हुए अर्द्ध-सभ्य, बर्बर अथवा पशुवत् जीवन व्यतीत करते थे। कला-कौशल, साहित्य, विज्ञान आदि का वे नाम भी नहीं जानते थे, सभ्यता और शिष्टता से उनका कोई परिचय नहीं था। इन असभ्य जातियों में से कुछ तो अभी भी वैसी ही बनी हुई हैं, पर कुछ बहुत शीघ्र-शीघ्र उन्नति कर शक्तिमान हो अब अपने को पूर्ण सभ्य और दूसरों को असभ्य या अर्धसभ्य प्रायः कहने लगी हैं। सभ्यता और शिष्टता की कच्ची नींव पर खड़ी होने के कारण उनका ऐसा कहना स्वाभाविक ही जान पड़ता है।

यहां हम उनका विवेचन करने नहीं बैठे हैं जो कल से सभ्य बनकर आज ही दुनिया को असभ्य ठहरा सकते हैं, उनके उत्साह को हम भंग नहीं करना चाहते। परंतु यदि वे और कुछ नहीं अपने ही पुरखों रोम और ग्रीस निवासियों की ओर एक बार ध्यान दें और यह विचारें कि बड़े-बड़े साम्राज्य तथा बड़ी-बड़ी सभ्यताएं भी अनंत काल के प्रवाह में विलीन हो सकती हैं तो इस अभिज्ञान से वे लाभ उठा सकेंगे। आज रोम और ग्रीस का क्या शेष रह गया है? यदि इस प्रश्न का उत्तर सच्चाई से दिया जाए तो जो कुछ शेष रह गया है वह मूर्त कुछ भी नहीं है, केवल कुछ आदर्श, कुछ लक्ष्य और कुछ उद्देश्य जिनके लिए वे महान जातियां प्रयत्नशील हुईं, जिनकी प्राप्ति का प्रयत्न करते-करते वे मिट भी गईं। वे ही कुछ आदर्श, आज सभ्य यूरोप की पूर्वजों से प्राप्त संपत्ति है।

यदि यूरोप अब भी सुबुद्धि प्राप्त करे और यदि क्षणिक विलास-वैभव उसकी आंखों को चकाचौंध में न डाल दे तो निश्चय ही वह समझ सकेगा कि दुनिया में साम्राज्य स्थायी नहीं रहते, कीर्ति के बाहरी चिह्न मिट जाते हैं; रह जाते हैं कुछ आदर्श, कुछ सत्य और महान भावनाएं, कुछ उच्च आशाएं और आकांक्षाएं। सृष्टि चिरंतन विकास है। वह जड़त्व का आधार लेकर विकसित नहीं हो सकती। रुपए-पैसे, अस्त्र-शस्त्र थोड़े समय चमककर चले जाते हैं, जातियों का बाह्य रूप मिट जाता है, बड़े-बड़े राष्ट्र विलीन हो जाते हैं। जो जाति और जो राष्ट्र जिन उच्च आदर्शों की पूर्ति के लिए जितना अधिक कृतिशील होती है उसकी यशोगाथा उतने ही अधिक समय तक दुनिया के बीच सुन पड़ती है, शेष सब कुछ नश्वर जगत

के नियमों का पालन करता हुआ अंत हो जाता है।

हिंदू जाति ने इस तथ्य को जिस खूबी के साथ समझा, किसी ने नहीं समझा। सृष्टि के प्रभाव में सरस्वती और दृशद्वती के तटों पर इस प्राचीन जाति ने जिस प्रकाश के दर्शन किए, उसे कभी खोया नहीं, ज्ञान की आदिम पिपासा कभी तृप्त नहीं हुई। हिंदुओं ने अपने और संसार के आदिम ग्रंथ *वेद* को ईश्वरकृत माना है, इसका अर्थ क्या है? हिंदुओं ने सृष्टि की उत्पत्ति ज्ञान से, उसका विकास ज्ञानजन्य तथा उसकी परिणति भी ज्ञान में ही निरूपित की है, इसका मतलब क्या है? शुद्ध चेतन ही हमारा ध्येय रहा था। जड़त्व का हमने पूर्ण बहिष्कार कर रखा था। इसी कारण हम समय-समय पर पराजित हुए, कष्ट में पड़े पर हम अपने उच्च आदर्शों से कभी विचलित नहीं हुए। आज हिंदू जाति ने अपना धन-बल और बाहुबल खोकर भी अपने ज्ञानबल की ज्योति क्षीण नहीं होने दी और न कभी भविष्य में होने देगी। हम हिंदू जान गए हैं कि कोई भी जाति जड़त्व को खोकर मिट नहीं सकती और चेतन को खोकर जीवित नहीं रह सकती।

ज्ञान आदि में, ज्ञान मध्य में और ज्ञान अंत में। यह हिंदू आदर्श है। इसी आदर्श की पूर्ति के लिए हमारे शास्त्रों के विविध प्रवचन हैं, इसी के लिए हमारे समाज के विविध वर्णाश्रम विभाग और शतशः रीति-नीति के आयोजन, इसी के लिए हमारी संपूर्ण सभ्यता और संस्कृति प्रयत्नशील है। हमने जो ब्रह्मचर्य आदि जीवन के विभाग किए हैं, जो समापवर्तन आदि विविध संस्कार हमारे यहां प्रचलित हुए हैं, जो प्राचीन ऋषिकुल-गुरुकुल तथा हाल के तक्षशिला-नालंदा आदि के विश्वविद्यालय स्वजातीय शैली पर प्रतिष्ठित हुए वे सब हमारे सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के आदर्श के पूर्त्यर्थ ही हुए। चिरंतन काल में निरंतर योनियों के चक्र में घूमते हुए जिस एक आदर्श के लिए हिंदू जाति खड़ी हुई है वह ज्ञान का आदर्श है। अमर आत्मा शरीर के बंधनों को छोड़कर जब मुक्त होती है तब ज्ञानालोक ईश्वर में ही विलीन हो जाती है यह हमारा सर्वोच्च आदर्श भी पूर्णतः ज्ञानोन्मुख है।

आज भी काशी विश्वविद्यालय के रूप में हिंदू जाति ने अपनी ज्ञान पिपासा को ही मानो मूर्तिमान खड़ा कर दिया है। वह मूर्ति कितनी उज्ज्वल और कितनी भव्य है? प्राचीन शिक्षा और सभ्यता के केंद्र काशीपुरी में विश्वविद्यालय के वे विस्तृत भवन हिंदू जाति के क्रम-विकास की ही सूचना दे रहे हैं। ज्ञान की सरिताएं भिन्न-भिन्न धाराओं में बहती हुई परम ज्ञानोदधि में विलीन होती हैं, यही हमारा आदर्श था और विश्वविद्यालय भी इसी आदर्श की पुष्टि कर रहा है। ज्ञान चाहे जैसे भी प्राप्त करना होगा। आलोक चाहे जिस ओर से आए, ग्रहण करना होगा। ज्योति की दिशा नहीं देखी जाती, वह दिशाओं के घेरे में रखी भी नहीं जा सकती। आज यदि पश्चिम से ज्ञानालोक आ रहा है तो आए, हम उसका स्वागत करते हैं। प्राचीन वट वृक्षों से यदि इस समय काम नहीं चलता तो हम मूल्यवान इमारतें और भव्य भवन खड़े करेंगे। हमारे लिए इन भवनों की आस्था इतनी है कि वे हमारी ज्ञान-प्राप्ति में सहायक हो रहे हैं। वे हमारे विलास के साधन नहीं हैं, हमारे आदर्श के साधक हैं। विलास को हमने कभी नहीं अपनाया, अब भी नहीं अपनाते। यदि हमारा नवीन विद्या भवन 'प्रतीची प्राची का मेल सुंदर' समझा जाए तो यह हमारे लिए बिलकुल स्वाभाविक बात होगी क्योंकि हम तो ज्ञानजन्य साम्य

की प्रतिष्ठा के लिए चिरदिन से उद्योग कर रहे हैं वही तो हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है।

प्रत्येक आदर्श के साथ कुछ व्यावहारिक समस्याओं का योग होता ही है। काशी का हिंदू विश्वविद्यालय जिस आदर्श को लेकर खड़ा हुआ है वह हिंदू जाति का चिरंतन आदर्श है। उसी आदर्श की पूर्ति के लिए ही मानो हिंदू जाति घोर आपत्कालों के उपरांत भी सुरक्षित रह गई है। जान पड़ता है, सृष्टि के कल्याण के लिए भगवान की यह इच्छा है कि हिंदू जाति जीवित रहे और अपने उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति करती हुई संसार को कल्याण का संदेश सुनावे। यदि ऐसी बात हो तो हिंदू जाति उनकी इस इच्छा को सिर-माथे रखेगी और दृढ़ होकर समस्त व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करेगी। उसकी यह परम पिता से प्रार्थना होगी कि आपत्तियां दूर हों और संसार में कल्याण का दिवस शीघ्र निकट आए।

जो जाति अपने आदर्श की सत्यता पर विश्वास करती है और जो ईश्वर की शरण में आत्म-निवेदन करती है वह तब तक किसी से भयभीत नहीं हो सकती जब तक अपने पथ पर दृढ़ है। कठिन से कठिन साधन उसे सहज लभ्य होंगे। वह किसी का मुंह नहीं ताक सकती। काशी विश्वविद्यालय में करोड़ों रुपए लगा देने वाली हिंदू जाति अपना सर्वस्व तक अर्पण करने में हिचक नहीं सकती। जड़ द्रव्य के त्याग में ही हमने कल्याण माना है। फिर जब उससे हमारे उच्चतम उद्देश्य का साधन होता हो तब कौन ऐसा हिंदू होगा जो विश्वविद्यालय के लिए सब कुछ न्योछावर कर देने में आत्मप्रसाद न माने। अब तक के करोड़ों रुपए तो देश के धनवान व्यक्तियों और देशी नरेशों से मिले हैं। आवश्यकता पड़ने पर देश का एक-एक व्यक्ति निर्धन से निर्धन और धनवान से धनवान अपनी संपूर्ण शक्ति से हिंदुओं की इस गौरवमयी संस्था की भरपूर सहायता करेगा। यदि विश्वविद्यालय की यह पवित्र शिक्षा कि 'सत्य पहले फिर आत्मरक्षा' अटूट बनी रही तो उसे आत्मरक्षा के लिए कभी भी सत्य को छोड़ने का अवसर नहीं आ सकता।

बहुत हल्की-सी और भयभीत की-सी ध्वनि सुन पड़ती है कि भारत सरकार और उसकी प्रांतीय सरकार काशी विश्वविद्यालय को जो सहायता दिया करती थी, वह बंद करने का विचार कर रही है। जनता से रुपए वसूल कर शिक्षा में व्यय करने का वचन देकर जो सरकार इस तरह के मनसूबे बांधती है वह अपनी त्रुटि आप ही खोलकर प्रकट करती है। पर छोटे-छोटे विद्यालयों को सहायता बंद कर अपनी गलत नीति का परिचय देना एक बात है और एक महान जातीय विश्वविद्यालय के साथ ऐसे दुर्व्यवहार का साहस करना बिलकुल दूसरी बात है। प्रश्न कुछ लाख रुपयों का नहीं है। प्रश्न अखिल भारतीय हिंदू जाति की साख खोने का और उसका घोर असंतोष मोल लेने का है। अपराध लगाया गया है कि काशी विश्वविद्यालय राजनीतिक विकृत वायुमंडल का केंद्र हो रहा है। इसके अधिकारी या तो कांग्रेस के विचारों से सहमत हैं अथवा विनय (Discipline) प्रतिष्ठित नहीं रख सकते। शिक्षा-संस्थाएं स्वभावतः उदार विचारों का प्रचार करती हैं। राष्ट्रीय उद्वेग आज जिस तीव्र गति से देश भर में व्याप्त हो रहा है, उसका प्रभाव काशी विश्वविद्यालय पर पड़ा है, यह हम मानते हैं। पर मुसोलिनी की भांति अपने विपरीत अदनी से अदनी बात भी न सुन सकने की सरकारी नीति हमें अत्यंत

निंद्य जान पड़ती है। सभी देशों की सरकार शिक्षा संस्थाओं के प्रति अत्यंत उदार भाव रखती हैं। स्वयं मुसोलिनी जहां अन्य विभागों में अपनी आज्ञा के पालन के लिए अधिक से अधिक जोर देते हैं, वहां शिक्षा संस्थाओं के संबंध में अपेक्षाकृत उदारता से काम लेते हैं।

राष्ट्रीय झंडे टांगने आदि की साधारण से साधारण बातों से चिढ़कर जिस क्षुद्र बुद्धि का परिचय प्रयाग विश्वविद्यालय में अभी पिछले वार्षिकोत्सव के दिन दिया गया है, यदि सरकार की नीति का यही नमूना है तो यह सरकार के लिए बड़े अफसोस की बात है। वह इस प्रकार की नीति को विदेशों के सामने रखकर किस प्रकार उनकी सहानुभूति अथवा सहमति प्राप्त कर सकेगी, यह हम समझ नहीं पाते।

काशी विश्वविद्यालय के शिलासंस्थापक लार्ड हार्डिज संयोग से इस समय भारत आए हुए हैं। अच्छा हो यदि वे विश्वविद्यालय के उत्तम कार्य का निरीक्षण कर सरकार को अपनी अदूरदर्शिता दूर करने की नेक सलाह दें।

(सोमवार, 8 दिसंबर 1930)

चेतावनी

हिंदुस्तान की राष्ट्रीय कांग्रेस ने बहुत दिनों तक सलाह देकर, फिर चेतावनी देकर और अंत में धमकी देकर अब वर्तमान शासनचक्र को शक्तिपूर्वक बदल देने का उद्योग प्रारंभ कर दिया है। देश की जनता कुछ अपने स्वार्थ का विचार कर, कुछ स्वयंसेवकों के कष्ट को देखकर, कुछ सामूहिक आंदोलन के प्रवाह में पड़कर और कुछ स्वदेश-प्रेम के उच्च आदर्श से प्रेरित होकर कांग्रेस का साथ दे रही है, पर सरकार ने अपनी मर्यादा और आत्मरक्षा के फेर में पड़कर उस राष्ट्रीय संस्था को कई स्थानों में गैर-कानूनी बतला दिया है और उसके कार्यक्रम को अपनी शक्ति से रोक देने का उपक्रम किया है। सरकार और देश के सौभाग्य से हिंदुस्तान में और विलायत में कुछ विचारशील व्यक्ति रह गए थे जो इस कठिन स्थिति में उसके कल्याण का उपाय और उसके कर्तव्य का पथ बतला रहे थे। कुछ यहां के भले आदमी, कुछ यहां की पत्र-पत्रिकाएं और कुछ वहां की पत्र-पत्रिकाएं बराबर सलाह देती रहीं और स्थिति को उदारतापूर्वक संभालने की विधि बतलाती रहीं। परंतु यह बड़े अफसोस और चिंता की बात है कि उस नर्म और संयत सलाह के अनुसार काम करना तो दूर रहा, शायद उस पर ध्यान भी नहीं दिया गया। जब किसी देश की जनता एकमत होकर किसी बात का आग्रह करती है तब उसके हित-अनहित पर विचार करने में देर नहीं लगाई जा सकती पर ब्रिटिश सरकार ने इस मामले में बहुत देर लगाई और उस प्रवाह को रोकने का उपाय कर रही है। सर तेजबहादुर सप्रू ने इस स्थिति को देखकर बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि इस समय भारत का शासन करने वाले मुख्यतः छह-सात आदमी विलायत में और छह-सात आदमी भारत में हैं। जब चौदह-पंद्रह आदमियों के हाथों में ही बत्तीस करोड़ आदमियों का भाग्य सौंप दिया गया है तो वे स्वयंभू

अधिकारी हमारे साथ न्याय कैसे कर सकते हैं? जगतप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) ने राजनीतिक चक्रावर्तन का हवाला देते हुए आज से ढाई-हजार वर्ष पहले बतलाया था कि जब किसी देश का शासन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में आ जाता है और जब वे थोड़े व्यक्ति विपरीत (Perverted) शासन करने लगते हैं तब समूह शक्ति (Democracy) उठ खड़ी होती है और जनता का राज्य प्रतिष्ठित करती है।

आखिर इसका क्या मतलब है कि देश और विदेश के बहुत व्यक्ति जिस कठोर सरकारी दमन नीति की निंदा कर रहे हैं, वह बंद नहीं की जाती। अत्यंत संयत विचारों के गोलमेज सम्मेलन में गए हुए भारतीय प्रतिनिधि विरोध करते हुए कहते हैं कि सरकार यदि सच्चे हृदय-परिवर्तन के भाव से नहीं तो केवल क्षणिक पॉलिसी के विचार से भी अपनी नीति को रोके, पर सरकार उसकी सुनी-अनसुनी ही करती जाती है। यह कैसी बात है कि विलायत के और अमेरिका के राजनीतिक और धार्मिक नेता, स्त्री और पुरुष स्पष्ट शब्दों में सरकारी दमन नीति का विरोध कर रहे हों और उनकी बात पर ध्यान न दिया जाए। सरकार अब किसका साक्ष्य चाहती है, किसकी बात का उस पर असर होगा?

भारत के पाठकों ने प्रसिद्ध मजदूर पत्रकार ब्रेल्सफोर्ड के उन अनेक लेखों को पढ़ा होगा जिनमें उन्होंने भारत की वर्तमान स्थिति का परिचय देते हुए आगामी कठिन परिस्थिति के संबंध में चेतावनी दी है। हमने *भारत* में क्रमशः उनके अनेक लेख प्रकाशित किए हैं जो कुल मिलाकर भारतीय स्थिति का दिग्दर्शन कराते हैं। मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड ने विलायत में ही बंबई की लाठी वर्षा के भयावह चित्र देखे थे। परंतु यहां आकर तो उन्होंने यह बतलाया है कि बंबई का संपूर्ण प्रांत तो पूरा-पूरा कांग्रेस के साथ है ही, सारा देश ही एक राष्ट्रीयता के उद्वेग से भर रहा है। आज सरकार देश के बड़े-बड़े नेताओं को राजविद्रोहात्मक भाषण देने के अपराध में लंबी-लंबी सजाएं देती है, पर देश की कई करोड़ जनता राजविद्रोही हो रही है। इसका क्या उपाय है? दार्शनिक हिंदुओं से लेकर वीर पठानों तक में अहिंसा का भाव दृढ़ हो गया है और कठिन से कठिन कष्ट सहकर भी उन्होंने अहिंसा पर डटे रहना सीख लिया है। इस राजनीतिक आंदोलन ने सामाजिक क्रांति भी साथ ही साथ की है और अब आपस का भेदभाव तथा अनेक रूढ़ियां मिटी जा रही हैं। परंतु इससे भी अधिक मार्के की ओर सरकार के लिए विचारणीय बात यह है कि आंदोलन की तह में देश की अत्यंत व्यावहारिक तथा कठिन आर्थिक स्थिति है जो आंदोलन को सहायता पहुंचाएगी। अब तक जो आंदोलन शहरों में था, वह अब देहातों में फैलने लगा है। अब तक नमक-कानून और मादक-द्रव्य संबंधी नियमों को तोड़ने का जो कार्य किया गया वह तो श्रीगणेश मात्र था, असली कार्य तो अब देहातों में प्रारंभ होने जा रहा है जहां के किसान वर्तमान अर्थकष्ट के कारण भूमिकर देने में असमर्थ हो रहे हैं। अभी जो स्थिति बारडोली आदि की है वह इस वर्ष के अंत में देश भर की हो सकती है।

मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड की ये सब बातें सरकार के लिए चेतावनी का काम कर सकती हैं। मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड ने सलाह दी है कि यदि स्थिति को काबू में करना है तो विलायत के समझौता-सम्मेलन में औपनिवेशिक स्वराज्य के बराबरी के अधिकार को स्वीकार कर लेना चाहिए और भारत

के सभी राजनीतिक कैदियों को बिना किसी शर्त के छोड़ देना चाहिए। यह दोहरी विधि यदि विलायत में और भारत में व्यवहार की जाए तो निश्चय ही सरकार का कल्याण हो सकता है। आत्मसम्मान की रक्षा के लिए आतुर हिंदुस्तान बराबर का अधिकार पाकर संतुष्ट हो जाएगा और परिवर्तन काल की रुकावटों और प्रतिबंधों को स्वीकार कर लेगा। उदार भारतवर्ष सरकार की उदारता का उत्तर अधिक से अधिक उदारतापूर्वक देगा। हम मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड की इस सलाह को सर्वथा समयोचित समझते हैं। राजनीतिक कैदियों को छोड़ देने के संबंध में हम इतना और कह देना चाहते हैं कि अधिकांश कैदियों की सजाएं अब खत्म हो रही हैं और उनके छूटने का समय आ रहा है। यदि इस मौके पर उन्हें एक साथ न छोड़कर उनकी सजाओं के अनुसार समय-समय पर छोड़ा जाएगा तो दस-पांच दिन अथवा महीने-दो महीने के अंतर से छूटकर वे सभी आएंगे और फिर से उस काम में लगेंगे जो मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड के शब्दों में सरकार के लिए बड़ी परेशानी का है। इस समय सामूहिक मुक्ति की आज्ञा देकर सरकार मनोविज्ञानजन्य एक बड़ी दूरदर्शिता का परिचय दे सकती है।

मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड न तो भारतवासी हैं और न कांग्रेस के अनुयायी। उनके एक लेख से यह आभास मिलता है कि वे विलायती वस्तुओं के बहिष्कार को पसंद नहीं करते। वे कांग्रेस की उग्रनीति का विरोध भी प्रकट कर चुके हैं, ऐसी अवस्था में सरकार को यह समझने की गुंजाइश नहीं है कि वे कांग्रेस की ओर से प्रचार-कार्य (Propaganda) कर रहे हैं। सप्रू-जयकर के पिछले संधि उद्योग के सिलसिले में कांग्रेस के नेताओं की बातों को प्रचार-कार्य कहकर टाल दिया गया था, वह आंदोलन का आरंभकाल था। उसकी गतिविधि ठीक-ठीक न समझने के कारण सरकार की भूल कुछ अंश तक स्वाभाविक कही जा सकती थी। पर इस बार अपने ही देश के एक उदार, निष्पक्ष और प्रत्यक्षदर्शी विद्वान की चेतावनी से सचेत होना चाहिए।

(शुक्रवार, 12 दिसंबर 1930)

हिंसात्मक चेष्टाएं

पिछले कुछ दिनों से देश के भिन्न-भिन्न भागों में, विशेषकर बंगाल में, हिंसात्मक चेष्टाओं की भरमार-सी हो रही है। प्राप्त समाचारों से ऐसा जान पड़ता है कि अनेक जगहों में बम ही बम फैल रहे हैं। कहीं किसी सड़क पर, कहीं किसी कॉलेज में और कहीं उनसे भी अधिक असंभावित स्थानों में बम के धड़ाकों का हाल सुनकर आए दिन अचंभे में पड़ना होता है। कहीं कोई स्त्री बम की चोट खाकर मर जाती है, कहीं किसी डब्बे में बम रखा मिलता है। बम-समस्या यों ही काफी जटिल समस्या थी पर इधर तो वह बहुत कुछ अज्ञेय-सी बनी जा रही है। सरकार के सी.आई.डी..के द्वारा जनता को न तो अब तक सच्चा भेद मिल सका है और न स्थिति ही काबू में लाई जा सकी है।

हम समझते हैं कि हिंसात्मक चेष्टाओं का रहस्य समझने के लिए न तो क्रांतिकारियों के समय-समय पर निकलने वाले पर्चों से सहायता मिल सकती है और न सी.आई.डी. की रिपोर्टों से। ऐसी चेष्टाओं को किसी देशव्यापी संघ की कृतियां बतलाना और यह समझना कि किसी संगठित अखिल भारतवर्षीय संस्था का आंदोलन है, समस्या को और भी जटिल बना देना है। क्रांतिकारी चेष्टाओं की पुस्तकों से इसके व्यापक आंदोलन का अंग होने का आभास मिलता है। इन समय-समय की हत्याओं को बिलकुल वैज्ञानिक सिलसिले के साथ पिछले सिपाही विद्रोह के समय से संपर्कित बतलाने वाली बातें हमें ठीक नहीं जान पड़तीं।

हम तो हिंसात्मक चेष्टाओं को किसी देशव्यापी संघटित तथा शक्तिशाली आंदोलन का अंग नहीं मानते। आज जब देश में एक ओर अहिंसा की प्रबल शक्ति अपना प्रयोग करने में लगी है और जब एक राष्ट्रीय उद्वेग से प्रेरित होकर देश उसका साथ दे रहा है, तब इन हिंसाकांडों और हत्याकांडों को न तो राष्ट्रीय कहा जा सकता है और न वे किसी विवेक के परिणाम माने जा सकते हैं। ऐसी भीषण चेष्टाएं जहां-जहां की गईं और जब-जब की गईं, यदि वे अपने क्षुद्र और अदूरदर्शी उद्देश्य में सफल भी हुईं तो भी परिणाम में नितांत असफल रहीं। पिछली काकोरी ट्रेन डकैती के अभियुक्त श्री बिस्मिल ने अपने उद्‌गारों में स्पष्टतः ऐसी चेष्टाओं की असफलता स्वीकार की है और विचारवानों को यह समझने का अवसर दिया है कि हिंसात्मक चेष्टाएं यदि किसी दल द्वारा की जाती हैं तो वह दल बिलकुल असंगठित, निर्बल और अपरिणामदर्शी है। यह तो हम आए दिन देखते ही रहते हैं कि प्रत्येक षड्यंत्र का उद्‌घाटन करने वाले उसी के भीतर से कुछ व्यक्ति निकल आते हैं।

इसके दबाने के लिए उस मनोवृत्ति की आवश्यकता है जिसका उल्लेख अभी उस दिन कलकत्ता कार्पोरेशन की बैठक में भाषण देते हुए मिस्टर कैंपबेल फोरेस्टर ने किया था। उन्होंने सरकारी कर्मचारियों को अपने कर्तव्य-पथ में दृढ़ और ऐसे कुकृत्यों से अविचलित रहने की बात कही थी। यह कर्तव्य-दृढ़ता निश्चय ही परम उपयोग सिद्ध होगी। परंतु उसके साथ की कर्तव्य की ठीक-ठीक परख तथा आपस के सद्‌भाव की वृद्धि और भी अधिक उपयोगी होगी। यदि वर्तमान समझौता-सम्मेलन के फलस्वरूप भारतीयों को उनकी उचित मांग दी गई तथा आपस का भेदभाव मिटाने की चेष्टा की गई तो अवश्य ही ऐसे कृत्यों का होना असंभव हो जाएगा।

न तो आदर्श की दृष्टि से और न व्यवहार की दृष्टि से कोई विचारशील व्यक्ति कभी भी ऐसी हत्याकारिणी चेष्टाओं के पक्ष में हो सकता है। महात्मा गांधी का वर्तमान अहिंसात्मक आंदोलन आदर्श की दृष्टि से हिंसा के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ है। उसमें आत्म-बलिदान और आत्म-परिष्कार की भावनाएं तीव्र होकर हिंसा का विरोध करती हैं। अभी उस दिन बंगाली नेता श्री सुभाषचंद्र बोस ने कहा है कि कांग्रेस चेष्टा करके भी अब तक सभी उत्तेजनाशील नवयुवकों को अहिंसावादी नहीं बना सकी है। महात्मा गांधी ने जब अपना सत्याग्रह आंदोलन पिछले मार्च-अप्रैल में शुरू किया था, तब कुछ दिनों क्रांतिकारी दल की ओर से की गई उस विज्ञप्ति की बड़ी चर्चा थी जिसमें तीन वर्ष तक अहिंसा की परीक्षा करने और हिंसा को स्थगित रखने की बात कहीं गई थी। परंतु यह विज्ञप्ति, मालूम होता है, झूठी थी। यह हत्याकांड सर्वथा

निंदनीय है और इससे देश की हानि के सिवा लाभ कभी नहीं हो सकता।

हम जेलों के उस श्रेणी विभाग को बड़े विस्मय की दृष्टि से देखते हैं जो वर्तमान आंदोलन के राजनीतिक कैदियों के लिए किया गया है। ए, बी अथवा सी श्रेणियों में रखने का मनमाना अधिकार बहुत कुछ जेल-अधिकारियों तथा कभी-कभी मजिस्ट्रेट की इच्छा पर अवलंबित रहता है। यह तो हम किसी प्रकार समझ सकते हैं कि कोई व्यक्ति किसी श्रेणी में रखा जा सकता है पर यह रहस्य हमारे लिए नया है कि एक ही व्यक्ति एक बार तो एक श्रेणी में रखा जाए और दूसरी बार दूसरी श्रेणी में। इस समय हमारे सामने लखनऊ के प्रतिष्ठित कार्यकर्ता पंडित हरिश्चंद्र वाजपेयी का उदाहरण आया हुआ है। आप अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के मेंबर, हिंदू महासभा की कार्यकारिणी के सदस्य, उच्च परिवार के संपन्न, शिक्षित तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। पिछली बार नमक कानून के संबंध में आप छह महीने के लिए जेल में रहे थे। तब आप 'ए' क्लास में रखे गए थे। दूसरी बार फिर आपको छह महीने की सजा हुई है। पर इस बार आप 'बी' श्रेणी में रखे गए हैं। आशा है, जेल के अधिकारियों का ध्यान अपने नियमों की नियमहीनता की ओर आकर्षित होगा।

(सोमवार, 15 दिसंबर 1930)

युग-धर्म

भारत के पिछले दो अंकों में हमने आदरणीय विद्वान पं. नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ का 'युग-धर्म' शीर्षक लेख प्रकाशित किया है। आशा है, हमारे पाठकों ने उसे पढ़ा होगा। हमने भी उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा है और बड़ी श्रद्धा के साथ सत्य और अहिंसा के तत्वों को हृदयंगम करने की चेष्टा की है। महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, गुरु समर्थ रामदास आदि के जो उपयुक्त उद्धरण शास्त्रीजी ने दिए हैं हमें उन्हें पूरा-पूरा और विस्तार के साथ देखने का अवसर भी मिला है, पर शास्त्रीजी ने थोड़े में आधुनिक युग का सार तत्व प्रकट करने की सफल चेष्टा की है। हम यह मानते हैं कि प्रत्येक युग कुछ विशिष्ट आदर्शों से प्रेरित होता है और वे ही आदर्श युग-धर्म का निरूपण करते हैं। इस लेख में हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि शास्त्रीजी के बतलाए हुए युग-धर्म का व्यावहारिक और कृतिशील रूप क्या है? सत्य और अहिंसा के सिद्धांत किस रूप में हमारे सामने आए हैं? महात्मा गांधी जिस प्रकार अपने प्रत्येक कार्य में, जेल निवास तक में आत्म-साक्षात्कार की साधना कर रहे हैं, वह अत्यंत उच्च आदर्श है। हम यह देखना चाहते हैं कि देश की जनता ने उसे किस रूप में ग्रहण किया है और उसका किस प्रकार व्यवहार कर रही है।

सत्य का अर्थ महात्मा गांधी के शब्दों में 'होना' और शास्त्रीजी के शब्दों में 'अस्तित्व' है। इसे हम 'स्थिति, टिकाव या ठहराव' भी कह सकते हैं। आज भारतीय राष्ट्र स्थिति चाहता है, यह इच्छा करता है कि वह टिका रहे। वह स्थिति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यावहारिक

चेष्टाएं कर रहा है। वह संघबद्ध होकर शक्तिशाली और शक्तिशाली होकर स्थितिशील बनना चाहता है। इसीलिए आज हम देश की जनता को संघटित होने के लिए प्रयत्नशील देखते हैं। इसीलिए आज मजदूरों का संघटन, किसानों का संघटन और अनेक वर्गों का संघटन किया जा रहा है। स्थिति के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इसलिए आज देश समूह रूप में बिना आगा-पीछा सोचे शिक्षित और ज्ञानवान नेताओं के पीछे-पीछे चलने को तैयार हो गया है। स्थिति के लिए त्याग की आवश्यकता है। इसलिए आज व्यापारी और मजदूर, धनी और दरिद्र, शिक्षित और अशिक्षित सब यथाशक्ति त्याग करने को तत्पर हो रहे हैं। अस्तित्व के लिए कृतशील होने की आवश्यकता है और साधना की आवश्यकता है जिसे कष्ट सहन भी कह सकते हैं। इसीलिए आज देश के हजारों व्यक्ति, संपन्न, शिक्षित, ज्ञानवान व्यक्ति जेलों की यंत्रणा और लाठी-डंडे तथा अन्य प्रकार के कष्टों का नियंत्रण कर रहे हैं। स्थिति के लिए संधि की आवश्यकता है इसलिए देश का एक दल अपने देशवासियों के विरोध की ओर ध्यान न देकर विलायत गया हुआ है। यह सब उद्योग स्थिति के लिए हैं, जिसे महात्माजी सत्य कहते हैं और जिसे वे ईश्वर का रूप मानते हैं। सचमुच देश ने अपनी व्यावहारिक चेष्टाओं से यह सिद्ध कर दिया है कि 'सत्य' निश्चय ही इस युग का प्रधान धर्म है।

अहिंसा का बड़ा ही मार्मिक प्रयोग देश ने कर दिखाया है और आए दिन करता ही रहता है। अहिंसा का एक प्रवाह ही देश के एक छोर से दूसरे छोर तक आया हुआ है। जिसमें दार्शनिक हिंदू से लेकर युद्धप्रिय और शक्तिशाली सिख और पठान जाति भी एक बड़ी हद तक निमग्न हो रही है। यह अहिंसा का युग-धर्म हमें बड़ा ही मर्मस्पर्शी जान पड़ता है। इसके साथ ही, देश की स्त्रियों ने एक अद्भुत दया भाव से प्रेरित होकर अपने पर्दों को दूर कर दिया है और मादक-वस्तुओं की दुकानों के सामने घंटों खड़ी रहकर अपने पुरुष सहवासियों को बड़े ही करुण स्वर में उस व्याधि से दूर रहने को पुकार रही हैं। यह दया भाव और यह करुण स्वर अहिंसा का ही एक रूप है जो स्त्री जाति की परंपरागत संपत्ति रही है और जो इस युग में रूढ़ियों का अंत कर सामने आ गई है। यह पश्चिम के विद्वानों का भ्रांति मत भले ही हो कि स्थिति के लिए (सत्य के लिए) प्रतियोगिता की, संघर्ष की और हिंसा की आवश्यकता है, परंतु हमारा देश आज के प्रयोग में यह सिद्ध करके दिखा देना चाहता है कि सत्य और अहिंसा का किस प्रकार ग्रंथि-बंधा होता है और उसमें देश के पुरुष और स्त्री किस स्वाभाविक रीति से संयुक्त होते हैं।

इस युग में सत्य और अहिंसा के आदर्श बड़े ही तीव्र और उद्वेगपूर्ण रीति से व्यवहार में लाए जा रहे हैं। कहीं-कहीं तो तीव्रता और उद्वेग सीमा को पार कर जिस ओर बढ़ते दीख पड़ते हैं, वह दिशा हमें अनुचित तक जान पड़ती है। सत्य के लिए ज्ञान की आवश्यकता है परंतु व्यवहार में जब ज्ञानाभास ही ग्रहण कर लिया जाता है तब हमें चिंता होती है। विलायत के प्रसिद्ध पत्रकार मिस्टर जॉर्ज स्लोकोंब ने बंबई के कांग्रेस अस्पताल की प्रशंसा करते हुए जो यह लिखा है कि वहां हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि एक तश्तरी में खाते और एक गिलास में पानी पीते हैं, यह उद्वेगपूर्ण अभिन्नता साधारण स्वास्थ्य तक के नियमों के विपरीत पड़ने के कारण हमें तो बहुत

अच्छी नहीं लगी। अहिंसा के लिए व्यर्थ की मनस्विता (Fool Hardness) अपेक्षित नहीं है पर हम समय-समय पर उसके भी समाचार पाते रहते हैं। शक्ति के लिए और स्थिति के लिए संघबद्ध होना आवश्यक है पर मतभेद के लिए उचित रीति से जगह रखना भी आवश्यक है।

किसी भी देश में, किसी भी समय में आदर्शों का जब व्यवहार होने लगता है तब उसमें इस प्रकार की त्रुटियां रहती ही हैं। इन त्रुटियों की चिंता हम नहीं करते। हम चिंता करते हैं, युग-धर्म की विरोधी गति की। यह युग के लिए विपत्ति की स्थिति है। स्थिति के लिए प्रयत्नशील इस युग में वैमनस्य से हानि होगी। समझौता-सम्मेलन में गए हुए प्रतिनिधियों में कट्टर मजहबी प्रतिनिधियों की नीति युग-धर्म के विपरीत है। अल्पसंख्यक जातियों में युग-धर्म का पालन यथोचित नहीं किया यह अफसोस की बात है। इसी प्रकार के इस युग में क्रांतिकारी और हिंसात्मक षड्यंत्रों का बढ़ना भी हमें अतिशय शंका और चिंता में डालता है।

मालवीयजी का स्वास्थ्य

हमें पूज्य मालवीयजी के अस्वस्थ होने की दुःखद सूचना मिली है। वे आज नैनी जेल से सरकारी सिविल अस्पताल में पहुंचाए जाने वाले हैं। यदि सरकार उन्हें शीघ्र छोड़ने की दूरदर्शिता नहीं दिखा सकती तो हम आग्रह करेंगे कि वह देश के उन पूज्य नेता को अधिक स्वास्थ्यप्रद स्थान में रखने और उनकी उपयुक्त दवा करने का प्रबंध करें। यह अत्यंत आवश्यक है कि रोग की प्रारंभिक अवस्था में उचित और उसे बढ़ने से रोका जाए।

हमारे साहित्य का भविष्य—1

यदि सामयिक जीवन और सामयिक साहित्य का अध्ययन ठीक-ठीक हो सके तो साहित्य का भविष्य जानने के लिए किसी दूसरे ज्योतिषी की आवश्यकता नहीं पड़ सकती। सामयिक जीवन से परिचित होने के लिए थोड़ी-सी अंतर्दृष्टि चाहिए। जीवन के निस्सीम और अप्रतिहत प्रवाह की गति निर्धारित करने वाले कुछ आदर्शों को ढूंढ़कर अलग कर लेना होगा। वे आदर्श भविष्य की झलक दिखाने के लिए उतने ही मूल्यवान और उपयोगी होंगे जितने पुरातन युग में सागर-मंथन से निकले हुए चौदह रत्न देवताओं की कामना के लिए मूल्यवान और उपयोगी थे। उन्हें रत्नों की भांति हमारे आदर्शों में भी अमृत और विष का संयोग होगा और विषपान के लिए हमें शिव का आह्वान करना होगा। परंतु सौभाग्य से हमारा सामयिक जीवन स्वयं शिवत्व की ओर इतना उन्मुख है कि हमें उसके लिए विशेष कठिन साधना नहीं करनी पड़ेगी। सामयिक जीवन के साथ-साथ सामयिक साहित्य का अध्ययन कर लेना और उसकी गतिविधि परख लेना आवश्यक होगा। निश्चय ही इस अध्ययन और परीक्षा के कार्य में हमें प्रत्येक वस्तु

का उपयुक्त महत्व समझना होगा और आवश्यक-अनावश्यक के विभेद पर पूरा ध्यान रखना पड़ेगा। साहित्य की धारा भी जीवन-धारा की ही भांति निर्बंध एवं निस्सीम है फिर भी हम थोड़ी-सी विवेक बुद्धि से उसके उद्गम, उसकी प्रमुखगति और उसके आगामी विस्तार का पता लगा सकेंगे। जीवन का अध्ययन यदि गणित विधि है तो साहित्य का अध्ययन फलित विधि। इस प्रकार गणित और फलित के संयुक्त अभिज्ञान से हम साहित्य पुरुष का भविष्य बहुत कुछ सरलता तथा निश्चय के साथ जान सकेंगे। प्रधान शर्त यह है कि हम क्षणिक और स्थायी का विभेद समझें, आडंबर को तत्व से अलग करें और बंधे हुए साहित्यिक वादों-प्रवादों में न पड़कर स्वतंत्र विवेचन करें।

निश्चय ही साहित्य के भविष्य की जानकारी, मानव-अनुसंधानों में अपना अलग महत्व रखती है। जो लोग साहित्य को दिलबहलाव की वस्तु अथवा दिमागी कसरत समझते हों उनकी बात दूसरी है। संस्कृत और हिंदी के पिछले जमाने के दकियानूसी कवियों तथा तत्कालीन अलंकार-शास्त्रियों की दृष्टि से हम साहित्य को नहीं देखते। राजा भोज के दरबार के एक-एक श्लोक पर लक्ष-लक्ष मुद्राएं पाने वाले कवि अपने को चाहे जितना सौभाग्यशाली समझते हों हमें उन पर तरस ही आती है। जो साहित्य की कल्पना स्थिर बुद्धि की बंधी-बंधाई क्रिया के रूप में करते हैं वे तो शंका कर सकते हैं कि साहित्य के भविष्य का अन्वेषण कुछ अर्थ ही नहीं रखता पर जो उसे आत्मा की गंभीर पुकार, मनुष्य समाज की विकासोन्मुख प्रतिलिपि, तथा जातियों की सभ्यता और संस्कृति की अक्षय निधि मानते हैं उनके लिए साहित्य के भविष्य का प्रश्न उतना ही आवश्यक है जितना स्वयं उनके भविष्य का प्रश्न। आज तो हमारे लिए वह प्रश्न और भी आवश्यक हो गया है। आज भारतीय समाज एक अभूतपूर्व युग से होकर गुजर रहा है। परतंत्रता और स्वतंत्रता के द्वंद्व के इस युग में शक्ति का बड़ा ही तीक्ष्ण उन्मेष हो रहा है। पचासों वर्षों की साधना, आज सिद्ध-सी हो रही है। यह बड़ी ही रहस्यपूर्ण बात है कि राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में नवयुग के स्वागत की तैयारी एक साथ की जा रही है। राजनीति, समाजनीति और साहित्य नीति की त्रिवेणी आज भारतीय जीवन को पवित्रता से अभिसिंचित कर रही है। साहित्य का भविष्य ढूंढ़ते हुए हमें इस संगम-स्नान का प्रलोभन भी कम नहीं है।

परंतु इससे भी अधिक जरूरी बात यह है कि आज पूर्व और पश्चिम का संयोग हो रहा है। हमारा जातीय जीवन और हमारा जातीय साहित्य पश्चिम से बहुत कुछ प्रेरित और प्रभावित होकर अब तक पहुंचा है, आगे किस ओर जा रहा है यह जानने की उत्कंठा अत्यंत स्वाभाविक रीति से हमारे हृदय में जाग्रत होती है। हम यूरोपीय रचना शैलियों को ग्रहण करते जा रहे हैं। हम समझते हैं, हमें भविष्य की एक सीमा बांध देनी होगी, जिसके आगे बढ़ने के पहले हमें ठहरकर देखना होगा कि हमारा जातीय साहित्य यहां से अपना प्रकृत रूप छोड़कर दूसरी दिशा में अग्रसर हो रहा है। हम यह भी निर्णय करेंगे कि दूसरी ओर अग्रसर होने में हानि-लाभ क्या है। यहीं हमारा विरोध करने वाले वे लोग उठ खड़े होंगे जो अतिशय उदार और अतिशय उच्च हैं। जो उदार हैं वे साहित्य की सार्वदेशीयता के कायल हैं। उनकी विशाल दृष्टि किसी सीमा, घेरे या

बंटवारे को स्वीकार नहीं करती। वे साहित्य को देश-काल के घेरे में रखना पाप समझते हैं। बेचारा मनुष्य उनकी दृष्टि में देवता होता है जो अक्षय लोक में कला-देवी के साथ विहार करता रहता है। वह कला के लिए जीता और मरकर भी कला के लिए अमर बनता है। जल-वायु, देश-काल, सृष्टि-विकास का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। ऐसे महाकाय जीव से डरकर कौन नहीं भाग खड़ा होगा? हम खरी बातें पसंद करते हैं, प्रत्येक देश और समाज की भिन्न-भिन्न विकास-धारा को मानते हैं और सौ बात की बात यह कि मनुष्य को मनुष्य समझते हैं।

जो उच्च हैं वे कोई विधि-विधान नहीं स्वीकार कर सकते। साहित्य के भविष्य का निरूपण करना उन्हें भी खटकेगा। वे आक्षेप करेंगे कि प्रेम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, दया आदि के भाव क्या भविष्य में कुछ और हो जाएंगे। क्या भविष्य में मनुष्य प्रतिभा आज की-सी ही बंधहीन नहीं बनी रहेगी। क्या साहित्य के भविष्य का निरूपण करना उसे बंधी हुई नालियों में बहाने की चेष्टा करना नहीं है? मनुष्य मात्र चिरकाल से जिन विषयों को काव्य का स्वरूप देता आया है, जिन वस्तुओं का काव्य उपयोग करता आया है उन्हें छोड़ दिया जाएगा? क्या रम्य उपवनों, सुंदर वाटिकाओं, पुष्पों आदि से भविष्य में काव्य का संबंध टूट जाएगा? यदि टूट जाएगा तो जो कुछ बचा रहेगा उसे साहित्य कहना क्या कभी उचित होगा? ये सब प्रश्न कोरे आदर्शवादियों के हैं जिनकी अंतर्दृष्टि जीवन की जटिलता की ओर जाती ही नहीं। यद्यपि भाव-जगत वही बना रहेगा जो आज है और चिरदिन से रहा है पर यह तो अत्यंत स्थूल समीक्षा हुई जब हम विकासोन्मुख मानव समाज के प्रगतिशील और परिवर्तनशील सूक्ष्म तत्वों को देखते हैं तब हमारी आंखें खुल जाती हैं। कोरे आदर्शवादियों को यह कहां पता है कि सचमुच कविता और साहित्य का क्षेत्र उपवनों और वाटिकाओं से हटकर यंत्रालयों, रेलवे-स्टेशनों, मुसाफिरखानों आदि की ओर आने लगा है।

हम हठवश अपने अनुसंधान को सीमित न स्वीकार करें। ऐसा नहीं हो कि नैरोग्यकारिणी ओषधि दी जाए और आराम न मिले। जीवन और साहित्य दोनों के क्षेत्र प्रायः निस्सीम हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें थोड़े से प्रमुख आदर्शों में नियंत्रित समझना भ्रांति से खाली नहीं है। फिर समय का प्रवाह अबोध और अज्ञेय है। हम आज जो कुछ देखते हैं कल उसका क्या स्वरूप हो जाएगा, कौन कह सकता है! हमारी बुद्धि सीमित है। हम सामयिक जीवन और साहित्य के मूल में काम करने वाली बहुत सी प्रेरणा-शक्तियों को देख ही न पावें अथवा देखकर भी उनकी शक्ति का ठीक-ठीक अनुमान न कर पावें, यह सर्वथा संभव है। हम अपनी सीमित बुद्धि से जिसे अभीष्ट समझते हैं अथवा जिसे अनभीष्ट समझते हैं, वास्तव में वह वैसा ही है, इसका प्रमाण क्या है और इसका भी क्या ठिकाना कि हम अभी जिससे दूर रहना चाहते हैं, परिवर्तित सामाजिक मनोवृत्ति और देश-काल में वही हमसे जुड़ जाए और हम उसी में विलीन हो जाएं। आदर्शवादी तो सदा आशावादी होता है और आशा का पथ सर्वदा अनिश्चित ही रहता है।

इसी स्थान पर हम यह निवेदन भी कर देना चाहते हैं कि जहां तक संभव होगा, हम व्यक्तियों का नाम लेकर भले-बुरे आक्षेप नहीं करेंगे। साहित्य का भविष्य जानने के लिए जहां नाम अनिवार्य हो जाएंगे, वहां की बात दूसरी है अन्यथा पुस्तकों अथवा कृतियों का नामोल्लेख

कर ही हम अपने विषय-विवेचन में अग्रसर होंगे। फिर भी यदि विवश होकर हमें नाम लेने की आवश्यकता पड़े और नाम के साथ ही कुछ कटु-तिक्त-काषाय प्रयोग हों, वहां यह सत्य अंतर्निहित रहेगा कि उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारी पूरी श्रद्धा है।

(शुक्रवार, 19 दिसंबर 1930)

राजनीतिक स्थिति

यहां हम उस राजनीतिक स्थिति का जिक्र कर रहे हैं जिसका हवाला भारत सरकार अपनी साप्ताहिक रिपोर्टों में देती रहती है। इस समय हमारे सामने पिछले सप्ताह की अंतिम सरकारी विज्ञप्ति है। उसमें राजनीतिक स्थिति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन किया गया है और उसमें से प्रायः प्रत्येक के कारण भी बतलाए गए हैं। उदाहरण के लिए मध्य प्रांत के आंदोलन की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि बंगाल-सत्याग्रह स्थगित हो गया है और पिकेटिंग कम पड़ रही है। परंतु गैरकानूनी दबाव को रोकने वाले आर्डिनेंस का अंत हो जाने के कारण ऐसी आशंका है कि पिकेटिंग फिर से जारी की जाए। पंजाब के, विशेषकर अमृतसर के विदेशी-बहिष्कार के संबंध में विज्ञप्ति का कहना है कि वहां धरना देने वाले बेजा दबाव डालते हैं। इसी प्रकार बिहार प्रांत में कई स्थानों में पिकेटिंग के जोर-शोर से शुरू होने की सूचना देते हुए विज्ञप्ति कहती है कि आर्डिनेंस के अंत हो जाने से स्वयंसेवक स्वेच्छाचारी हो गए हैं। वह भी सूचित करती है कि प्रेस आर्डिनेंस के समाप्त हो जाने के कारण देश की उग्रनीति वाले पत्र फिर से जारी हो गए हैं और वे पहले की भांति कड़े लेख लिखने लगे हैं। ये पत्र संघबद्ध होकर पुलिस के उन संघर्षों को बढ़ा-चढ़ाकर प्रकाशित करते हैं जो उसे कांग्रेस के साथ करने पड़ते हैं। इस प्रकार राजनीतिक प्रचार किया जाता है जिसमें सरकार के विरुद्ध विद्वेष के भाव फैलाने का उद्देश्य रखा जाता है।

भारत सरकार को यह अधिकार है कि वह इस प्रकार विज्ञप्ति निकालकर किसी कार्य को गैर-कानूनी दबाव कहे, अथवा किसी कार्य का उद्देश्य सरकार के विरुद्ध विद्वेष फैलाना बतलाए। वर्तमान राज्यचक्र में सरकारी-कार्यकर्ताओं (Executive) को फैसला सुनाने का बहुत कुछ अधिकार मिला हुआ है। परंतु हम यहां उसके संबंध में कुछ नहीं कह रहे। यहां हम उस सरकारी मनोवृत्ति पर विचार करना चाहते हैं जो आर्डिनेंसों और कड़े-कानूनों की शक्ति से देश भर में फैले हुए असंतोष को दूर करने का विश्वास रखती है। पिछले कई महीनों से पूरी कड़ाई से काम लिया जा रहा है पर अब तक उसका फल क्या निकला है? उत्तर इसी सरकारी विज्ञप्ति में देखिए। वह कहती है कि बंगाल में सत्याग्रह आंदोलन के फिर से बड़े पैमाने में शुरू होने की खबर है। युक्तप्रांत में और पंजाब में करबंदी का आंदोलन जोर पकड़ रहा है। बिहार में और मध्य-प्रदेश में पिकेटिंग नवीन शक्ति लेकर खड़ी हो रही है। बंबई प्रांत

और विशेषकर गुजरात के संबंध में विज्ञप्ति कुछ नहीं कहती पर प्राप्त समाचारों से वहां की व्यवस्था सबसे अधिक असंतोषजनक जान पड़ती है। ऐसी हालत में यह स्पष्ट रीति से मालूम हो जाता है, यदि कड़े कानून कुछ समय तक देश के असंतोष को दबाकर रख भी सकें तो भी वे कोई स्थायी ओषधि नहीं हैं बल्कि कुछ समय के बाद नवीन शक्ति और नवीन उद्वेग से उस असंतोष को और अधिक परिमाण में उभारते हैं। पिछले दस वर्षों की यह शिक्षा है कि प्रतिदिन राजनीतिक हलचल आकार में और शक्ति में अधिकाधिक बढ़ती ही जा रही है। यदि सरकार इस सप्ताह की अपनी विज्ञप्ति के अनुसार आर्डिनेंसों के बीत जाने के बाद आंदोलन के बढ़ जाने की अशंका से फिर नए कड़े तरीके का इस्तेमाल करने का विचार करती हो तो हम समझेंगे कि उसने अपनी साप्ताहिक विज्ञप्ति का तत्व नहीं समझा और उसमें स्थिति को दूर तक देखने का विवेक नहीं है।

पंजाब और युक्तप्रांत में लगानबंदी के आंदोलन की बात स्वीकार कर इस सप्ताह की सरकारी विज्ञप्ति ने अच्छी दूरदर्शिता दिखाई है। जान पड़ता है कि सरकार ने इस नाजुक समस्या पर काफी विचार किया है और वह भरसक इसे सुलझाने का प्रयत्न कर रही है। कांग्रेस के इस आंदोलन को किसानों की वर्तमान दुरवस्था के कारण बड़ी ऊंची सहायता मिलेगी, ब्रेल्सफोर्ड की यह बात सरकार को ठीक जान पड़ती है। सरकार इस तत्व को जितना ठीक समझ सकी है यदि वह उतना ही यह तत्व भी समझ सकती कि वास्तव में कांग्रेस का यही नहीं समूचा आंदोलन और समस्त कार्यक्रम दुखित और निराश जनता का सहयोग पा रहा है, यदि उसे यह समझ पड़ता कि कांग्रेस पुश्तैनी अपराधियों की नहीं बल्कि देश के करोड़ों भूखे-प्यासे स्त्री-पुरुषों की संस्था है तो आज यह नौबत ही क्यों आती! आज पंजाब में आंशिक लगान माफी का जो ऐलान किया गया है वही और बड़े पैमाने पर सारे देश में करना उचित होगा। सच पूछा जाए तो महात्मा गांधी की प्रसिद्ध ग्यारह शर्तें भी उसी आधार पर स्थित हैं जिस पर पंजाब सरकार की लगान माफी की घोषणा। दोनों ही जनता की दरिद्रता और असामर्थ्य को स्वीकार करती हैं। अंतर है तो इतना ही कि महात्माजी उस दरिद्रता और असामर्थ्य को स्थायी समझते हैं और सरकार उसे क्षण स्थायी समझती है। यद्यपि आय का प्रधान जरिया होने के कारण भूमि कर के प्रश्न पर उदारतापूर्वक विचार करने में सरकार को कितनी ही अड़चनें हैं पर हम समझते हैं, सब अड़चनें मिलकर भी वर्तमान कठिन स्थिति से बढ़कर कठिन नहीं हैं। हम आशा करते हैं कि सरकार इस प्रश्न पर इसी दृष्टि से विचार करेगी और इस नाजुक स्थिति में संभलने का उपाय सोचेगी।

सरकारी विज्ञप्ति का अंतिम अंश इस प्रकार है, 'समझौता-सम्मेलन के संबंध में देश का बहुमत यह है कि यदि यह सफल हुआ तो देश की अवस्था बहुत कुछ सुधर सकती है परंतु यदि असफल हुआ तो परिस्थिति अत्यंत भयानक हो सकती है।' इस प्रकार के संपूर्ण सत्य सरकारी विज्ञप्तियों में जब दीख पड़ते हैं तब हमें उनका स्वागत करना पड़ता है। गोलमेज के सभी प्रतिनिधियों विशेषकर मजहबी प्रतिनिधियों को अपना उत्तरदायित्व समझने का यह अंतिम संदेश एक असंभावित दिशा से मिला है जिस पर ध्यान न देना उनके लिए परिहास

और लांछन की बात होगी। परंतु इस पर सबसे अधिक ध्यान देने का कर्तव्य विलायती प्रतिनिधियों और मजदूर सरकार का है क्योंकि भारत और ब्रिटेन के भविष्य संबंध का अंतिम निर्णय विधानतः उन्हें ही करना है।

एक आशंका

पिछले समाचारों से पता चलता है कि प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड के मातहत जो हिंदू-मुस्लिम संधि चर्चा चल रही थी, वह भंग हो गई और किसी निश्चित परिणाम तक नहीं पहुंचा जा सका। समझौता-सम्मेलन की सामूहिक बैठक में हमने जिस भारतीय-एकमत का दृश्य देखा वह जान पड़ता है मरीचिका थी। यों तो 'वाइसराय ऑफ इंडिया' जहाज पर से ही हिंदू-मुस्लिम चर्चा चल रही थी और तब से अब तक उसके सफल होने की आशा अथवा असफल होने की आशंका के कितने ही समाचार आते रहे पर प्रधानमंत्री की देख-रेख में होने वाली इस अंतिम योजना की असफलता ने हमें सशंक कर दिया है। सम्मेलन संबंधी जो अन्य समाचार मिल रहे हैं, उनसे कुछ लोगों की पूरी आशा बंध रही है, पर इस आवश्यक हिंदू-मुस्लिम समझौते का सफल न होना बड़ी आशंका का विषय हो गया है। यद्यपि पिछली खबर है कि सर तेजबहादुर सप्रू ने प्रधानमंत्री और भारतमंत्री से मिलकर इस संबंध में आवश्यक बातचीत फिर से शुरू कर दी है और भोपाल के नवाब ने भी हिंदू-मुस्लिम प्रतिनिधियों को दुबारा आमंत्रित किया है पर जब तक सारपूर्ण कुछ उद्योग नहीं किया जाता तब तक बार-बार आपस की बातचीत से कोई मूल्यवान वस्तु नहीं मिल सकती। निश्चय ही अल्पसंख्यक जातियों के कट्टर मजहबी प्रतिनिधियों को राष्ट्रीय हित की दूरदर्शी नीति से काम लेना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि यदि उनकी क्षुद्र नीति के कारण देश का भविष्य अंधकार में डाल दिया गया तो इसकी जिम्मेदारी उन्हीं पर होगी। उन्हें इस समय नेतृत्व ग्रहण करना चाहिए और भारत से भेजे हुए गुमराह सांप्रदायिकों और उनके चेलों के तारों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। यदि वे मजहबी प्रतिनिधि ऐसा नहीं करेंगे तो वे अपने ऊंचे पद का तिरस्कार करेंगे। कहा जाता है कि सरकार की ओर से यदि केंद्रीय अधिकारों के दे देने की घोषणा की जाए तो अभी भी जातीय-समस्या हल हो सकती है। परंतु यदि सरकार ऐसा नहीं करेगी और हिंदू-मुस्लिम प्रतिनिधियों की सम्मिलित मांग के अनुसार ही अधिकार देने की नीति ग्रहण करेगी तो समस्या बड़ी ही कठिन हो जाएगी। यद्यपि प्रधानमंत्री और मिस्टर बेन की हाल की नीति से ऐसा जान पड़ता है कि वे भारतीय प्रश्न को हल करने में बड़ी सहानुभूति से काम लेना चाहते हैं पर यदि वे ऐसा नहीं करें तो उन्हें तर्क से कोई दोष नहीं दिया जा सकता। वैसी अवस्था में सारा दोष उन कट्टर मजहबी प्रतिनिधियों पर ही आवेगा जो स्थिति की गंभीरता समझने की कुछ भी चेष्टा नहीं कर रहे। कहा जाता है कि मुसलमानों के जातीय प्रतिनिधि हिंदू-मुस्लिम समझौता के भंग हो जाने के कारण अब साइमन-रिपोर्ट अथवा भारत सरकार के खरीते को अपना

आधार बनावेंगे। यह बड़ी ही भयानक बात होगी क्योंकि ऐसा करने से तो उनका सात समुद्र पार विलायत जाना और बड़ी-बड़ी बातें हांकना बिलकुल बेकार हो जाता है। मजदूर प्रतिनिधि श्री जोशी और श्री शिवराव ने यह ठीक कहा है कि ये कट्टर मुसलमान अपनी जाति के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं और हिंदू-मुस्लिम समस्या विलायत में हल नहीं होती तो भारत में हो जाएगी जहां की अधिकांश जनता देहातों में एक साथ मेल के साथ रहती है और कूटनीति को पसंद नहीं करती। सचमुच हिंदू-मुस्लिम प्रश्न उतना कठिन नहीं है जितना विलायत में गए हुए प्रतिनिधियों ने उसे बना दिया है। सरकार को इस बात की सत्यता का अनुभव करना चाहिए और भारत की राष्ट्रीय मांग को पूरा करना चाहिए। ऐसा करते ही मजहबी प्रश्न आप से आप हल हो जाएगा। यह कुछ हमारे ही नहीं, सरकार के हित की भी बातें हैं।

हाल के समाचारों से पता चलता है कि राष्ट्र के पूज्य नेता त्यागमूर्ति पंडित मोतीलालजी का स्वास्थ्य अब धीरे-धीरे सुधर रहा है। अब उनका बुखार छूट गया है और थूक के साथ खून गिरने के आर्जे में भी सेहत है। इस समाचार को सुनकर देशभर की उद्विग्न जनता संतोष की सांस लेगी। पंडितजी के स्वास्थलाभ के लिए ईश प्रार्थना का प्रस्ताव किया गया था और देश के अनेक भागों में तदनुसार प्रार्थना भी की गई थी। भगवान की कृपा से वे अच्छे होकर देश की मुक्ति का मार्ग दिखाएं यह हमारी हार्दिक कामना है।

हमारे साहित्य का भविष्य–2

विषय-प्रवेश के पहले हम दो-एक आवश्यक जिज्ञासाओं का उत्तर दे देना चाहते हैं। साहित्य का भविष्य जानने के लिए हमने सामयिक जीवन और सामयिक साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता बतलाई है और यह भी कहा है कि इस प्रकार का अध्ययन परस्पर सापेक्ष होना चाहिए। इस संबंध में हमारे पास विद्वानों के कुछ पत्र आए हैं जिनमें यह शंका प्रकट की गई है कि इस संयुक्त अध्ययन से जो तथ्य निकलेंगे वे साहित्य का भविष्य बतलाने में अंशतः ही सहायक हो सकते हैं क्योंकि साहित्य की प्रेरक शक्ति वर्तमान से ही नहीं, प्राचीनतम जातीय सभ्यता और संस्कारों से भी बहुत अधिक प्राप्त होती है। बल्कि सामयिक साहित्य उन्हीं का विकसित रूप माना जा सकता है। उन विद्वानों का यह भी कहना है कि साहित्य के साथ जीवन का तारतम्य मिलाने के पहले नैसर्गिक प्रतिबंधों को समझ लेना चाहिए और यह जान लेना चाहिए कि साहित्य एक वैयक्तिक कला होने के कारण व्यक्ति और कला की विस्तार सीमा से सीमित है। इसके विपरीत जीवन तो समूह का एक सीमारहित, उच्छृंखल प्रवाह है जिसकी प्लावन-गति साहित्य को मनमानी दिशा में बहा सकती है और अवसर पाकर उसे डुबा भी सकती है। एक विद्वान ने कविता की भाषा में यह सूचना दी है कि साहित्य की लज्जाशीला, पर्दानशीन कामिनी जीवन के व्यभिचारी पुरुष के साथ रहकर आत्मरक्षा कैसे कर सकेगी?

उत्तर में निवेदन है कि यदि साहित्य की प्रेरक शक्ति वर्तमान से ही नहीं, प्राचीनतम जातीय सभ्यता और संस्कारों से भी बहुत अधिक मिलती है तो जीवन का नवीन विकास भी प्राचीन आदर्शों का आधार लेकर होता है। आज यदि प्राचीन भारतीय जीवन की झलक दिखाने वाले *रामायण* और *महाभारत* के प्रसंगों को लेकर काव्यग्रंथों की रचना की जाती है तो हमारे आधुनिक जीवन में भी राम और कृष्ण स्मरण किए जाते हैं। आज पूर्व भारत की महान स्मृतियां अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, हर्ष, महापुरुष बुद्ध, अशोक, प्रताप, कितनी ही देवियां, एक नहीं अनेक सहस्रों का आशीर्वाद जैसे हमारे साहित्य को चिरजीवन का वरदान दे रहा है वैसे ही हमारे नित्य के जीवन में भी ओत-प्रोत हो रहा है। साहित्य एक वैयक्तिक कला है अतः वह व्यक्ति और कला की विस्तार सीमा से सीमित है। परंतु हम समझते हैं भिन्न-भिन्न साहित्यिक कृतियां भले ही व्यक्ति की भिन्न-भिन्न अभिरुचि की प्रतिबिंब हो सकती हैं पर साहित्य-समष्टि (जिसे हम सामयिक साहित्य कहते हैं) तो व्यक्ति के घेरे को पार कर सार्वभौमिक हो जाती है, व्यक्ति उसी में अंतर्लीन हो जाता है। प्रत्येक महान साहित्य की सार्थकता इसी में है। प्रत्येक स्थायी साहित्य इसके बिना अस्थायी ही बना रहेगा।

और कला की विस्तार सीमा क्या है? जिस प्रकार सीमारहित और बंधरहित वायु को वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए किसी कमरे में समधिक परिमाण में रखा जाता है और व्यावहारिक दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न प्रदेशों अथवा एक ही प्रदेश के भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार की समझी जाती है साथ ही जिस प्रकार मनुष्य अपने मनोरंजन अथवा कार्य साधन के लिए उसे फुटबाल अथवा साइकिल में भरता है, उसी प्रकार बंधन रहित, विकार रहित कला देशकाल के प्रयोगों में आबद्ध की जाती है और मनुष्य की सीमित और व्यावहारिक दृष्टि में वह घेरे में आ जाती है, परंतु काव्य और नाटक, आख्यायिका, उपन्यास और निबंध में वह आकार भले ही बदलती है पर सर्वत्र उसका प्रवाह अबाध, एकरस और जीवन की ही भांति निस्सीम भी रहता है।

जीवन का प्रवाह सचमुच सामूहिक, सीमारहित और उच्छृंखल होता है पर इससे भयभीत होने का कोई कारण नहीं। प्रायः प्रत्येक युग में कुछ महात्माओं के नियंत्रण में रहने और कुछ स्थायी आदर्शों का अधिकार स्वीकार करने के कारण जीवन उच्छृंखल होते हुए भी पवित्र, सीमारहित होते हुए भी सच्चरित्र और सामूहिक होते हुए भी क्षमाशील होता है। हमारे विद्वान कवि की पर्दानशीन साहित्य कामिनी को आत्मरक्षार्थ परेशान होने के लिए कोई बड़ा खतरा तो हमें नहीं दीख पड़ता। यह सम्मति हम अवश्य देंगे कि वह यदि चाहे तो नवजीवन प्रवर्तक महात्माओं के संरक्षण में अपने को सौंपकर नितांत शंकारहित हो सकती है।

परंतु हमारी सम्मति और हमारी कामना के अनुसार ही साहित्य कामिनी अपनी गति निर्धारित करेगी इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। स्वयं आदर्शवादी होने के कारण हम साहित्य की संयमित गति के पक्ष में है पर वस्तुस्थिति की ओर से आंखें मूंदने से कोई लाभ नहीं होगा। सामयिक साहित्य का सामयिक जीवन के प्रति इतना घनिष्ठ आकर्षण होता है कि हम देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इसी बीसवीं शताब्दी ने हमें कितने ही उदाहरण दिए

हैं। आज से कुछ ही वर्ष पहले कुछ आदर्शोन्मुख साहित्यकारों ने प्राचीन संस्कृत साहित्य के कुछ उत्कृष्ट काव्यों का अनुवाद हिंदी में उपस्थित किया पर हमारा ध्यान उस ओर उतना भी नहीं खिंचा जितना सामयिक जीवन से संबंध रखने वाली निहायत मामूली रचनाओं की ओर। हम अपने अनुभव से कह सकते हैं कि *भारतभारती* और *प्लासी का युद्ध* जैसी रचनाओं के सामने समस्त प्राचीन काव्यों की रसात्मकता फीकी जान पड़ी और कालिदास का कवि-कुल-कुमुद-कलानिधित्व आधुनिक साहित्य-सम्राटों और कवि-कोविदों ने छीन लिया। यह युग-धर्म है, यह जीवन और साहित्य का अभेद्य संबंध है। देखिए न, हमने आधुनिक बंगला उपन्यासों को चाट जाना पसंद किया, किंतु *कादंबरी* की कथा आज कितने जानते हैं? बात यह है कि जीवन चिरंतन विकास के साथ-साथ अधिकाधिक जटिल होता जाता है। नित्य नवीन समस्याएं नित्य नए प्रश्न हमारे सामने आते जाते हैं। आज वे प्रायः अगणित हो गए हैं। मनुष्य इनके संबंध में निर्णय चाहता है, इन्हें हल करना चाहता है। यह उसका स्वार्थ हो, उसकी कामना हो अथवा उसका आनंद हो, पर बात इतनी ही है। शब्द-जाल व्यर्थ है। आज हम अपनी कहानियों और उपन्यासों में इन्हीं समस्याओं को हल कर रहे हैं। हमारे काव्य भी 'स्वांतः सुखाय' की आड़ में कहीं प्राचीन वीरत्व की झलक दिखाकर उत्तेजना देते, कहीं प्राचीन स्त्री-पुरुष के अत्यंत सूक्ष्म संबंध की व्यवस्था कर हमारी वर्तमान कठिनाइयों को दूर करने का संकेत करते हैं। समय आ रहा है जब मिलों की कविता स्टेशनों की कविता आदि का आरंभ किया जाएगा और उससे वर्तमान शुष्क जीवन को यथासंभव सरस बनाने की कोशिश की जाएगी।

इस जटिल समस्याओं के युग में जीवन-प्रवाह और साहित्य का संबंध निरूपण करना काफी कठिन काम है। अब तक कुछ आलोचकों ने इस क्षेत्र में जितना काम किया है, हमें उसकी छान-बीन करनी पड़ेगी। सामयिक छायावाद की कविता को अनेक समीक्षकों ने आधुनिक जीवन के अनकूल और असामयिक बतलाया है। यद्यपि अंग्रेजी साहित्य के यीट्स आदि कवियों ने आइरिश-स्वातंत्र्य-संग्राम के समय जो रहस्यवाणी व्यक्त की थी उसे कोई असामयिक नहीं कहता। वर्तमान जीवन में राजनीतिक मुक्ति का जो प्रबल आंदोलन हमारे देश में चल रहा है उसके साथ ही हमारी कविता में भी छंद मुक्ति का और स्वच्छंद प्रवाह का आग्रह किया जा रहा है। इस समन्वय को समझने के लिए हमें जीवन और साहित्य का साथ-साथ अध्ययन करना होगा।

(सोमवार, 22 दिसंबर 1930)

शोचनीय स्थिति

प्रेस आर्डिनेंस का जीर्णोद्धार करने और कर आर्डिनेंस की रचना करने के समाचार मिले। भारत सरकार की पिछली साप्ताहिक विज्ञप्ति को देखकर हमने जो आशंका प्रकट की थी, वह सामने

आई। आर्डिनेंसों का पुनरुद्धार करने का वैध अधिकार वाइसराय को है या नहीं, इस संबंध में जो शंका की जाती थी, वह अब दूर हो गई। उन्होंने अपने अधिकार की घोषणा कर दी। वाइसराय ने कलकत्ते के अपने पिछले भाषण में कह दिया है कि यदि कड़ाई से काम लिया जाता तो प्रेस की स्वाधीनता बिलकुल छीन ली जाती जिसके सामने प्रेस आर्डिनेंस कोई चीज नहीं है। इसके साथ ही प्रत्येक प्रकार की विरोधी आवाज बंद कर दी जाती, कोई चूं तक न कर सकता, देश के विस्तृत भागों में वर्तमान न्याय और सजा की प्रणाली हटा दी जाती और कड़ी से कड़ी नीति का व्यवहार किया जाता। इस बात को हम मानने के लिए तैयार हैं। पश्चिम में कुछ ऐसे देश हैं जहां ऐसे कानून बनाए गए हैं जैसे इटली में। वाइसराय ने उन लोगों को, जो कहते हैं कि सरकार ने बहुत कमजोरी दिखलाई है, जवाब देते हुए स्वीकार किया है कि इस प्रकार का कठोर शासन सफल नहीं हो सकता—बहुत दिन चल नहीं सकता और ऐसी नीति से शांति और संतोष पैदा नहीं हो सकता।

लार्ड इर्विन ने अपने उपर्युक्त भाषण में एक स्थान पर उन लोगों को जवाब देते हुए, जो दमन नीति की निंदा करते हैं, कहा कि उन्हें इस बात का व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता कि सरकार की कठिनाइयां क्या हैं और शासन चक्र चलाने में उसे कैसी अड़चनें पड़ती हैं। वाइसराय ने इस प्रकार के राष्ट्रीय विचार वाले नर्म दल के माडरेट नेताओं को जवाब दिया है जो दमनचक्र का प्रारंभ से ही विरोध करते रहे हैं। लार्ड इर्विन ने व्यावहारिक ज्ञान की बात कहकर दमन नीति के अधिकांश विरोधियों का मुंह बंद कर दिया है क्योंकि अब तो विरोध करने के पहले उच्च पदस्थ सरकारी कर्मचारी होना एक प्रकार से अनिवार्य हो गया। एक नई शर्त लग गई। हम इस शर्त के कायल तब हो सकते हैं, जब वाइसराय महोदय इस बात का जवाब दें कि बहुत से विचारशील और सरकारी शासन-नीति से घनिष्ठ परिचय रखने वाले व्यक्ति भी क्यों उसकी कड़ाई की निंदा करते हैं और क्यों उनकी बात का असर सरकार पर नहीं पड़ता? केंद्रीय और प्रांतीय व्यवस्था-सभाओं के व्यक्तियों ने जो इस्तीफे दिए उनका क्या मूल्य समझा गया?

उसी भाषण में वाइसराय ने कठोर शासन की असफलता और अनौचित्य बतलाते हुए कहा है कि यदि कठोर शासन प्रचलित करने में और कोई अड़चन न भी पड़े तो भी उससे हमारे उद्देश्य की सिद्धि में सहायता नहीं मिल सकती। हमारा लक्ष्य भारतवर्ष को स्वराज्य के लिए तैयार करना और उसे साम्राज्य का समानाधिकारी अंग बनाकर रखना है। कठोरता का व्यवहार करने से हमारा काम और भी कठिन और हमारा लक्ष्य और भी दूर जा गिरेगा। राष्ट्रीयता की शक्ति को धक्का पहुंचाना हम ब्रिटेनवासियों के लिए उचित नहीं होगा। वाइसराय ने यह अत्यंत विशद विवेचन किया है पर वे कठोर शासन का संकीर्ण अर्थ ग्रहण करते हैं जिसमें वर्तमान आर्डिनेंसों और लाठी-डंडों के फलस्वरूप होने वाली कठोरता शामिल नहीं है। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति और अन्य संस्थाओं को गैरकानूनी कर देने और देश के महान नेताओं को जेलखानों में भर देने में राष्ट्रीयता की शक्ति को धक्का नहीं पहुंचाया जा रहा है। यह बात वाइसराय कह सकते हैं। पर देश की जनता तो कानून की बारीकी को नहीं समझती और उसकी निगाह में वर्तमान कठोरता राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिए ही काम

में लाई जा रही है। इधर कुछ समय से सरकार की ओर से जो विज्ञप्तियां निकलती हैं, वे प्रायः यह कहती हैं कि कांग्रेस का आंदोलन केवल अहिंसात्मक होने का दम भरता है, वास्तव में उसने जो अराजकता फैलाई है उसके फलस्वरूप भयानक हिंसात्मक वृत्तियां जोर पकड़ रही हैं। यह तो देखने में आता है कि महात्माजी के आंदोलन का जहां-जहां अधिक जोर है वहां-वहां कष्ट-सहन और अहिंसा ही दीख पड़ती है। फिर भी सरकार यदि सचमुच यह समझती है कि सत्याग्रह आंदोलन के फलस्वरूप हिंसा बढ़ी है तो उसे दबाने का उस स्थानों में विशेष उद्योग करना चाहिए था जिनमें हिंसात्मक चेष्टाएं अधिक की गईं।

यह बड़ी ही शोचनीय परिस्थिति है। इसी के साथ जब हम विलायत के समझौता-सम्मेलन के निराशाजनक समाचार सुनते हैं तब हमें जान पड़ता है कि देश का भविष्य अंधकार से परिपूर्ण है और प्रकाश की एक भी किरण यहां प्रवेश नहीं कर पाती।

हिंदू-मुस्लिम प्रश्न

यह अत्यंत अफसोस की बात है कि समझौता-सम्मेलन में गए हुए मुसलमान प्रतिनिधि अपना हठ नहीं छोड़ रहे और हिंदुओं द्वारा स्वीकार की गई बहुत ही उदार शर्तों को नहीं मान रहे। यद्यपि हिंदू प्रतिनिधि राष्ट्रीय एकता के लिए अधिक से अधिक त्याग करने को तैयार रहे पर इसका कुछ असर कट्टर मुसलमानों पर नहीं पड़ रहा। अलग चुनाव क्षेत्रों से देश की एक राष्ट्रीयता नष्ट होती है और परस्पर का भेद-भाव बढ़ता है फिर भी मुसलमान उसी के लिए जिद कर रहे हैं। हिंदुस्तान में ही मिस्टर जिन्ना ने जो चौदह शर्तें तैयार की थीं उससे एक इंच भी हिलना उनके लिए असंभव हो गया है। जो मिस्टर जिन्ना बड़े उदार विचारों के राष्ट्रीय व्यक्ति समझे जाते थे वे भी आज मौलाना मुहम्मद अली के दल में घुल-मिल गए हैं और आगा खां को यह समझने का मौका दे रहे हैं कि सब मुसलमान प्रतिनिधि एकमत हैं। यह एकमत उनके लिए गौरव का विषय भले ही हो पर देश के लिए वह ग्लानि का विषय है। समझौता-सम्मेलन की बड़ी बैठक में कट्टर से कट्टर मुसलमानों ने भी एकमत होकर औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग रखी थी। मौलाना मुहम्मद अली ने बड़े ही जोरदार शब्दों में कहा था कि अब हम तभी बोलेंगे जब सम्मेलन यह घोषणा कर देगा कि भारत उतना स्वतंत्र है, जितना विलायत। इस समय वे अस्वस्थ हैं। पर ईश्वर की दया से शीघ्र आरोग्य होकर जब उन्हें आगामी बैठक में बोलना पड़ेगा तब वे क्या बोलेंगे? कहा जाता है कि मुसलमान अब जातीय समझौते के असफल हो जाने पर भारत सरकार के खरीते वाली सिफारिशों को मंजूर करेंगे। *फ्री प्रेस* के एक तार ने यह स्पष्ट सूचना दे दी है कि कॉन्फ्रेंस की भिन्न-भिन्न उप-समितियां 15 जनवरी तक अपना काम तमाम कर लेंगी। सम्मेलन के प्रतिनिधि यह बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि जब तक आपस में समझौता नहीं होता तब तक सारी सब-कमेटियां व्यर्थ हैं। संघ-शासन के संबंध में जो कमेटी लार्ड सेंके के सभापतित्व में काम कर रही थी, केंद्रीय अधिकारों के संबंध में कुछ भी निर्णय नहीं

कर सकी क्योंकि हिंदू-मुस्लिम समस्या के साथ-साथ केंद्रीय अधिकारों की समस्या बीच में ही अटक गई। इस प्रकार सारा दार-मदार हिंदू-मुस्लिम समझौते पर भी रख दिया गया है।

इस संबंध की अंतिम योजना करने के लिए एक अल्प-जातीय उप-समिति (Minority Committe) बैठी है। यही आखिरी फैसला सुनावेगी। कहा जाता है कि इस समिति के पास सिफारिश की गई है कि यह अंतर्राष्ट्रीय लीग ऑफ नेशंस के उन सिद्धांतों को मान ले जो उसने अल्प-जातियों के संबंध में स्थापित किए हैं। भारत से भी सर सच्चिदानंद सिंह आदि ने इसी आशय के तार दिए हैं, परंतु प्रश्न यह है कि क्या कट्टर मुसलमान प्रतिनिधि उन्हें स्वीकार करेंगे? वे तो पहले ही कह चुके हैं कि भारत की अल्पसंख्यक जातियों की अवस्था कुछ दूसरी ही है, उसके साथ लीग ऑफ नेशंस के सिद्धांत लागू नहीं हो सकेंगे। सांप्रदायिक कट्टरता के चक्कर में पड़कर सम्मेलन असफल हो रहा है।

हमारे साहित्य का भविष्य—3

बीसवीं सदी के इस युग में हमारा लौह युग चल रहा है। यूरोप में यह कुछ पहले आ गया था। हमारे यहां यह कुछ देर में आया। इसलिए कभी-कभी जान पड़ता है कि हम यूरोप का अनुकरण कर रहे हैं। पर वास्तव में हम यूरोप का अनुकरण उतना नहीं, अधिकांश में युग का अनुकरण कर रहे हैं। लौह युग से हमारा मतलब बर्बर लौह युग से नहीं है जो सृष्टि के आदिकाल में छाया हुआ था, हमारा मतलब पालिश लिये हुए लौह काल से है। इसी को हम मशीन-काल भी कह सकते हैं। हमारा युग मशीन का युग है। हमारी आधुनिक सभ्यता उसी की भांति बाहर से चिकनी किंतु असल में अत्यंत कठोर है। हमारा आधुनिक काव्य भी उसी लौह काल की रचना है।

कहा जाता है कि यह युग कविता के उपयुक्त नहीं है। सचमुच लौह युग कविता के अनुकूल नहीं होता। हिंदी में तो वह और भी अननुकूल था। कारण हिंदी कुछ समय से ब्रज की प्याली में जो रसपान कर रही थी, वह अपनी अनुपम माधुरी से हिंदी जगत में स्वप्न युग को प्रत्यक्ष करता था। स्वप्न युग से लौह युग, बड़ा लंबा सफर और बहुत कम समय। ब्रजभाषा की पालकी बदलकर काव्यवर को खड़ीबोली के रथ में बैठाने में साहित्य महारथियों ने जो आशातीत हस्तलाघव दिखाया वह इतिहास के स्मरणीय प्रसंगों में अपना अलग स्थान रखता है। फिर पथ-प्रशस्त करने में, बंधी लीक मिटाने में जितना महान कार्य किया गया, उतना जीवन को सफल बनाने के लिए पर्याप्त है। परंतु पिछले युग में काव्यांबुधि के मंथन से जो अतिशय कलुष प्रसरित हुआ उसे आत्मसात करने के इस युग के कुछ साहित्यिकों ने जो महत्वपूर्ण प्रयत्न किए, वे सुंदर भले ही न हों पर उनके शिवत्व में कुछ भी संदेह नहीं।

ये तो कुछ पहले की बातें हैं जिन्हें तारतम्य मिलाने के लिए कहना आवश्यक था। दूसरी बात यह भी कि वरदान के प्रति कृतज्ञता दिखाने से सात्विक शक्ति मिलती है। पर वास्तव में वह सब पूर्वकथा अथवा प्रासंगिक वृत्त है जिसकी हमारे विवेचन विषय में आंशिक आवश्यकता

भी बहुतों को स्वीकार न होगी। हम और प्रयोजनीय विवेचन करेंगे। लौह युग के आगमन के साथ-साथ जो अनेक समस्याएं आईं उनका संबंध काव्य से उतना नहीं, जितना उपन्यास, आख्यायिकाओं आदि से है, इसालिए यहां उनका प्रसंग नहीं है। काव्य का संबंध समस्याओं से उतना अधिक नहीं होता, जितना वायुमंडल अथवा वातावरण से होता है। लौह युग का वातावरण देखिए। चिरकाल से चला आता हुआ मनोरम ग्राम्य जीवन अपनी सारी सुख-सुषमा को लेकर विलीन हो गया। उसकी अंत्येष्टि के वाद एक कसक युग की संपत्ति बनी। नगर बने, अट्टालिकाएं बनीं, सुंदर और सुघड़ पर सबके ऊपर धुएं की, और उसी रंग के मजदूरों के मुखों की कालिमा की छाई दीख पड़ी। एक अनवरत कोलाहल सर्वत्र व्याप्त पाया गया जिसे सुनते-सुनते चित्त ऊब उठा।

युग की वाणी विरोध में पुकार उठी, पर अपनी दृढ़ व्यावहारिक नींव पर लौह युग अचल होकर सामने खड़ा रहा। काव्यधारा में इसी कारण करुण रस का अतिरेक दीख पड़ा। रचनात्मक मानव-प्रवृत्ति एक नए संसार का निर्माण करने पर तुल गई जो इस कठोर व्यावहारिक लौह-जगत के विरोध में खड़ा किया गया। इस नए संसार का छायामूलक होना अवश्यंभावी था। परिस्थिति ही वैसी थी। युग-जीवन के विरोध में खड़े होने वाले साहित्य को या तो व्यंग्यमूलक बनना पड़ता है या छायामूलक। व्यंग्यमूलक यदि काव्य हो भी तो उसकी प्रवृत्ति संहारकारिणी होगी। परंतु छायामूलक कृतियां रचनात्मिका होती हैं। यदि वे विश्वामित्र की रची सृष्टि की भांति बिलकुल अनोखी न हो जाएं और यदि उसके हिमायती 'कला के लिए कला' आदि की पुकार मचाकर उसे कोरी कल्पना ही न बना दें तो हम कहेंगे कि छायामूलक रचनाएं आधुनिक संतप्त युग के लिए छाया का ही काम करेंगी। संभव है कि वे इस लौह युग को स्पर्श कर सुवर्ण भी बना दें। आवश्यकता है स्पर्श करने की। युग जीवन और साहित्य जीवन का सम्मिलन अपेक्षित है। दूर-दूर रहने से कार्यसिद्धि नहीं होगी।

छायावाद लौह युग की विरोधवाणी है। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह भौतिकता के विरुद्ध आध्यात्मिकता की व्यंजना करती है। आध्यात्मिकता भी कैसी? सगुण-संबंधी नहीं, नितांत निर्गुण। यह सगुण-बहिष्कार कभी-कभी तो अभीप्सित सीमा के परे पहुंच जाता है और कविता में सांप्रदायिकता की संकीर्णता तक ला देता है पर वह भी इसी बात की पुष्टि में सहायक है कि छायामूलक रचनाएं पार्थिववाद से चिढ़कर उसे मटियामेट कर देने का लक्ष्य रखती हैं। यह चिढ़ना कहां तक उचित है और काव्य कला में इससे कितनी हानि पहुंचती है। इस पर विचार करने का यह स्थल नहीं है।

हमने अभी उल्लेख किया है कि ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली की प्रतिष्ठा कर और प्रचलित कलुषित काव्य धारा को आदर्शोन्मुख बनाकर इस शताब्दी के आदि में साहित्य में शिवत्व लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया था। परंतु शिवत्व में भाव-विभूति न थी, उपदेशामृत भले ही रहा हो। रसात्मक न होने के कारण वह अमृत गले में कठिनाई से उतर सकता था। यहां भी प्रतिघात हुआ। हरिश्चंद्र के समकालीन कुछ आदर्शोन्मुख, सुधारक, कवियों के गीत (Lyrics) नीरस तो थे ही संगीत की मोहकता से भी रहित थे। पीछे से मैथिलीशरणजी ने

अपने 'पत्रों' और खंडकाव्यों में और उपाध्यायजी ने अपने *प्रियप्रवास* महाकाव्य में सरस काव्य की रचना की। संगीत के क्षेत्र में छायावादियों ने और व्यापक तथा अनेकमुखी प्रयोग किए। परंतु सरसता के क्षेत्र में *प्रियप्रवास* से आगे बढ़ने की धुन में 'हाय, हाय' और 'अयि अयि', करने वालों की भी कमी नहीं रही। जान पड़ता है, यह बंगालियों की भाव प्रवणता (Sentimentalism) हिंदी में भी आई है।

शिवत्व के साथ सौंदर्य हमारे प्राचीन संस्कृत और हिंदी काव्यों में बराबर रहा है। वह किसी युग में कम और किसी युग में अधिक हो गया हो यह दूसरी बात है। सौंदर्य विवृत्ति की भारतीय शैली विशेष संयत रही है। यद्यपि पिछले जमाने के शृंगारिक कवियों ने सारे बंधन अमान्य कर अत्यंत अनर्गल रूप धारण किया था। महाकवि कालिदास ने भी 'स्तनभिन्न बल्कला' 'पयोधरोत्सेध विशीर्ण, संहतिः', आदि नग्न चित्र खींचे हैं पर वे भारत के सुवर्णयुग के वैभवशाली कवि थे। महाकवि तुलसीदास के चित्रों का बाह्यसौंदर्य उनके अंतःसौंदर्य का प्रतिबिंब मात्र है, एक स्थान पर नहीं, प्रायः सर्वत्र। राम-जानकी को देखिए अथवा सुर्पणखा को देखिए। यह अत्यंत आदर्शोन्मुख शैली है जिसमें कवि की सौंदर्यानुभूति बंधी धारा में बहती दीख पड़ती है। आधुनिक युग की प्रवृत्ति चित्रों में अनेक-रूपता देखने की है 'कौन? कौन तुम परिहत वसना' और 'रतिश्रांता ब्रज वनिता सी' जैसे चित्रों को हम इसी प्रवृत्ति की पूर्ति करते देखते हैं। पिछले युग की शृंगारिक रचनाओं के सामने यह फिर भी अच्छी है।

यूरोप की सौंदर्य विवृत्ति की शैली का अनुकरण भी होने लगा है। पाश्चात्य और पौर्वात्य सभ्यताओं के इस संगम काल में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। पर यूरोपीय नग्न सौंदर्य चित्रण के समर्थन में देश के उच्च दार्शनिक तत्वों को उपस्थित करना उचित नहीं जान पड़ता। मादक वस्तु निषेध और विदेशी बहिष्कार के इस युग में आशा तो ऐसी की जाती है कि काव्यचित्र संयत स्वदेशी शैली के होंगे पर अभी छायावाद के कुछ कवि युग धर्म से पूर्ण प्रभावित हुए नहीं जान पड़ते। यहां भी 'कला के लिए कला' अड़ंगे डालती है।

(शुक्रवार, 26 दिसंबर 1930)

एशिया शिक्षा सम्मेलन

आजकल काशी में एशिया शिक्षा सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन हो रहा है। देश भर के सुप्रसिद्ध शिक्षा-उन्नायकों के अतिरिक्त चीन, जापान, लंका और अन्य प्रदेशों से अनेक प्रतिनिधियों के आने की खबर है। निश्चय ही देश की वर्तमान राजनीतिक अवस्था के कारण सम्मेलन को अनेक ऐसे व्यक्तियों का सहयोग नहीं मिल सकेगा जो उसे अधिक से अधिक सफल बना सकते। सम्मेलन की स्वागतकारिणी के अध्यक्ष पूज्य मालवीयजी सम्मेलन का आयोजन करके अधिवेशन के कई महीने पहले से ही सरकार की जेल के मेहमान बने रहे और संयोग से अस्वस्थता के कारण समय के पहले ही छोड़ दिए गए। यद्यपि मालवीयजी अपने स्वास्थ्य

की चिंता न करके संभव है अधिवेशन में एक-आध दिन सम्मिलित हो जाएं और उनकी व्यक्तिगत उपस्थिति से सभी प्रतिनिधि प्रसन्न और संतुष्ट हो सकें पर उनके विवेकपूर्ण और पवित्र संदेश से सम्मेलन प्रायः वंचित ही रहेगा। यह भी कम चिंता की बात नहीं है कि एशिया के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक महात्मा गांधी भी सम्मेलन को अपना आशीर्वाद नहीं दे सकेंगे क्योंकि आजकल वे यरवदा के जेलखाने में बंद हैं।

फिर भी हमारे लिए यह बड़ा सुंदर सुयोग आया हुआ है जिससे हमें यथासंभव लाभ उठाना चाहिए। इस प्रकार के सार्वदेशिक सम्मेलन संकीर्ण भावनाओं को दूर करने में सबसे अधिक सहायता पहुंचा सकते हैं। श्री राधाकृष्णन ने यह कहा कि यह सम्मेलन यद्यपि एशिया सम्मेलन है पर इसे संसार-सम्मेलन की पहली सीढ़ी मात्र समझना चाहिए। मनुष्य ने अपने को इतने संकीर्ण क्षेत्र में घेर रखा है और परंपरागत अशिक्षा और अज्ञान के कारण हमारे देश को क्षुद्र रूढ़ियों ने इतना कट्टर दास बना रखा है कि आज हम अपने संसर्ग को बढ़ाना नहीं चाहते, कूपमंडूकत्व ही पसंद करते हैं। दरिद्रता के कारण आज हम खाने-पीने की चिंता में ही इतने व्यस्त हैं कि और कुछ जानते ही नहीं। आज हमारे ग्रामों में जब कभी शिक्षा का कुछ आयोजन किया जाता है तब ग्राम निवासी उसके विरुद्ध उठ खड़े होते हैं जैसे शिक्षा कोई जहर हो। यह नहीं कि वे असभ्य और बर्बर जातियों की भांति शिक्षा का विरोध करते हैं, असल में वे शिक्षा को सहन नहीं कर सकते, गवारा नहीं कर सकते। जितनी देर बच्चा पाठशाला जाएगा, उतनी देर खेत में चार टोकरी खाद डाल आएगा। आज शिक्षा हमारे यहां अव्यावहार्य हो रही है। यह बड़ी विषम स्थिति है। एशिया शिक्षा सम्मेलन हमारी इस लज्जा को देखने का कष्ट करे।

सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ना ही अच्छा होगा। छलांग भरने की न तो हममें शक्ति है और न हिम्मत। उसे संसार-सम्मेलन कहिए अथवा एशिया-सम्मेलन कहिए वह हमारा सम्मेलन है। हम उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करें। तब हम अपनी समस्याएं उनके सामने रख सकेंगे और उनकी समस्याएं सुन और समझ सकेंगे। हमारी शिक्षा संबंधी जितनी भी स्कीमें हों, सबमें प्रमुख प्रश्न यह होना चाहिए कि वे किस तरह व्यवहार में लाई जा सकती हैं। ऐसे सार्वदेशिक सम्मेलनों के अवसर पर अधिकांश बड़े ऊंचे-ऊंचे आदर्शों से संबंध रखने वाले प्रस्ताव और कुछ भावपूर्ण भाषण ही होते हैं। पर हम निवेदन करेंगे कि वह सब किसी आगामी काल के लिए रख छोड़ा जाए। हमने बहुत से आदर्शों की सृष्टि की थी पर आज हम अपनी लज्जा प्रकट कर देंगे। आज 'स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याः सर्वमानवाः' के युग की याद करने से दर्द होगा, हम उसे भूल जाएं। यह वृद्ध भारत अपने अतीत की स्मृति में घुल-घुलकर मरना नहीं चाहता है। यह एक बार चेष्टा करके धीरे से उठना चाहता है। इसे धीरे से उठने दीजिए, भावावेश मत दिखाइए।

हमारी प्रारंभिक आवश्यकता है सामूहिक शिक्षा प्रचार। कृपया इस पर विचार कीजिए। यह हमारी राजनीतिक आवश्यकता है, यही सामाजिक आवश्यकता है और भारतवर्ष के लिए यही धार्मिक आवश्यकता भी है। इस समय हमें धार्मिक कहना हमारा व्यंग्य करना है। किसी जमाने में हम धार्मिक रहे होंगे, पर आज हम पूरे अधार्मिक हैं। अशिक्षा के अंधकार में हमने बड़े-बड़े अत्याचार किए हैं और अब भी कर रहे हैं। हमारी राजनीतिक पराधीनता, हमारे

सामाजिक अत्याचारों और हमारे सांप्रदायिक कलह फूट का कारण प्रमुख रीति से यही अशिक्षा है। इसे दूर करने के व्यावहारिक उपाय बतलाइए।

हम यह जानना चाहते हैं कि शिक्षा की ओर लोकरुचि किस प्रकार होगी। हमारे देहातों का अज्ञान कैसे दूर होगा? यदि हम कहें कि इस समय हमें एकमात्र लौकिक शिक्षा की आवश्यकता है जिससे हम स्थितिशील हो सकें, आगे चलकर हम शिक्षा के आध्यात्मिक आदर्शों को ग्रहण कर सकेंगे तो क्या यह अनुचित होगा? यदि हम कहें कि हमें वैसी शिक्षा चाहिए जिससे हम शरीर से जीवित रह सकें तो क्या यह बहुत बेजा बात होगी? कृपया उत्तर देने में हमारी अवस्था का विचार रखिए।

हमारी आज की शिक्षा प्रणाली के विरोध में एक बड़ी दलील यह है कि इससे हमारा पेट नहीं भरता। पढ़े-लिखे बेकारों की जाति ही हमारे समाज में अलग बनती जा रही है जो आंखों के चश्मे, पचीस वर्ष के पहले सिर के सफेद बालों, दुर्बल करुण मुखाकृति की विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण देश भर में पहचानी जा सकती है। यह जाति आधुनिक शिक्षा का व्यंग्य करने के लिए नित्यप्रति संख्या में बढ़ती जा रही है। इसे देखकर अशिक्षित समाज भी चुटकियां लेता है और कहता है वाह री तुम्हारी शिक्षा! यह उभयमुखी विडंबना है। कृपया इसकी दोहरी दवा बताइए।

एक मूल्यवान ग्रंथ

हिंदी साहित्याकाश में थोड़े समय तक चमककर छिप जाने वाले नक्षत्र अनेक हैं। परंतु एक बार छिपकर दुबारा दर्शन देने वाले नक्षत्र बहुत थोड़े। इनमें भी उनकी संख्या तो और भी थोड़ी है जो दूसरी बार प्रकट होकर पहले से अधिक प्रकाशमान होते हैं। इन्हीं अल्पसंख्यक प्रकाशमान नक्षत्रों में हिंदी के पुराने साहित्यसेवी, आदरणीय विद्वान श्री सुखसंपति राय भंडारीजी भी हैं जिन्होंने आपकी रचित इतिहास, राजनीति आदि विषयों की पुस्तकें पढ़ी हैं। वे आपको एक गंभीर तत्वान्वेषक के रूप में अच्छी तरह जानते हैं। भंडारीजी हिंदी भाषाभाषी प्रांत के निवासी न होते हुए भी जिस लगन और अध्यवसाय से हिंदी की सेवा में लगे हुए हैं उसका प्रमाण उनकी बनाई दर्जनों पुस्तकें हैं। उसके लिए प्रत्येक हिंदीभाषी को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। अभी तो नहीं, पर निकट भविष्य में जब देश में शिक्षा की वृद्धि के साथ गंभीर विषयों के अध्ययन की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ेगी तब भंडारीजी की रचनाएं प्रेम से पढ़ी जाएंगी। अभी तो नहीं पर निकट भविष्य में जब हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ की रचना होगी तब भंडारीजी उन व्यक्तियों के स्थान के अधिकारी होंगे जो राजकीय कार्यों में संलग्न रहते हुए भी, अपने समय का सदुपयोग कर ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत करने में लगे रहते हैं।

हमने इधर कई वर्षों से भंडारीजी की कोई नवीन कृति नहीं देखी थी पर हमें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप बहुत दिनों से एक मूल्यवान पुस्तक लिखने में लगे हुए हैं। यह

पुस्तक एक विशालकाय अंग्रेजी-हिंदीकोष ग्रंथ है। यह ग्रंथ बड़े आकार के कोई छह-सात हजार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसमें अंग्रेजी के प्रायः एक लाख शब्दों का अर्थ अंग्रेजी में और उसके समवाची शब्द हिंदी में दिए गए हैं। जो यह जानते हैं कि अंग्रेजी का शब्द भंडार कितना बड़ा और हिंदी का कितना छोटा है उन्हें यह समझने में देर न लगेगी कि भंडारीजी को हिंदी में वैज्ञानिक, कानून संबंधी, व्यापार विषयक, राजनीति आदि के हजारों शब्दों को ढूंढ़ने और आवश्यकता पड़ने पर उनकी रचना करने में कितनी कठिनाई पड़ी होगी और कितना परिश्रम करना पड़ा होगा। उनकी यह पुस्तक हमारे लिए कितने महत्व की तथा कितनी उपयोगी है यह बताने की जरूरत नहीं। आधुनिक युग में हिंदी के भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें लिखी जा रही हैं। बहुत से विषय हमारे लिए बिलकुल नए हैं और उनके उपयुक्त शब्द हमारी भाषा में अब तक व्यवहृत नहीं होते रहे। उपर्युक्त कोष हमारे इस कार्य में सहायता दे सकेगा।

इस प्रकार की पुस्तक तो हमारे नित्य के काम की भी है। हम अपनी ही बात कहते हैं। हिंदी के समाचारपत्रों को नित्यप्रति अंग्रेजी के अनुवाद करने पड़ते हैं। राजनीति संबंधी कुछ संस्थाएं और तत्संबंधी अनेक शब्द हिंदी में नहीं हैं। समवाची शब्द न होने के कारण कभी-कभी हमें अंग्रेजी शब्द ही देना पड़ता है जो पाठकों की समझ में नहीं आता। कभी-कभी हमें एक अंग्रेजी शब्द का भाव प्रकट करने में हिंदी में पूरा वाक्य ही बनाना पड़ता है। इस प्रकार हमें जो कठिनाई होती है, हम समझते हैं। अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले, वकीलों, डॉक्टरों, वैज्ञानिकों आदि को भी होती होगी। इस कठिनाई को दूर करने में यह ग्रंथ सहायक होगा।

परंतु रोजमर्रा के काम के लिए इतने बड़े आकार का ग्रंथ सब नहीं खरीदेंगे। हमारी सम्मति है कि इस ग्रंथ का एक संक्षिप्त संस्करण भी निकाला जाए जिसमें वह अधिक लोकोपयोगी हो सके।

आदरणीय विद्वान डॉक्टर गंगानाथ झा ने भंडारीजी के इस ग्रंथ को देखकर आश्चर्य प्रकट किया है कि यह एक संस्था का कार्य एक व्यक्ति ने कैसे कर दिखाया। निश्चय ही भंडारीजी का यह विशाल ग्रंथ उनके चिरदिन के अथक अध्यवसाय का परिणाम है और इसके व्ययसाध्य प्रणयन में उन्होंने जो त्याग किया है आशा है, हिंदी जनता उसका सम्मान करेगी।

हमारे साहित्य का भविष्य—4

हमारे युग के साहित्य समीक्षकों ने छायावाद को जी भरकर उलझाने की चेष्टा की है। कुछ नवसिखिए और अनभ्यस्त लेखकों को प्रायः निरर्थक कृतियों से बेजा फायदा उठाकर छायावाद का अर्थ अर्थहीनता रख लिया गया और कविता ही नहीं आख्यायिका, नाटक आदि सबमें जो कुछ दुर्बोध, क्लिष्ट अथवा असंगत था वह छायावाद बना दिया गया। इसी प्रकार यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई कि जिस प्रकार दीनदयाल गिरि की कुछ रचनाओं के शब्द श्लेषों अथवा अर्थालंकारों की सहायता से अर्थ किए जा सकते हैं उसी प्रकार छायावाद की कविता

भी द्वि-अर्थक होती है। इस बात पर विचार नहीं किया गया कि छायावाद शब्द श्लेषों अथवा द्वि-अर्थक पहेलियों से नितांत असंपर्कित आध्यात्मिक भाव व्यंजना का लक्ष्य रखता है। कुछ विद्वानों ने इसका अध्यात्म स्वीकार किया पर इसे 'विस्मय वाद' आदि के नाम देकर इसके अतिगंभीर, लक्ष्यहीन आदि होने की सम्मतियां दीं। कहा गया कि छायावादी कवि 'विस्मय' या 'कौतूहल' की ही व्यंजना करते हैं। उन्होंने विस्मय और कौतूहल के परे कुछ भी नहीं देखा, यह नहीं समझा कि अंतिम व्यंग्य क्या है। तुलसीदास के :

यथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं शैल बन भूतल भूरि निधान॥

दोहे में साधक, सिद्ध और ज्ञानवान, शैल, बन आदि में जो 'कौतुक' देखते हैं यदि उस 'कौतुक' का अर्थ विस्मय या कौतूहल तक ही परिमित रखा जाए तो साधक, सिद्ध आदि अजायबघर में सैर करने वाले बच्चों से अधिक कुछ भी नहीं ठहरेंगे। फिर जो अलंकारशास्त्री 'नीर भरी गगरी दरकावे' का अर्थ लगाते हुए सात सीढ़ियां पार कर अंत में मुग्धा नायिका तक पहुंचते हैं वे जब छायावाद की कविताओं का अर्थ नहीं लगा पाते तो यह भी एक रहस्य ही जान पड़ता है।

श्रद्धेय विद्वान पं. रामचंद्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक *काव्य में रहस्यवाद* में छायावाद के विरोध में अभिव्यक्तिवाद का, जिसे श्रद्धेय 'दीनजी' प्रकाशवाद कहते थे, उल्लेख किया है। शब्दों के माया जाल में फंसकर, हम यह कहेंगे कि शुक्लजी ने अपना पक्ष समर्थन करने में अतिशय पार्थिवोन्मुख प्रवृत्ति दिखाई है और कहीं-कहीं तो वहां तक पहुंच गए हैं जहां वे और अनीश्वरवादी एक हो जाते हैं। हम जिस व्यापक अर्थ में छायावाद को ग्रहण करते हैं उसमें 'प्रसादजी' के *चित्राधार* की कुछ रचनाओं से लेकर राय कृष्णदास की *साधना* फिर *आंसू, झरना, पल्लव, परिमल, एक तारा, नीहार* मैथिलीशरणजी की *झंकार* आदि सब सम्मिलित हैं। ये सब कृतियां भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं, चेतन की प्रतिष्ठा करती हैं और अध्यात्मोन्मुख हैं। कविता के अतिरिक्त भाव-प्रधान आख्यायिकाएं, भक्तिपूर्ण गद्य काव्य और गद्य की अन्य कितनी ही रचनाएं छायावाद के अंतर्गत आएंगी। युग की प्रवृत्ति देखते हुए यद्यपि हम कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते पर हम आशा करते हैं कि आगामी युग में जड़ की अपेक्षा चेतन का अधिक प्रसार होगा और छायामूलक रचनाएं अधिकाधिक मूल्यवान समझी जाएंगी।

कुछ आलोचकों ने छायावाद और रहस्यवाद में विभेद खड़ा किया है। वादों का बखेड़ा हमें अच्छा नहीं लगता। फिर भी यदि वादों के बिना काम न चले तो हम दार्शनिक सिद्धांतों को पहले नहीं रखेंगे, पहले रचनाओं की ओर ध्यान देंगे। काव्य समीक्षा में दार्शनिक सिद्धांतों को आधार मानकर चलना घोड़े के आगे गाड़ी खड़ा करना है। काव्य की उद्वेगपूर्ण उच्छृंखल भावनाएं दार्शनिक बुद्धिवाद से जकड़ी नहीं जा सकतीं। हिंदी में जिसे हम छायावाद कहते हैं उसके अतिरिक्त किसी रहस्यवाद की आवश्यकता हमें नहीं है। फिर भी यदि प्राचीन संतकवि कबीर, जायसी आदि के रहस्यवाद की श्रद्धेय परंपरा का विचार किया जाए तो उसे आधुनिक साहित्य के छायावाद से ऊपर ही स्थान देना होगा। 'रहस्यवाद' शब्द की प्राचीनता की रक्षा

के लिए हम आधुनिक साहित्य की पश्चिमी ढंग से पालिश की हुई रचनाओं को रहस्यवाद की कृतियां नहीं कहेंगे। रहस्यवाद और अद्वैतवाद का तारतम्य अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से आजकल की रचनाओं में बहुत थोड़ी इस श्रेणी में रखी जा सकेंगी। संक्षेप में हम कहेंगे कि जब कवि शुद्ध आत्मसाक्षात्कार का लक्ष्य रखते हुए जगत के नाना रूपों के परे पहुंच जाता है तब वह रहस्यवाद की सृष्टि करता है। आत्मा और परमात्मा का निर्विकल्प (Absolute) साक्षात्कार रहस्यवाद के मूल में है। वहां जगतरूपी मध्यस्थ छूट जाता है वहां संकेत, छाया, प्रतिबिंब आदि कुछ भी नहीं रह जाते।

यूरोप में रहस्यवाद की परंपरा सामान्य कवियों में नहीं चली। वह धर्म-गुरुओं और ज्ञानियों में अधिक चली। भारत के भी सभी रहस्यवादी कवि संत थे फिर भी यूरोपीय रहस्यवाद और भारतीय रहस्यवाद में अंतर है। हमारे देश में योग की क्रियाओं पर सदा से विश्वास किया जाता है और वे साधना के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं। हमारे रहस्यकाव्यों में भी इन क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। काव्य की दृष्टि से इन क्रियाओं का उल्लेख गणित की भांति नीरस होता है परंतु इसी कारण वे असत्य नहीं मानी जा सकतीं। यूरोप के विद्वान समीक्षक हमारे योग का मर्म न समझकर उसे पाषंड (Pseudo Mysticism) बतलाते हैं। इस प्रकार वे हमारी एक चिर-प्रतिष्ठित साधना प्रणाली को असत्य ठहराकर हमारी एक जातीय आधारशिला को उखाड़ फेंकना चाहते हैं। हमारे लिए यह कभी भी उचित नहीं कि हम भी उन्हीं की हां में हां मिलाएं। यदि हमारे संत महापुरुषों की योग क्रियाएं पाषंड हैं तो पश्चिमी धर्मगुरुओं और ज्ञानियों का संपूर्ण रहस्यवाद और अधिक पाषंड है।

प्रमाण के लिए हमें दूर नहीं जाना है। हमारे आधुनिक साहित्य में ही अनेक उदाहरण मिलेंगे। अनेक नवयुवक कवि जहां कुछ लिख लेने लगे वहां प्रियतममय सारे विश्व को देखने के सिवा दूसरी बात नहीं करते। गोस्वामी तुलसीदास ने कलियुग का वर्णन करते हुए ऐसों ही के लिए लिखा था कि संसार भर में वे स्त्रियां ही स्त्रियां देखते हैं। यौवन सुलभ उद्वेग में वे जिस वासनामूलक रहस्यवाद की सृष्टि करते हैं, वह अपने ढंग की अनोखी वस्तु होती है। जिस प्रकार हिंदी के शृंगारकाल में कलुषित वासनाओं के अगणित फुहारे कवित्त की पिचक्क से फूट निकलते थे, आधुनिक रहस्यवाद की प्रणाली भी उसी उपयोग में लाई जा रही है। कौन कह सकता है कि पश्चिम के रहस्यवादियों में सबके सब दूध के धोए ही हैं।

संतोष यही है कि कोई नकली प्राणायाम साधकर बहुत दिनों तक नहीं रह सकता और अंधेरे में ब्रह्मदर्शन कर कोई ब्रह्मज्ञानी नहीं कहला सकता। संसार सत्य और मिथ्या के भेद को समझता है। काल की वृत्ति हंस-वृत्ति होती है। वह दूध-पानी को अलग कर देती है। काल प्रवाह में पड़कर असत्य दूर हो जाता है और संसार अपना विकास चिरंतन सत्य का आधार लेकर करता है। विवेकशील साहित्य समीक्षक अध्ययन और अनुभव की सहायता से यह पता लगाकर कह सकता है कि कौन साहित्यकार अथवा कवि कितने गहरे पानी में है।

(सोमवार, 29 दिसंबर 1930)

सफल या असफल

काशी में एशिया शिक्षा सम्मेलन का अधिवेशन समाप्त हो जाने पर यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उठता है कि अधिवेशन सफल हुआ या असफल। यद्यपि हमें इस संबंध में लिखते हुए प्राप्त समाचारों का ही सहारा है फिर भी हम अधिवेशन के साथ अन्याय नहीं करेंगे। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि देश-विदेश से आए हुए सहस्रों शिक्षित प्रतिनिधि एक साथ मिले होंगे और उनका परस्पर विचार-विनिमय हुआ होगा। इस प्रकार के विचार-विनिमय के शुभ फलों को भी हम स्वीकार करते हैं। यह तो सम्मेलन के नाम से ही स्पष्ट है कि एशिया महाद्वीप अब प्रादेशिक सीमाओं को पार कर सार्वदेशिक एकता की आकांक्षा रखता है। यद्यपि यह सम्मेलन शिक्षा-सम्मेलन था पर शिक्षा भी जीवन का ही एक अंग है और उस जीवन में जातियों की अतीत संस्कृति, वर्तमान की सामाजिक, राजनीतिक स्थिति तथा भविष्य की आशा-आकांक्षा व्याप्त रहती है। आज एशिया की शिक्षा-समस्याएं प्रायः वैसी ही हैं जैसी भारत की हैं। जापान आदि कुछ देशों को छोड़कर सबमें शिक्षा की ज्योति अब तक चमक नहीं पाई है। इसी प्रकार एशिया के विशाल भू-खंड में इस समय नव-जीवन का प्रसार हो रहा है। पुरानी संस्कृतियां नवीन रूप धारण कर रही हैं, दासता की शृंखला तोड़ी जा रही है, और चेष्टा की जा रही है कि यह महा प्रदेश शक्ति संपन्न होकर स्थितशील बने। हम कहें तो कह सकते हैं कि एक प्रकार की स्थिति, एक-सी समस्याएं और एक ही आकांक्षाएं रखने वाले एशिया के प्रतिनिधि लगभग एक सप्ताह काशी में रहकर चुपचाप बैठे नहीं रहे होंगे। यद्यपि बहुत-सी बातें पत्रों में नहीं छपतीं पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि दूरागत प्रतिनिधियों के संपर्क से हमारी संकीर्ण दृष्टि को विस्तार मिला, एक-दूसरे को पहचानकर अवश्य घनिष्ठता बढ़ी।

एशिया शिक्षा सम्मेलन से अवश्य ही हमारी जानकारी बढ़ी और हमने यह समझने का उद्योग किया कि दूसरे देश किस-किस प्रकार अपने जटिल प्रश्नों को हल कर रहे हैं। उदाहरण के लिए चीनी-प्रतिनिधि श्री बोंग ने अपने यहां के मिडिल स्कूलों का विवरण देते हुए यह बतलाया कि चीन में शिक्षा को किस प्रकार व्यावहारिक बनाया जा रहा है और किस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों की अवस्था को देखकर अनुकूल शिक्षा का प्रबंध किया जा रहा है। कृषि-प्रधान स्थानों में कृषि-शिक्षा का प्रबंध किया गया है और अनेक प्रकार के जीवनयापन में उपयोगी सिद्ध होने वाले शिक्षालय खोले गए हैं। श्री बोंग के कथन के अनुसार काम करने की सबसे अधिक आवश्यकता हमारे देश में है।

हमारे देश के जिन-जिन महानुभावों के व्याख्यान हुए थे अधिकतर आदर्शवाद की ओर झुके हुए थे। काशी नरेश से लेकर, श्री राधाकृष्णन और पूज्य मालवीयजी आदि ने शिक्षा संबंधी उच्च आदर्शों का ध्यान दिलाया। और तो और, पश्चिमी शिक्षा प्राप्त अंग्रेज विद्वान श्री मैकेंजी ने भी अपने स्वप्न का विवरण देकर भारतीय शिक्षा प्रणाली की प्राचीन रीति का ही संकेत किया। यद्यपि हम मानते हैं कि ऐसे अवसरों पर व्यावहारिक कार्य बहुत कम हुआ करता है फिर भी हम अपनी विपन्न स्थिति को देखते हुए यह आशा करते थे कि हमारी शिक्षा-समस्या

की जटिलता सुलझाई जाएगी और सामूहिक शिक्षा प्रचार के कुछ उपाय सोचे जाएंगे। हम शिक्षा विभाग के प्रधान श्री मैकेंजी से इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण बातें सुनने के इच्छुक थे, पर उन्होंने सरकार की वर्तमान शिक्षा नीति पर कुछ न कहकर काशी के पंडित का ही आख्यान देना उचित समझा। हम तो यह समझते हैं कि भारत सरकार भारतीय जनता के अशिक्षा अंधकार को दूर करने में उचित सहायता नहीं पहुंचा रही। हजारों बेकार उच्च शिक्षितों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ाने में सरकार यदि अपने कर्तव्य का पालन समझ रही हो तो यह उसका भ्रम है। हम तो अनुमान करते हैं कि बेकारी की बढ़ती संख्या देखकर शिक्षा के वर्तमान क्रम के प्रति विद्रोह प्रारंभ होने वाला है। यदि सरकार शीघ्र ही शिक्षित समाज की बेकारी की दवा नहीं करेगी तो वह दिन आ रहा है जब उसके विश्वविद्यालयों के प्रति आकर्षण दूर हो जाएगा और शिक्षित न बनकर अशिक्षित बने रहने की लोक प्रवृत्ति जोर पकड़ेगी।

शिक्षा संबंधी उच्च आदर्शों का महत्व हम समझते ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। हम पूज्य मालवीयजी द्वारा निर्दिष्ट शिक्षा के लक्ष्य से सर्वथा सहमत हैं। मानव समाज का भविष्य किस प्रकार सुचारु रूप से बन सके, किस प्रकार ईर्ष्या-द्वेष दूर हो, लूट-खसोट का स्वामित्व कैसे मिटे और अंत में ईश्वर के राज्य में सबको समानाधिकार किस प्रकार प्राप्त हो, यह सबसे बड़ी शिक्षा समस्या है। हम उनके और श्री राधाकृष्णन के विश्वबंधुत्व और संसारबंधुत्व के उद्देश्यों के प्रति श्रद्धा करते हैं। श्री काशी नरेश ने शिक्षा का चरम लक्ष्य बतलाते हुए ब्रह्मप्राप्ति अथवा मुक्ति का निरूपण किया है। ये सब बहुत बड़ी-बड़ी बातें हैं जो ऐसे बड़े-बड़े अवसरों पर शोभा देती हैं।

फिर भी हम शिक्षा के सामयिक स्वरूप के संबंध में अंधकार में ही पड़े रहते हैं। इस दृष्टि से सम्मेलन को यथोचित सफलता नहीं मिली। शिक्षा विभाग में कार्य करने वाले उच्च-पदस्थ कर्मचारियों ने इस संबंध में शिथिलता दिखलाई है। इसका कारण क्या है यह हम नहीं कह सकते। शिक्षा-सम्मेलन के साथ-साथ राजनीति भी कार्य कर रही हो तो आश्चर्य नहीं। अंत में हम यही कहेंगे कि यद्यपि एशिया शिक्षा सम्मेलन का वह प्रथम अधिवेशन समय की स्थिति देखते हुए सफल हुआ है पर शिक्षा संबंधी व्यावहारिक समस्याओं पर विचार कर यह और अधिक सफल हो सकता था।

काशी विश्वविद्यालय—2

इस शीर्षक के हमारे पिछले अग्र-लेख के बाद काशी विश्वविद्यालय के संबंध में सरकार की राय कुछ स्पष्ट रीति से मालूम पड़ी है। सुना जाता है कि सरकार की ओर से विश्वविद्यालय के अधिकारियों को एक सूचना भेजी गई है और कहा गया है कि उन्हें पूरा करने का वचन देने पर विश्वविद्यालय को सरकारी सहायता मिल सकेगी। प्रश्न किया जा सकता है कि जब सरकार ने एक बार बिना किसी शर्त के विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता देने का वचन दिया है तब

दूसरी बार शर्तें पेश करना क्या वादाखिलाफी नहीं है? दूसरा प्रश्न यह कि जो काशी विश्वविद्यालय अपने किन्हीं गुणों के कारण केंद्रीय सरकार की सहायता पाने का हकदार था, उसके सामने शर्तें पेश करना क्या उसके आत्मसम्मान को चोट पहुंचाना नहीं है? जनता के इतने रुपए शिक्षा-विभाग में खर्च करने के लिए लेकर, उसकी प्रायः सबसे बड़ी शिक्षा-संस्था की प्राप्य रकम रोक रखने में सरकार ने लोकमत का कितना ध्यान रखा है और सरकार के पास इस बात का प्रमाण क्या है कि वह जनता के उस धन का कोई दूसरा अच्छा उपयोग करेगी?

सरकारी शर्तों में एक शर्त यह भी कही जाती है कि मालवीयजी विश्वविद्यालय के कुलपति-पद से पृथक कर दिए जाएं। यह शर्त किस भाव से प्रेरित होकर उपस्थित की गई है, यह हम नहीं समझ सकते हैं। किसी भी विश्वविद्यालय के लिए इस प्रकार की शर्त कड़ी है पर काशी विश्वविद्यालय के लिए तो यह मानहानिकारिणी है। मालवीयजी और विश्वविद्यालय आज परस्पर समवाची शब्द हो रहे हैं। केवल इस विचार से नहीं कि मालवीयजी ने उसके लिए करोड़ों रुपए एकत्र किए हैं। नहीं, यह तो एक साधारण व्यावहारिक बात हुई। मुख्य बात है कि मालवीयजी का उच्चतम और पवित्रतम व्यक्तित्व जो विश्वविद्यालय के चतुर्दिक शुद्ध वायु की भांति फैला हुआ है और जिसके कारण आज देश के सुदूरस्थित प्रदेशों और विदेशों के भी कितने ही हिंदू सभ्यताभिमानी, हिंदू संस्कृति प्रेमी माता-पिता अपने प्रिय पुत्रों को मालवीयजी के संरक्षण में रखकर निश्चिंत हो जाते हैं। काशी विश्वविद्यालय में मालवीयजी के व्यक्तित्व की अमिट छाप लगी हुई है। मालवीयजी के ही कारण आज वह हिंदू जाति का सर्वप्रमुख और प्रतिनिधि ज्ञानागार हो रहा है। काशी विश्वविद्यालय यदि अपने उच्च आदर्शों का कुछ भी ज्ञान रखता है तो वह सरकार के इस प्रस्ताव को किसी भी अवस्था में मान नहीं सकता।

आदर्श ही नहीं व्यवहार की दृष्टि से भी देखिए। विश्वविद्यालय कुछ सरकार की ही सहायता पर निर्भर नहीं है। सरकार से उसे जो रकम मिलती है वह उसके वार्षिक व्यय का शायद चतुर्थांश होगा। शेष धन उदार और धर्मप्रिय देशी नरेशों, सेठ-साहूकारों तथा कुछ जनता से भी प्राप्त होता है। यह मालवीयजी के अध्यवसाय का ही नहीं, उनके पवित्र व्यक्तित्व का भी परिणाम है कि विश्वविद्यालय के उदार सहायक यथोचित रूप में मिल जाते हैं। पूज्य मालवीयजी की अनुपस्थिति में विश्वविद्यालय को उतना महान अध्यवसायी व्यक्ति मिल नहीं सकता पर यदि असंभव संभव हो और ऐसा व्यक्ति मिल भी जाए तो मालवीयजी का-सा पवित्र और सर्वजन-सम्मान्य व्यक्तित्व तो देश भर में कहीं दीख नहीं पड़ता। इस युग की समस्त हिंदू जनता के सर्वश्रेष्ठ श्रद्धा भाजन पूज्य मालवीयजी ही हैं।

विश्वविद्यालय ने सरकार का यह प्रस्ताव अस्वीकार कर स्वाभाविक विवेक का परिचय दिया है। सरकार ने दुबारा जो प्रस्ताव रखे हैं वे विश्वविद्यालय की आर्थिक जांच और नियंत्रण संबंधी है। इन व्यावहारिक समस्याओं पर विचार करने में हम असमर्थ हैं क्योंकि हम उनसे ठीक-ठीक परिचित नहीं हैं। ... मालवीयजी अब जेल-मुक्त हो गए हैं और वे काशी पहुंच चुके हैं। हमारे पिछले प्रस्ताव के अनुसार विश्वविद्यालय के शिक्षा-संस्था पर भूतपूर्व वाइसराय लार्ड हार्डिज भी विश्वविद्यालय का निरीक्षण करने गए। पूज्य मालवीयजी जैसे शिक्षा संपन्न और

दूरदर्शी महापुरुष के हाथ में काशी विश्वविद्यालय पूर्ण रूप से सुरक्षित है। उनकी उपस्थिति में कुछ भी सम्मति देना अधिकार समझते हैं। हम तो केवल यह विश्वास मात्र प्रकट कर सकते हैं कि विश्वविद्यालय अपने उद्देश्य पर अटल रहेगा और प्रोफेसर एनस्टीनजी का अंत तक आभारी रहेगा।

हमारे साहित्य का भविष्य–5

छायावाद और रहस्यवाद के अतिरिक्त अन्य अनेक वाद हिंदी में प्रचलित हुए हैं जिनमें हृदयवाद भी एक है। अब से कुछ समय पहले हमने हृदयवाद के संबंध में यह मत निरूपित किया था कि यह संस्कृत के मुक्तकों और उर्दू की दर्द भरी ग़ज़लों के ढंग की सृष्टि है जिसमें कोई महत्वपूर्ण विशेषता नहीं होती। पीछे हमने अनुभव किया कि वर्तमान राजनीतिक वातावरण की कविता-वाणी यही हृदयवाद है जिसमें अग्रता और उत्साह उतना नहीं जितना जलन और तड़प है। उग्रता और उत्साह की अपेक्षा हमें जलन और तड़प में राष्ट्रीय अनुभूतियों का अधिक सच्चा चित्र दीख पड़ता है।

कहा जाता है कि हृदयवाद की कविता भावावेश के समय लिखी जाती है, जब कवि अपना अस्तित्व खो देता है और प्रकृति उसके हाथ से लेखनी लेकर स्वयं लिखने लगती हैं। यह बात ठीक नहीं क्योंकि कवि का अस्तित्व ऐसी रचनाओं में अधिक मात्रा में देखा जाता है। अंग्रेजी की (Lyric) गीत कविताओं की यह एक प्रधान विशेषता होती है कि उनमें कवि का व्यक्तित्व प्रधान होता है। छोटी-छोटी कविताओं में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। *रामायण* और *महाभारत* के महाकाव्यों के व्यापक देशकाल का विराट चित्र अंकित करते-करते कवि वाल्मीकि और व्यास उसी में अंतर्लीन हो गए हैं, आज ऐतिहासिक खोज के द्वारा उनका व्यंग्य भले ही किया जाता हो परंतु इसका उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसके विरुद्ध छोटे-छोटे गीतों के कवि व्यक्तित्व व्यंजना अधिक मात्रा में करते हैं। आजकल के महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर भी जो कविता में व्यक्तित्व के दबाने की अपील करते हैं अपनी गीत-रचनाओं में खुल पड़े हैं। फिर हिंदी की हृदयवाद की कविता की ऐसी हिमायत करना तो और भी असंगत जान पड़ता है।

ऊपर के विवेचन में छायावाद और रहस्यवाद का जो विभेद हमने किया है उसके अनुसार छायावाद में आधुनिक नवीन शैली की रचनाएं एक बड़े परिमाण में आएंगी। पर रहस्यवाद के अंतर्गत बहुत ही थोड़ी कृतियां आ सकेंगी। छायावाद सामान्य रीति से भौतिकवाद का विरोध करता और आध्यात्मिक प्रेरणा प्रकट करता है, परंतु रहस्यवाद भारतीय चरम दर्शन का अनुभूतिजन्य रूप है जिसके अंकन में योग की क्रियाएं भी सहायक होती हैं। इसे पश्चिम वालों के कहने से हम सांप्रदायिक नहीं कह सकते और न उनके कहने से इसे पाषंड ही कह सकते हैं। जो विद्वान समीक्षक संप्रदाय शब्द का नाम ही सुनकर नाक-भौंह सिकोड़ने लगते और अपनी उदारता पर वज्राघात हो जाने की शंका से इससे दूर भागने में ही कल्याण मान

लेते हैं, उनमें से अधिकांश अनुवेगपूर्ण प्रकृति के होते हैं जो किसी सत्य पर जमकर विश्वास नहीं करते और अपने अविश्वास को नेति-नेति कहकर छिपाना चाहते हैं। संप्रदाय एक घेरा है, पर इस प्रकार तो देश, जाति, काल के भी घेरे हैं जिनके परे हम जा ही नहीं सकते। संप्रदाय ज्ञान की एक नवीन धारा है। वह उच्च कोटि के द्रष्टा की सृष्टि है। द्रष्टा में अनुभूति नहीं होती। यह संदेहवादी ही कहे तो कह सकता है। संप्रदाय पाषंडों का अड्डा होता है यह मत उन्हीं का होता है जो अपने को छोड़कर संसार भर को पाषंडी और अधंविश्वासी मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संप्रदाय का विरोध करने वाले यद्यपि तर्क करते समय व्यक्तिवाद का विरोध करते हैं पर वे स्वयं अपने व्यक्तित्व को संसार भर से ऊंचा उठाकर आसमान तक पहुंचा देते हैं। उनकी इस स्थिति का कोई कैसे समर्थन कर सकता है? इस संबंध में हमें अभी बहुत कुछ कहना है।

छायावाद, रहस्यवाद, हृदयवाद आदि का प्रयोग करते हुए हमें शास्त्रपक्ष का न तो कुछ पता था और न हम पता लगा ही सके। आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि विद्वानों को यह बात बहुत खटकेगी परंतु हम निवेदन करेंगे कि यह युग व्यक्तिप्रधान है। शास्त्र तो सिद्धांत प्रधान होते हैं। वे एक प्रकार से व्यक्ति की पूर्ण अवहेलना ही करते हैं। इस प्रकार सारा युग गति का शास्त्रों की गति से मेल नहीं खाता। युग का प्रवाह अत्यंत तीव्र होता है, उसकी शास्त्रीय स्थिरता से तुलना की ही नहीं जा सकती। जो विद्वान शास्त्र की अधिक बारीकी से छान-बीन करने में लगते हैं वे युग-धर्म को सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से देखने का अवसर खो देते हैं।

'हृदयवाद' का ही उदाहरण लीजिए, इसकी शास्त्रीय व्याख्या क्या होगी? हमें कहते हिचक मालूम पड़ती है पर हम शक्ति समेटकर एक बार कह देंगे कि हृदयवाद का अर्थ वही है जो शास्त्रीय रसवाद का है। शास्त्र सम्मत संपूर्ण रस संप्रदाय हृदयवाद के घेरे में आ जाता है। शेष वादों के लिए वह छोटा पड़ने लगता है। आचार्य शुक्लजी ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक *काव्य में रहस्यवाद* में इस रस संप्रदाय पर बड़ी-बड़ी आशाएं बांधी हैं और यह विश्वास प्रकट किया है कि भविष्य की काव्य-समीक्षा में यह भारतीय रस-संप्रदाय बड़े महत्व का सिद्ध होगा। पर जान पड़ता है, युग की अनेकमुखी अभिरुचि केवल नवरस में समाना पसंद नहीं करेगी।

रस-संप्रदाय का जो विधि संस्कृत के अलंकार शास्त्रों में किया गया है। वह दूसरे ढंग का है। आधुनिक साहित्यकारों में कवींद्र ने, स्मरण पड़ता है, अपने एक निबंध में कुछ संकोच के साथ थोड़े शब्दों में अपनी विधवाणी व्यक्त की है। सुना है हाल में काशी के बाबू जयशंकर प्रसाद ने रस-संप्रदाय के विरोध में एक गवेषणापूर्ण निबंध लिखा है। प्रसादजी जैसे अध्ययनशील और विद्वान व्यक्ति शास्त्रीय पद्धति के अनुसार अपना मत प्रकट कर इस क्षेत्र में अग्रणी बन सकते हैं। यह एक बहुत बड़ा साहित्यिक प्रयोग होगा इसमें तो संदेह ही क्या है?

व्यावहारिक दृष्टि से भी रस-संप्रदाय न तो साहित्यकारों, न साहित्य-समीक्षकों और न साहित्य-रसिकों का यथोचित अभीष्ट सिद्ध कर सकेगा। 'कृति और कृतिकार' शीर्षक, अपने एक पिछले लेख में, इन्हीं स्तंभों में, हम कुछ त्रुटियों का उल्लेख कर चुके हैं। प्रकृति के अनुकूल न होते हुए भी हम एक छोटा-सा प्रहसन लिखने का विचार करते हैं जिसमें कई प्रकार से रसदेव

को बनाने का उपक्रम किया जाएगा। यदि हिंदी के कोई योग्य प्रहसन लेखक चाहें तो वे इस विषय को लेकर एक बड़ी ही सुंदर रचना कर सकते हैं। सामग्री हमसे भी मिल सकती है।

रस-संप्रदाय अधिक से अधिक एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। वह अक्रिय है। वह सामूहिक है। इन कारणों से वह हमारी चिरजाग्रत उद्वेगशील और व्यक्ति-बहुल साहित्यिक पिपासा को 'शायद' शांत नहीं कर सकेगा। 'शायद' इसलिए कि सैकड़ों-सहस्रों वर्षों से प्रचलित परिपाटी और उसके विद्वान समर्थकों को सहसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना तो अवश्य कहा जाएगा कि नवीन युग रस-संप्रदाय पर अव्याप्ति, अक्षमता, अनुपयोगिता आदि के दोष लगाने लगा है और उसका भविष्य निरापद नहीं।

(शुक्रवार, 2 जनवरी 1931)

नाम बड़ा दर्शन थोड़े

पिछले सप्ताह प्रयाग के एक मुहल्ले में मुसलमानों की जो जमात हुई थी, उसे अखिल भारतीय मुस्लिम-लीग की बैठक बतलाना देश की मुसलमान जाति का अपमान करना है। पत्रों में इसके संबंध में जो चर्चा हो रही है और उसमें दिए गए भाषणों पर जो टीका-टिप्पणी की जा रही है उनसे अधिवेशन को उचित से अधिक महत्व मिल जाता है। पर जिन्होंने लीग के अर्थकष्ट की बात सुनी है, कोरम भी पूरा न हो सकने का जिन्होंने हाल पाया है और जिन्होंने अपनी आंखों से कच्चे-बच्चे मिलाकर पांच-छह सौ मुसलमानों की वह अखिल भारतीय बैठक देखी है उन्हें इस बात पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रतिष्ठित संस्थाओं के कितने भयानक दुर्दिन आ सकते हैं और पुराने नामों की आड़ में थोड़े से गुमराह आदमियों को नाम कमाने के कैसे-कैसे मौके मिल सकते हैं। नाम बड़ा दर्शन थोड़े का उदाहरण पाने के लिए मुसलमानों के इस अखिल भारतीय अधिवेशन को देख लेना काफी था। मुसलमान स्वाभाविक रीति से धर्मप्रिय होते हैं और उनमें धार्मिक मामलों में संघबद्ध होकर भाग लेने की प्रवृत्ति भी अधिक होती है पर प्रयाग के इस अधिवेशन में तो यह सब कुछ भी नहीं दीख पड़ा। जो थोड़े से व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए उनमें भी अर्द्ध शिक्षितों और अशिक्षितों की कमी नहीं रही होगी अन्यथा सभापति डॉक्टर सर इक़बाल के अंग्रेजी भाषण को उर्दू में दोहराने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती। दूसरे दिन छोटा-सा सौ-पचास आदमियों का एक गोल शहर में मजहबी गीत गाता हुआ घूम रहा था। उसके प्रति भी मुसलमानों का विशेष आकर्षण नहीं था। इसका प्रमाण प्रत्यक्ष देखने से मिल सकता था। भीड़ कम होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि मुसलमान उस दिन बड़ी संख्या में स्थानीय हाईकोर्ट के मैदान में क्रिकेट का खेल देखने चले गए थे।

यह सब समय की गति है, किसी का कसूर नहीं। अब वह जमाना चला गया जब धर्म के नाम पर पाखंड का अधिकार था। यदि चला नहीं गया तो तेजी से चला जा रहा है। गोल

बनाकर 'हरि बोल' 'हरि बोल' अथवा 'अल्लाह अल्लाह' चिल्लाने के ये दिन नहीं हैं। नवीन युग के नवयुवक अब ढोल के भीतर की पोल पहचानने लगे हैं। वे धर्म पर विश्वास नहीं करते, यह बात नहीं है। बात यह है कि वे बूढ़ों की भांति धर्म को जीवन से अलग कुछ नामों का संग्रह और कुछ क्रियाओं का कलाप नहीं समझते। वे धर्म को जीवन प्रवाह के भीतर देखते हैं, जीवन को ही धर्म समझते हैं। इसी कारण आज नवयुवक समाज का धर्म मंदिरों और मस्जिदों से ही संबंध न रखकर जीवन के विशाल और व्यापक क्षेत्र में पहुंच रहा है। नवीन भारत का प्रमुख धर्म राष्ट्रीयता हो रही है जिसके कारण आज पुरानी सदियों की शृंखलाओं को तोड़ने का उपक्रम किया जा रहा है। वियोग नहीं, संयोग युग-धर्म बन रहा है। हिंदू, मुसलमान, ईसाई नवयुवक अधिकाधिक एक होकर धर्म के व्यापक पहलुओं की ओर खिंचते दीख पड़ते हैं। वे डॉक्टर इक़बाल ही थे जिन्होंने एक बार कहा थाः

यूनान मिस्र रोमां सब मिट गए जहां से,
बाकी रहा है अब भी नामोनिशां हमारा।

आज देश के नवयुवक उन्हीं की कविता को चरितार्थ करने के लिए भविष्य में भी हिंदुस्तान का नाम बाकी बचाए रखने के लिए, जी-जान से प्रयत्न कर रहे हैं और यह अत्यंत अफसोस की बात है कि डॉक्टर सर इक़बाल अब अपनी ही पंक्तियों का अर्थ नहीं समझते। सर लग जाने से बुद्धि में कमी तो न आनी चाहिए।

डॉक्टर इक़बाल की आलोचना करने के बजाय उनसे सहानुभूति दिखाना ही अधिक उचित होगा। जीवन की बसंतश्री को भूले उन्हें बहुत दिन हो गए। वे नवयुवकों की आशा-आकांक्षा को नहीं समझ सकते। नवीन युग की नाड़ी पहचानने के योग्य वे नहीं रह गए। यह उनके जीवन का शिशिर काल है। अब शिथिल होकर, सिकुड़े बैठे रहने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया जा सकता। आरामतलबी के साथ धर्म का ग्रंथि-बंधन करने का यही समय होता है पर यह ग्रंथि-बंधन थोड़े दिन में ही टूट जाता है। डॉक्टर इक़बाल कितने भी बड़े कवि हों पर उनका मस्तिष्क ठंडा पड़ गया है। वे जीवन-संघर्ष का आनंद लेने योग्य नहीं रहे। नवीन युग के भविष्य स्वप्नों की अनुभूति उनकी कविता कामिनी अब नहीं कर सकेगी।

जब तक डॉक्टर अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जैसे मुसलमान नेता देश भर में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं तब तक डॉक्टर इक़बाल की मांगों के पूरा किए जाने की गुंजाइश नहीं दीख पड़ती।

सुना जाता है कि डॉक्टर साहब के भाषण का असर गोलमेज सम्मेलन पर अच्छा नहीं पड़ेगा। अब तक सम्मेलन के मुसलमान प्रतिनिधि जिस कट्टरता से अपनी मजहबी मांगों पर जमे हुए हैं उसमें और भी मजबूती आएगी। इसके लिए कोई क्या कर सकता है? जो मुसलमान प्रतिनिधि विलायत गए हुए हैं वे देश की मुसलमान जनता के सच्चे प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। श्री जोशी आदि प्रतिनिधियों ने यह बात जोर देकर कही है। पिछले दिनों मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड ने बंबई प्रांत और मुस्लिम नवयुवक समाज के प्रमुख शिक्षा केंद्र अलीगढ़ विश्वविद्यालय

का उदाहरण देकर यह स्पष्ट बतला दिया है कि नवयुग की प्रकृति किस ओर है। जिन्हें इस बात पर अब तक विश्वास नहीं होता था वे प्रयाग के पिछले अधिवेशन को देखकर अपना मत निश्चित कर सकते थे। 'नाम बड़ा दर्शन थोड़े' को समझकर ही इस अधिवेशन का मूल्य लगाया जाना चाहिए। व्यर्थ के भ्रम में पड़ना अच्छा नहीं।

नए वर्ष का उपहार

अनेक राष्ट्रीय पत्रों ने आर्डिनेंसों की दूसरी किस्त को बड़े दिन का सरकारी उपहार मानकर स्वागत किया है। अब दूसरे प्रकार के पत्रों के लिए नए वर्ष के उपहार दिए गए हैं और वे उनका स्वागत करेंगे। ये नए वर्ष के उपहार उपाधियों और खिताबों के रूप में हमारे सामने आए हैं। एक जमाना था जब ये उपाधियां बड़े सम्मान और प्रतिष्ठा की सूचना देती थीं। पर आज तो ये सच्ची उपाधियां हो रही हैं। हमने ऐसे अनेक उपाधिधारी देखे हैं जो अपनी उपाधियों को छिपाने की कोशिश करते हैं और चाहते हैं कि कोई उनकी उपाधि का हाल न जाने पर आज से कुछ वर्ष पहले कुछ दूसरी ही हालत थी। बड़े-बड़े राष्ट्रीयताभिमानी व्यक्ति भी उपाधियों के लिए लालायित रहते थे और उन्हें पाकर अपने को सौभाग्यशाली समझते थे। एक समय था जब पूज्य मालवीयजी के बारे में प्रसिद्ध कवि डॉक्टर इक़बाल ने लिखा था, 'अब जल्द ही हो जाएंगे 'सर' मालवी'। और जहां तक हमें स्मरण है यह व्यंग्य के रूप में नहीं कहा गया था। यद्यपि बंगाल के स्वदेशी आंदोलन के समय भी कुछ उपाधियां त्यागी गई थीं। परंतु जब सन् 1921 में असहयोग की आंधी आई तब तो कितनी ही 'सर' की टोपियां उतरीं। इसी अवसर पर मालवीयजी ने अपने एक भाषण में कहा था मैं 'सर' मालवीय कहलाने की अपेक्षा पंडित मालवीय कहलाना सौगुना अच्छा समझता हूं। इसी समय से सरकारी खिताबों के प्रति लोकरुचि बदलने लगी थी।

यह सरकारी उपाधियों का इतिहास है। इस वर्ष उपाधियों का जो तांता समाचारपत्रों में बंधा दीख पड़ता है उसे पढ़िए, जान पड़ेगा आप किसी स्वप्नलोक में विचरण कर रहे हैं। बीच-बीच में दो-एक परिचित नामों को पढ़कर आपकी निद्रा भले ही भंग हो पर उसे क्षणिक ही समझिए। बड़े-बड़े अद्भुत-अद्भुत नाम मिलेंगे जिन्हें आपने कभी सुना नहीं होगा। फिर जब उनके साथ लगे हुए पदों को, पुलिस सुपरिंटेंडेंट, कलक्टर, इंस्पेक्टर आदि पढ़ेंगे तब आपको जान पड़ेगा कि ये वास्तव में हिंदुस्तान में रहने वाले आदमी ही हैं, कोई और नहीं। अनेक नाम ऐसे भी मिलेंगे जो इस कठिन समय में अमन चैन बनाए रखने की चेष्टा में सरकार को मदद पहुंचा रहे हैं। इसी प्रकार और भी समझिए।

हम नहीं कह सकते कि वह समय कब आवेगा, जब जनता की रुचि के अनुकूल अनेक क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्ति उपाधियों से पुरस्कृत किए जाएंगे। हमारे देश में प्राचीन काल से भी साहित्यिकों, कवियों, वैज्ञानिकों, व्यवसायियों और साधुओं आदि को राज सम्मान मिलता

आया है। यूरोप के स्वतंत्र देशों में भी उपाधियों का वितरण लोकरुचि के अनुसार होने लगा है। हम भी उसी आशा में प्रतिवर्ष की उपाधियों को ध्यान के साथ देखा करेंगे। इस वर्ष हमारी प्रांतीय व्यवस्था-सभा के अध्यक्ष श्री लाला सीताराम को 'सर' की उपाधि मिली है। वे ही एक व्यक्ति लोकदृष्टि से उस सम्मान के अधिकारी ठहरते हैं। एतदर्थ उन्हें हार्दिक बधाई।

हमारे साहित्य का भविष्य–6

आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल रस-संप्रदाय के अनुयायी हैं। बंगाल के द्विजेंद्रलाल राय ने काव्य में जिस बाह्यद्वंद्व और अंतर्द्वंद्व का उल्लेख किया है और अपने नाटकों में जिसके उद्वेगपूर्ण चित्र दिखाए हैं वे रस-संप्रदाय वालों के अतिशय अनुकूल होंगे। उन्हीं द्वंद्वों का हवाला शुक्लजी अपने ढंग से देते हैं। वे रवि बाबू की आदर्शोन्मुख काव्य-समीक्षा को टाल्सटाय की प्रतिध्वनि बतलाते हैं और द्विजेंद्रलाल द्वारा की गई रवि बाबू के गीतों की आलोचना का समर्थन करते हैं। वे करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने में तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में, अधिक सौंदर्य देखते हैं। वे कहते हैं कि हम करुणा और क्रोध के इस सामंजस्य में मनुष्य के कर्म-सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं। सचमुच आलंबन, उद्दीपन, आश्रय आदि बड़ी आसानी से इस प्रकार की कविता में मिल सकेंगे और रस की अधिक से अधिक (रस में कर्म-वेणी का प्रश्न भी उठ सकता है) निष्पत्ति भी हो सकेगी। परंपरा से चले आते हुए शास्त्र-पक्ष का पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है। और शायद किसी बात की कमी नहीं रह जाती।

यदि कुछ कमी रह जाती है तो दोष किसी का नहीं है, दोष है युग की गति का। शुक्लजी ने अपने पक्ष-समर्थन में वाल्मीकि के *रामायण* का निदर्शन दिया है। पर वह निदर्शन असामयिक है। महाकाव्यों, वर्णनात्मक प्रसंगों आदि का स्थान उपन्यास और आख्यायिकाएं ले रही हैं, इसलिए शुक्लजी का उपर्युक्त विश्लेषण उनमें (उपन्यासों आदि में) खूब अच्छी तरह चरितार्थ होता है। उपन्यासों की रसात्मकता के कारण आज वे खूब चाव से पढ़े जाते हैं, कुछ थोड़े से उत्कृष्ट वर्णनात्मक काव्यों की ओर भी अच्छी लोकरुचि है पर काव्य की आधुनिक प्रवृत्ति मधुर गीतों द्वारा आत्मनिवेदन नहीं किया जाता वहां लघु रमणीय छंदों में प्रेम की, सौंदर्य की ओर प्रकृति की अत्यंत मर्मस्पर्शी विवृत्ति करने की चेष्टा की जाती है, जिसकी परिणति भी आत्म-निवेदन ही है। इन मधुर प्रसंगों में भिन्न-भिन्न रसों को ढूंढ़ना मुख्य विषय से हाथ धो बैठना है। वेदों की ऋचाओं में कौन-सा रस है? क्या अद्भुत रस? *महाभारत* महाकाव्य के सबसे अधिक मूल्यवान अंश *गीता* के विराटरूप को हम-आप अद्भुत कर लें पर श्री कृष्ण का लक्ष्य अर्जुन को आश्चर्य में डालना नहीं था, उसके आश्चर्य का (शंका कह लीजिए) निवारण करना था। ठीक उल्टा लक्ष्य। जान पड़ता है 'रसवाद' हमें कभी-कभी धोखा भी दे सकता है।

और यदि एक ओर *रामायण* है तो दूसरी ओर *विनय पत्रिका* भी तो है। इसमें तो भक्त और भगवान का ही पक्ष है, कोई तीसरा पक्ष तो नहीं। रवि बाबू ने टाल्सटाय की चोरी की होगी पर क्या तुलसीदास ने भी की थी? आधुनिक *गीत काव्य विनय पत्रिका* के ही वंशज है। *विनय पत्रिका* में और उनमें भेद है तो यही कि आजकल समय की गति के अनुसार नवीनता है। अजामिल, प्रह्लाद आदि बदलकर नवीन रूप धारण कर रहे हैं। मध्यकालीन कवियों ने उस संबंध में जो कुछ कहना था कह डाला। *सूर-सागर* लबालब भर गया। अनुकरण काव्य की विभूति नहीं है। कविता में नवीनता की खोज हुई है, पश्चिमी शैली का प्रभाव पड़ा है पर परंपरा वही है जो *विनय पत्रिका* में एक दूसरे रूप में थी। *रामायण* में यदि कर्म-सौंदर्य खिल उठा है तो *विनय पत्रिका* में भी भक्ति भावना चमक उठी है। इन दोनों में कौन-सा पक्ष अधिक काव्योपयोगी है। इस संबंध में कोई भी निर्णय विवाद से खाली नहीं हो सकता। तब भिन्न रुचि के लिए जगह छोड़नी होगी। हमारा विश्वास है कि युग-रुचि दूसरे पक्ष में है।

अंग्रेज विद्वान चेस्टरटन की भांति श्रद्धेय शुक्लजी भी विवाद-ग्रस्त बातों को निर्विवाद होने का आभास देते हैं। इस प्रकार की नीति अपने पक्ष समर्थन में चाहे जितनी उपयुक्त हो पर निष्पक्ष काव्य-समीक्षा के लिए अतिशय हानिकारिणी होती है। शुक्लजी जैसे उत्तरदायी विद्वान से ऐसी आशा नहीं की जाती कि वे अपनी वकालत करेंगे, आशा यह की जाती है कि वे न्याय करेंगे। परंतु ऐसी आशा करने से धोखे में पड़ना भी अवश्यंभावी है। एक स्थान पर वे कहते हैं—'जगत भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।' यह वाक् छल क्यों? तर्क पर तर्क पेश कर अपनी शक्तिपूर्ण शैली से पाठकों को खींचकर स्वतंत्र विवेचन का रास्ता रोक देना यद्यपि शुक्लजी के सामर्थ्य का परिचायक है पर काव्य-समीक्षा के अहित का भी सूचक है। काव्य यदि अभिव्यक्ति (जगत) की ही अभिव्यक्ति है तो यह अत्यंत पार्थिवोन्मुख धारणा है। फिर उसी रस-संप्रदाय का प्रश्न आता है जो इस व्याख्या के अनुकूल पड़ता है। परंतु यदि काव्य और जीवन का तारतम्य बनाए रखना है तो जीवन की-सी निस्सीमता काव्य को भी स्वीकार करनी पड़ेगी। रसवाद तो कोरा प्रत्यक्षवाद है परंतु जीवन में प्रत्यक्षवाद ही सब कुछ नहीं। न जाने किस अतीत युग से ईश्वर संबंधिनी कितनी रहस्यमयी भावनाएं मानव जीवन के साथ-साथ लगी चली आ रही हैं, उनकी मर्मस्पर्शिनी अनुभूति पार्थिव प्रत्यक्षवाद को भी सरस और उदार बना सकती है। यह प्रत्यक्षवाद निश्चय ही संदेहवाद और नास्तिकता की सृष्टि करेगा, यह बात *साधना* लेखक राय कृष्णदासजी ने *अजातशत्रु* की भूमिका में दूसरे ढंग से कही है। भारतीय चरम दर्शन के साथ काव्य का सामंजस्य बनाए रखने के लिए, प्रत्येक आस्तिक का यह कर्तव्य है कि वह रसवाद अथवा प्रत्यक्षवाद की सीमा स्वीकार करे।

पर रसवाद को निस्सीम बतलाकर और रहस्यवाद की कनकौए से तुलना कर विद्वान शुक्लजी ने नवीन कविता के साथ अन्याय किया है। छायावाद अथवा रहस्यवाद का क्षेत्र स्वतः पूर्ण है। मनुष्य के अध्यात्मपक्ष का संपूर्ण निरूपण इस प्रकार की कविता की सीमा के अंतर्गत है। शुक्लजी ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए अंग्रेजी कविता के उदाहरण लिये हैं और ब्लेक

आदि थोड़े से मध्यम श्रेणी के कवियों को ही रहस्यवादी बतलाया है। रहस्यवाद की कविता का उत्कर्ष इस प्रकार कम नहीं किया जा सकता। हम जिस अर्थ में छायावाद अथवा रहस्यवाद को लेते हैं उसमें ब्लेक ही नहीं, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि अनेक प्रमुख कवियों की अनेक उत्कृष्ट रचनाएं आएंगी। वर्ड्सवर्थ प्रकृति के परम प्रेमी कवि थे। उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों में एक चेतन सत्ता की झलक देखी थी जिसे देख-देखकर वे आनंदमग्न होते थे। उनकी जिन अनेक रचनाओं में यह प्रकृति प्रेम आप्लावित हो रहा है, वे रहस्यवाद की ही कही जाएंगी। कवि शैली ने इस पार्थिव संसार से चिढ़कर जिस आदर्श काल्पनिक जगत की सृष्टि की है वहां कवि की अध्यात्मोन्मुख भावना अपना मूल्य खो नहीं देती। वह भी छायावाद है। कवि कीट्स को बाह्यार्थवादी कहा गया है। परंतु जिन्होंने उनकी लिखी (Beauty is truth, truth beauty) आदि पंक्तियां पढ़ी हैं वे उन्हें रहस्यवादी ही स्वीकार करेंगे। इनके अतिरिक्त प्रेममूलक अथवा दार्शनिक रहस्यवाद के Blake आदि कवि भी हैं। इन पिछले प्रकार के कवियों की रहस्यभावना बहुत कुछ स्वाभाविक थी, परंतु पीछे से कविता को झूठी अनुभूतियों का प्रकाशन साधन बना लेने वाले कुछ धर्म गुरु हुए जिन्होंने रहस्यवाद में पाषंड की सृष्टि कर उसे कलुषित कर दिया। यह दोष रहस्यवाद का नहीं। रहस्यवाद के झूठे कवियों का है। हम उनका उचित तिरस्कार करते हैं।

(सोमवार, 5 जनवरी 1931)

आर्थिक संकट

यदि सन् 1930 संसार के राष्ट्रों के लिए आर्थिक संकट का साल कहा जाए तो शायद अनुचित न होगा। व्यापारिक रिपोर्ट देखने से यह पता चलता है कि पिछले वर्ष संसार के बड़े से बड़े राष्ट्र को आर्थिक-संकट सहना पड़ा तथा व्यवसाय की दिन-पर-दिन अवनति होती गई। दाल, सन, रूई, चमड़ा, तेल के बीज आदि का मूल्य प्रथम महासमर के पहले की दर से भी नीचे संभव है, गिर गया हो परंतु इतनी मंदी, जहां तक याद है, पहले देखी-सुनी नहीं गई थी। यह मंदी मजदूरों और नौकरी-पेशा वालों के लिए लाभदायक हो सकती है परंतु किसानों की आमदनी आधी करके उनको संकट में डाल रही है। मूल्य गिर जाने से व्यापारियों की हानि विशेष रूप से हो रही है। राष्ट्रपति परिषद् ने जो समिति सन् 1929 में, सोने के मूल्य में कमी और उसकी घटती-बढ़ती के मुख्य कारण की जांच के लिए, बैठाली थी उसकी 17 जून सन् 1930 को प्रकाशित की हुई रिपोर्ट से मालूम होता है कि व्यापार के पतन का मुख्य कारण आर्थिक संकट है। महासमर के बाद यूरोप और अमेरिका के राष्ट्रों में खेती से पैदा होने वाली चीजों के मूल्य की कमी विशेष रूप से चिंताजनक है। इटली, फ्रांस तथा जर्मनी में बड़ी नियति-चुंगी लगाकर गेहूं की पैदावार को बहुत कुछ तरक्की दी गई है। सोवियत रूस भी अपने

यहां के नए-नए यंत्रों से गेहूं पैदा करके संसार का बाजार सस्ते दाम में भर रहा है। इधर जनता में खरीदने की शक्ति, महासमर से पैदा हुई असंबद्धता तथा उसके कर्ज चुकाने के कारण बहुत कम हो गई है। इन्हीं कारणों से आज अमेरिका और यूरोप के व्यापार का पतन हो रहा है और 120 लाख आदमी बेकार हो गए हैं।

भारत में आर्थिक संकट राजनीतिक वातावरण के रूप में बदल गया है। बहिष्कार आंदोलन से भी व्यापार की बड़ी हानि हुई है। जनता का एक भाग आर्थिक संकट उत्पन्न होने का दोष यदि सरकार पर मढ़ता है तो दूसरा दल, जिसमें मजदूरी-पेशा वाले शामिल हैं, इसे 'गांधी का जादू' समझते हैं। गल्ला सस्ता होने और मूल्य गिरने से वे प्रसन्न हैं। अप्रैल से अंतिम अक्तूबर सन् 1930 तक भारत में अगले साल के और इस समय की आयात की तुलना में कई करोड़ की कमी रही। निर्यात के व्यापार में 50 करोड़ का कच्चा माल और 19 करोड़ का सन का बना सामान कम गया। इधर भारत सरकार को पुलिस, सेना और शासन के व्यय तथा मुद्रानीति के भयंकर परिणामों के कारण आर्थिक स्थिति उलझी हुई है। अभी हाल में कलकत्ते के प्रसिद्ध व्यापार के विशेषज्ञ श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ने भारत सरकार का ध्यान उसकी माली हालत की ओर आकर्षित किया है, जिसके अनुसार बजट में अनुमान से 80 करोड़ ज्यादा रुपया सूद-दर-सूद पर कर्ज लिया गया है। इसके सिवा अप्रैल सन् 1931 में बजट के 10 करोड़ रुपए की कमी का भी प्रबंध करना अभी सरकार के लिए बाकी ही है। प्रांतीय सरकारों की हालत अच्छी नहीं है। वर्तमान आंदोलन के कारण लगान, टिकट, कर तथा दूसरे मदों में भी कम वसूली का मुकाबला सरकार को करना पड़ रहा है। ऐसी दशा में प्रांतीय सरकारें यदि जनता की दयनीय दशा पर दया न दिखा सकी हों तो आश्चर्य नहीं, परंतु साथ ही इसके यह भी याद रखना चाहिए कि प्रजा की हानि से उल्टा सरकार पर ही बुरा असर पड़ता है।

पिछली पहली जनवरी को चौदहवें अर्थशास्त्र सम्मेलन के सभापति डॉ. प्रमथनाथ बैनर्जी ने भी लाहौर के अपने व्याख्यान में यह स्पष्ट कर दिया है कि गवर्नमेंट के सेना, पुलिस और होम चार्जेज की अधिकता से शासन का भार और अपार हो रहा है। आपने वर्तमान अवस्था पर भी प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में आमदनी का सबसे बड़ा जरिया मालगुजारी था। इसके बाद आमदनी का दूसरा जरिया नमक का महसूल हुआ। इसके बाद अफीम का आधिपत्य और आबकारी की आमदनी हुई। जहां गरीब, मजदूर और भारतीय कृषक इन करों से लड़ रहे थे वहां विदेशी व्यापारी और पूंजीपूति मौजें उड़ाते रहे। गत वर्ष सेना का व्यय 75 करोड़ सत्तर लाख था।' खेती की अवस्था पर भी आपने कहा है—'सरकार इस ओर विशेष ध्यान नहीं देती। दुर्भिक्ष आदि में डेढ़ करोड़ खर्च किया जाता है। बेकारों, गरीबों और बूढ़ों के लिए बजट में गुंजाइश ही नहीं होती। परंतु नई दिल्ली को सजाने के लिए करोड़ों का व्यय किया जाता है। सरकार ने अनेक ऐसे कर लगाए हैं जो किसानों और मजदूरों के लिए भार स्वरूप हैं, हां अमीरों पर उसका उतना भार नहीं पड़ता।' मि. बैनर्जी के इन शब्दों से क्या यह प्रकट नहीं होता कि भारत के आर्थिक संकट, कला-कौशल की वृद्धि

और व्यापार की मंदी में सरकार का कहां तक हिस्सा है?

ऐसी दशा में सरकार का क्या कर्तव्य है? इस संबंध में जॉर्ज शुस्टर और वाइसराय ने जो अपने-अपने विचार प्रकट करते हुए दलीलें दी हैं क्या वे वास्तव में सराहनीय हैं? प्रजा तथा व्यापार की शक्ति दिनोदिन कम होती जा रही है। इसलिए सरकार का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह देश में सभी उद्योग-धंधे के पनपाने की पूरी चेष्टा करे। ऐसी ही नीति से जनता की बेकारी दूर होगी, व्यापार की उन्नति के साथ-साथ आर्थिक संकट दूर होगा।

स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद अली

प्रसिद्ध राष्ट्रीय विचार वाले मुसलमान नेता मौलाना मोहम्मद अली के मृत्यु समाचार से किस भारतीय का हृदय दुःखी न हुआ होगा। मौलाना साहब गोलमेज कॉन्फ्रेंस के प्रतिनिधि होकर लंदन गए हुए थे, साथ ही उनके वहां जाने का प्रयोजन अपने स्वास्थ्य का सुधार भी था। गोलमेज कॉन्फ्रेंस के अवसर पर मौलाना मुहम्मद अली ने जो जोरदार और विनोदपूर्ण व्याख्यान दिया था, वह उनके महत्व और वीरत्व को प्रकट करने वाला था। मौलाना साहब भारतवर्ष के एक जिम्मेदार और प्रभावशाली नेता तो थे ही, साथ ही, वे विद्वान और राष्ट्रीय विचारक भी थे। महासमर के साथ सरकार ने आपको नजरबंद कर दिया था। आपको देश-सेवा के लिए जेल भी जाना पड़ा। कराची खिलाफत कॉन्फ्रेंस के एक प्रस्ताव के संबंध में आपको दो वर्ष की सजा हुई थी। कोकोनाडा कांग्रेस के आप सभापति चुने गए थे। उस वक्त सभापति की हैसियत से आपने जो व्याख्यान दिया था उसमें वास्तव में जिंदादिली और राष्ट्र-प्रेम की अधिकता थी। असहयोग आंदोलन में मौलाना ने अपने बड़े भाई सहित महात्मा गांधी का साथ दिया। खिलाफत आंदोलन के आप प्राण समझे जाते थे। उस वक्त आपने हिंदू-मुसलमानों की एकता के लिए हृदय से उद्योग किया था।

मौलाना मुहम्मद अली हृदय के साफ और एक विचारवान व्यक्ति थे। वे कट्टर मुसलमान थे, परंतु जहां राष्ट्रीय प्रश्न आता था वहां वे अपने को भारतीय पहले और मुसलमान बाद में कहते थे। आपको यह पूरा विश्वास था कि भारत का भला बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के कभी नहीं हो सकता। इसी से स्वतंत्रता प्राप्त होगी। मौलाना मुहम्मद अली गोलमेज कॉन्फ्रेंस में अंतिम समय तक हिंदू-मुस्लिम उलझन को सुलझाने में लगे रहे। बीमारी की दशा में भी आप इस काम को महत्व देते रहे। इसलिए ऐसे समय में मौलाना की मृत्यु हो जाना और भी दुःखपूर्ण है जब कि गोलमेज कॉन्फ्रेंस में भारतीयों के भाग्य का निर्णय हो रहा है और मौलाना साहब इस काम को सफल बनाने में उद्योग कर रहे थे।

मौलाना मोहम्मद अली ने गोलमेज कॉन्फ्रेंस के अवसर पर अपनी स्त्री को संबोधन करते हुए प्रारंभिक व्याख्यान में यह कहा था कि 'या तो यह नर्स बनकर मुझे यहां से सकुशल वापस ले जाएगी या मेरी कब्र लंदन में ही बनेगी। मैं बिना स्वतंत्रता लिये गुलाम मुल्क में न जाऊंगा।'

आदि। यह किसी को स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि मौलाना की भविष्यवाणी वास्तव में सचमुच ही ठीक होगी। मौलाना मुहम्मद अली वास्तव में एक प्रसिद्ध भारतीय, विचारक, बेधड़क वक्ता और राष्ट्रीय नेता थे। आपके निधन से देश की जो हानि हुई है उसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

(शुक्रवार, 9 जनवरी 1931)

मजदूर सरकार की जिम्मेदारी

देश की स्वतंत्रता प्राप्त होने के लिए कितने ही वर्षों से आंदोलन हो रहा है। लोगों के हृदयों में शांति के स्थान पर अशांति अपना जड़ जमाए जा रही है। व्यापार का पतन हो रहा है, और आपस के मनोमालिन्य का आविर्भाव हो रहा है। नरम दल और गरम दल दोनों ही अपने-अपने तरीके, अपने-अपने ढंग और अपनी-अपनी विचार शैलियों से स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए उद्योग कर रहे हैं। यह ठीक है कि गरम दल के विचारों से लोग सहमत न हों, उसके स्वतंत्रता प्राप्ति के तरीके को गलत समझते हों और नरम दल के विचारों की उपयोगिता और उनके काम करने के ढंग को अच्छा समझा जाता हो परंतु वास्तविक बात यही है कि दोनों दलों का लक्ष्य और ध्येय भारत को स्वतंत्र बनाना है। भारतवर्ष में जो अशांति फैली हुई है उसका प्रभाव इंग्लैंड तथा अन्यान्य मुल्कों पर अच्छी तरह प्रकट हो चुका है। उन लोगों की समझ में आ गया है कि भारतीय अब अपने मुल्क की रक्षा स्वयं और संसार की उन्नति में अपना अलग विशेष भाग व्यक्त करना चाहते हैं। भारत सरकार ने उस आवश्यकता का अनुभव करके और भारतीयों को तत्व देने और संतुष्टि करने के लिए ही गोलमेज सम्मेलन की घोषणा की है।

इधर गोलमेज सम्मेलन के जो समाचार आते थे उनसे कुछ दुविधा जान पड़ती थी। परंतु सर तेजबहादुर सप्रू के विशेष प्रयत्न से स्थिति आशाजनक हो गई है। अब हिंदू-मुसलमानों में एक प्रकार का समझौता होने की आशा है और ऐसा मालूम होता है कि भविष्य में स्थिति में सुधार अवश्य होगा। डॉक्टर सप्रू ने जो व्याख्यान अभी पिछले सप्ताह दिया था, उसकी उपयोगिता ब्रिटेन के लिबरल दल के प्रमुख व्यक्ति लार्ड रीडिंग तक की समझ में आ गई। डॉक्टर सप्रू के इस विचार का कि पारस्परिक अविश्वास दूर करने का एकमात्र उपाय है पारस्परिक विश्वास। लार्ड रीडिंग ने बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया। आपने अंपने भाषण में कहा कि वाइसराय या गवर्नर जनरल भी किसी के सामने उत्तरदायी अवश्य रहेंगे। वे स्वेच्छाचारी बनकर नहीं रह सकते। 7-8 मिनिस्टरों का मंत्रिमंडल होना चाहिए जिसका संयुक्त उत्तरदायित्व होगा। इससे सभी मिनिस्टरों को विचार-विनिमय का मौका मिलेगा और शासन की नीति में एकता होगी। इस प्रकार से वाइसराय के जो बहुत से विशेष अधिकार होंगे उनका उपयोग करने की आवश्यकता ही नहीं होगी। साथ ही, आपने यह भी कहा कि

अंग्रेज लिबरल सदस्य, पार्लियामेंट में जब यह भारतीय प्रश्न उपस्थित होगा तब उसकी सिफारिश करेंगे। लार्ड रीडिंग का समर्थन भी उनके लिबरल दल के सदस्यों ने जोरदार शब्दों में किया है।

लार्ड रीडिंग के व्याख्यान और डॉक्टर सप्रू की स्कीम के उनके समर्थन से अनुदार दल के सदस्यों में एक प्रकार की हलचल पैदा की गई है। अनुदार दल के सदस्य सर सेमुएल होर ने डॉक्टर सप्रू की स्कीम का विरोध किया। उनके व्याख्यान से यह स्पष्ट पता चलता है कि अनुदार दल अभी भारतीय समस्याओं पर उदारता से विचार करने को तैयार नहीं है। उसकी आंखें ऐसे वक्त में भी नहीं खुल रही हैं। परंतु यह स्पष्ट है कि पार्लियामेंट में लिबरल दल का काफी जोर है और इस दल के सदस्य प्रभावशाली व्यक्तित्व रखने वाले हैं। इसलिए ऐसा विश्वास होता है कि भारत का प्रश्न पार्लियामेंट में जब पेश होगा तब उसमें सफलता प्राप्त होगी। परंतु अब प्रश्न यह है कि ऐसे समय में मजदूर सरकार का क्या कर्तव्य है। खासकर प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड का। वास्तव में मजदूर दल के सामने इस वक्त एक बड़ी भारी जिम्मेदारी का प्रश्न उपस्थित है। इनके हाथों में भारत और ब्रिटेन की सहयोगिता निर्भर है। प्रधानमंत्री को अब स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर देनी चाहिए कि उनकी सरकार का ऐसे समय में वास्तविक रुख किधर है और वह किस नीति का अवलंब करेगी। इस वक्त अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़कर ऐसा प्रयत्न करने की जरूरत है जिससे ब्रिटेन और भारत के बीच में सद्भावना की जड़-मजबूत हो। हमारा विश्वास है कि मजदूर दल भारत को स्वतंत्रता दिलाने और तरुण भारत को एक नए ढंग के सांचे में ढालने तथा शांति स्थापित करने का पूर्ण प्रयत्न करेगा। गोलमेज कॉन्फ्रेंस में जो समझौता और भविष्य में आशाजनक जो कार्य हुआ है, अब उसकी सफलता ब्रिटिश पार्लियामेंट और वर्तमान मजदूर गवर्नमेंट पर विशेष रूप से निर्भर है।

देशी रूई और मिलें

हाल के समाचारों से मालूम हुआ है कि कुछ देशी मिलों ने विदेशी रूई का खरीदना फिर प्रारंभ कर दिया है। गत पांच मास में इन मिलों ने 33,000 गांठ अमेरिकन रूई, 34,000 गांठ मिस्र की रूई और 22,000 गांठ अफ्रीका की रूई मंगाई है। इस प्रकार नकद दाम देकर बाहर की रूई मंगाई जाती है। यदि इसी प्रकार क्रम जारी रहा तो 10 महीने में कम से कम 75 हजार गांठ रूई और भी विदेशों से मंगा ली जाएगी। भारत की रूई की मांग न बढ़ने से इसका व्यवसाय मंदा पड़ता जा रहा है। इसका मतलब यह कि रूई के पैदा करने वालों को हानि हो रही है। यदि भारतीय मिलें यहां की रूई का उपयोग न करेंगी तो इसका परिणाम यह होगा कि हमारी संख्या और आंकड़े बिगड़ जाएंगे। चार वर्ष हुए यहां के मिल मालिकों ने 5 लाख गांठें रूई की अमेरिका से खरीदी थीं। परिणाम यह हुआ कि यहां रूई का भाव गिर गया और

उसके सुधारने में चार वर्ष लग गए। इसलिए ऐसी हालत में यदि देश में वस्त्र व्यवसाय को उन्नत बनना है तो यह आवश्यक है यहां की मिलें अपने ही देश की रूई का प्रयोग करें। इससे व्यापारिक तथा आंतरिक उन्नति होगी।

बेकारी का प्रश्न

रूटर के एक समाचार से यह विदित हुआ है कि 'विलायत के वर्नल की 9 मिलों के मजदूरों ने मिल मालिकों के व्यवहार के कारण से असंतुष्ट होकर हड़ताल कर दी है। इन मजदूरों ने यह भी सूचित किया है कि यदि उनके साथ उचित व्यवहार न किया गया तो लंकाशायर के सभी मजदूर जिनकी संख्या 5,00,000 है, सामुदायिक रूप से हड़ताल करेंगे। इसी कारण से कुछ मिलें बंद करने की भी घोषणा की गई है।' इन सब बातों से क्या प्रगट होता है? यही न कि विलायत में बेकारी बढ़ रही है? मिल मालिक घबरा रहे हैं? भारतीय बहिष्कार से जव व्यवसाय मंदा हो रहा है तब मिल मालिक कहां तक मजदूरों की मांगों को पूरा कर सकते हैं? इसलिए उचित तो यह है कि भारत की मांगों पर ब्रिटिश मजदूर सरकार विचार करे और जल्दी से जल्दी अपनी नीति की घोषणा कर दे जिससे भारत और ब्रिटेन के बीच व्यापार का कार्य पूर्ववत जारी हो जाए और मजदूर बेकारी की जटिल समस्या, जिसका अनुभव ब्रिटेन के अधिकांश नेता आज कर रहे हैं, हल हो जाए और शांति की स्थापना हो।

बेतुकी बातें

पाठकों से यह छिपा नहीं है कि अभी कुछ दिन हुए मिस्टर चर्चिल ने विषवमन किया था। उन्हीं के समकक्ष सर रेजीनाल्ड क्रेडक ने भी भारत के संबंध में अनेक सारहीन विचार *लंदन टाइम्स* में व्यक्त करके अपने व्यक्तित्व का परिचय दिया है। आपका कहना है कि उत्तरदायित्व छोड़ने से भारत में शांति न हो सकेगी। आपने नरम दल वालों के प्रति असंतोष प्रकट करते हुए कहा कि जो मांगें गरम दल वाले मांगते थे वही अब नरम दल वाले भी मांगते हैं। साथ ही, आपने यह भी स्पष्ट रूप से कह दिया है कि कांग्रेस को पराजित करना होगा। वास्तव में जब ऐसी-ऐसी बातें कानों में सुनाई पड़ती हैं तो असंतोष होता है और ऐसा मालूम होने लगता है कि संसार में एक दल ऐसा है जो दूसरों के तत्वों की जरा भी परवाह नहीं करता बल्कि अपने स्वार्थों की रक्षा में अपनी सारी शक्ति खर्च कर सकता है चाहे वह नाजायज ही क्यों न हो। परंतु ऐसे विचार वालों को स्मरण रखना चाहिए कि अब इन बातों की नरम दल वालों को भी परवाह नहीं है, वे भी भारत की राष्ट्रीयता स्थापित कराने में कामयाब हो रहे हैं, और विलायती नरम दल भी उनका समर्थन कर रहा है। इसलिए अनुदार दल वालों

की इस प्रकार की विवेकहीन बातों का कोई प्रभाव इंग्लैंड और भारत के उदार दलों पर नहीं पड़ सकता है। भारत की स्थिति की वास्तविकता अब सबकी समझ में आ गई है।

(सोमवार, 12 जनवरी 1931)

अंतिम अवसर

ब्रिटेन की राज्यसभा के प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड शीघ्र ही भारत के अधिकारों के संबंध में अपनी सरकार की राय प्रकट करने वाले हैं। निश्चय ही वे जो कुछ कहेंगे वह अत्यंत महत्वपूर्ण होगा क्योंकि उसी पर भारत और ब्रिटेन का भविष्य संबंध स्थिर किया जाएगा। यद्यपि प्रत्यक्ष में तो प्रधानमंत्री का यह वक्तव्य विलायती गोलमेज सम्मेलन के क्रियाकलाप से ही संबंध रखता है पर वास्तव में उसे संपूर्ण भारतीय राष्ट्र के पिछले तीस-चालीस वर्षों के महान उद्योग का फल समझना चाहिए। आज गोलमेज सम्मेलन पर सबका विश्वास नहीं है, भारत का प्रमुख राजनीतिक दल और जनता उस पर अपना अविश्वास प्रकट कर चुकी है। विलायत के भी अनेक माननीय विचारक उसके पक्ष में नहीं हैं। परंतु इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं कि प्रधानमंत्री की इस आगामी सूचना को सुनने के लिए सब दलों के और सभी श्रेणी के लोग उत्सुक हो रहे हैं। कारण यह है कि उनकी इसी सूचना से ब्रिटेन की दूरदर्शिता और राजनीतिक ज्ञान का पता लगने वाला है। मजदूर सरकार की नीति की परीक्षा होने वाली है और प्रधानमंत्री की भारत-हितैषिता का परिचय मिलने वाला है। कांग्रेस यह जानना चाहती है कि भारत की प्रबल राष्ट्रीय आकांक्षा को विलायत ने कहां तक समझा, गोलमेज के प्रतिनिधि यह जानना चाहते हैं कि उनके उद्योगों का क्या फल मिला और प्रत्येक विचारवान तथा देश-प्रेमी यह जानना चाहता है कि आगामी कठिन स्थिति और कष्टों से बचने तथा बचाने के लिए अधिकारी शासकों ने शांति और संतोष का कौन-सा उपाय सोचा है और कौन-सा मार्ग निश्चित किया है। हम समझते हैं कि समझौते का यही अंतिम अवसर है जिससे लाभ उठाने में कल्याण है और जिसे खो देने में अशांति, विद्वेष और कष्ट की ही संभावना है।

इस अंतिम अवसर पर बड़ी ही उदार तथा निर्मल दृष्टि की आवश्यकता है। गोलमेज सम्मेलन के अनेक प्रतिनिधियों ने भारतीय स्थिति का बड़ा ही स्पष्ट तथा मार्मिक चित्र अंकित किया है। और भिन्न-भिन्न कमेटियों ने कितने ही व्यावहारिक प्रश्नों को हल किया है। देशी नरेशों और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों ने अपनी दोनों सामूहिक बैठकों में पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य अथवा प्रतिनिधि शासन की ही मांग रखी है। अन्य सब प्रश्नों को पीछे रख छोड़ा है। यह सब प्रधानमंत्री के निरीक्षण में ही हुआ है। उन्होंने अपने पिछले भाषणों में कुछ उदार उद्‌गार व्यक्त भी किए हैं पर सरकारी नीति की घोषणा करने का अवसर अब आया है। सम्मेलन के प्रारंभ में प्रधानमंत्री ने यह कहा था कि भारत और ब्रिटेन को समझौता करने

के लिए आत्मिक साम्य स्थापित करना होगा। अब हम उनसे सुनना चाहते हैं कि आत्मिक साम्य का वास्तविक अर्थ क्या है और वे कहां तक उस साम्य के पथ में आगे बढ़े हैं।

यद्यपि व्यावहारिक समस्याओं पर भी ध्यान रखने की आवश्यकता होगी पर इस अवसर पर सबसे अधिक आवश्यकता है उच्च आदर्श की। मनुष्य मात्र की आकांक्षाओं और अधिकारों का विचार रखना चाहिए तथा न्याय की दृष्टि रखनी चाहिए। भारत को ही नहीं, इस युग के संसार भर के पराधीन देशों की स्वतंत्र होने की प्रबल चेष्टा की शक्ति समझनी चाहिए। पराधीन देशों से सहानुभूति रखने वाले राष्ट्रों का भी विचार करना चाहिए। परंतु इससे भी अधिक ब्रिटेन के उस परंपरागत आदर्श का ध्यान रखना चाहिए जिसे महाकवि रवींद्रनाथ ने अपने पिछले लेख में कहा कि गलतियों और त्रुटियों से लाभ उठाकर एक महान राष्ट्र के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझने और उसी के उपयुक्त महान भावना से प्रेरित होकर काम करने की आवश्यकता इस समय जितनी अधिक है, इसके पहले कभी नहीं थी और इसके उपरांत भी शायद ही कभी आए।

सर तेजबहादुर सप्रू ने यह स्पष्ट कह दिया है कि सुधारों की छोटी-छोटी किस्तों का समय बीत गया। हम अधिकार चाहते हैं, अधिकारों की छाया नहीं चाहते। हम अपने देश में अपना शासन चाहते हैं। प्रधानमंत्री ने इस सत्य का अनुभव किया होगा। इधर हाल में सुना गया है कि वे अपनी आगामी घोषणा के संबंध में भारत सरकार की सलाह ले रहे हैं और लार्ड इर्विन के मौजूद न रहने के कारण देहली सरकार के भारत-विरोधी अधिकारी अपनी पुरानी लीक ही पीटे जा रहे हैं। प्रधानमंत्री को उनकी सम्मति का मूल्य उचित से अधिक नहीं समझना चाहिए। यदि एक ओर वे भारत सरकार की राय ले रहे हैं तो दूसरी ओर भारतीय जनता की राय भी उन्हें समझ लेनी चाहिए। इस अंतिम अवसर पर एकपक्षीय न्याय करना अनुचित और हानिकर होगा। हम आग्रह करते हैं कि देहली के सत्ताधारियों की बातें सुन करके बंबई की हफ्तेवार लाठी-वर्षा को भूल न जाएं, उसे भी याददाश्त में रखें।

शंका की जाती है कि गोलमेज में हिंदू-मुस्लिम प्रश्न ने जो रूप धारण किया है उसके कारण भारत को पूरे अधिकार मिलने में बाधा पड़ेगी। यह निश्चय ही बड़ी लज्जा और ग्लानि की बात है कि कट्टर मजहबी प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय मांग के मार्ग में बड़े-बड़े रोड़े अटकाए हैं और स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली के बलिदान के बाद भी उनकी अंतिम अभिलाषा पूरी नहीं कर रहे। यह हमारे लिए बड़े अफसोस की बात है। परंतु हमारी इस कमजोरी से बेजा फायदा उठाना अच्छा नहीं होगा। प्रधानमंत्री और सरकार को यह मालूम है कि गोलमेज में गए हुए प्रतिनिधि उनके ही द्वारा चुने गए थे। देश की जनता की सम्मति नहीं ली गई। इसलिए वे प्रतिनिधि जनता के प्रतिनिधि हैं। ऐसा कहना सरकार के लिए तर्कसम्मत नहीं हो सकता। कितने ही देशी और विदेशी विद्वानों ने तथा गोलमेज के ही अनेक प्रतिनिधियों ने यह साफ-साफ कह दिया है कि कट्टर मजहबपरस्त प्रतिनिधि जनता के सच्चे हितकारी नहीं हैं। वे पुराने खयाल के आदमी हैं जो आधुनिक नवयुवक राष्ट्र को देखते हुए बहुत पिछड़े हुए हैं। हम आशा करते हैं कि प्रधानमंत्री इस समस्या पर इसी दृष्टि से विचार करेंगे और अन्य समस्याओं पर यथोचित

ध्यान रखते हुए भारत को तत्काल प्रतिनिधि शासन देने का मुख्य प्रश्न उदारता और दूरदर्शिता के साथ हल करेंगे।

राजनीतिक कैदी

भारत के इसी अंक में हम 'सी' क्लास के राजनीतिक कैदियों के संबंध में एक लेख प्रकाशित कर रहे हैं। लेखक ने अपने लेख में यह प्रकट किया है कि 'सी' क्लास के कैदियों के साथ जेलों में उचित व्यवहार अधिकांश रूप में नहीं होता, और खाना, स्वच्छता, चिट्ठी-पत्रों, मुलाकात, वस्त्र तथा परेड के संबंध में उनकी शिकायतों के दूर करने में विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इधर अन्य पत्रों में भी कई लोगों के इसी संबंध में लेख प्रकाशित हुए हैं। उन लेखों से भी यही धुन निकलती है कि राजनीतिक कैदियों खासकर 'सी' क्लास के कैदियों के नियमों में सुधार की आवश्यकता है। वास्तव में अभी तक यह स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आया कि गवर्नमेंट ने राजनीतिक कैदियों के लिए जो यह श्रेणी विभाजन किया है वह किस आधार पर है और उसके लिए किस नीति का अवलंबन लिया गया है। 'ए', 'बी' या 'सी' तीन क्लास में राजनीतिक कैदी रखे जाते हैं। समाचारों से यह भी पता चलता है कि अनेक राजनीतिक कैदी ऐसे हैं जिनको 'ए' या 'बी' क्लास में रखना चाहिए पर उन्हें 'सी' क्लास में रखा गया है, इसका क्या अर्थ है। क्या जेलों में इस प्रकार श्रेणी विभाजन करके उसके अनुरूप कैदियों के साथ व्यवहार किया जा रहा है? 'सी' क्लास के राजनीतिक कैदी और साधारण श्रेणी के कैदियों में भी कहीं-कहीं कोई भेद नहीं माना गया। इस संबंध में हमारा कहना यही है कि राजनीतिक कैदियों के साथ कम से कम साधारण कैदियों से अच्छा व्यवहार करने की आवश्यकता है। उनकी अन्य कठिनाइयां भी दूर की जानी चाहिए। कम से कम भोजन, वस्त्र और पढ़ने-लिखने की उन लोगों को सुविधा मिलनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि अन्य जुर्मों के कैदियों और राजनीतिक कैदियों में अवश्य भेद है फिर इसी के अनुसार उनके साथ व्यवहार भी होना चाहिए। इससे आज जो जेलों में अशांति के समाचार सुनाई देते हैं। उनका निवारण होगा, असंतोष की मात्रा कम होगी।

हमारे साहित्य का भविष्य—7

साहित्य के नव रस आदि अंग्रेजी मनोविज्ञान की कसौटी पर कसे जाएं तो कहां तक ठीक उतरेंगे, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। यह तो निश्चय ही असत्य है कि इस नव-रसात्मक साहित्य (काव्य) से अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है। रस चाहे कोई भी हो वह अलौकिक है, यह एक ढोंग है। रस पूर्णतः लौकिक है, उसका संबंध हमारे स्नायु, हमारे स्वेद और हमारे

चेहरे-मोहरे से बड़ा घनिष्ठ है। उसका नव संख्या ही इस बात का प्रमाण है कि वह अलौकिक नहीं हो सकता। शास्त्रकार अपने स्वभाव-सिद्ध गंभीर अथवा जटिल शब्दजाल से जो अभिज्ञान कराना चाहते हैं, हम उसकी परख करेंगे। बीभत्स रस का काव्य, शृंगार रस का काव्य अथवा वीर रस की कविता सब अलौकिकानंद-दायिनी होती हैं, यह कहने में संकोच होना चाहिए। हम अलौकिक के पीछे पड़कर सत्य को नहीं छोड़ सकते। हमें बीभत्स रस की कविता पढ़ के कभी भी किसी प्रकार का आनंद नहीं मिल सकता, नहीं मिलता। यदि अलौकिक आनंद की बात सत्य होती तो रस भेद की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, कम से कम शृंगार को रसराज कहकर शीर्ष पर बैठाने, देव शृंगार, मनुष्य शृंगार आदि के विभेद खड़े करने का कोई काम न था।

यदि यह अलौकिकता का पाषंड केवल यहीं तक रहता तो एक बात थी। यह जिस असत्य आधार पर स्थित है उसने साहित्य का बड़ा अनिष्ट किया है। अलौकिकता के नाम पर बेधड़क लौकिकता ही बढ़ती गई और घड़ी-घड़ी उसने जो स्वरूप धारण किया वह बड़ा ही हेय हुआ। एक बार अलौकिकता की प्रतिष्ठा कर, न जाने कितने उच्छृंखल कवियों ने, न जाने कितनी सप्तशतियों की सृष्टि की जिनमें आदि से अंत तक अलौकिक भाव का संपूर्ण अभाव रहा। हमको स्पष्ट कह देना चाहिए कि इस अलौकिकता का पल्ला पकड़कर कविगण साधारण-जन समाज के सिर पर चढ़ गए और वहां से स्वयं अनियंत्रित रहकर हमारा नियंत्रण करने लगे। इस प्रकार जन समाज का नियंत्रण न रहने के कारण कविता व्यक्तिगत हो गई और यही कारण है कि मध्यकाल की संस्कृत कविता में वास्तविक भारतीय जीवन की कोई पक्की छाप नहीं दीख पड़ती। इस विपथगामिनी धारा को रोकने वाला एक भी दृढ़ और अटल आलोचक नहीं हुआ जो साहसपूर्वक साहित्य को सन्मार्ग दिखाता। यह शोचनीय बात हुई कि जब समाज में शंकर जैसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ था तब साहित्य पूर्णतः कलुषित हो रहा था तथापि उसे अलौकिक समझकर उसके संस्कार करने की बात कहना भी शायद पाप समझा गया।

आज जो साहित्यिकों की एक जाति ही अलग बनती चली जा रही है उसका कारण भी साहित्य की अलौकिकता है। हम 'कला के लिए कला' वालों को व्यर्थ ही दोष देते हैं। हमारा अलौकिक आनंद विधायक रसवाद भी उससे कम नहीं है। मध्यकाल के ग्रंथों में देखिए कवि को पान खाने, अच्छी पोशाक पहनने, सुगंधि-सेवन करने आदि की जो विधियां बतलाई गईं वे आगे चलकर उन दरबारी कवियों की सृष्टि करने में सहायक हुईं जिन्हें हम कवि न कहकर कवि-कलंक कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। आधुनिक युग में भी जीवन को एक हल्की, आराम की वस्तु समझने वाले ही अधिकांश कवि हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे कॉलेज के विद्यार्थियों में भी हिंदी के कवि अपने विचित्र गुणों से अलग पहचान में आ जाते हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि उन्हें चिढ़ाना शुरू कर दिया गया है और आशा की जाती है कि उनकी त्रुटियां अब अलौकिकता के पर्दे में छिपाई नहीं रखी जा सकेंगी।

यूनान के जगत प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) ने दृश्यकाव्य (नाटक) की उत्पत्ति के संबंध में विचार करते हुए लिखा है कि मनुष्य का स्वभाव अनुकरण-प्रिय है। इसे

अनुकरण करने में एक प्रकार का आनंद मिलता है। इसीलिए वह नाटकों में बीती हुई घटनाओं का अनुकरण करता है। यहां यह शंका उठती है कि भयानक, दुखांत घटनाओं का नाटक क्यों लिखा जाता और क्यों देखा जाता है। हमारे रसवादी तो कहेंगे कि 'सामाजिकों' को अलौकिक आनंद की उपलब्धि होती है परंतु एक विद्वान दार्शनिक ने स्पष्ट कह दिया है कि प्रत्येक मनुष्य में हिंसाप्रियता, नृशंसता आदि अन्य पाशविक वृत्तियां रहती हैं। उन्हीं के प्रीत्यर्थ वह रंगशालाओं में जाकर भीषण घटनाओं को देखता है। आधुनिक 'सिनेमा' से भी इसी बात की पुष्टि होती है। फिर भी यदि यह सर्वसम्मत न भी हो तो इतना तो अवश्य है कि इसमें अलौकिक आनंद के नाम पर किसी पाषंड के प्रवेश करने की आशंका नहीं।

सबसे सीधी बात तो यह है जो हम चौबीस घंटा अपनी आंखों से देखा करते हैं, प्रेममूलक अथवा उद्वेगपूर्ण नाटक की सूचना पाकर जाने वाले दर्शकों में नवयुवक अधिक होते हैं। भक्ति के आख्यानों को वृद्ध तथा स्त्रियां अधिक देखती हैं। बालकों की रुचि विस्मयजनक दृश्यों की ओर अधिक होती है। साहित्य में भी यही रुचिभेद स्पष्ट दीख पड़ेगा। ये सब नित्य के अनुभव की बातें हैं। पर इनसे तो साहित्य अथवा काव्य की अलौकिकता खंडित हो जाती है और रसवाद गिर जाता है।

हम रसवाद के अलौकिक आनंद पर विश्वास नहीं करते। जो आनंद अलौकिक होगा वह एकरस होगा। उसका संबंध हमारी इंद्रियों से न रहकर हमारी आत्मा से जुड़ेगा। उसकी पुष्टि के लिए हमें मिथ्या प्रवचन और ज्ञान-भास की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वह हमारे सामने अलंकारों का झुनझुना लाकर हमारा दिलबहलाव नहीं करेगा। वह सत्य का संदेश सुनाकर अलौकिक शांति की व्यवस्था करेगा। वह मनुष्य की चिरसंचित सत्कृत की पूर्ति होगी, वही उसकी चिरभिलषित फलसिद्धि होगी।

'अलंकारों के झुनझुना' से रसवादी का कोई अभिन्न संबंध नहीं है, बल्कि रसवादी तो अलंकारवादियों का विरोध करते हैं आदि अनेक बातें ऐतिहासिक दृष्टि से चाहे सत्य भी हों पर व्यवहार में तो कुछ और ही दीख पड़ता है। आज तो नव रसों और एक सौ आठ अलंकारों का जो घनिष्ठ संबंध हो गया है वह साहित्य के इतिहास में एक अत्यंत परिचित घटना है। 'क्वचित अनलंकृति' कहीं-कहीं अनलंकृत वाक्य भी काव्य रसात्मक हो सकता है, पर कहीं-कहीं ही! यह भी हमारे पक्ष का ही प्रमाण है। रसवादियों का यह कहना व्यर्थ है कि वे अलंकारों का महत्व स्वीकार नहीं करते अथवा उन्हें गौण स्थान देते हैं। वास्तव में वे अलंकारों को अपनी रस सिद्धि का साधक अपनी कामधेनु का गोपाल बनाते हैं। यदि वे गोपाल का अनुग्रह नहीं मानते तो यह उनकी कृतघ्नता ही हुई, और तो कुछ नहीं हुआ।

भविष्य के साहित्य में अलंकारों की यह प्रधानता कम करना उचित होगा। हम कभी-कभी कल्पना करते हैं कि साहित्य के परमोक्ष स्तर पर पहुंचकर अलंकारों को छोड़ देना पड़ेगा। रसवादी यह मानते हैं कि अलंकार उनके काव्य की शोभा तो हैं ही, कविता के लिए अपेक्षित साधन भी हैं। हम यह कहेंगे कि अलंकार काव्य-साधना की पहली सीढ़ी है। मूर्तिपूजा की भांति अलंकार भी चरम साधना नहीं, चरम सिद्धि तो है ही नहीं। अलंकार चित्र है। चित्रों

की सहायता एक सीमा तक आवश्यक है, बस। हमें यह तत्व समझना होगा संस्कृत के अलंकारशास्त्री चित्रकाव्य को अधम काव्य मानते हैं पर उनके चित्रकाव्य का अर्थ है पहेली। हम आलंकारिक काव्य मात्र को चित्र काव्य कहेंगे और उसकी सीमा स्वीकार करेंगे। यदि दर्शन के शब्दों में कहें तो आलंकारिक काव्य द्वैत काव्य कहलाएगा और अलंकार-रहित काव्य अद्वैत।

(शुक्रवार, 16 जनवरी 1931)

नई असेंबली

देहली में असेंबली की नई बैठक शुरू हो रही है। इस बार देश की प्रमुख राजनीतिक संस्था कांग्रेस ने उसका बहिष्कार किया है और अधिकांश जनता ने भी इस बार चुनाव में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई है। कांग्रेस ही नहीं, राष्ट्रीय विचारों के अन्य कितने ही नेताओं ने सरकारी दमन-नीति के विरोध में इस्तीफे दिए थे और इस बार भी वे चुनाव के लिए खड़े नहीं हुए। ऐसी अवस्था में यह तो स्वाभाविक ही है कि इस बार की असेंबली न तो जनता की प्रतिनिधि होने का पूरा दावा कर सकती है और न जनता उससे यह पक्की आशा रखती है, वह लोकमत के अनुसार सफलता के साथ काम कर सकेगी। अछूत और बेपढ़े-लिखे आदमियों को देश का प्रतिनिधि चुनकर तो एक प्रकार का उग्र विरोध ही दिखाया गया है पर साधारण रूप में यह कहा जा सकता है कि देश इस बार की व्यवस्था-सभा और उसकी कार्रवाई से बहुत कुछ निरपेक्ष भाव ही धारण कर रहा है।

ऐसी अवस्था में सरकार का कर्तव्य स्पष्ट है। यदि वह कोरा दिखावा नहीं चाहती वरन् न्याय करना चाहती है तो उसे अत्यंत संयम, सहानुभूति और उदारता से काम लेना चाहिए। यद्यपि वह चाहे तो नियमानुसार वर्तमान कमजोर व्यवस्था-सभा से राष्ट्रीय हित के विरोधी प्रस्ताव पास करा सकती है और अपनी इस नीति को छिपाने में भी उसे कोई कठिनाई नहीं पड़ सकती है। पर ऐसा करना उसके लिए उचित नहीं होगा। लोकमत के विरुद्ध चलकर कोई भी सरकार अपनी प्रतिष्ठा खो सकती है। इस देश की इस समय की असाधारण अवस्था में तो उसे और भी संभलकर काम करने की आवश्यकता है।

परंतु हाल में सरकारी नीति जैसी देखी गई है वह संतोषजनक नहीं कही जा सकती। संतोषजनक तो क्या हम तो उसे अदूरदर्शी और अनुचित समझते हैं। कहां तो एक ओर विलायत में प्रधानमंत्री और भारतमंत्री सरकारी नीति की घोषणा कर भारत और ब्रिटेन के संबंध को अधिक अनुकूल बनाने की कोशिश कर रहे हैं और कहां भारत सरकार अपनी व्यवस्था विरुद्ध कड़े कानूनों का असेंबली में पास कराना और उसे सभ्य कानून का रूप देना चाहती है। इसके लिए वह बड़ी हड़बड़ी में है और शीघ्र से शीघ्र अपने मनसूबे को पूरा करना चाहती है। इन सब तरीकों से सरकार स्थायी शांति की स्थापना करने का विचार रखती है

पर यह उसकी मृगतृष्णा है। इन बड़े कानूनों से हमारे नागरिक अधिकारों में बड़ी बाधा पड़ने की शंका है जिससे देश का असंतोष घटने की संभावना नहीं है। यद्यपि यह असेंबली लोकमत की सच्ची प्रतिनिधि नहीं है फिर भी देश के जो व्यक्ति उसमें गए हैं वे सरकार के कड़े कानूनों के पक्ष में होंगे और बिना मीन मेष के उन्हें स्वीकार कर लेंगे, ऐसा नहीं हो सकता। हमें यह निश्चय है अधिकांश सहृदय और उदार सज्जन शक्ति भर उन्हें रोकने अथवा सुधारने का उद्योग करेंगे। सरकार को भी यह समझना चाहिए कि वह इस प्रकार के कानूनों से क्रांतिकारी और हिंसात्मक चेष्टाओं को तो दबा नहीं सकेगी उल्टा बहुत से नागरिकों के हृदय में अधिकाधिक असंतोष पैदा करेगी।

असेंबली के नेता पिछली बार की भांति इस बार भी सर जॉर्ज रेनी रहेंगे। सर जेम्स क्ररार भी गृह सदस्य बने रहेंगे और आशा की जाती है कि वे दमन चक्र को और अधिक शक्तिपूर्ण बनाने की चेष्टा करेंगे। एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि इस बार सर फजली हुसैन व्यवस्था-सभा में रखे गए हैं। जिन्होंने उनकी पिछली नीति देखी है, उन्हें इस बात की बड़ी शंका हो रही है कि इस बार असेंबली में मजहबी खयालात जोर पकड़ेंगे। इसके कुछ आसार अभी से दिखलाई देने लगे हैं। असेंबली के लिए अध्यक्ष के चुनने में मुसलमानों के एक मजबूत दल ने जातीय प्रश्न को सामने रखकर मुसलमान-सदस्य का समर्थन किया है। अध्यक्ष पद के लिए खड़े होने वाले हिंदू सदस्य श्री रंगाचार्य ने इस जातीय वैमनस्य के बढ़ने का विचार करके अपना नाम वापस ले लिया है। यह उनके लिए बड़ी उदारता की बात कही जाएगी। पर मुसलमानों को इस प्रकार अराष्ट्रीय और संकीर्ण बुद्धि का परिचय देते देखकर बड़ा दुःख होता है। विलायत के गोलमेज सम्मेलन में भी मुसलमानों ने अपना जो रूप प्रकट किया है और देहली में वे जो रूप प्रकट करते दीख पड़ते हैं वह राष्ट्रीय हित की दृष्टि से बड़ा ही खेदजनक है। वे विदेशों को हंसने का मौका देते हैं और न देश का भला करते हैं, न मजहब का।

इस अवस्था में प्रत्येक न्यायपूर्ण और सभ्य सरकार का यही कर्तव्य है कि निष्पक्ष भाव धारण करे। परंतु भारत सरकार इस संबंध में कैसी नीति रखेगी। यह अभी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। अध्यक्ष पद के चुनाव में उसने मुसलमानों का साथ देने का निश्चय किया है। यह बात श्री रंगाचार्य के वक्तव्य से मालूम पड़ी है।

शांति का उपाय

एक ओर राउंडटेबिल कॉन्फ्रेंस में शांति-स्थापन के लिए भारत के अनेक नेता और शासक वर्ग के कई अधिकारी भारत को सुधार देने, समझौता करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरी ओर भारतवर्ष में महात्मा गांधी द्वारा चलाया हुआ सत्याग्रह आंदोलन का काम हो रहा है और भारतीय शासक उसको दबाने की चेष्टा में लगे हैं। गवर्नमेंट अपने आर्डिनेंसों और पुलिस लाठियों के द्वारा वर्तमान आंदोलन को तहस-नहस करने का प्रयत्न कर रही है। अभी हाल में शोलापुर

कांड के चार व्यक्तियों को फांसी की सजा दे दी गई यद्यपि वाइसराय से उनके क्षमा-दान की प्रार्थना की गई थी। इस फांसी के विरोध में अनेक स्थानों पर सभाएं भी हुई हैं। बंबई में लाठी-कांड की बात अब पुरानी और एक साधारण घटना हो गई है। गिरफ्तार होने वालों और घायलों की संख्याएं भी पत्रों में पढ़ने को मिलती ही हैं। अभी तक धरना विदेशी कपड़ों पर ही दिया जाता था। परंतु बंबई में कचहरी पर भी धरना दिया जा रहा है तथा असेंबली के संबंध में भी धरने की खबर प्रकाशित हुई है। यह सब क्या है? हम मानते हैं कि यदि जनता कानून तोड़ेगी तो शासक को उसकी रक्षा करनी पड़ेगी, नहीं तो वह शासक ही काहे का। परंतु इस संबंध में मनुष्यता के नाते दो-एक बात कहने के लिए हम मजबूर हैं। शासकों द्वारा मनुष्यता की सीमा से बाहर किए जाने वाले अन्याय के हम खिलाफ हैं। गवर्नमेंट शक्तिशालिनी है, इसलिए उसका कानून मानने वालों पर, इस प्रकार का बल-प्रयोग जो बुद्धिमानों के हृदयों में खटकने वाला है, उचित नहीं है। राउंडटेबिल कॉन्फ्रेंस और वहां के नेताओं का मतलब यही है कि भारत में शांति स्थापित हो, आपस में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति पैदा हो। परंतु जिस प्रकार की घटनाएं भारत में घटित हो रही हैं। उनसे देश के सुधार की संभावना जल्दी नहीं है। ऑनरेबिल श्रीनिवास शास्त्री ने जैसाकि लंदन के अपने एक व्याख्यान में कहा था कि यद्यपि थोड़ी-सी लाठियां चलीं और कुछ लोग जेल गए परंतु अब भारत को अपने हक़ूक अवश्य मिलेंगे। ऐसी दशा में अधिकारी यदि सख्ती से पेश न आकर सहानुभूति और समझौते से काम लें तो शास्त्रीजी की वाणी जल्दी सफल होगी। हम अन्याय के विरोधी हैं चाहे वह किसी भी दल की ओर से हो। हमें विश्वास है कि भारतवर्ष में शांति और सुव्यवस्था उसी दशा में स्थापित होगी, जब समझौते और न्याययुक्त व्यवहार पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। सरकार के लिए खासकर यह समझने और विचार करने की बात है।

हमारे साहित्य का भविष्य—8

कविता जिस स्तर पर पहुंचकर अलंकारविहीन हो जाती है वहां वह वेगवती नदी की भांति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तंभित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि-आदि न जाने कहां बह जाते हैं और सारे संप्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं। उदाहरण लीजिए—

अर्द्ध रात्रि गइ कपि नहिं आवा। राम उठाइ अनुज उर लावा॥
सकेहु न दुःखित देखि मोहिं काऊ। बंधु सदा तब मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजे पितु-माता। सहेउ विपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहां अब भाई। उठहुं विवेकि मोरि बिकलाई॥
जो जनत्यों बन बंधु बिछोहू। पिता वचन मनत्यों नहिं ओहू॥

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं नाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलहि न जगत सहोदर भ्राता॥

* * *

जैहों अवध कवन मुंह लाई। नारि हेतु प्रियबंधु गंवाई॥
बरु अपयस सहतेउ जग माहीं। नारि हानि विशेष क्षति नाहीं॥
अब अवलोक शोक यह तोरा। सहै कठोर निठुर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम प्राण अधारा॥
सौंपउ मोह तुमहिं गह पानी। सब विधि सुखद परमहित जानी॥
उतर ताहि दैहौं का जाई। उठि किन मौंहि सिखावहु भाई॥

संपूर्ण कविता अलंकारहीन, वक्रोक्तिहीन, ध्वनिहीन, चमत्कारहीन होती हुई भी हृदय पर पूर्ण अधिकार कर लेती है। यह शब्दों की अभिधा शक्ति की करामात है। लक्षणा और व्यंजना दूर हटा दी गई हैं। संसार के सब बड़े कवियों की सब बड़ी रचनाएं इसी प्रकार की हैं और यूरोपीय समीक्षाकार इसी के समर्थन में शक्तिशाली तर्क उपस्थित करने लगे हैं। हम हिंदी वालों को इस तत्व को ग्रहण करने की सबसे अधिक आवश्यकता है।

इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही काम करते हैं जो दूध में पानी। कविता फीकी पड़ जाती है। वह अपना सत्य स्वरूप खोकर नकली आवरण धारण करती है और अनेक प्रकार से पतित होती है। ध्वनि और वक्रोक्ति का साहित्य में वह स्थान है जो समाज में आरामतलबी का। किसी अकाव्योपयोगी जमाने के आरामतलब व्यक्तियों ने शब्दों के विलास भंवर निर्मित किए और ध्वनि आदि संप्रदाय खोले। इन्हें हम शास्त्रीय नहीं कहेंगे क्योंकि ये कलियुग की कृतियां हैं।

इस युग में आरामतलबी का स्थान एक प्रकार की सामूहिक कृतिशीलता ले रही है। सामूहिक मनोविज्ञान घुमाव-फिराव के पक्ष में नहीं है, वह सरल, तीक्ष्ण सत्य चाहती है। हमारे कुछ कवि इस ओर झुके दीख पड़ते हैं—

किसी हृदय का यह विषाद है।
छेड़ो मत वह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ।
यह करुणा का थका चरण है॥

—प्रसाद

आह यह मेरा गोला गान
वर्ण वर्ण है उर की कंपन
शब्द शब्द है सुधि की दर्शन
चरण चरण है आह

कथा है करुण अथाह
बूंद में है बाड़व की दाह

—पंत

परंतु प्राचीन विधि में बंधकर समीक्षा करने वाले एक समीक्षक इन कविताओं में आए हुए 'विषाद' 'करुणा' आदि शब्दों को नियम विरुद्ध बतलाते हैं। इस प्रकार की समीक्षा साहित्य में अंधविश्वास की वृद्धि करती है और व्यक्तिगत अनुभूति का विकास नहीं होने देती। पिछली कविता के संबंध में समीक्षक पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी *वीणा* में लिखते हैं, 'इसके शब्दों में मिठास है, पदों में सौष्ठव है, प्रवाह में सुकुमारता है, सब है, पर सारा का सारा करुण रस वाच्य है। कवि लोक के भीतर है। साधारण लोगों के रोने में और उसके रोने में केवल भेद इतना ही है कि उसकी शब्द-सामग्री कुछ परिमार्जित है, बस। करुण रस की ध्वनि नहीं हो सकी।' कवि का रोना साधारण लोगों के रोने से भिन्न होना चाहिए यही ध्वनिप्रिय समीक्षक की ध्वनि समझ पड़ती है। यही धारणा यूरोप के प्राचीन (Classical) वर्ग के समीक्षकों की थी। पर जब से फ्रांस की राज्यक्रांति के उपरांत साहित्य सामान्य जीवन के साथ-साथ चला तब से उपर्युक्त धारणा क्षीण पड़कर प्रायः नष्ट हो गई। समय की गति हिंदी में भी वह दिन शीघ्र लाएगी जब हमारे कवि हमारी ही भांति हंसें-रोएंगे और उनके-हमारे प्राणों में सामंजस्य स्थापित होगा।

प्राचीन शास्त्रों के अनुसार समीक्षक को उक्त कविता में 'मिठास' 'सौष्ठव' 'सुकुमारता' आदि लाना पड़ा है। उसे हम समीक्षक पर शास्त्र का अत्याचार कहेंगे। वास्तव में कविता तीखी है। तीव्र है और करुण है।

'विषाद', 'करुणा' आदि पहली कविता के तथा 'आह' 'दाह' आदि दूसरी कविता के शब्दों से हमारा घनिष्ठ साहचर्य है। वे हमारे दुःख के साथी हैं। उनका उच्चारण भी ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करता है। हम अभिधा से चिढ़कर कोई लाभ नहीं उठा सकते। हमें चाहिए कि दूर की कौड़ी लाने के बदले इन शब्द-चित्रों का 'बिंब-ग्रहण' करना सीखें।

यह 'बिंब-ग्रहण' आचार्य रामचंद्र शुक्ल का शब्द है। शुक्लजी ने इसका जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसे हम 'पेचीला चित्रण' भी कह सकते हैं। उदाहरण के लिए चित्रकूट की पहाड़ी पर बादलों की घुमड़ और उसी के आसपास बक-पंक्ति का दिखाई देना। हम निवेदन करेंगे शुक्लजी का 'बिंब-ग्रहण' एकपक्षीय है और काव्य में चित्रकला की योजना तो करता ही है। वह पेचीला चित्र-विज्ञान को भी ला बैठाता है। यह क्लिष्ट कृति काव्य और विज्ञान के बीच की वस्तु बन जाती है। हम जिस बिंब-ग्रहण की बात कहते हैं, उसमें शब्द-चित्र तथा भावना का प्रवाह-जन्य चित्र रहता है। उपर्युक्त राम विलाप में उसकी झलक देखी जा सकती है।

हम एक बार फिर से कह देना चाहते हैं कि उत्कृष्ट काव्य कला में चित्रकला का मेल जितना ही कम होगा, कविता उतनी ही शुद्ध तथा प्रभावशालिनी होगी। हमने जिन शब्द-चित्रों तथा भावना-चित्रों का उल्लेख किया है वास्तव में वे कोई चित्र नहीं हैं। वे तो शुद्ध काव्य मात्र हैं। जहां पाठक का ध्यान काव्य-पक्ष पर सीधे न पहुंचकर चित्रों के मध्य मार्ग में अटक

कर पहुंचता है वहां खटकने की बात होती है। अलंकारों में, ध्वनि में, वक्रोक्ति में और आचार्य शुक्लजी के 'बिंब-ग्रहण' में जो चित्र-सृष्टि की जाती है, वह कविता को फीकी कर उसकी शक्ति छीन लेती है। उससे दूसरी कलाओं की बढ़ती हो सकती है पर काव्य कला की पड़ती होती है।

(सोमवार, 19 जनवरी 1931)

सम्मेलन के बाद

गोलमेज सम्मेलन की अंतिम बैठक में प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने सरकारी नीति की जो घोषणा की उसे हम *भारत* के इसी अंक में प्रकाशित कर रहे हैं। उसके उपरांत सम्मेलन समाप्त हुआ और सभा विसर्जित हुई। यदि हम सम्मेलन के बुलाए जाने की परिस्थितियों, उस पर पड़ने वाले भिन्न-भिन्न प्रभावों, उसकी कार्रवाइयों और उसके द्वारा तय किए गए सिद्धांतों पर अपनी सम्मति देने बैठें तो एक तो वह असामयिक होगा और दूसरे उससे कोई लाभ नहीं होगा। यदि हम देश के नेता और जनता तथा विदेश के विद्वानों की सम्मति का उद्धरण दें तो वह एक लंबी और अटपट गाथा हो जाएगी जिससे कोई मतलब नहीं निकल सकता। तरह-तरह के विचारों में सत्य कितना है और शब्दों की करामात कितनी है, इस संबंध का कोई भी विवेचन विवाद से रहित नहीं हो सकता। वास्तव में इस समय आवश्यकता शब्दों के परखने की नहीं है, उसके लिए अभी समय नहीं आया। आवश्यकता है एक सच्चे मनोवैज्ञानिक की भांति स्थिति को परखने की और जनता की मनोवृत्ति को समझने और सुधारने की। सम्राट ने अपने अंतिम संदेश में सम्मेलन के संबंध में उतना नहीं कहा जितना उसके भविष्य के संबंध में। प्रधानमंत्री ने भी यह कहा कि सम्मेलन की समाप्ति के उपरांत भी संधि चर्चा होती रहेगी। लार्ड सैंके ने अपनी रिपोर्ट को अभी अधूरी बतलाया है और कहा है कि लोकमत की सहायता से उसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन करना होगा। सम्मेलन के कट्टर भक्त श्री श्रीनिवास शास्त्री तक ने यह स्वीकार किया है कि अभी आधा काम ही किया जा सका है। शेष आधा बाकी पड़ा है। सम्मेलन की स्त्री सदस्य श्रीमती सुब्बरोपन ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यद्यपि सम्मेलन के कार्य के फलस्वरूप आशा बांधी जा सकती है, पर उसकी सफलता-असफलता के संबंध में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से आज का समय वास्तव में बड़ा विचित्र है। यदि समय की नाड़ी पहचानकर उदारता और मैत्री भाव से काम किया गया तो अच्छा होगा अन्यथा यदि कार्य-कुशलता का अभिमान, आत्मप्रशंसा आदि के भाव प्रबल हुए तो एक अमूल्य अवसर खोया जा सकता है और आपस का भेदभाव इतना बढ़ सकता है कि नवीन विधान के सफल प्रयोग में भी शंका हो सकती है।

इस अवसर पर मैत्री और प्रीति का वायुमंडल तैयार करने की जितनी अधिक आवश्यकता है इसके पहले शायद ही कभी रही हो। गोलमेज के प्रायः प्रत्येक सदस्य ने इस बात पर जोर

दिया है कि आगामी कार्य अधिकांश में सहयोग पर ही निर्भर है। लार्ड पील जैसे अनुदार दल के व्यक्तियों ने भी संकोच के साथ यह आशा प्रकट की है। भारत का लोकमत भी शायद हमारे अनुकूल हो। लार्ड पील ने ब्रिटिश व्यापार के संरक्षण की शर्त पर बहुत जोर दिया है जिससे जान पड़ता है कि वे और उनका दल भारतीय आंदोलन के परिणामों से परिचित हो गए हैं। उन्होंने जिस व्यापारी स्वाधीनता की शर्त पर नवीन विधान के समर्थन की बात कही है उससे यह प्रकट होता है कि उनकी बुद्धि व्यावहारिक समस्याओं पर गई है। इसे हम पसंद करते हैं। स्थायी शांति और सहयोग के लिए यह आवश्यक है कि दोनों पक्ष उसमें अपना स्वार्थ समझें और उसके लाभ से भली-भांति परिचित हों। यह तो एक बार नहीं, अनेक बार सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि भारत के स्वाधीन होने में सभ्यता और संस्कृतिजन्य जो लाभ संसार को होगा, वह तो होगा ही, साथ ही, ब्रिटेन को भारत के सहयोग से आर्थिक तथा साम्राज्य संबंधी लाभ भी कम नहीं होंगे।

इस तथ्य को समझ लेने पर आगामी कार्य सुगमता से पूरा किया जा सकता है। प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने अपने अंतिम भाषण में एक स्थान पर कहा है कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट के संबंध में विचार करने के लिए भारतीय प्रतिनिधियों से बातचीत करने की आवश्यकता अनिवार्य थी। इसलिए सम्मेलन बुलाया गया और आप लोग यहां आए। परंतु हमें दुःख है कि भारत के महत्वपूर्ण राजनीतिक दल यहां उपस्थित नहीं हैं। यह उनकी दूरदर्शिता का ही प्रमाण है कि उन्होंने सम्मेलन की स्थिति को ठीक-ठीक समझा। भविष्य में भी उन्हें दूरदर्शिता से काम लेकर भारत के उन्हीं महत्वपूर्ण राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त करने के योग्य परिस्थिति बनानी चाहिए। यह ठीक है कि वे उग्र राजनीतिक दल के होते हुए भी विद्रोह नीति और असहयोग नीति के पक्ष में नहीं हैं। इसलिए इस नीति को बदलने के लिए उन्हें कम से कम उतनी हद तक तो अवश्य बढ़ना चाहिए जितनी हद तक उनकी सरकार ने और उनकी मातहत भारत सरकार ने उस नीति को बढ़ाने में सहायता पहुंचाई है। यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले भाषण में वाइसराय लार्ड इर्विन ने 'महान कांग्रेस आंदोलन' का उल्लेख करते हुए महात्मा गांधी की आध्यात्मिक शक्ति को स्वीकार किया है और उन्होंने उस महती संस्था को सहयोग के लिए आमंत्रित भी किया है। यह और भी प्रसन्नता की बात है कि वे और उनकी सरकार व्यवस्था-सभा में प्रेस आदि के संबंध में जो कड़े प्रस्ताव पास कराना चाहती थी, उन्हें स्थगित कर दिया है। खबर है कि व्यवस्था परिषद् के गैर सरकारी सदस्यों ने उनसे आग्रह किया है कि वे अपने आर्डिनेंसों को भी वापस कर लें। प्रधानमंत्री की घोषणा के उपरांत भारत में अनुकूल स्थिति बनाने के लिए यदि वाइसराय उपयुक्त सदस्यों का आग्रह स्वीकार करेंगे तो यह बड़ी ही दूरदर्शिता की बात होगी।

कांग्रेस के शीर्ष पर महात्मा गांधी जैसे निर्लिप्त नेता हैं। इसलिए उसकी नीति के संबंध में शंका करने की हमें आवश्यकता नहीं। श्री जयकर के एक वक्तव्य से यह मालूम हुआ था कि महात्माजी ने उन्हें गोलमेज में जाकर स्वराज्य का सार लाने की अनुमति दी थी और यह कहा था कि सम्मेलन के परिणाम की हम जांच करेंगे और यदि उसमें छाया ही नहीं, कुछ सार

भी होगा तो हम उस पर पूरा-पूरा विचार करेंगे। गांधीजी से ऐसी ही आशा भी की जाती है। परंतु व्यावहारिक प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। महात्माजी तथा कांग्रेस के सभी बड़े-बड़े नेता जेलों में बंद हैं। कांग्रेस की कार्यकारिणी कमेटी गैर-कानूनी संस्था हो गई है। जो जनता जेलों के बाहर है उसमें उग्र असंतोष का भाव फैला हुआ है और वह अपनी नीति के अनुसार काम कर रही है। जब तक महात्माजी आदि नेताओं की आज्ञा नहीं होगी तब तक उसकी नीति में अंतर पड़ने की संभावना नहीं। अभी जैसी अवस्था है उसमें सम्मेलन में मिले हुए नवीन विधान पर विचार करने के लिए देश का अधिकांश भाग तैयार नहीं दीख पड़ता है। कांग्रेस की वर्किंग कमेटी प्रयाग में शीघ्र ही बैठेगी पर उसकी स्थिति बड़ी ही अनिश्चित है। यह निश्चय नहीं कि वह गैरकानूनी संस्था समझकर गिरफ्तार की जाएगी या नहीं। यह वायुमंडल मेल के उपयुक्त नहीं। प्रधानमंत्री और वाइसराय ने भी कांग्रेस को यह सम्मति दी है कि वह नवीन स्थिति पर विचार करे। विलायत के प्रसिद्ध पत्र *मैनचेस्टर गार्जियन* ने उसे यह सलाह दी है कि वह रचनात्मक सहयोग की नीति ग्रहण करे। परंतु कोई भी नीति ग्रहण करने के पहले कोई भी जिम्मेदार-संस्था अपने प्रधान कार्यकर्ताओं की सम्मिलित सम्मति से ही काम कर सकती है। मिस्टर मेकडानल्ड ने कहा है कि यदि भारत में नागरिक शांति की घोषणा की जाए और उसका विश्वास दिलाया जाए तो राजनीतिक बंदियों को मुक्त करने में हमारी सरकार पिछड़ी नहीं रहेगी। प्रधानमंत्री के इस कथन में वही आगे-पीछे का झगड़ा लगा है। परंतु व्यावहारिक स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि जब तक कांग्रेस के जिम्मेदार नेताओं को एकत्र होकर नवीन स्थिति पर विचार करने का अवसर नहीं दिया जाता तब तक कोई भी घोषणा कठिनाई से की जा सकती है और यदि की भी जाए तो उसे मानने के लिए देश की जनता तैयार हो जाएगी, इसका कुछ निश्चय नहीं। इस संबंध में सबसे उपयुक्त होगा मध्य मार्ग को ग्रहण करना। इसमें किसी की प्रतिष्ठा में कोई आघात नहीं पड़ सकता। सरकार यदि सब राजनीतिक कैदियों को नहीं तो कांग्रेस के प्रधान नेताओं को जेल-मुक्त कर दे और गैरकानूनी संस्था का आरोप वापस ले। ऐसा करने से कांग्रेस के नेता प्रीति के वायुमंडल में एकत्र होकर जो कुछ निर्णय करेंगे उसके अनुसार प्रधानमंत्री राजनीतिक कैदियों को छोड़ने, न छोड़ने के प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। हमें आशा ही नहीं विश्वास भी है कि इस मध्य मार्ग पर चलने से पारस्परिक सद्‌भाव अवश्य बढ़ेगा और इस समय उस सद्‌भाव की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है।

काशी विश्वविद्यालय—3

भारत के पिछली 2 जनवरी के अंक में हमने काशी विश्वविद्यालय के संबंध में लिखते हुए एक स्थान पर यह लिखा था कि सरकारी शर्तों में एक शर्त यह कही जाती है कि मालवीयजी विश्वविद्यालय के कुलपति पद से पृथक कर दिए जाएं। यह सूचना हमें अंग्रेजी और हिंदी के कुछ पत्रों से मिली थी। परंतु इस संबंध में यू.पी. सरकार के चीफ सेक्रेटरी हमें सूचित

करते हैं कि उपर्युक्त सूचना ठीक नहीं। उन्होंने सरकारी तौर पर उसका खंडन किया है। एसोसिएटेड प्रेस का भी समाचार है कि मालवीयजी को पद-पृथक करने की सरकारी शर्त की बात असत्य है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है और हम सहर्ष अपनी पिछली सूचना का संशोधन करते हैं।

हमारे साहित्य का भविष्य–9

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृत के सभी साहित्यिक संप्रदायों के मूल में न तो कोई महान आत्मा है और न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा। एक भरत मुनि ही मुनि नाम से पुकारे गए पर यह भी उनके प्रथम आलोचक होने की उपाधि मात्र हो सकती है। भरत ने जो कुछ लिखा नाटक के संबंध में लिखा। उनका नाट्यशास्त्र विश्लेषणात्मक समालोचना और वर्गीकरण कहा जा सकता है। उसमें किसी प्रकार का दार्शनिक विवेचन, प्रवचन या अनुसंधान नहीं दीख पड़ता। उनकी विधि व्यावहारिक विधि है। उनकी प्रणाली उस वैज्ञानिक की-सी है जो बाल की खाल निकालता है। अत्यंत सूक्ष्म, किंतु नितांत भावनाहीन। वे साहित्य के पथ-प्रदर्शक नहीं थे। नाटकों की छान-बीन करने वाले थे। उनके ग्रंथ से यह जाना जा सकता है कि नाटक कैसे-कैसे हो सकते हैं, यह नहीं जाना जा सकता कि कैसे होने चाहिए। नाट्यशास्त्र के विधिनिषेध नाटकों के अंगों से संबंध रखते हैं। उसके वर्गीकरण भी अंग-जन्य ही हैं। उत्कृष्टता और निकृष्टता का निर्णय करने की एकमात्र प्रणाली अंग-प्रत्यंग की परीक्षा है। अलौकिक आनंद की उद्भावना कर नाटक-मात्र (पीछे से साहित्य मात्र) एक श्रेणी में रख दिए गए, जिससे समस्त साहित्यिक विवेचन वस्तु प्रधान (Objective) तथा विश्लेषणात्मक हो गया। कोई संश्लिष्ट, आदर्शोन्मुख शक्तिशाली साहित्य-समीक्षा नहीं की जा सकी, न किन्हीं व्यापक, सारग्राही सिद्धांतों का निरूपण किया जा सका। फिर जब रूपकों का रसवाद अपने संपूर्ण सरअंजाम के साथ काव्य में लाकर चरितार्थ किया गया तब तो साहित्य समीक्षा और भी विपथगामिनी हो गई। पिछले जमाने के साहित्यशास्त्रियों ने अपने को कवि कहने में जिस धृष्ट मनोवृत्ति का परिचय दिया, हमारी रस-समीक्षा पद्धति उसका विरोध नहीं कर सकी। आज जब नवीन शैलियों का प्रश्रय लेकर आलोचक वर्ग उसका विरोध करते हैं और अनेक ख्यातिलब्ध कवियों को मध्यम या निकृष्ट श्रेणी का बतलाते हैं तब कुछ लोगों के सामने आश्चर्य की एक चकाचौंध-सी छा जाती है।

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवम्
दण्डिनः पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः

यह शास्त्रीय समीक्षा संबंधी एक अत्यंत प्रचलित श्लोक है। व्यवहार बहुलता के कारण यह एक सर्वसम्मत तथ्य माना जा सकता है। परंतु ऐसा नाम लेने से दो शंकाएं खड़ी होती हैं।

वाल्मीकि और व्यास का क्या स्थान है? उपमा, अर्थगौरव, पदलालित्य आदि का क्या अर्थ है और क्या उस अर्थ में वे ही काव्य के सर्वस्व हैं। उत्तर में कहा जा सकता है कि वाल्मीकि और वेद व्यास की गणना महाकवियों में है। उपर्युक्त श्लोक में उन्हें इसीलिए सम्मिलित नहीं किया गया परंतु यह बात तर्क से ठीक नहीं ठहरती। महाकवि तो कालिदास आदि भी हैं। जान पड़ता है, उपर्युक्त श्लोक जिस समीक्षा-पद्धति की अभिव्यंजना करता है, उसके अनुसार कालिदास, भारवि आदि ही सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। 'उपमा' (अलंकार) अर्थगौरव (क्लिष्टता) और पदलालित्य (शब्द-चमत्कार) काव्य की उत्कृष्टता की सामग्री बन गई है। यह श्लोक संस्कृत साहित्य के मध्य काल की रचना है और उस काल की साहित्य समीक्षा के अनुकूल भी है। आज की समीक्षा में कालिदास आदि को वाल्मीकि आदि से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। पश्चिमीय समीक्षकों ने कालिदास को सुख समृद्धि काल का ब्राह्मण कहकर उनके काव्योत्कर्ष की सीमा बांध दी है। दंडिन, माघ आदि को प्राचीन परंपरा चाहे जो माने, नवीन समीक्षा शैली के अनुसार उन्हें मध्यम श्रेणी का चमत्कारवादी कवि ठहराया गया है। हम पश्चिमी विद्वानों की सम्मति को चाहे जैसी समझें, यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का जो रूप वाल्मीकि और व्यास ने खड़ा किया वह अद्वितीय है और आधुनिक भारतीय जीवन में कालिदास से भी अधिक ये दोनों महाकवि ही प्रभावशाली ठहरते हैं।

हिंदी में भी 'सूर सूर तुलसी ससि उडुगन केशवदास' तक तो खैरियत थी पर जब 'सहदेव नभमंडल समान है कवीन मध्य' आदि शुरू हुआ तब से स्थिति चिंताजनक हुई। इस समस्त अनर्गल प्रलाप के दो ही कारण दीख पड़ते हैं। एक तो रस-संप्रदाय का प्रचलन और दूसरे आदर्शोन्मुख समीक्षा शैली का अभाव। इस संबंध में रस-संप्रदाय को अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करनी पड़ेगी। आधुनिक कुछ आलोचकों ने रस-संप्रदाय और अलंकार-संप्रदाय के बीच यथार्थ से कहीं बड़ा काल्पनिक भेद खड़ा करने की चेष्टा की है और आपस में तू-तू मैं-मैं का राग लगाया है पर इससे उनका उत्तरदायित्व कम नहीं होता। रद्दी से रद्दी, भ्रष्ट से भ्रष्ट कविता की जाती रही और रस-संप्रदाय अकर्मण्य होकर उसे प्रोत्साहन देता रहा। काव्य-दोषों में अश्लीलत्व आदि दो-एक शब्द जोड़ देने से ही काम नहीं चल सकता, रसवाद ने अपने संरक्षण में निंद्य से निंद्य कवियों को प्रश्रय दिया है। उसने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया और प्रतिकार करना उसकी सीमा के भीतर भी नहीं है। वहां तक उसकी पहुंच ही नहीं।

आधुनिक युग में कवि के मस्तिष्क एवं कला का क्रमबद्ध विकास जानने की, उसके व्यक्तित्व एवं परिस्थितियों से परिचित होने की और उसकी कृति का एक संश्लिष्ट चित्र खींचने की चेष्टा की जाती है। काव्य-समीक्षा के दृढ़ आदर्शोन्मुख सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की गई है और समीक्षा-विज्ञान की भी सृष्टि हो रही है। सामयिक जीवन का गहनतम अध्ययन किया जाता, युग के प्रधान आदर्शों और समस्याओं का पता लगाया जाता और साहित्य पर उसके प्रतिबिंब का अन्वेषण और निरीक्षण किया जाता है। जीवन की सरल निस्सीमता साहित्य की भी स्वीकार की जाती है। ऐसी अवस्था में रस-संप्रदाय की उपयोगिता स्वभावतः कम पड़ जाती है। रस-पद्धति की विश्लेषण-क्रिया से आधुनिक समीक्षाकार विशेष लाभ नहीं उठा

सकता। एक-एक पंक्ति अथवा चार-चार पंक्तियों में रस ढूंढ़ने की क्रिया अब पुरानी पड़ गई है। सैकड़ों-सहस्रों नायक-नायिकाओं के भेदों को, चाहे वे सत्य भी हों, लेकर अब क्या किया जाएगा? नियमों की गहनता और जटिलता ने उनके प्रति विद्रोह उत्पन्न कर दिया है। मनोविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी यह समझ सकता है कि आधुनिक युग रसवाद के प्रति प्रतिकार का युग है, फिर जब उसमें निसर्गसिद्ध त्रुटियां तथा अन्य दोष हों तब उसका भविष्य कैसा होगा यह समझने में संदेह नहीं किया जा सकता।

किसी भी आदर्शवादी समीक्षक का काम रसवाद से नहीं निकल सकता। आदर्शवादी समीक्षक तो समालोचना संबंधी सिद्धांतों को लेकर समष्टि रूप से साहित्यालोचन करेगा, उसकी दृष्टि साहित्य पर ही न ठहरकर साहित्यकार और उसकी परिस्थितियों की ओर भी जाएगी। श्रद्धेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल अंग्रेजी आलोचक रिचड्र्स का अनुसरण करते हैं और कहते हैं कि उसने साहित्य का कूड़ा-करकट दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। हमारी राय में हो या न हो परंतु शुक्लजी की राय में रिचड्र्स आदर्शवादी समीक्षक ठहरता है। शुक्लजी भी उसका समर्थन करने के कारण, आदर्शवादी ही कहे जाएंगे। उन्होंने अपनी समीक्षा पुस्तकों में भी आदर्शोन्मुख अभिरुचि का परिचय दिया है। ऐसी अवस्था में जब वे कहते हैं कि रसवाद के आधार पर एक भारतीय समीक्षा भवन का निर्माण किया जा सकता है, तब वह प्राचीनता के प्रति उनका अनुचित पक्षपात ही कहा जाएगा। आदरणीय विद्वान मिश्रबंधुओं ने शुक्लजी के आलोचना ग्रंथ *गोस्वामी तुलसीदास* के संबंध में लिखते हुए एक स्थान पर कहा है कि शुक्लजी प्राचीनता के इतने कट्टर भक्त हैं कि तुलसीदासजी के अवगुणों को देखते ही नहीं अथवा उन्हें भी गुण ही समझते हैं। मिश्रबंधुओं द्वारा प्रदर्शित शुक्लजी की यह प्राचीन-प्रियता सबसे अधिक उनके रसवाद के गुणगान में दीख पड़ती है। हम बड़े विनीत भाव से शुक्लजी का ध्यान उनकी इस असंगति की ओर खींचते हैं। व्यापकता और बहुदर्शिता के चक्कर में पड़कर कभी कुछ और कभी कुछ कह गुजरने वाले आलोचक-प्रवरों की कमी हिंदी में नहीं है। परंतु हम तो कवि की कविता की भांति समीक्षक की समीक्षा में भी एक धारा और एक विकास देखना चाहते हैं। इसे वाद अथवा संप्रदाय समझकर भागने से कोई लाभ नहीं। दृढ़ होकर अपना पक्ष प्रकट कर देना होगा और अपनी संपूर्ण शक्ति से अटल होकर वहीं स्थित रहना होगा। आचार्य शुक्लजी से हम आग्रहपूर्वक अनुरोध करते हैं कि वे यह स्पष्ट प्रकट कर दें कि वे रसवादी हैं अथवा आदर्शवादी। दोनों तो वे हो नहीं सकते।

(शुक्रवार, 23 जनवरी 1931)

फिर मिस्टर चर्चिल

हिंदुस्तान की समस्या पर मिस्टर विंसटन चर्चिल मौके-बेमौके कुछ न कुछ बोला करते हैं।

हम लोग उनकी बोली को मौके-बे-मौके कह सकते हैं, पर वे तो उसे मौके की ही कहेंगे। यहां बुद्धि और तर्क का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है मनोविज्ञान का। दुनिया में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनकी बोली के विषय में यह नहीं दरियाफ्त किया जाता कि वे क्या बोलते हैं बल्कि यह दरियाफ्त किया जाता है कि ये कब बोलते हैं और कैसे बोलते हैं। उनकी बोलियां बुद्धि और विवेक की कसौटी में नहीं कसी जातीं। उन बोलने वालों का व्यावहारिक ज्ञान नहीं देखा जाता। वे तो मनोविज्ञान के विद्यार्थियों तथा डॉक्टरों की परीक्षा के विषय बन जाते हैं। मिस्टर चर्चिल एक बार उस समय बोले थे, जिस समय वाइसराय लार्ड इर्विन और कांग्रेस के नेताओं के बीच समझौते की बात चल रही थी। उस समय आपने वाइसराय को अच्छी फटकार बतलाई थी और ऐसी राय जाहिर की थी कि कांग्रेस से सुलह की बातचीत करना ही ब्रिटेन और भारत सरकार के लिए अपमानजनक हैं। दूसरी बार आप उस समय बोले थे जब गोलमेज सम्मेलन के सदस्य विलायत पहुंच चुके थे और समझौते का काम शुरू हो गया था। तब आपने कहा था कि गोलमेज सभा को भारत-शासन-विधान गढ़ने का कोई अधिकार नहीं। यदि इस सभा में कोई समझौता हो तो पार्लियामेंट उसे मानने के लिए तैयार नहीं हो सकती। भारतवासियों को स्पष्ट शब्दों में यह बता देने की आवश्यकता है कि ब्रिटिश जाति भारत से अपना अधिकार उठा लेने की बिलकुल इच्छा नहीं रखती। तीसरी बार आपने प्रधानमंत्री की घोषणा हो जाने पर फरमाया है कि गोलमेज सम्मेलन में जो लंबे-चौड़े भाषण हुए वह ब्रिटिश जाति के किसी बड़े हिस्से का समर्थन नहीं पा सकते। आपका कहना है कि कोई अजनबी यह समझ सकता है कि अब विलायत भारत से अपना संबंध विच्छेद करने को तैयार हो गया है पर हमारा विश्वास है कि ब्रिटिश राष्ट्र ऐसा न चाहता है और न समझता है।

मिस्टर चर्चिल से यह पूछना व्यर्थ है कि आप कौन हैं जो दूरदर्शिता तो दूर गई सभ्यता और शिष्टता के साधारण से साधारण नियमों का बहिष्कार कर इस प्रकार की बेतुकी बातें करते हैं? आपने भारत की स्थिति के संबंध में देशी और विदेशी विद्वानों की इतनी बातें सुनीं। फिर भी आप यही आसरा लगाए बैठे हैं कि ब्रिटेन भारत को कुचलकर राज्य करेगा और उससे उसे आर्थिक लाभ होंगे? क्या आपने भारत द्वारा ब्रिटिश वस्तु बहिष्कार के आंकड़े नहीं देखे और यदि देखे तो उनका आप पर क्या प्रभाव पड़ा? आप फरमाते हैं कि ब्रिटिश जाति भारत से अपना संबंध तोड़ देना नहीं चाहती तो क्या गोलमेज सम्मेलन संबंध तोड़ने के लिए बुलाया गया था? और क्या उसने अथवा प्रधानमंत्री ने संबंध तोड़ने का निर्णय किया है? आप ब्रिटिश जाति के विचारों के प्रतिनिधि हैं और लार्ड पील, लार्ड रीडिंग, मिस्टर मेकडानल्ड आदि के सम्मिलित निर्णय आपकी बातों के सामने गलत हैं, इसका आपके पास कुछ प्रमाण है? और कड़े सवाल भी पूछे जा सकते हैं। कांग्रेस तो यहां तक कहती है कि ब्रिटिश जाति के चाहने, न चाहने का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है हम क्या चाहते हैं। हमारा मार्ग अलग है ब्रिटिश जाति जो चाहे चाहा करे। परंतु ये सब प्रश्न तो तब पूछे जा सकते थे जब मिस्टर चर्चिल की बात का कुछ महत्व होता। आज जब उनके देश के, उनके दल के ही समाचारपत्र उन्हें खरी-खोटी सुना रहे हैं, तब हमारा चुप रहना ही ठीक है।

यही विचार कर हमने पिछली बार चर्चिल साहब के उद्‌गारों पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं की थी। इस बार भी राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण समझकर नहीं बल्कि मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोरंजक समझकर हमने उनके भाषण का उल्लेख किया है। ऊपर जो उद्धरण हमने दिए हैं उनसे वह स्पष्ट प्रकट होता है कि धीरे-धीरे मिस्टर चर्चिल की वाणी किस तरह क्षीण पड़ती जा रही है। उनका ब्रिटिश जाति संबंधी अभिमान किस तरह कम होता जा रहा है। मनुष्य अपनी पहले कही हुई बातों की रक्षा के लिए पीछे किस अनोखे और बेढंगे तरीके की दलील पेश करता और अपने छोटे दायरे में अपनी साख बनाए रखना चाहता है। दुनिया कहां बढ़ी जा रही है, वह क्या कहेगी, क्या नहीं इसकी चिंता नहीं। चिंता हो भी तो दूसरा रास्ता नहीं। बात कैसे बदली जाए। फिर भी मिस्टर चर्चिल अपने उन्नत गर्व को छोड़कर ब्रिटिश जाति के बहुमत तक उतर आए हैं। यह भी एक मार्के की बात है। थोड़े दिनों में मिस्टर चर्चिल को यह मालूम हो जाएगा कि ब्रिटिश-बहुमत किस ओर है और क्या चाहता है। तब उन्हें समझ पड़ेगा कि दुनिया उनको छोड़कर आगे बढ़ आई है और वे अकेले एक कोने में पड़े हुए हैं। उस समय वे किसका पल्ला पकड़कर अपनी बात कह सकेंगे, यह इतिहास की, मनोविज्ञान की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रश्न होगा? शायद प्रलाप का पल्ला पकड़!

सम्मेलन की सफलता

किसी भी कार्य की सफलता अथवा असफलता का निर्णय करने के लिए यह जानना जरूरी है कि उस कार्य का लक्ष्य क्या था और उस लक्ष्य को वह कहां तक पूरा कर सका। जितने अंश में वह लक्ष्य पूरा किया जा सका हो उतने अंश में उसे सफल समझना चाहिए। इसी दृष्टि से गोलमेज सम्मेलन की सफलता-असफलता की भी परीक्षा करनी होगी। जैसाकि नाम से ही प्रकट है सम्मेलन समझौता करने के लिए बैठा था। बड़े-बड़े ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने अपना यह मत प्रकट किया है कि भारत और ब्रिटेन के संबंध को सुधारने और भविष्य की स्थिति दृढ़ करने के लिए नवीन विधान की आवश्यकता है। प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने अपनी अंतिम घोषणा में भी यही कहा है कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट निकल जाने के बाद भारत के और विलायत के प्रतिनिधियों में सलाह-मशविरा करने की आवश्यकता थी। इसलिए सम्मेलन बुलाया गया। इससे प्रकट हुआ कि सम्मेलन का लक्ष्य विधान बनाना उतना नहीं था जितना संधि और शांति स्थापित करना था। विधान बनाने का लक्ष्य साइमन कमीशन का था, गोलमेज सम्मेलन का लक्ष्य विधान को भारत के अनुकूल बनाना था। सम्मेलन के लिए विधान का प्रश्न मुख्य नहीं था, वह विधान के विशेषज्ञों की जमात नहीं थी। उसमें भारत के विभिन्न दलों के व्यक्ति ब्रिटेन के विभिन्न दलों के व्यक्तियों से समता का भाव लेकर मिले थे और आपस के भेदभाव को मिटाने का लक्ष्य लेकर मिले थे।

ऐसी अवस्था में सम्मेलन द्वारा बनाए गए विधान का प्रश्न पीछे पड़ जाता है। मुख्य समस्या

आ जाती है संधि की। जो आलोचक सम्मेलन की सफलता—असफलता का निर्णय केवल नवीन-विधान की नाप-जोख से करते हैं, उनकी जांच को हम सर्वांग पूर्ण नहीं मान सकते। यह ठीक है कि नवीन विधान के आधार पर ही संधि और समझौता भी निर्भर है। परंतु संधि और समझौता विधान से एक कदम आगे की वस्तुएं हैं। इस अंतर को समझना होगा।

गोलमेज सम्मेलन के अधिकांश सदस्य इस तथ्य को समझ रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है। सर तेजबहादुर सप्रू ने नवीन विधान के सफल व्यवहार में ही सम्मेलन की सफलता स्वीकार की है। इसलिए उन्होंने देश के जेलों में बंद हजारों राजनीतिक कैदियों और महान नेताओं को जेल-मुक्त करने की जोरदार अपील की है। जब तक देश की स्थिति नहीं सुधारी जाती और दमन-चक्र नहीं स्थगित किया जाता तब तक नवीन विधान चाहे जितना उदार हो उससे कोई लाभ नहीं हो सकता।

विलायत की मजदूर सरकार का कर्तव्य स्पष्ट है। मिस्टर मेकडानल्ड तथा उनकी सरकार की ओर से जो घोषणा की गई है उसकी सार्थकता और सफलता उस अवस्था में है। जब भारतवासी उस पर विचार करें और उसके संबंध में अपनी सम्मति प्रकट करें। नवीन विधान में परिवर्तन और परिवर्द्धन की गुंजाइश रखी गई है। यह उचित ही किया गया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि लोकमत को अपने पक्ष में लाने की चेष्टा की जाए। दमन-चक्र शिथिल किया जाए और राजनीतिक बंदी छोड़े जाएं।

यहां इस बात के याद दिला देने की भी आवश्यकता है कि भारत के विभिन्न दलों ने नवीन विधान के संबंध में अपनी जो सम्मतियां प्रकट की हैं वे बहुत संतोषजनक नहीं हैं। यद्यपि कांग्रेस की ओर से अभी कुछ भी नहीं कहा गया परंतु श्रीयुत विट्ठल भाई पटेल आदि नेता अपनी विरोधी सम्मति दे चुके हैं। गोलमेज कॉन्फ्रेंस में गए हुए श्री जयकर, श्री चिंतामणि आदि प्रतिनिधि उसके परिणामों से पूरे-पूरे संतुष्ट नहीं हैं। अभी उस दिन बंबई में पश्चिमी भारत लिबरल-कौंसिल की बैठक में नर्म दल के नेताओं तक ने यह कहा है कि सम्मेलन ने दल की मांगों को संपूर्ण रीति से पूरा नहीं किया। यह सब कहने का आशय इतना ही है कि विलायत सरकार सम्मेलन के कार्य से पूर्ण संतुष्ट होकर चुपचाप बैठ न रहे, आगे की अपनी जिम्मेदारी समझे और उसके अनुरूप काम करे। आज देश के सभी भागों के सभी श्रेणी के और सभी दलों के नेताओं द्वारा राजनीतिक कैदियों को छोड़ने की अपील की जा रही है। सम्मेलन के अंतिम लक्ष्य को पूरा करने के लिए और पारस्परिक सद्भाव दृढ़ करने के लिए सरकार को इस अपील को शीघ्र पूरा करना चाहिए।

हमारे साहित्य का भविष्य—10

आचार्य शुक्लजी कहते हैं कि वे अभिव्यक्तिवादी हैं। ठीक है। उनका कहना है कि यह अनंत रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है—हमारी आंखों के सामने बिछी हुई है। अच्छा

वे व्यंग्य करते हैं कि जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाषा, लालसा या वियोग के नीरस अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि समझते हैं, उन्हें जगत की अनेकरूपता और हृदय की अनेक-भावात्मकता के सहारे अंधकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए। यह भी सही। किंतु यदि किसी ने भूले-भटके वैसी फिक्र की तो अनेकरूपता के नाम पर सौ-डेढ़ सौ नायक-नायिकाओं का गोरख-धंधा तथा अनेक भावात्मकता के बहाने नौ भावों के चिरंतन चक्र के ही चंगुल में पड़ना अनिवार्य है। इसी को शुक्लजी ब्रह्म की व्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को लीन करना मानते हैं। भूले-भटकों को लीन होने के पहले विलीन न हो जाना पड़े।

यह अभिव्यक्तिवाद व्यवहार में आने पर लघुचित्रवाद बन जाता है। भिन्न-भिन्न रूप चेष्टाएं जब भिन्न-भिन्न भावों को अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं तब सबका छिन्न-भिन्न हो जाना उचित ही है। विराट भावनाओं के प्रसार का कोई साधन नहीं रह जाता। देश-काल के भेद काव्य के सहचर बन जाते हैं और आगे चलकर स्त्रीलिंग, पुल्लिंग (नायक-नायिकाओं) के भीतर ही समस्त काव्य समाप्त हो जाता है। तब काव्य समीक्षा भी अत्यंत संकीर्ण रूप धारण करती है। पिछले माघ मेला में आदरणीय पं. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' प्रयाग में 'प्रसादजी' के *आंसू* की आलोचना कर रहे थे। बोले—

अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
सम्मोहन-से तुम आए।

इस पद्य में जो कोई अंचल में दीप छिपाए है वह पुरुष जान पड़ता है क्योंकि पिछली पंक्ति में, सम्मोहन-से तुम आए, उसी के लिए कहा गया है। यदि ऐसा न होता तो 'तुम आई' लिखा जाना चाहिए था। पुरुष को अंचल से क्या मतलब और जब अंचल ही नहीं तब दीप कहां छिपेगा? पीछे से प्रसादजी ने लिखा—

हे मेरे प्रेम बता दो
तुम स्त्री हो या कि पुरुष हो?
* * *
कोमल हो या कि पुरुष हो? आदि।

इसी प्रकार पिछली *वीणा* में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रसादजी की एक कविता में नायिका की तलाश करने की चेष्टा की किंतु अंत में जब 'एक करुणामय सुंदर मौन' मिला तब वे हैरत में पड़ गए। जरा-सा भूल गए नहीं तो मानवती मध्या के लक्षण मिल सकते थे। दोहरी-तेहरी व्यंजना के बाद किया क्या जाए अभिव्यक्तिवाद को इंद्रियगम्य, स्थूल की उत्कट आवश्यकता जो रहती है। उसके बिना काम ही नहीं चल सकता। पग-पग पर वही, पंक्ति पंक्ति पर वही। क्या आचार्य शुक्लजी इसका कुछ प्रबंध कर सकते हैं।

प्रबंध करना ही होगा अन्यथा अभिव्यक्तिवाद बेकार हो जाएगा। आधुनिक युग विराट भावनाओं का युग है। विश्वबंधुत्व विश्वैक्य आदि के आदर्श प्रचलित हुए हैं। कविताएं भी उसी के अनुरूप होंगी और काव्य समीक्षा को भी उतना ही व्यापक और सूक्ष्म बनना होगा। बाबू जयशंकर प्रसाद की एक कविता देखिए :

तुम कनक किरण के अंतराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते?
यौवन के धन रसकन ढरते
हे लाज भरे सौंदर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
मधु सरिता सी यह हंसी तरल
अपनी पीते रहते हो क्यों?
वेला विभ्रम की बीत चली
रजनीगंधा की कली खिली
अब सांध्य मलय आकुलित
दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों?

अभिव्यक्तिवादी अपनी आदत से लाचार होकर कविता के 'तुम' को तलाश करेगा ही और उसे अभिव्यक्त करेगा ही। 'लाज भरे सौंदर्य' तक आते-आते लिंग विपर्यय आदि के दोषों से लदकर कविता मध्यम श्रेणी की बन जाएगी और अंत में आकर कह दिया जाएगा कि वह छायावाद की कविता है, अप्रासादकता से भरी है। परंतु जरा लघुचित्रवाद (अभिव्यक्तिवाद) से ऊपर उठकर विराट चित्र देखिए। 'कनक-किरण के अंतराल' की उज्ज्वलता का निर्वाह मधुसरिता-सी हंसी कैसी उत्तम रीति से करती है? अव्यक्त परम सौंदर्य का यह शब्द-चित्र कितना विराट है। फिर भी क्या यह उसे पूर्ण अभिव्यक्त कर सका है? हम कहेंगे अभिव्यक्ति कवि का लक्ष्य ही नहीं, यह 'छिपते हो क्यों' से स्पष्ट हो जाता है। जड़ अभिव्यक्ति नहीं, चेतन विश्ववाद की झलक देखिए और बन पड़े तो मुग्ध होइए। यह सौंदर्यजन्य रहस्यवाद की एक उत्कृष्ट कविता है।

'प्रसादजी' की ही एक अन्य कविता में प्रकृति (Nature) अन्य रहस्यवाद देखिए :

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहां पहुंच अनजान क्षितिज को
मिलता एक सहारा।

सरस तामरस गर्भ विभा-पर
नाच रही तरु शिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर
मंगल कुंकुम तारा।
लघु सुरधनु-से पंख पसारे
शीतल मलय समीर सहारे
उड़ते खग जिस ओर मुंह किए
समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आंखों के बादल
बनते जहां भरे करुण जल
लहरें टकराती अनंत की
पाकर जहां किनारा।
हेम कुंभ ले उषा सवेरे
भरती ढुलकाती सुख मेरे
मदिर ऊंघते जब रहते
जग कर रजनी भर तारा

अभिव्यक्तिवादी इस मधुमय देश की तलाश में उसी तरह व्याकुल होंगे जिस तरह शेक्सपीयर के Forest of Arden की तलाश में उसके कुछ समीक्षक। परंतु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि वे जब तक अपने लघु चित्रवाद को नहीं छोड़ते तब तक उस इंगित देश का पता नहीं पा सकते।

एक नहीं अनेक ऐसे ही विराट भावना-प्रधान अर्द्ध-स्फुट चित्र प्रसादजी ने खींचे हैं, अन्य उदीयमान कवियों ने खींचे हैं परंतु अभिव्यक्तिवादी समीक्षक प्रचंड कीर्तिकामी पं. पद्मसिंह शर्मा को कहीं कुछ दिखलाई ही नहीं देता। जो अंतर्दृष्टि संपन्न हैं उन्हें दिवांध बतलाना और साहित्य में अभिशाप वृत्ति का परिचय देना यही जिनके मत्थे मढ़ा गया है, उनके प्रति हम संवेदना ही प्रकट करेंगे। अपने अज्ञान का भार उन्हें ही वहन करना है। अनंत जन्म अनंत योनियां हैं।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

(सोमवार, 26 जनवरी 1931)

उदार संकेत

हमारे आग्रह और हमारी आशा के अनुसार कांग्रेस के प्रधान नेता जेल से छोड़ दिए गए।

गवर्नर जनरल लार्ड इर्विन ने अपनी विज्ञप्ति में कहा है कि प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड की घोषणा पर विचार करने का अवसर देने के लिए यह आवश्यक था कि अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी के सभी सदस्य पूरी स्वाधीनता के साथ मिलकर आपस में बातचीत कर सकें। भारत सरकार ने प्रांतीय सरकारों की सलाह लेकर यह तय किया है कि उन सदस्यों को जेल से छोड़ दिया जाए और उनकी कार्यकारिणी संस्था पर गैरकानूनी होने का आरोप उठा लिया जाए। यह सब बिना किसी शर्त के किया जाए क्योंकि स्थायी शांति की स्थापना तभी संभव है जब निर्बंध होकर बातचीत करने का अवसर दिया जाएगा। लार्ड इर्विन ने यह बड़ी उदारता की बात कही है कि हमारा यह कार्य भारत में शांति स्थापित करने के उद्देश्य से हुआ है और हमारा विश्वास है कि इस कार्य से हम देश में वैसी स्थिति ला सकेंगे जिस स्थिति में प्रधानमंत्री की घोषणा के अनुसार सभी राजबंदियों को छोड़ देना संभव हो सकेगा। उन्होंने यह विश्वास भी प्रकट किया है कि कांग्रेस के नेता भी शांत और निष्पक्ष बुद्धि से नवीन विधान की परीक्षा करेंगे।

विलायत में जो कुछ कार्य हुआ, उसका सीधा और न्यायपूर्ण परिणाम वही था जिसे लार्ड इर्विन ने पूरा किया। इसे हम उदार संकेत ही कहेंगे। जैसाकि हम विश्वास रखते थे महात्मा गांधी ने भी जेल से मुक्त होते ही उसी उदारता का परिचय दिया है। महात्माजी ने एसोसिएटेड प्रेस के प्रतिनिधि द्वारा भारतवासियों को यह संदेश भेजा है कि मैं जेल से बिलकुल निर्लिप्त भाव लेकर निकला हूं। मुझे किसी से विद्वेष नहीं, किसी भी बहस में कुछ भी पक्षपात नहीं। प्रधानमंत्री की घोषणा पर सर तेजबहादुर सप्रू और गोलमेज के अन्य सदस्यों से बातचीत करने के लिए मैं खुले दिल से तैयार हूं। मैं संपूर्ण स्थिति का अध्ययन सब दिशाओं से करने को प्रस्तुत हूं। मुझे कोई कार्यक्रम बनाना नहीं है, न कोई नीति ही निर्धारित करनी है। महात्माजी के महान हृदय और अद्भुत उदारता का परिचय उनके इस संदेश से भलीभांति मिल जाता है। परंतु जब वे बिना किसी संकोच के कहते हैं कि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक राजनीतिक बंदी जो इस समय जेल में बंद हैं तुरंत छोड़ दिया जाए तब कट्टर अविश्वासियों को भी महात्माजी की महत्ता स्वीकार कर लेनी पड़ती है। इन शब्दों में महात्माजी का सरल निष्कलुष हृदय स्वच्छ प्रतिबिंबित होता है और महाकवि रवींद्रनाथ के विश्वबंधुत्व की झलक स्वदेश और स्वदेशी के उपासक महात्माजी में पूरी-पूरी दीख पड़ती है।

ये बड़े ही शुभलक्षण हैं। कड़े कानूनों और दमन की अनेकानेक विधियों के बीच में लार्ड इर्विन का यह संकेत उनके लिए गौरव की और भारतवासियों के लिए संतोष की वस्तु समझी जाएगी। साल भर के कठिन तप के उपरांत यह फलसिद्धि की आशा भारतवासियों के लिए अभीष्ट होगी। प्रधानमंत्री ने अपनी घोषणा में भारत और ब्रिटेन के निवासियों की एक वंश-परंपरा और एक उत्पत्ति की ओर संकेत किया है, परंतु महात्मा गांधी और उनका देश तो मनुष्य मात्र को, जीव मात्र को एक समझता है। हमें चिरकाल से ऐसी ही शिक्षा मिली है। जीव की उत्पत्ति एक से है, विकास एकरस है और उसकी नियति भी एक ही है। यह

हमारे प्राचीनतम शास्त्रों का प्रवचन है। महात्मा गांधी उसी भारतभूमि की उसी पवित्र शास्त्र परंपरा को चरितार्थ करने वाले आधुनिक युग के महापुरुष हैं। विलायत के अनेक विचारवान व्यक्तियों ने भी महात्माजी का लक्ष्य और उनकी विधि समझने में भूल की है। इसलिए आज उनके आंदोलन की निंदा उदार हृदय मिस्टर मेकडानल्ड तक करते हैं। पर यह तो पश्चिमीय संस्कारों और विचार प्रणालियों का परिणाम है। इसके लिए किसी व्यक्ति को दोष नहीं दिया जा सकता।

इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि पिछले साल भर की घटनाएं भुला दी जाएं और निष्पक्ष भाव से नई स्थिति पर विचार किया जाए। वाइसराय लार्ड इर्विन का उदार संकेत और महात्माजी का उदार उत्तर इस कार्य में अच्छा योग देंगे। परंतु संपूर्ण स्थिति को और भी सुधारने की आवश्यकता पड़ेगी। महात्मा ही सत्याग्रह आंदोलन के कर्णधार थे। उन्होंने ही अपनी यह सम्मति प्रकट की है कि सब राजनीतिक बंदी छोड़ दिए जाएं। हम महात्माजी के निर्लिप्त भाव पर विश्वास कर सकते हैं पर कांग्रेस के सभी नेता महात्मा गांधी नहीं हैं। उनका उग्रभाव मिटाने में राजबंदियों की सामूहिक रिहाई विशेष सफल होगी। कुछ दिनों में प्रधानमंत्री की घोषणा के अनुसार राजबंदी छोड़े जाने वाले हैं। अच्छा हो यदि महात्माजी की इच्छा की पूर्ति और शीघ्र हो और वे सब शीघ्र छोड़ दिए जाएं। सरकार इस कार्य से देश भर की सहानुभूति और मैत्री पा सकेगी क्योंकि देश भर महात्माजी को अनन्य भाव से मानता है। महात्माजी की इच्छापूर्ति सबको एक ही अच्छी लगेगी, इसमें संदेह नहीं।

सरकारी सूचना के अनुसार 54 हजार राजनीतिक कैदियों में से केवल 23 हजार ही जेल में हैं। उनमें से भी अधिकांश की अवधि पूरी हो रही होगी। ऐसी अवस्था में सरकार की अथवा भारत के यूरोपियनों की यह आशंका ठीक नहीं जान पड़ती कि राजनीतिक कैदियों की रिहाई से स्थिति काबू में नहीं रह जाएगी। यह तो मनोविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी समझ सकता है कि सामूहिक जेल मुक्ति के उदार कृत्य से साधारण जनता कितनी अधिक प्रभावित होगी। देश भर में प्रीति और प्रतीति की प्रतिष्ठा होगी। मिस्टर नारीमेन की सम्मति के अनुसार यदि कांग्रेस का विशेष अधिवेशन करना आवश्यक समझा गया तब तो राजबंदियों को छोड़ना और भी जरूरी होगा। आश्चर्य नहीं कि यदि कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति मिस्टर नारीमेन की सम्मति के अनुसार कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के ही सारी समस्याओं के निर्णय करने का निश्चय करें तब भी बंदियों को छोड़ने का आग्रह किया जाएगा। हम तो समझते हैं कि उस आग्रह की प्रतीक्षा न कर महात्माजी की इच्छा की पूर्ति करते हुए राजनीतिक बंदियों को तुरंत छोड़ देने में सरकार की हानि नहीं होगी। बल्कि वह मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ा ही हितकर और उपयोगी काम करेगी। लार्ड इर्विन का उदार संकेत उस अवस्था में अपने उद्देश्य की पूर्ति निश्चयपूर्वक कर सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

जो लाभ राजनीतिक बंदियों को छोड़ने में हैं, वे ही लाभ आर्डिनेंस को वापस लेने और दमनचक्र को स्थगित करने में भी हैं। एक ओर कुछ नेताओं को छोड़कर, दूसरी ओर सुभाषचंद्र

जैसे अन्य नेताओं के पकड़ने का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ सकता। लार्ड इर्विन का उदार संकेत ऐसा होना चाहिए, जिसे देश की जनता समझे और जिससे वह प्रभावित हो।

काशी विश्वविद्यालय—4

यह प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने सुबुद्धिपूर्वक काशी विश्वविद्यालय को उसकी प्राप्य सहायता देने का निश्चय किया है। असेंबली में श्री गयाप्रसाद सिंह के प्रश्न का उत्तर देते हुए सर फजली हुसैन ने कहा कि सरकार को इस बात की खबर नहीं है कि विश्वविद्यालय की स्थिति को परखने के लिए किसी सी.आई.डी. के अफ्सर की नियुक्ति हुई थी अथवा नहीं। इसलिए सरकार उस संबंध में कुछ भी कह सकने में असमर्थ है। आपने यह भी कहा कि श्री गयाप्रसाद सिंह की ही भांति सरकार भी यही इच्छा रखती है कि महान हिंदू जाति की यह महती शिक्षा संस्था खूब फूले-फले और जाति की ज्ञानपिपासा की तृप्ति करे। सरकार ने अपनी यह सदिच्छा काफी समय बीत जाने पर प्रकट की, जिसके कारण विश्वविद्यालय के सभी हितचिंतकों को चिंता में रहना पड़ा। सी.आई.डी. के अफसर ने विश्वविद्यालय की स्थिति का अन्वेषण किया अथवा नहीं इसका सरकार को पता नहीं है। यदि सरकार को पहले से ही यह पता नहीं था तो विश्वविद्यालय की सहायता देने में विलंब का कारण क्या था, यह मालूम नहीं होता। फिर भी सरकार की प्रकट की गई इस सदिच्छा की हम प्रशंसा ही करेंगे।

त्यागमूर्ति नेहरूजी

इन पंक्तियों के लिखते समय त्यागमूर्ति पंडित मोतीलाल नेहरूजी का स्वास्थ्य चिंताजनक है। गत सोमवार से ही आपके रोग के बढ़ने की दुःखद सूचना देशवासियों को मिल चुकी है। पंडितजी खांसी और कफ के आक्रमण से पीड़ित हैं, रात को नींद नहीं आती। मुंह सूज आया है। पंडितजी की शुश्रूषा में इस समय देश के प्रमुख वैद्य उपस्थित हैं। डॉक्टर अंसारी भी जेल से छूटकर प्रयाग आ गए हैं और बंबई के डॉक्टर जीवराज मेहता भी आज बुधवार की रात को महात्माजी के साथ आने वाले हैं। डॉक्टरों की अंतिम रिपोर्ट कुछ संतोषजनक है क्योंकि उसके अनुसार पंडितजी की शक्ति और प्रसन्नता कम नहीं हुई है। फिर भी देश भर में आपके स्वास्थ्य संबंधी कुसंवाद से घोर चिंता फैल रही है। देश की इस अद्भुत परिस्थिति में पंडितजी को विवेकपूर्ण सम्मति की कितनी आवश्यकता है यह तो स्पष्ट ही है। हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमारे और हमारे बत्तीस करोड़ देशवासियों के सौभाग्य से पंडितजी शीघ्र स्वस्थ हों और हमारे कल्याण के लिए उद्योग करने में वे फिर से समर्थ हों।

हिंदी के पुराने युग के समीक्षक संघटन नहीं करते षड्यंत्र रचते हैं

पं. पद्मसिंह शर्मा हिंदी के बहुपठित समीक्षक होंगे पर उन्हें अंग्रेजी नहीं आती। बिहारी, देव, अमरुक, भर्तृहरि, दाग़, ज़ौक आदि के विलास-कलुषित सैकड़ों पद्यों को एक-दूसरे के साथ रखकर मिलाने में उनकी याददाश्त की चाहे जितनी तारीफ की जाए, उनकी 'रसिकता' (रसवादी इसे बड़े महत्व का शब्द समझते हैं) चाहे जितनी टपकी पड़ती हो पर साहित्य के किसी उच्च लक्ष्य का बेध उनसे नहीं हो सका। अनुकूल समीक्षक उनके विषय में अधिक से अधिक यही कहेगा कि वे साहित्य के नंदन कानन से च्युत, पथ-भ्रष्ट देवदूत हैं जो इस जीवन में (हमारा मतलब साहित्यिक जीवन से है) अभिशाप की अवधि बिता रहे हैं। यदि कोई यह कहे कि शर्माजी को राक्षस की-सी महती शक्ति मिली है और वे उसका उपयोग भी राक्षस की ही भांति कर रहे हैं तो यह समीक्षा अप्रिय सत्य की श्रेणी में आएगी फिर भी इसके सत्य होने में संदेह नहीं। मध्यकाल के दरबारों में शर्माजी की अच्छी खातिर हो सकती थी। वही चटपटी भाषा, वही 'वाह, वाह' का दरबारी तर्ज, वही 'उमरि दराज महराज तेरी चाहिए' की श्रेणी के नुमाइशी कवित्तों का तांता। स्पष्टवादी समीक्षक कह देगा कि शर्माजी की खातिरी के दिन बीत गए और उनके दुर्भाग्य तथा साहित्य के सौभाग्य से सदासर्वदा के लिए बीत गए।

अपनी पुस्तक *हिंदी भाषा और साहित्य* में आचार्य श्यामसुंदर दास ने साहित्य-समीक्षा का जो आधुनिकतम उच्च आदर्श ग्रहण किया है उसके अनुसार शर्माजी को वह स्थान नहीं दिया जा सका जो *संजीवन भाष्य* पुस्तक के पुरस्कृत होने के कारण वे अपने लिए सुरक्षित और संरक्षित (Reserved) समझ रहे थे। बस *विद्यार्थी* के रामजीलाल स्मृति अंक में शर्माजी बिलकुल अप्रासंगिक और आक्षेप-योग्य रीति से उबल पड़े। रामजीलालजी की स्मृति में एक करुण लकीर हमारे सबके हृदयों में खिंच गई है। परंतु पं. पद्मसिंह शर्माजी उस शोकांक में भी अपनी उच्छृंखल उग्रता को रोक नहीं सके और उसी आत्माभिमानिनी, उद्दंड मनोवृत्ति का परिचय देने लगे जिसके कारण वे *संजीवन भाष्य* में काफी ख्यात हो चुके थे। शास्त्रीय विद्वान पं. ज्वालाप्रसाद मिश्रजी ब्रजभाषा के पंडित नहीं थे, उनकी सतसई-टीका पर *सतसई संहार* लिखकर शर्माजी अपने को चाहे कितना कृतकृत्य समझें, पर समझने वालों ने उन्हें तीसमार खां से अधिक कुछ भी नहीं समझा।

परंतु पं. पद्मसिंह शर्मा को उनकी उच्छृंखलता के लिए क्षमा नहीं किया जा सकता। उन्हें युग की गति समझनी चाहिए, समालोचना के आदर्श समझने चाहिए। आचार्य श्यामसुंदर दास की पुस्तक में और चाहे जितने दोष हों उसमें एक गुण ऐसा है जिसके कारण 'एकश्चंद्रस्तमो हन्ति न च तारा गणादपि' के अनुसार वह हिंदी के अब तक के प्रकाशित समीक्षा ग्रंथों में विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी हुई हैं। वह गुण है समीक्षा संबंधी उच्च आदर्श। आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल रसवादी होने के कारण बिहारी को, देव को, पद्माकर को, ऐसे ही सैकड़ों को मनोहर, सरल कवि कहते

चले जाते हैं पर आचार्य श्यामसुंदर दास निर्भीक होकर बंधी परंपरा को उजाड़ देते हैं और कह देते हैं कि रीति काल के सब कवि मध्यम अथवा निकृष्ट श्रेणी के हैं। जीवन और साहित्य का जैसा अभिन्न संबंध बाबू साहब ने बांधा है हिंदी के किसी इतिहासकार ने नहीं बांधा। यही कारण है कि बाबू साहब उन छायावादियों के प्रति भी न्याय कर सके हैं, जिन्हें हिंदी के शर्माजी सरीखे समीक्षक फूटी आंखों नहीं देखना चाहते, नहीं देख सकते।

शर्माजी स्वर्गीय पं. माधव मिश्र का पल्ला पकड़कर छींटे फेंकते हैं। आपका कहना है कि बाबू श्यामसुंदर दास ने अपने *हिंदी भाषा और साहित्य* में उनका गुणगान क्यों नहीं किया। उनके मत में इस तरह का कार्य अहंकार, प्रमाद और अज्ञान की पराकाष्ठा है। इसके बाद शर्माजी जामे के बाहर हो जाते हैं और जो कुछ बकते हैं उसे प्रलाप न समझा जाए तो साहित्य के न्यायालय में उन्हें अवश्य कठोर दंड का भागी होना पड़े। परंतु साहित्य रंगमंच के विदूषकों को चिरकाल से यह सब कहने का अधिकार मिला हुआ है।

यदि शर्माजी विदूषक नाम से चिढ़ते हों और अपने को अभिशाप देने का अधिकारी ऋषि-मुनि समझते हों तो यह उनकी समझ का फेर है। ऋषि-मुनि बनने में और बिहारी की टीका लिखने में आकाश-पाताल का अंतर है। पं. माधव मिश्र का नाम युग-युगांतर तक अमर बना देने के अभिलाषी शर्माजी को और कड़ी तपस्या की आवश्यकता होगी। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को दिव्य दृष्टि से पहचानना सबका काम नहीं है। स्थूल से स्थूल तर्क में भी यह प्रश्न शर्माजी से पूछा जाएगा कि आप 'शंकर' महाकवि के विशेषज्ञ होने का दावा कर क्या अन्य कवियों के साथ अन्याय नहीं करते। पं. रामजीलाल शर्मा की स्मृति में लिख चुकने के पहले या पीछे क्या स्वर्गीय लाला भगवानदीन के संबंध में एक भी करुण पंक्ति लिखना आपके लिए अनुचित होता। दीया तले अंधेरा के उदाहरण बनकर दूसरों को गालियां देते फिरना कौन से ऋषि-मुनियों के लक्षण हैं।

परंतु एक ओर विलासवासना के सैकड़ों पद्यों को कंठस्थ कर दूसरी ओर 'बुजुर्गों' का अदब सीखो, आदि के उपदेशामृत उद्गारित कर तथा तीसरी ओर उपर्युक्त अभिशाप आदि का प्रश्रय लेकर शर्माजी, न मे कर्माणि लिंप्यंति, के अनुसार कोई बड़े महात्मा सिद्ध होते हैं। परंतु जब तीक्ष्ण समीक्षक 'निरालाजी' 'तजिए तिनहि कोटि बैरी सम जदपि परम सनेही। तज्यौ पिता प्रह्लाद, बिभीषण बंधु, भरत महतारी' आदि के उदाहरण उपस्थित करते हैं तब महात्माजी मौन ही रहते हैं।

हिंदी में यह अद्भुत रहस्य दीख पड़ता है कि साहित्य में परस्पर विरोधी धाराओं में बहने वाले व्यक्ति भी आक्रमण करने अथवा गालियां देने अथवा षड्यंत्र रचने के आशय से एक हो जाते हैं, यह संघटन साहित्य के लिए अत्यंत घिनौना और निंद्य है। यूरोप के कूटनीतिज्ञ राष्ट्रों की भांति यह अज्ञेय मैत्री साहित्य के लिए अपमानजनक और हानिकारिणी है। पं. पद्मसिंह शर्मा और पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के मार्ग साहित्य की दृष्टि से एक-दूसरे के विरोधी हैं। एक रसवादी और अलंकारवादी विश्लेषणकारी समीक्षक हैं तो दूसरे घासलेट विरोधी आदर्शवादी आलोचक। पं. बनारसीदास अपने मुंह से ही साहित्य संबंधी अपनी अनभिज्ञता

स्वीकार कर चुके हैं और हिंदी के सभी विद्वान जानते हैं वे साहित्य के विशेषज्ञ नहीं हैं। फिर भी उन्होंने जो मार्ग ग्रहण किया था उसमें वे सुगमता से आगे बढ़ सकते थे। परंतु उन्होंने हाल में जो हाथ-पैर फैलाने शुरू किए हैं और छायावादियों की विशेषकर बाबू जयशंकर प्रसाद की जो आलेचना की है, वह उनकी अनधिकार चेष्टा है। साहित्य में राजनीति की भांति संकीर्ण दलबंदी खड़ी करना, अपने प्रांत के जान-पहचान के कुछ कवियों, लेखकों आदि का विज्ञापन देते फिरना यह सब भी एक प्रकार का घासलेट है जिसको आप आदर्शवादी के नाते बुरा बतला चुके हैं। इस मनोवृत्ति को लेकर कोई भी संघटन दो दिन से अधिक नहीं चल सकता। उसे हम संघटन नहीं कहेंगे षड्यंत्र कहेंगे, चाहे उसके उन्नायक पं. पद्मसिंह शर्मा हों अथवा कुमुदव्याघ्र वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी हों अथवा दिल्लीपति द्विवेदी। उसमें किन्हीं को स्वर्ग में (सर्वोच्च आसन पर) पहुंचाया गया हो तो क्या किन्हीं और को कहीं और तो क्या!

(शुक्रवार, 30 जनवरी 1931)

देश का भविष्य

लगभग एक वर्ष हुआ, जब लाहौर कांग्रेस के आदेश के अनुसार महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का आरंभ किया था और देश ने समूह रूप में उनका साथ दिया था। सत्याग्रह के आरंभ होते ही सारे देश में उत्साह, उत्तेजना और अशांति की लहरें फैल गई थीं जिनका प्रवाह आज भी बंद नहीं हुआ है। महात्मा गांधी ने अपने पिछले लेखों और भाषणों में तथा वाइसराय को लिखे गए पत्रों में अनेक बार यह कहा था कि गरीब देश नित्यप्रति तबाह होता जा रहा है और वह अधिक काल तक विदेशी सरकार की वर्तमान शोषक नीति को सहन नहीं कर सकता। उन्होंने अपनी ग्यारह शर्तों में पेश की आर्थिक अवस्था को सुधारने का ही लक्ष्य रखा था। यह उन शर्तों का अध्ययन करने पर प्रकट हो ही जाता है। चाहे महात्माजी की चरखा-संबंधी उक्तियां देखी जाएं अथवा शराबबंदी की ताकीद पर विचार किया जाए, यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकता कि उनका लक्ष्य देश की असंख्य दरिद्र जनता की गरीबी को कम करना और उन्हें भरपेट भोजन देना है। जब तक देश की यह प्रथम आवश्यकता पूरी नहीं होती तब तक अंतर्राष्ट्रीय नीति आदि का प्रश्न अधिक महत्व नहीं रखता है। जनता के अर्थकष्ट का विचार करके ही उन्होंने सबसे पहले नमक-कानून भंग करने का आयोजन किया था क्योंकि नमक एक ऐसी वस्तु है जिसका व्यवहार धनी-गरीब सबको करना पड़ता है और जिसके बिना किसी का काम नहीं चल सकता। जेल से निकलने पर महात्माजी ने अपनी नीति को और भी स्पष्ट कर दिया है कि शराबखोरी की मनाही, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार तथा प्राकृतिक नमक का इस्तेमाल ये सत्याग्रह या कानून भंग नहीं है, ये तो देश की जनता की प्राथमिक आवश्यकताएं हैं, और प्राथमिक अधिकार हैं। इसका सीधा मतलब तो यही है कि महात्माजी वर्तमान

नमक-कानून को देश के स्वाभाविक अधिकारों के खिलाफ समझते हैं, इसलिए उसे कानून मानते ही नहीं। महात्माजी ने इस बार जेल से निकलकर सत्याग्रह के संबंध में जो घोषणा की है हम तो समझते हैं कि वह उनके विचारों का स्वाभाविक विकास मात्र है।

महात्माजी के सामने मुख्य प्रश्न देश की गरीबी का है। उनका प्रधान लक्ष्य उसे ही दूर करना है। देश के प्राचीन आदर्शों और संस्कारों की रक्षा और विकास के लिए तो उन्होंने जो उद्योग किए हैं वे प्रत्येक महापुरुष के लिए स्वाभाविक हैं। वह तो महात्माओं का मार्ग ही है। परंतु देश की साधारण जनता उस सत्य को उतना शीघ्र नहीं समझती जितना शीघ्र वह व्यावहारिक बातों को समझती है। मादक वस्तुओं के निषेध का उदाहरण लेकर देखा जा सकता है। इसके दो पक्ष हैं। एक तो आर्थिक पक्ष और दूसरा नैतिक पक्ष। महात्माजी दोनों पक्षों पर एक-सा जोर देते हैं पर देश की जनता आर्थिक पक्ष को ही अधिक समझती है। यदि शराब पीने में गांठ की रकम न खर्च होती तो शराबबंदी आंदोलन को इतनी सफलता नहीं मिल सकती थी। यह सब कहने का अर्थ यह है कि महात्माजी के सत्याग्रह की व्याख्या पर विचार करना अथवा नुक्ताचीनी करना केवल सिद्धांतों की बारीकी में घुसना है। उससे न तो देश की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक पता चल सकता है और न उसके भविष्य का कुछ आभास मिल सकता है। यह तो स्वयं महात्माजी ही कह चुके हैं कि आंदोलन अब जनता के हाथ में चला गया है इसलिए देश के भविष्य की नीति यही निर्णय करेगी और उसी के निर्णय से लाभ भी हो सकेगा।

महात्माजी तथा अन्य बड़े-बड़े नेताओं की रिहाई से देश की जनता बहुत कुछ प्रसन्न हुई है। गोलमेज सम्मेलन को जो आशातीत सफलता मिलने की बात कही जाती है उस संवाद से भी देश में अशांति के कम होने की संभावना है। हमारे देश की जनता चिरकाल से शांति-प्रिय रही है और भविष्य में भी यहां बड़ी आसानी से शांति की स्थापना की जा सकती है। महात्माजी ने कहा है कि हम शांति के लिए तरस रहे हैं पर हमें सम्मान के साथ शांति चाहिए। निश्चय ही महात्माजी के इन शब्दों में देश भर की आवाज मिली हुई है। इसके लिए महात्माजी का ही नहीं, देश के प्रायः सभी नेताओं और दलों का यह मत है कि सभी राजबंदी छोड़ दिए जाएं और दमन चक्र स्थगित कर दिया जाए। आर्डिनेंस भी वापस लिये जाएं। खबर है कि वाइसराय और उनकी सरकार सब स्त्री-राजबंदियों को छोड़ देने का निश्चय कर चुकी है और अन्य राजबंदियों में भी अहिंसात्मक आंदोलन से संबंध रखने वालों को छोड़ने का विचार रखती है। कहा जाता है कि गोलमेज सम्मेलन के सब सदस्य जब तक भारत पहुंचेंगे, उसके पहले ही सब अहिंसात्मक कैदी छोड़ दिए जाएंगे। वाइसराय लार्ड इर्विन की इस उदारता की देश भर में प्रशंसा की जाएगी और इससे शांति और प्रीति के साथ देश अपने भविष्य का निर्णय कर सकेगा।

यदि सब राजनीतिक कैदी छोड़ दिए गए तो गोलमेज सम्मेलन की कार्रवाई पर विचार करने के अनुकूल स्थिति बन सकेगी। तब अनुसंधान का मुख्य विषय यह रह जाएगा कि जिस अर्थकष्ट के कारण देश की अवस्था शोचनीय हो रही है, उसे दूर करने के लिए सम्मेलन ने क्या प्रयत्न किया और कौन से अधिकार प्राप्त किए। यदि महात्माजी के कहने के अनुसार आंदोलन नेताओं के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में चला गया है तो जनता सबसे पहले

यह जानना चाहेगी कि उसकी स्थिति में क्या सुधार हुआ है? श्री शिवराव ने जो भारतीय मजदूरों के प्रतिनिधि होकर गोलमेज सम्मेलन में गए थे, कहा है कि आगामी विधान चाहे जैसा हो उसमें देश की जनता को यह सुविधा मिलनी चाहिए कि वह अपनी हालत को जाहिर कर सके और अनुकूल सुविधाएं पा सके। निश्चय ही जनता की अधिकांश मांग आर्थिक अधिकार संबंधी होगी। उसने सत्याग्रह आंदोलन में जो भाग लिया है वह भी अधिकांश अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए और वह गोलमेज सम्मेलन के फलों की भी जांच करेगी, आर्थिक प्रश्न को ही सामने रखकर। परंतु इस संबंध में सम्मेलन में जो अधिकार दिए गए हैं वे संतोषजनक नहीं हैं। श्री चिंतामणि ने आलोचना करते हुए कहा है कि अर्थ-विभाग को पूर्णतः जनता के प्रतिनिधि को न सौंपकर तथा अनेक प्रतिबंध रखकर अच्छा नहीं किया गया। अवश्य ही देश के राष्ट्रीय दल इसका विरोध करेंगे। हमारा यह विश्वास है कि देश का भविष्य बहुत कुछ इस बात पर अवलंबित रहेगा कि अर्थ-विभाग पर राष्ट्रीय अधिकार दिया जाता है या नहीं। देश की जनता इस प्रश्न को सबसे अधिक महत्व का समझेगी और इसी पर अपनी भविष्य नीति निर्धारित करेगी।

पार्लियामेंट में भारत

गोलमेज सम्मेलन के समाप्त होने के बाद पिछले सप्ताह पार्लियामेंट में भारतीय समस्या पर बहस हुई। यह प्रसन्नता की बात है कि केवल मजदूर दल ने ही नहीं, उदार तथा अनुदार दल के अधिकांश वक्ताओं ने भी काफी उदारता का परिचय दिया और गोलमेज सम्मेलन की सिफारिशों का समर्थन किया है। एक मिस्टर चर्चिल ही ऐसे थे जिन्होंने अपनी विरोधी राय प्रकट की। परंतु उनके दल के नेता श्री बाउडविन ने उनके मत का खंडन किया और यह कहा कि यदि वर्तमान मजदूर सरकार न भी रहे तो भी हमारा दल गोलमेज सम्मेलन के प्रस्तावों का समर्थन करेगा। प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने अधिक शक्ति प्रतिबंधों के समर्थन करने में लगाई। कहा जा सकता है कि वे गोलमेज के प्रत्येक प्रस्ताव के कट्टर हिमायती हैं और उसके विपक्ष में कही गई प्रत्येक बात का खंडन करना चाहते हैं। इसी बहस में सबसे महत्वपूर्ण, दूरदर्शी और उदार भाषण भारत सचिव मिस्टर वेजल्ड बेन का हुआ। उन्होंने मिस्टर चर्चिल और उन्हीं के विचार वालों को जवाब देते हुए पहले तो ब्रिटेन द्वारा की गई भारत के प्रति प्रतिज्ञाओं का उल्लेख किया फिर अत्यंत मार्मिक शब्दों में कहा कि 'भारत में कोई भी सरकार जनता का विरोध करके टिक नहीं सकती। भारत में पिछले वर्ष भर जो युद्ध होता रहा। वह शारीरिक अथवा पाशविक युद्ध नहीं था। पशुशक्ति और अधिकार की तो बात ही नहीं रही। शक्ति और अधिकार तो हमारे पास काफी थे। हमारे पास पुलिस थी, हमारे पास फौज थी, परंतु भारत में जो युद्ध चल रहा है वह तो भारत की अभिलाषा के समर्थन में नैतिक युद्ध है। बिना नैतिक सहायता के कोई भी सरकार शक्तिशाली नहीं हो सकती। पशुशक्ति तो शक्ति

नहीं है। वह तो शक्ति का ह्रास है। जितना ही जनता की सम्मति के बिना पशुशक्ति का प्रयोग होगा उतना ही उसका प्रभाव कम पड़ता जाएगा।' मिस्टर वेजल्ड बेन ने यह स्पष्ट कह दिया कि भारत को वास्तविक अधिकार चाहिए और वह भी बहुत जल्द। देर करने में खतरा ही है। निश्चय ही मिस्टर बेन के इस भाषण की सर्वत्र प्रशंसा की जाएगी। मिस्टर बेन जैसे व्यक्ति जिस मजदूर सरकार के शीर्ष पर हैं, वह यदि तत्पर होकर काम करे तो उससे भारत को निराश होने का कोई कारण नहीं।

पूर्व भारत की अपूर्व विभूति

काशी का भारत कलाभवन और उसकी आवश्यकताएं

भारत के पिछले 19 जनवरी के अंक में हमने भारत कलाभवन काशी में संगृहीत भारतीय कला के कुछ उत्तम निदर्शनों के चित्र प्रकाशित किए हैं। आशा है हमारे पाठकों ने उन्हें देखा होगा। हमें खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि जिस रूप में वे चित्र *भारत* में छपे हैं और जिस रूप में उनका परिचय दिया गया है उससे न तो चित्रों का सौंदर्य खिल सका है और न उनकी विशेषता जानी जा सकी है। कलापरिषद् काशी से जिन 16 चित्रों का सेट हमारे पास आलोचना के लिए आया था, उसके साथ ही परिषद् की ओर से एक परिचय पत्र भी भेजा गया था जिसमें उनकी कला संबधी विशेषता बड़ी ही सरलता से समझ में आ सकती थी। वह सेट प्रत्येक चित्र के परिचय सहित कलाभवन के अवैतनिक अध्यक्ष से 2 रुपए में प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय कला से लेशमात्र प्रेम रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को काशी के उस अद्वितीय संग्रहालय के दर्शन कर गौरवान्वित होना चाहिए। चित्रों का वह सुंदर सेट मंगाकर एक बार देख लेने पर काशी जाकर भारतीय कला की उस राष्ट्रीय निधि को देखे बिना चैन नहीं मिल सकती इसका हम विश्वास दिलाते हैं। *भारत* में हमने जो चित्र छापे हैं वे उसी सेट के हैं। केवल पाठकों में उत्सुकता जाग्रत करने के आशय से ही हमने उन चित्रों को अपेक्षाकृत विकृत रूप में प्रकाशित करने का साहस किया था, आशा है उससे हमारा आशय सिद्ध हुआ होगा।

भारत के विगत 31 अक्तूबर के अंक में पं. वाचस्पति पाठक ने कलाभवन के संबंध में लिखते हुए हिंदी के पत्रकारों और जिम्मेदार व्यक्तियों के कला के प्रति उदासीन भाव तथा अज्ञान का उल्लेख किया है। सचमुच यह बड़ी शोचनीय बात है कि जिनके हाथ में प्रचार कार्य के साधन पत्र-पत्रिकाएं हैं वे ही जब ध्यान नहीं देते और जिनके सिर जनता को पथ दिखलाने का भार है वे ही जब किनारा काटते हैं तब साधारण जनता से यह आशा कौन करेगा और कैसे करेगा कि वह देश की अमूल्य संपत्ति कला का मूल्य समझेगी और उसकी रक्षा, उसके संग्रह आदि के कार्य में उत्साहपूर्वक हाथ बंटावेगी। देश की वह परंपरागत

विभूति हमारे खंडहरों में पड़ी खिन्न-चित्त से आकाश ताक रही है अथवा कठोर, अनभिज्ञ हाथों में पड़कर मृत्यु की अंतिम घड़ियां गिन रही है और हम उसकी ओर ध्यान भी नहीं देते। हमें उसकी पुकार सुननी चाहिए और शीघ्र से शीघ्र उसकी रक्षा का उपाय करना चाहिए। यह तो निश्चय है कि आज नहीं तो सौ वर्षों के बाद जब हमारी संतान शिक्षित होकर अपनी सत्ता को दृढ़ करने के साधनों को सोचेगी तब उसे भारतीय कला की उन सुंदर स्मृतियों को संग्रह करने की आवश्यकता होगी जो आज हमारे खंडहरों में बिखरी पड़ी है और जिनकी ओर से हमारी आंखें आज खिंची हुई हैं। यदि हमारी ऐसी ही प्रवृत्ति रही तो कल का सचेत और शिक्षित राष्ट्र हमारी आज की आत्म विस्मृति की निंदा करेगा और हम अपनी लज्जा संभालने के योग्य भी नहीं रहेंगे।

काशी का 'भारत कलाभवन' बहुत अंशों में हमारे युग की लाज है। उसकी प्रतिष्ठा करने वाले महानुभाव काशी के सुप्रसिद्ध रईस, साहित्यकार और कलाविद् राय कृष्णदासजी हैं। राय साहब ने जिस महान अध्यवसाय से अकेले दम इस विशाल आयोजन की पूर्ति की है। उसकी प्रशंसा में हम देश के प्रसिद्ध विद्वान और कलाविद् 'श्री अशोक' की सम्मति उद्धृत करके ही संतोष कर लेंगे। प्रसिद्ध *लीडर* पत्र के 2 जनवरी के अंक में आप राय कृष्णदासजी तथा उनके कलाभवन के संबंध में लिखते हैं—'राय कृष्णदास संकोचशील और विनीत स्वभाव के हिंदी के एक उत्कृष्ट लेखक हैं। उन्होंने प्रायः अकेले ही उद्योग करके राष्ट्र को स्थापत्य तथा चित्रकला संबंधी जो सुंदर उपहार भेंट किया है, वह वर्तमान तथा भविष्य की पीढ़ियों में लालित्य की तथा सौंदर्य की सात्विक प्रेरणा उत्पन्न कर अपने ही कलाभवन की प्रतिष्ठा की है। यह कलाभवन काशी नागरी प्रचारिणी सभा में स्थित देश का एक मात्र राष्ट्रीय चित्र संग्रहालय है। एक ही व्यक्ति के अथक उद्योग का सफल परिणाम इससे बढ़कर दूसरा नहीं मिल सकता। अत्यल्प प्रोत्साहन तथा और भी अल्प आर्थिक सहयोग की कठिन स्थिति में कला-सामग्री का संग्रह करना और सजाना रायसाहब का ही काम था। राय कृष्णदास ने किसी स्कूल अथवा कॉलेज में शिक्षा नहीं पाई, परंतु इस देश में मैं ऐसे बहुत थोड़े लोगों को जानता हूं जिनकी सौंदर्यानुभूति तथा जिनका निःस्वार्थ कलानुराग उनकी समता कर सकता है। कलाकार कभी-कभी स्वार्थरत तथा व्यक्तिवादी हुआ करते हैं। परंतु रायसाहब में हम एक ऐसा उदाहरण पाते हैं जिन्होंने अपने सुंदर संग्रह से अपने घर को सजाने का कार्य हेय समझा और इस वर्षों के अविरत उद्योग से एकत्रित संपूर्ण सामग्री उस कलाभवन (भारत कलाभवन) को अर्पण कर दी जिसमें आपका नाम भी सम्मिलित नहीं है। कलाभवन उदीयमान युग का साक्षी है और राय कृष्णदास का स्मृतिचिह्न है जो भविष्य में प्रतिदिन उन्नति ही करता जाएगा। अब यह हमारे देशवासी, भले आदमियों और राजा-रईसों का कर्तव्य है कि कला के उन प्राचीन निदर्शनों को कलाभवन को अर्पित करके प्रांत की एक मात्र राष्ट्रीय कला-संस्था की शोभा बढ़ावें।

राय कृष्णदास ने कलाभवन के चित्रों पर प्रकाश डालने के लिए लैंटर्न (ज्योति) भाषण प्रारंभ कर दिए हैं। कलाभवन को समस्त सामग्री के उचित प्रदर्शन के लिए वर्तमान स्थान कम पड़ने लगा है। इस समय बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि सरकार तथा जनता

कलाभवन को आर्थिक सहायता देकर प्रदर्शनी को उसमें संगृहीत अमूल्य वस्तुओं के अनुकूल बना दें। क्या ही अच्छा होता यदि काशी विश्वविद्यालय अपने किसी विशाल भवन में उपयुक्त कला-प्रदर्शनी को सजाने का प्रबंध करता।

'श्री अशोक' का यह कथन अक्षर-अक्षर सत्य है। काशी विश्वविद्यालय यदि अपनी वर्तमान अवस्था में ऐसा प्रबंध नहीं कर सकता तो देश की जनता और राजा-रईसों को इस ओर ध्यान देकर सभा-भवन में ही नई इमारत बनवाने का प्रबंध करना चाहिए। विदेशों में कला के विशाल संग्रह और वे सरकारी सहायता से नहीं, देशवासियों और धनिकों की सहायता से चल रहे हैं। एक-एक चित्र के लिए लाखों रुपए तक व्यय किए जाते रहे हैं। हमारा देश अपनी प्राचीन कला में किसी भी अन्य देश से पिछड़ा नहीं रहा, आगे ही बढ़ रहा है। उस प्राचीन गौरव की रक्षा के लिए हमारे संपन्न और समर्थ देशवासियों को यह साधारण व्ययसाध्य कार्य तो बात की बात में कर डालना चाहिए। विचार करने पर यह जान पड़ेगा कि धन का इससे अधिक सद्व्यय और हो नहीं सकता। कलाभवन राष्ट्र की संपत्ति है, उसकी सहायता में व्यय किया गया संपूर्ण धन राष्ट्रीय कार्य में सुरक्षित रहेगा और भावी संतान के काम आएगा।

जिस संस्था के अंतर में इतनी सात्विक प्रेरणाएं काम कर रही हैं उसका बाह्य भी बड़ा ही भव्य है। बाह्य से हमारा तात्पर्य व्यावहारिक स्वरूप से है। विवरण इस प्रकार है। भारत कलाभवन की स्थापना सन् 1920 में हुई थी। राय कृष्णदासजी (स्थायी अवैतनिक प्रधान) ने बाबू सीताराम साह और श्री शिवेंद्र बसु के सहयोग से इसे स्थापित किया था। ये तीनों सज्जन काशी के श्रेष्ठ नागरिक हैं। प्रदर्शनी-ट्रस्ट के प्रधान महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर तथा उसके ट्रस्टी देश के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। प्रबंधकारिणी समिति इस प्रकार बनी है–

अध्यक्ष : बाबू सीताराम साह
सदस्य : बाबू श्यामसुंदर दास, बी.ए., संस्थापक, नागरी प्रचारिणी सभा;
प्रोफेसर केशव प्रसाद मिश्र;
रायबहादुर बाबू हीरालाल;
राय कृष्णदास;
एन.सी. मेहता, आई.सी.;
बाबू दुर्गा प्रसाद।

प्रदर्शनी के संग्रह में भारतीय स्थापत्य कला के प्रायः 200 सुंदरतम निदर्शन हैं। उनकी तिथि ख्रीष्ट पूर्व 100 से 1200 ई. तक है। चित्र-भवन में 500 से ऊपर श्रेष्ठ चित्र हैं। राजस्थानी, पहाड़ी तथा मुगल कलाओं की सभी शाखा-प्रशाखाओं का यह प्रतिनिधि संग्रह भारतीय चित्रकला की सभी विशेषताओं से सुशोभित है। ललित तथा उपयोगी कलाओं की अन्य अनेक वस्तुएं भी संगृहीत हैं।

यह प्रदर्शनी निःशुल्क है और सबके लिए खुली रहती है, काशी टाउनहाल से सौ कदम

पर नागरी प्रचारिणी सभा के विशाल भवन में कलाभवन के अवैतनिक प्रधान (राय कृष्णदासजी) अथवा नागरी प्रचारिणी सभा के मंत्री महोदय से मिलकर दिन 11 बजे से 3 बजे तक इसे देखने की सुविधा मिल सकती है।

लीडर पत्र के इसी 29 जनवरी के अंक में प्रकाशित हुआ है कि अभी-कभी कलाभवन को कुछ अत्यंत मूल्यवान सामग्री भेंट की गई है। मारवाड़ के मुनि कल्याण विजयजी ने 500 वर्ष पुराने एक सचित्र जैन ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति भेंट की है। इस प्रकार की हस्तलिखित पुस्तक अब तक की ज्ञात प्राचीन पुस्तकों में द्वितीय स्थान की अधिकारिणी है। *भगवद्गीता* का एक स्वर्णरंजित, अलंकृत पृष्ठ काशी की प्रसिद्ध दुलहिनजी के घर से प्राप्त हुआ है। यदि अन्य महानुभाव भी इसी पथ का अनुसरण करें तो हम भारतवासियों के सौभाग्य से एक वृहत् राष्ट्रीय कलाभवन निकट भविष्य में ही तैयार हो सकता है।

शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर श्री मैकेंजी ने हाल ही में कलाभवन का निरीक्षण किया था। वे उस मनोरंजक और मूल्यवान संग्रह को देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए थे और उन्होंने कहा था कि यह संग्रहालय स्वच्छता और सुप्रंबध का आदर्श है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस राष्ट्रीय कलाभवन को दी गई प्रत्येक कला-वस्तु देश और जाति के काम आवेगी और इसे प्रदान किया हुआ संपूर्ण धन हमारे जातीय कोष को भरेगा और उसे दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ावेगा।

(सोमवार, 2 फरवरी 1931)

महात्माजी की शर्तें

महात्मा गांधी लोकमान्य नेता हैं, उनका मत लोकमत और उनकी वाणी लोकवाणी हो रही है। वर्तमान युग में कितने ही प्रतिभाशाली नेता हमारे देश में हुए, परंतु महात्माजी की-सी लोकप्रियता किसी को नहीं मिली। प्राचीन सभ्यता और संस्कारों के अनुकूल होने के कारण, जनता की स्थिति का मर्म जान लेने के कारण अथवा अन्य किसी कारण महात्माजी ने देश भर में व्यापक सम्मान और श्रद्धा प्राप्त कर ली है और आज वे भारत के हृदय सम्राट कहलाते हैं। पिछले वर्ष गांधीजी की आज्ञा होते ही सारा देश किस तत्परता से सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने लगा, और अब भी लेता जा रहा है, यह तो हम देख ही रहे हैं। सरकारी कानून-भंग करके गुजरात के किसानों ने कष्ट पर कष्ट सहे और सह रहे हैं। बंबई की जनता ने लाठियां और डंडे सहे तथा सारे देश में पचीसों हजार आदमियों ने जेल के कष्ट सहे और अब भी सह रहे हैं। स्त्रियों और बालकों ने भी राष्ट्रीय कार्य में अभूतपूर्व भाग लिया। देश के व्यापारियों ने करोड़ों रुपयों का घाटा उठाकर अपना विदेशी-वस्तु-विक्रय बंद किया, सील-मुहर अब भी लगी हैं। जैसाकि गांधीजी ने स्वयं कहा है, नवयुवकों ने, वृद्धों ने, बालकों ने, सबने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार आंदोलन को सफल बनाने की चेष्टा की। इस समस्त राष्ट्रीय आंदोलन के विधायक

बहुत अंश में महात्मा गांधी ही थे और उन्हीं की महती प्रेरणा से अधिकांश में देश ने इतना आत्मत्याग दिखाया और इतने कष्ट सहन किए। गांधीजी की लोक-मर्यादा इतने से ही प्रकट हो जाती है, फिर भी और हाल के प्रत्यक्ष प्रमाण पाने के लिए पिछले दिन की बंबई की चार-पांच लाख की भीड़ और प्रयाग का पचास-साठ हजार का अभूतपूर्व समारोह देखा जा सकता था।

यहां हमने महात्माजी का परिचय नहीं दिया है। यह दिखलाने की चेष्टा की है कि उनकी शर्तों की ताकत समझी जाए। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति महात्माजी के इशारे पर काम करेगी, यह प्रायः निश्चित है। श्री श्रीप्रकाश आदि प्रादेशिक नेताओं ने यह सूचना दी है कि गांधीजी जो कुछ आदेश देंगे, हम सब देशवासी उसे ही पूरा करेंगे। कांग्रेस महात्माजी के नियत्रंण में एकमत है। आगामी कराची कांग्रेस के अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल नियुक्त किए गए हैं जो महात्माजी के दाहिने हाथ हैं। इसलिए यह करीब-करीब तय है कि कराची कांग्रेस में महात्माजी की ही नीति स्वीकार की जाएगी और आगामी वर्ष भर उसका ही पालन किया जाएगा। ऐसी अवस्था में महात्माजी की शर्तें राष्ट्रीय कांग्रेस की ही शर्तें मानी जानी चाहिए। राष्ट्रीय कांग्रेस को वाइसराय लार्ड इर्विन ने महान कांग्रेस संस्था कहा है। देश पर उसका अपार प्रभाव है। उसका आदेश पिछले वर्षभर पालन किया गया है और आगे भी पालन किया जाएगा।

परंतु यदि देश और सरकार के बीच सम्मानपूर्वक समझौता हो तो इसके लिए कांग्रेस के सभी नेता तैयार हैं। महात्माजी ने कहा है कि हम शांति के लिए तरस रहे हैं। पर हमें सम्मान के साथ शांति चाहिए। सरकार की पिछले दिनों की नीति से जान पड़ता है कि वह उदारता का अर्थ समझने लगी है और आपस के समझौते का मार्ग सरल करना चाहती है। यद्यपि आर्डिनेंसों का दौरदौरा अब भी जारी है और यद्यपि दमनचक्र का व्यवहार अब भी हो रहा है पर जान पड़ता है, भारत सरकार शीघ्र ही उचित पथ पर चलने की विधि सोच रही है। विलायत में आगामी वाइसराय लार्ड विलिंग्डन भी प्रधान सचिव से मिलकर सलाह-मशविरा कर रहे हैं और आशा की जाती है कि सरकारी नीति में शीघ्र ही परिवर्तन होगा। वैसी अवस्था में कांग्रेस के लिए शांतचित्त से आगामी समस्या पर विचार करना सुगम हो जाएगा।

बहुत से विलायती पत्र महात्माजी की हाल की विज्ञप्ति सुनकर बिगड़ उठे हैं। परंतु भारतीय पत्रों ने इस समय बड़ा ही सौम्य और उचित भाव धारण किया है। विलायत में रहकर भारतीय स्थिति और उस पर महात्माजी के प्रभाव को समझना कठिन काम है। भारत के पत्रों ने महात्माजी के वक्तव्य को उदारता से सुना है और समझने की चेष्टा की है। उन्हें यह जान पड़ता है कि गोलमेज के नेताओं के भारत आने पर कांग्रेस के नेता उनसे मिलकर शांति का उपाय सोच सकेंगे। वे सत्याग्रह संबंधी महात्माजी की व्याख्या का अर्थ समझने लगे हैं और उनकी यह धारणा हो रही है कि देश में पिछले वर्ष जो घोर अशांति रही उसके मूल में आर्थिक और सामाजिक कारण हैं। सत्याग्रह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो केवल राजनीतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए व्यवहार में लाई जाती हो। राजनीतिक व्यवस्था का उल्लंघन सत्याग्रह का आंशिक साधन मात्र है, वह कोई साध्य नहीं। आर्डिनेंसों और कड़े कानूनों के कारण सत्याग्रह का प्रयोग क्षेत्र अधिक बढ़ गया था, अन्यथा इतनी विभीषिका फैलती ही नहीं। नर्म दल के भारतीय पत्रों

का भी यह विश्वास है कि गोलमेज सम्मेलन की कार्रवाई को अपनी शक्ति से आगे बढ़ाकर कांग्रेस उस स्वराज्य का सार प्राप्त कर सकती है जिसके लिए महात्माजी इतने उत्सुक और उद्विग्न हैं। बंबई के कांग्रेस नेता श्री के.एम. मुंशी ने अभी उस दिन कहा है कि यदि महात्माजी की शर्तों को सरकार मान ले और सच्चे हृदय-परिवर्तन का परिचय देकर भारत के स्वतंत्र और स्वाधीन होने का समर्थन करे तो कांग्रेस का सहयोग सरकार को मिल सकेगा।

महात्माजी की शर्तों में तीन प्रधान हैं। मादक द्रव्यों का निषेध, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और नमक कानून का परिवर्तन। वर्तमान सत्याग्रह आंदोलन के ये ही तीन प्रधान अंग रहे हैं, कुछ समय से करबंदी का प्रचार भी किया जा रहा है। महात्माजी का कहना है कि फिलहाल हम इन्हीं तीन शर्तों पर जोर देते हैं। विचार करने पर जान पड़ेगा कि ये शर्तें शुद्ध आर्थिक और नैतिक लक्ष्य रखती हैं। शराब पीने का समर्थन कोई भी सभ्य सरकार नहीं कर सकती, घरेलू उद्योग-धंधों के प्रचार से देश की आर्थिक अवस्था सुधारने को किसी भी प्रकार राजनीतिक षड्यंत्र नहीं कहा जा सकता और नमक-कानून के उठा देने में बहुत से अंग्रेज राजनीतिज्ञों की इच्छा का भी पालन होगा। मादक-द्रव्य निषेध का कानून तो अमेरिका जैसे पाश्चात्य देशों में भी मौजूद है, फिर भारत की परंपरागत रीति-नीति के और संस्कृति के अनुसार उस संबंध की सरकारी निषेधाज्ञा का बनाना सर्वथा उचित होगा। चीन की अफीम व्याधि को दूर करने में इंग्लैंड के कुछ राजनीतिज्ञों ने अच्छी उदारता दिखाई थी, भारत के प्रश्न को भी उसी दृष्टि से देखना और हल करना ठीक होगा। विदेशी-वस्तुओं का बहिष्कार बहुत कुछ जनता की मनोवृत्ति पर निर्भर है। वर्तमान अवस्था में तो बहिष्कार स्वाभाविक हो रहा है। शांति के समय में स्वभावतः कुछ परिवर्तन होगा ही। आर्थिक दृष्टि से घरेलू उद्योग-धंधों की उन्नति करनी आवश्यक है। सरकार यदि अपनी ओर से इसकी व्यवस्था नहीं कर सकती तो उसे इस बात पर तो कोई आक्षेप न होना चाहिए कि विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का राष्ट्रीय उद्योग किया जाए और शांतिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहे। नमक-कानून को उठा देने का अधिकार नवीन विधान बन जाने पर जनता के प्रतिनिधियों को मिल जाएगा। निश्चय ही यह अधिकार मिलते ही यह गरीबों को कष्ट देने वाला कानून उठा दिया जाएगा। अच्छा हो यदि सरकार मनोविज्ञान की दृष्टि से इस परिस्थिति को देखे और पहले ही नमक-कानून के उठा लेने की घोषणा कर दे।

गांधीजी की इन तीन शर्तों के साथ एक दूसरी शर्त जिस पर हाल में कुछ अधिक बातचीत हुई है और जोर दिया गया है वह भारत के राष्ट्रीय ऋण से संबंध रखती है। पाठकों को स्मरण होगा कि गत वर्ष लाहौर कांग्रेस में राष्ट्रपति पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में इस राष्ट्रीय ऋण की बात उठाई थी। इसके बाद पिछले जुलाई-अगस्त के महीनों में जब सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर की संधि चर्चा चल रही थी तब कांग्रेस नेताओं ने एक शर्त यह भी रखी थी कि इस ऋण की जांच कराने की आवश्यकता समझी जाने पर भारतीयों को यह अधिकार रहे कि वे किसी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में जांच करा सकें। इस संबंध में बहुत-सी गलतफहमी फैली और कुछ लोगों की ऐसी धारणा हुई कि कांग्रेस नेता इस ऋण को स्वीकार

नहीं करते। परंतु महात्माजी ने इसका खंडन करते हुए कहा कि किसी भी कांग्रेस नेता ने कभी भी ऋण को अस्वीकार करने की बात नहीं कही। मैं तथा अन्य कांग्रेसी यह चाहते हैं कि राष्ट्र को इस बात का अधिकार रहे कि वह आवश्यक समझकर इस राष्ट्रीय ऋण नामधारी ऋण के किसी अंश की जांच करा सके। इस संबंध में प्रोफेसर अलेक्जेंडर नाम के अंग्रेज विद्वान ने *मैनचेस्टर गार्जियन* नामक प्रसिद्ध पत्र में लिखा है कि महात्माजी को चाहिए कि वे कुछ उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करें और यह बतलावें कि वे किस प्रकार की ऋणता के संबंध में फैसला कराना चाहते हैं। हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि महात्माजी के लिए इस संबंध के उदाहरण उपस्थित करना अनिवार्य है परंतु प्रोफेसर अलेक्जेंडर ने राष्ट्रीय भारतीय पत्रों में ऋण-विषयक विवरण और सम्मतियां पढ़ी होंगी। ईस्ट इंडिया कंपनी राज्य विस्तार में जो करोड़ों रुपए खर्च हुए, विगत महायुद्ध और पिछले अनेक युद्धों में जो ऋण भारत के नाम पर लिया गया और करेंसी तथा विनिमय की सरकारी नीति के कारण जो धक्के हमें उठाने पड़े, राष्ट्रीय पत्रों ने उन सब पर आक्षेप किया है। जांच के लिए ये सब रखे जा सकते हैं। यह मत अनेक न्याय-विशारदों को स्वीकार होगा। परंतु महात्माजी ने इस विषय पर अपनी सूचना नहीं दी है, अभी वे अपनी उपयुक्त तीन शर्तों पर ही अधिक जोर दे रहे हैं। सरकार को चाहिए कि वह समझ-बूझकर महात्माजी की शर्तों पर विचार करे।

हिंदी साहित्य सम्मेलन–1

स्वरूप बदल देने का समय आ गया, माया-मोह से हानि होगी।

यथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही–*गीता* के अनुसार नवयुग की आधारशिला पर नवीन साहित्य-भवन की प्रतिष्ठा कीजिए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल आगामी प्रथम अधिवेशन के सभापति हों।

पुरानी संस्थाएं जब जीर्ण-शीर्ण होकर छिन्न-भिन्न होने को होती हैं तब दुनिया के दस्तूर के मुताबिक बहुतों का माया-मोह उनसे बहुत अधिक लिपटा रहता है। माया-मोह अज्ञानजन्य है, यह शास्त्रीय कथन है, परंतु बहुत से शास्त्रज्ञ भी मोहबंधन में बंधे रहते हैं। हिंदी साहित्य संम्मेलन के संबंध में जो अनेक लेख इधर पत्र-पत्रिकाओं में निकले हैं वे भी इसी माया ममता के साक्षी हो रहे हैं। उन पर विचार करना हमारा लक्ष्य नहीं। एक संस्था थी जिसने पिछले वर्षों के जीवन में हिंदी की अपार सेवा की। उसका नाम हिंदी साहित्य सम्मेलन था। उसका एक इतिहास है–स्थापना का, विकास का, सभाओं का, सभापतियों का, अधोगति और पतन का भी। हिंदी की शैशवावस्था में सम्मेलन के कुछ लक्ष्य थे जो समय की गति के अनुसार कुछ पूरे हुए, कुछ नहीं हुए, इसकी भी गाथा सुनाई जा सकती है। साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन, पुरस्कार, परीक्षाएं, प्रचार कार्य आदि-आदि सब यथोचित रीति से हुआ, आशातीत

सफलता मिली, कुछ लोग कहेंगे नहीं मिली। अनेक विद्वानों का सहयोग, अनेक का असहयोग, महात्मा गांधी का देवयोग, किसी का अर्थयोग, किसी का अनर्थयोग, सब इसी प्रकार समझिए। राजनीति और साहित्य एक में मिल जाने से, रुपयों का दुरुपयोग होने से अथवा जैसे भी हो, वर्तमान हीनावस्था के भी अनेक कारण बतलाए जाते हैं।

आपको यदि फुर्सत हो तो एक गद्य-काव्य लिखिए जिसमें इन सभी विषयों पर आपके सुललित भावों का समावेश हो। आजकल वीर छंद अच्छा चला है, न हो तो सम्मेलन संबंधी एक आल्हखंड तैयार कीजिए। बिक जाएगा, इसका विश्वास हम दिलाते हैं। यह जरूरी नहीं कि वीर छंद लिखते हैं तो वीर रस भी हो, नहीं इसका कोई खास बंधेज मत मानिए। आप जैसा चाहिए लिखिए, कोई टोके तो कह दीजिएगा कि हमारा-आपका मतभेद है। लिख चुकने के बाद फिर एक लेख और लिखिए। उसमें आप इस बात पर जोर दीजिए कि आपका हिंदी साहित्य सम्मेलन संबंधी आल्हखंड और आप हिंदी की अद्वितीय वस्तुएं हैं। यदि कोई इसका विरोध करे तो आप उसके विरोध में अनाप-शनाप, अंट-शंट, गलत-सलत जल्दी से कुछ और लिख डालिए और उसी दिन उसे छपने के लिए भेज दीजिए। कहां! किसी बात का संकोच मत कीजिएगा, वह आप ही लोगों का पत्र है।

परंतु संयोगवश कृतिशील संसार में इतनी फुर्सत वाले व्यक्ति कम मिलते हैं और जो मिलते हैं वे दुर्भाग्यवश अथवा सौभाग्यवश गद्यकाव्य, वीर छंद आदि से हिंदी साहित्य सम्मेलन के संबंधी स्तोत्र रचना करने की प्रवृत्ति नहीं रखते। उनके सामने संपूर्ण समस्या इस रूप में रहती है—हिंदी साहित्य सम्मेलन की अवस्था इस समय अच्छी नहीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा प्राचीनशोध का काम करती है। हिंदुस्तानी एकाडमी सरकारी संस्था है, राजनीतिक लक्ष्य और सुविधाओं को लेकर चली है। हिंदी साहित्य सम्मेलन पिछले जमाने में चाहे जो कुछ लक्ष्य लेकर चला हो और चाहे जितने काम किए हों, अब उसका एक समयानुकूल निर्दिष्ट पथ होना चाहिए। सभा अवश्य मूल्यवान काम कर रही है। एकाडमी के काम का अभी तक कुछ ठीक पता नहीं। साहित्य सम्मेलन का लक्ष्य उसके नाम के अनुकूल, युग के अनुकूल और साहित्य के सर्वतोन्मुख विकास की दृष्टि से उपर्युक्त सभा और एकाडमी के क्षेत्रों से भिन्न होना चाहिए।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह प्रकट होगा कि साहित्य सम्मेलन का सर्व प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए साहित्य के विशेषज्ञों का संघटन और प्रोत्साहन, उत्कृष्ट पुस्तकों का प्रकाशन, नवीन साहित्यज्ञों की सृष्टि और सामयिक साहित्य का नियंत्रण। वास्तव में यह नियंत्रण का काम एकाडमी को करना था, पर स्थिति को देखते हुए वह अभी इसके योग्य नहीं समझ पड़ती। आगे कभी होगी, इसका कोई विश्वास नहीं। अन्य देशों में एकाडमी ही यह काम करती है पर हमारे यहां साहित्य सम्मेलन को यह करना होगा। दो काम और रह जाते हैं जिन्हें सम्मेलन अब तक करता आया है, साहित्य-सेवियों का सम्मान और भाषा-प्रचार। इसमें पहला काम हमें कुछ विलक्षण जान पड़ता रहा है। आपने चालीस वर्षों से हिंदी की सेवा की है, मन भर (वजन में) किताबें लिखी हैं। इसलिए आप सभापति बनाए जाएं। यह सहृदयता की अतिशयता

हुई, एक प्रकार का मोह, अज्ञान हुआ और तो कुछ नहीं। फिर भी हम कहेंगे कि यदि इस विभाग को बनाए रखना है तो साहित्य सम्मेलन नाम की किसी संस्था के साथ इसका संबंध न जोड़ा जाए। प्रसिद्ध अंग्रेज आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है कि इस प्रकार की साहित्यिक सेवा आदि का ध्यान रखना साहित्य के इतिहास में आधिपत्य स्वीकार करना है। साहित्य सम्मेलन के लिए यह उचित नहीं।

भाषा-प्रचार का कार्य हिंदी के और देश के भविष्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। परंतु साहित्य सम्मेलन से इसका सीधा संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। देश की सर्वप्रमुख राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस से यह अनुरोध किया जाए कि वह राष्ट्र-भाषा-प्रचार का कार्य अपने हाथ में ले ले। कांग्रेस और महात्मा गांधी आदि उसके नेताओं के प्रयत्न से यह कार्य आशातीत शीघ्रता के साथ संपन्न हुआ है। यदि हिंदी वाले राष्ट्र-भाषा-प्रचार विभाग का व्यय कांग्रेस को अपनी ओर से दे तो यह उनका कर्तव्यपालन होगा अन्यथा राष्ट्रीय कांग्रेस इसकी व्यवस्था करे।

साहित्य सम्मेलन यदि इस निर्दिष्ट पथ पर चले तो वह शीघ्र ही एक प्रभावशाली साहित्यिक संस्था बन सकती है। नवीन साहित्यिकों की सृष्टि का कार्य सम्मेलन की आधुनिक परीक्षाएं करती हैं। कुछ लोगों का ऐसा विचार हो सकता है कि परीक्षा-विभाग भी साहित्य सम्मेलन से अलग रखा जाए, परंतु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि परीक्षा का कार्य विशेषज्ञों के हाथ में ही रखना उचित होगा अन्यथा उससे अभीष्ट फल नहीं मिल सकेगा। परीक्षा के वर्तमान क्रम में परिवर्तन आवश्यक है।

महाकवि रवींद्रनाथ ने भरतपुर के हिंदी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर कहा था कि आप राष्ट्र-भाषा की दोहाई देकर हिंदी का प्रचार करना चाहते हैं, यह ठीक नहीं। हिंदी साहित्य में क्या है जो भिन्न भाषा-भाषी साहित्य मधुप उस ओर खिंचेंगे। बांग्ला साहित्य के पाठक भिन्न-भिन्न प्रांतों में और विदेशों में भी बहुत मिलेंगे। उसका कारण है आधुनिक बांग्ला साहित्य की श्री जो उन्हें मोहित कर लेती है। हिंदी में भी वही श्री, वही शोभा लानी होगी, वही चमत्कार, वही संपन्नता दिखानी होगी। यदि साहित्य सम्मेलन साहित्य के उच्च लक्ष्य को समझकर रवि बाबू के आदेशानुसार उसकी श्रीवृद्धि में संलग्न हो सका तो हिंदी के शुभ दिन शीघ्र ही आएंगे इसमें संदेह नहीं।

हिंदी की प्रगति देखते हुए ऐसी संस्था की आवश्यकता अनिवार्य हो गई है जो शुद्ध साहित्यिक लक्ष्य रखती हो। पिछले बीस वर्षों में सम्मेलन ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया उसकी पुष्टि के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि वह अब अपने प्रकृत क्षेत्र में आकर, संलग्न होकर कार्य करे। उसका उत्तरदायित्व बेहद बढ़ गया है। इसलिए उसे अपना कार्य-क्षेत्र संकुचित कर देना पड़ेगा और तत्पर होकर काम में जुट जाना होगा।

उपर्युक्त लक्ष्य को ग्रहण करने के पहले हिंदी साहित्य सम्मेलन को अपना जीर्ण-शीर्ण रूप छोड़कर नवीन युग के उपयुक्त नवीन उत्साह और जीवन के चिह्न दिखाने होंगे। यदि शरीर की ममता छोड़ दी जाए और नाम रूपात्मक जगत की शास्त्रोक्त नश्वरता मान ली जाए

तो साहित्य सम्मेलन के आगामी अधिवेशन को प्रथम अधिवेशन कहना उचित होगा। यह कलकत्ते में हो रहा है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। कलकत्ता बंगला साहित्य का भी केंद्र है। बंगाल की विद्वत् मंडली में यदि हम अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते हैं और यदि साहित्य संबंधी मार्मिक संदेश सुनकर साहित्य सम्मेलन के भविष्य को सुगम और सुचारु बनाना चाहते हैं तो आगामी अधिवेशन के लिए हमें काशी विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित आचार्य रामचंद्र शुक्ल को सभापति चुनना होगा।

हिंदी साहित्य सम्मेलन के जिस नवीन रूप की ओर हमने संकेत किया है। उसके अनुसार सभापतित्व के लिए शुक्लजी निस्संदेह सर्वोपयुक्त व्यक्ति हैं। सभापति के निर्वाचन का अधिकार रखने वाले सज्जनों को शुक्लजी के अगाध पांडित्य का परिचय पाने के लिए हमारी लेखनी की आवश्यकता नहीं।

(शुक्रवार, 6 फरवरी 1931)

श्रद्धांजलि

जो पंडित मोतीलाल नेहरू कल तक हमारे साथ थे, जो क़ल तक देश के असंख्य हृदयों के प्रिय, सगे और प्राण थे, जो दुख-सुख में मित्र की भांति, कष्ट में देवता की भांति, निर्बलता में शक्ति की भांति सारे देश में व्याप्त थे आज वे नहीं रहे। जिनके साथ, जिनकी छत्रछाया में रहकर करोड़ों देशवासी अपना आपा भूल जाते थे, जिनकी बुद्धि और जिनके ज्ञान की प्रखर आभा से सारा देश चमक रहा था, वह भारतीय राष्ट्र का सूर्य आज अस्तंगत हो गया है। जिसकी आशंका से असंख्य हृदय कांप उठते थे, जिसे रोकने के लिए मंदिरों में, मस्जिदों में और गिरजाघरों में कितनी ही प्रार्थनाएं की गईं, वही नृशंस मृत्यु कल जीत गई। यह विधि की विडंबना है। यह रहस्य कौन समझेगा और कब समझेगा, कौन जाने। जिनकी कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती, वे लाखों-करोड़ों असंख्य जीव अमरौता खाकर आए जान पड़ते हैं और जो उन लाखों-करोड़ों असंख्य के प्राण हैं, वे ही नहीं रह पाते। यहीं विद्रोह और नास्तिकता का मूल है। यहां आंखों के आंसुओं की उत्पत्ति है। यहीं उनका स्रोत है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने बड़े उद्योग किए पर आंसू बंद कहां हुए। राजा जनक जैसे स्थिर बुद्धि व्यक्ति सीता के वियोग में विह्वल हो उठे थे, रोने लगे थे। कण्व शंकुतला को विदा करते समय अश्रुवेग नहीं संभाल सके थे। महात्मा गांधी आज हंसने को कहते हैं, रोना पशुओं का काम बतलाते हैं। हम समझते हैं, हमारा देश समझता है। पर समझ से क्या होता है। हाय री मनुष्य-हृदय की दुर्बलता, संसार को इतने दिनों से रुला रही है। रोना बंद नहीं होगा। रोना होगा, रोना होगा।

राजा दशरथ क़ी मृत्यु का संवाद पाकर भरत और शत्रुघ्न जब अयोध्या आए तब उनके लिए रोना स्वाभाविक था, अनिवार्य था। परंतु ऋषि वसिष्ठ समझाने लगे—देखो भरत, राजा

दशरथ की मृत्यु शोचनीय नहीं है, रोने के योग्य नहीं है। वे धर्मात्मा, सुधी और ज्ञानी हुए। उन्होंने बड़ा राज्य भोग किया। उनके राम, लक्ष्मण, तुम और शत्रुघ्न जैसे सुपुत्र हैं। उनका जीवन राम के प्रेम में बीता और उनकी मृत्यु भी राम राम कहते हुई। तुम दुःखी क्यों होते हो। दशरथ का जीवन पूर्ण सफल था, उनकी ऐसी मृत्यु सबको मिले। भरत को सांत्वना मिली। महात्मा गांधीजी भी लगभग वही बात कहते हैं। हम समझते भी हैं। हमारे देशवासी भी समझते हैं। स्वर्गीय पंडित मोतीलालजी प्रसन्नचित्त स्वर्ग गए हैं। पंडितजी यह दृढ़ विश्वास लेकर गए हैं कि भारत स्वतंत्र होगा। उनका यह विश्वास किसी के तोड़े नहीं टूट सकता। पंडितजी वीर थे, वे सिंह थे। वे यमराज से लड़े थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में प्रत्येक क्षेत्र में अपूर्व सफलता पाई थी। आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं तब उनकी आत्मा हममें व्याप्त हो रही है। उस आत्मा की प्रतिकृति देखनी हो तो पं. जवाहरलालजी को देखिए। स्वर्गीय पंडितजी सब कुछ त्यागकर निष्काम तथापि पूर्णकाम होकर स्वर्ग गए हैं। दशरथ जिस समय मरे थे राम उनके पास नहीं थे, वसिष्ठ भी शायद उनके पास नहीं थे, परंतु पंडितजी के स्वर्गारोहण के समय इस युग के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी उनकी आंखों के सामने थे। उनके वीर पुत्र, वीर पत्नी और आदर्श परिवार उनकी शय्या के पास थे। वह सुख-मृत्यु थी, आनंद-मृत्यु भी थी। हो सके तो हमारे देशवासी इसी रूप में समझें और आंसुओं का आवेग रोक सकें तो रोकें।

'मैं मरने से नहीं डरता, केवल भारत को स्वतंत्र देखने के लिए जीवित रहना चाहता हूं। मैंने जन्म भर युद्ध किया है और मेरा विश्वास है कि मैं इस युद्ध में भी विजयी रहूंगा। मेरे डॉक्टरों के चेहरे देखकर कोई मुझे रोगी समझ ले पर मैं तो शीघ्र स्वस्थ होने का विश्वास रखता हूं'—ये कर्मयोग पंडित मोतीलालजी के अंतिम दिनों के वचन हैं। स्वदेश प्रेम की लहर के सामने रोगजनित चिंता छू तक नहीं गई। कैसे वीरवचन हैं। महात्माजी ने पंडितजी के दाहोत्सव (उसे अब हम उत्सव ही कहेंगे) के उपरांत कहा, यह दुःख का समय नहीं है, आनंद का समय है। यदि पंडितजी के देशवासियों ने उनके जीवन और उनकी मृत्यु का रहस्य समझा तो वे अवश्य आनंदमग्न होंगे, रोना तो पशु-वृत्ति है। निश्चय ही रोना पशु-वृत्ति है। 'मैं मरने से नहीं डरता', पंडितजी के इस वाक्य का अर्थ समझिए। ये वीर सेनापति के शब्द हैं। इन्हें उसी रूप में ग्रहण किया जाए। विजय के अवसर की मृत्यु सेनापति का वरेण्य होता है। प्रसिद्ध अंग्रेज योद्धा नेल्सन जब मरा था, तब एक ओर विजय का आनंद था, दूसरी ओर उसकी मृत्यु का दुःख। पंडित मोतीलाल की मृत्यु उनकी श्रेष्ठ विजय है। कृष्ण भगवान के 'क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ' का उदाहरण इस युग में स्वर्गीय पंडितजी की मृत्यु है। अंत समय तक क्लैव्य नहीं, युद्ध, संघर्ष। अंत समय तक 'स्वराज्य तो मिल गया है' अंत समय तक राम राम और गायत्री। देव दुर्लभ जीवन और देव दुर्लभ मृत्यु। 'बार बार मुनि जतन कराहीं, अंत राम कहि आवत नाहीं।'

त्यागमूर्ति पं. मोतीलाल नेहरू आज शरीर त्यागकर स्वर्ग चले गए। त्याग, त्याग, त्याग यह हमारे और हमारे देशवासियों के लिए कितना परिचित शब्द है। परंतु यह कितना अद्भुत है। गृह त्याग, संपत्ति त्याग, स्वार्थ त्याग और सर्वस्व त्याग। आज वे कितने मर्मस्पर्शी होकर

हमारे सामने आए हैं। आज इन शब्दों का चित्र उज्ज्वल और स्पष्ट दीख पड़ता है। आंखें धुलकर निर्मल हो गई हैं और शास्त्रों का त्याग प्रत्यक्ष हो रहा है। उसे ही प्रत्यक्ष करने के लिए स्वर्गीय पंडितजी का जन्म हुआ था, जीवन भर इसी को वे प्रत्यक्ष करते रहे और अंत में इसी की एक ज्वलंत ज्योति छोड़कर पंडितजी विदा हुए। जीवन क्या है? त्याग ही तो है। आज का जीवन कल त्याग बन जाता है, कल का जीवन परसों फिर त्याग। वास्तव में त्याग ही सत्य है, जीवन मिथ्या। वास्तव में त्याग ही अस्तित्व है, शांत जगत में त्याग को ही अनंत समझिए। संसार का विकास क्या है, त्याग ही तो; ऋषि-मुनियों की शिक्षा त्याग ही तो है। स्वर्गीय पंडितजी का अवतार त्याग के ही लिए हुआ था। वकालत त्याग, सुख त्याग, संपत्ति त्याग, भवन त्याग अंत में शरीर त्याग के बाद पंडितजी आज सच्चे त्यागमूर्ति हो गए हैं। जड़ता, स्थूल देखिए कैसे त्यागे जाते हैं। मोह-माया का अज्ञान, वासना, लालसा, कामना के विष कैसे त्यागे जाते हैं। यह सब त्यागकर निखरी, परिष्कृत ज्योति जो बच रहती है वही तो सत्य है। जितना ही त्याग होगा उतनी ही ज्वलंत यह ज्योति होगी। उतनी ही अमिट-अमर। पंडितजी का चित्र देखिए। संपूर्ण त्याग। त्यागमूर्ति। चित्र की कल्पना कीजिए। मूर्ति अमूर्त है। ठीक वैसे ही त्यागमूर्ति पंडितजी हुए। सतत् त्याग के बाद पंडितजी जो उज्ज्वल अमिट आभा छोड़ गए हैं। वही त्याग की अंतिम विभूति अजर-अमर है। कितनी ज्योतिर्मयी आभा है—यही पथ दिखलावेगी, यही आदर्श बनेगी, यही चिरंतन भविष्य के अनंत भूले-भटकों की आशा किरण होगी। यही अंधकार की दीप-शिखा, यही स्वर्गीय पंडितजी की जीवनी है।

स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू

आधुनिक राजनीतिक जीवन में पंडितजी का प्रभाव

पं मोतीलाल नेहरू के स्वर्गवासी होने के समाचार से सारे देश में उदासी की कालिमा छा गई है। पंडितजी सारे जीवन भर योद्धा रहे और अदम्य उत्साह के साथ अंत समय तक स्वयं मृत्यु से लड़ते रहे। यद्यपि उनकी आत्मा ने शरीर त्याग दिया है, परंतु उनका देशसेवा का दृढ़ मत, उनका अदम्य उत्साह और साहस, उनकी तीव्र निश्छलता चिर दिन तक उनके देशवासियों के हृदयों को शक्ति प्रदान करती रहेगी। राष्ट्रहित के वे परम शक्तिशाली उन्नायक थे। यह विधि की विचित्र लीला है कि जब पंडितजी के प्रौढ़ विवेक और दिव्य अंतर्दृष्टि की सबसे अधिक आवश्यकता थी तभी वे हमारे बीच से उठा लिये गए। कांग्रेस में ऐसा कोई भी नेता नहीं दीख पड़ता जो उनके स्थान की पूर्ति कर सके और राजनीतिक दृष्टि से महात्मा गांधी को उनका अभाव सबसे अधिक खटकेगा। महात्माजी पंडितजी की बातों को सबसे अधिक मूल्यवान समझते थे। एक प्रकार से पंडितजी महात्माजी के पूरक थे। महात्माजी राष्ट्रीय आंदोलन की आत्मशक्ति थे और पंडितजी मस्तिष्कशक्ति।

पंडितजी की जीवनी से उन अधिकारियों को शिक्षा लेनी चाहिए जो भारत के भाग्य-विधायक हैं। अपनी क्षुद्र और पिछड़ी हुई विरोधी नीति तथा जनता की अवज्ञा के कारण इन अधिकारियों ने देश की महान आत्माओं को अपने विपक्ष में कर लिया है और घोर असंतोष फैलाया है। अपने को निर्दोष और सत्य मार्ग पर स्थित समझकर इन लोगों ने शिक्षित भारतीयों को इस असंतोष का कारण बतलाया है। परंतु यदि वे पं. मोतीलाल नेहरू के जीवन का निष्पक्ष भाव से अध्ययन करें तो उन्हें यह समझ पड़ेगा कि दोष किसका है और उत्तरदायित्व किसे पूरा करना है। पंडितजी के समय-समय पर दिए गए भाषणों से जान पड़ता है पंडितजी आरंभ में अत्यंत नर्म और संयत विचारों के नेता थे। वे ब्रिटिश जाति के चरित्र और उनकी उदार नीति पर अत्यधिक विश्वास करते थे। परंतु उन्हें धीरे-धीरे जो कटु अनुभव हुए उनके कारण पंडितजी के विचार उग्र होते गए और अंत समय में वे सच्चे सत्याग्रही हो गए थे। इसका प्रधान कारण सरकार के कारनामे और उसकी नीति ही है। उसी के कारण पंडितजी तथा महात्मा गांधी जैसे राजभक्त नेता भी उग्र नीतिवादी हो गए।

पंडित मोतीलाल नेहरू में अनेक महान गुण थे। उन्हें असाधारण बुद्धिशक्ति मिली थी, साथ ही उनमें नेता बनने के भी अनेक गुण थे। उनकी व्यावहारिक रीति थी और उनका व्यक्तित्व शक्तिशाली था। वे तल्लीन होकर कार्य करते थे। इसलिए उनमें संघटन और नेतृत्व करने का अपूर्व सामर्थ्य था। वे अपनी वकालत के दिनों में बड़े ही समर्थ तार्किक थे और राजनीतिक जीवनकाल में वे अपने विपक्षी के लिए बड़े ही भयावह थे। परंतु इन सबसे बढ़कर उनका त्याग था जिसकी प्रेरणा में उन्होंने वकालती-आमदनी की बड़ी रकम छोड़ दी और तन-मन-धन से देशसेवा में लगे। इन महागुणों के कारण वे यदि जनता के आराध्य देव बन गए तो यह बिलकुल स्वाभाविक हुआ। दो बार वे महान राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए। पहली बार जब पंजाब हत्याकांड के बाद देश ने आपकी अमूल्य सेवाओं का आदर आपको कांग्रेस का सभापति बनाकर किया तब आपने बड़ा ही मार्मिक भाषण दिया था। गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार और उनकी आर्डिनेंस बनाने की शक्ति के संबंध में पंडितजी ने कहा था—'चाहे संसार भर का सर्वश्रेष्ठ विवेकवान और ज्ञानी व्यक्ति क्यों न हो पर यह बात उचित नहीं जान पड़ती कि वह पृथ्वी के पांचवें हिस्से की महान मानव जाति पर मनमाने कानून बनावे।' कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर आपने जो भाषण दिया वह आपकी राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रमाण है। पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव पर सम्मति देते हुए आपने मद्रास कांग्रेस के अवसर पर कहा था—'मैं पूर्ण स्वतंत्रता—स्वतंत्रता जितनी भी पूर्ण हो सकती है—के पक्ष में हूं। पर मैं पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य का विरोधी भी नहीं हूं।' उसी समय उन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि देश की आगामी स्थिति कैसी होगी—एक ओर तो जीवन और मरण के प्रश्न को लेकर स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी जाएगी और दूसरी ओर दमनचक्र का दौर-दौरा होगा। उनका विश्वास था कि जब पूर्ण स्वतंत्रता निकट आ जाएगी तभी दूसरा पक्ष संधि करने को तैयार होगा। उन्होंने त्याग और बलिदान का आदर्श दिखाया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि इंग्लैंड तब तक कोई अधिकार नहीं देगा जब तक हम अपनी शक्ति उसे दिखा न देंगे। वे

राष्ट्रीय एकता के कट्टर हामी थे। जातीय और सांप्रदायिक विचारों के वे विरोधी थे।

1920 के असहयोग आंदोलन के उपरांत पंडितजी ने देशबंधु चित्तरंजन दास और अन्य नेताओं के साथ मिलकर कांग्रेस की स्वराज्य पार्टी की स्थापना की थी और व्यवस्था-सभाओं की अधिकांश सीटों पर अधिकार कर राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्ति दृढ़ की थी। यद्यपि उस संबंध में कांग्रेस में दो दल हो गए थे और उनका विरोध भी रहता था, पर स्वराज्य पार्टी की स्थापना से पंडितजी ने जनता में कांग्रेस की प्रतिष्ठा अच्छी बढ़ाई थी। पंडितजी व्यवस्था परिषद् में सरकार विरोधी दल के प्रमुख थे। उस रूप में आपने अद्भुत कौशल और योग्यता का परिचय दिया था।

लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वतंत्रतावादियों की विजय हुई। स्वराज्य पार्टी व्यवस्था-सभाओं से निकल आई। सत्याग्रह का प्रारंभ हुआ। पंडितजी का स्वास्थ्य कम अच्छा रहता था। इसलिए वे सत्याग्रह में प्रमुख रूप से भाग नहीं ले सके थे, परंतु जब कर्तव्य की पुकार आई तब आप उससे विमुख नहीं हुए। सरकार ने आपको बंदी बनाया, जेल भेजा। जेल में आपका स्वास्थ्य गिरता गया और अंत में उनकी अवस्था भयावह देखकर सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। परंतु उसके बाद पंडितजी अपना पूर्व स्वास्थ्य नहीं पा सके। अंत में वे अपनी व्याधि के कारण स्वर्गवासी हो गए। हा! वे महान नेता जो स्वतंत्रता के युद्ध में सदा आगे ही आगे रहे, आज हमें छोड़कर चल बसे। उनके देशवासी मर्माहत हुए हैं। भगवान आपकी आत्मा को शांति दे। आपकी दुखिनी पत्नी तथा क्लेशित पुत्र के प्रति हम अपनी आदरपूर्ण संवेदना प्रकट करते हैं।

(सोमवार, 9 फरवरी 1931)

साहित्य का विकास

हम आशावादी होने के कारण चिरंतन विकास पर विश्वास करते हैं। प्रत्येक वस्तु के विकास की भांति साहित्य का भी विकास होता है। बुद्धि का विकास एक ही श्रेणी की वस्तुएं हैं। जीव का परम विकास मोक्ष है। ज्ञान का परम विकास है आत्मबोध। भावना का चरम विकास है, अणोरणीयान् महतो महीयान् का साक्षात्कार! अनेक मत अनेक धर्म संसार में हुए और होते चले जा रहे हैं। अनेक मार्ग भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि के भी हुए। परंतु सबकी परिणति एक में है। सब जड़त्व का बहिष्कार करते, जीव की संकीर्णता, स्वार्थ और अहमन्यता का अपहरण करते और उसे उस स्तर पर पहुंचा देते हैं जहां इंद्रियों की वासना वृत्तियां छूट जाती हैं। व्यष्टि और समष्टि में भेद नहीं रह जाता। वह अवतारवाद हो, मूर्तिपूजा हो अथवा संन्यास मार्ग हो सबका लक्ष्य उदार सात्विक भावनाओं को प्रेरित करना और भव-संभव-खेद हरना है। यह भव-संभव-खेद और कुछ नहीं, जड़ता और स्थूल है जिसका परित्याग आवश्यक समझा गया

है। जब तक मनुष्य के संकीर्ण स्वार्थ के विषय अलग बने रहेंगे, जब तक वह परमार्थ को ही स्वार्थ नहीं मान लेगा, तब तक उसकी मुक्ति असंभव है। तब तक उसकी मूर्तिपूजा प्राचीन असभ्य देशवासियों की सूर्य पूजा, उसका अवतारवाद, जड़ महत्वाकांक्षा और उसके कर्म स्पृहायुक्त होंगे। सारांश यह कि मार्ग कोई भी हो, यदि वह सत्मार्ग है तो उसकी अंतिम परिणति मनुष्य को उदार सत्वशील और सूक्ष्मदर्शी बनाना, उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं-आकांक्षाओं को दूर करना और परमसत्ता से उसकी एकता का बोध कराना ही होगा।

हम कभी-कभी साहित्य के पास विकास का चित्र भी देखते हैं। हम कल्पना करते हैं कि साहित्य आगामी भविष्य में आदर्शोन्मुख होता जाएगा और उसका दृढ़ संबंध जीव की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों से बंधता जाएगा। हम उस अवस्था की भी कल्पना करते हैं जिसमें विकसित जीव और विकसित साहित्य एक होकर रहेंगे, किसी मध्यस्थ आलोचक, समीक्षक आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी। समुन्नत समाज ज्ञान के आधार पर समुन्नत साहित्य का अध्ययन करेगा और उसमें अपने ही भावों और अपनी ही आकांक्षाओं को पाकर तृप्त होगा। यदि संपूर्ण साहित्य में नहीं तो कविता में तो अवश्य ही सूक्ष्म और चैतन्य की शक्ति बढ़ेगी। यह एक प्रकार का साहित्यिक साम्यवाद हुआ जिसका आधार ज्ञान होने के कारण शुद्ध भारतीय है। यह पश्चिम के साम्यवाद से भिन्न है क्योंकि उसमें व्यक्ति को बेहद दबना पड़ता है, और दबाने वाले साधन जड़ होते हैं। अमेरिका के अखबारों की नीति भी यही है जो व्यक्तिगत विचारों का चाहे वे भ्रांत और अज्ञानजन्य ही क्यों न हों प्राबल्य स्वीकार कर संपादकीय सम्मति भी नहीं देती। यह कुछ दूसरे ही प्रकार का साम्यवाद है जो व्यक्तिवाद से अभिन्न है। यहां किसी को दबना नहीं पड़ता, किसी से समझौता नहीं करना पड़ता। यह वह आत्मसमर्पण है जो निष्कलुष अभिप्रेत और स्वयंसिद्ध है। साहित्य के इस साम्यवाद की हम कल्पना ही नहीं करते। इसे हम वस्तुस्थिति के रूप में देखने के प्रयासी भी हैं।

निश्चय ही साहित्य के इस साम्यवाद की प्रतिष्ठा जिस देश और जिस काल में होगी वह धन्य होगा। निश्चय ही भारतीय आदर्शों के अनुकूल होने के कारण यह हमारे देश और हमारे साहित्य में अधिक सुगमता से प्रतिष्ठित किया जा सकता है। अवश्य इसकी प्रतिष्ठा से हमारा देश और हमारा साहित्य गौरवान्वित होगा। इस संबंध में प्रत्येक प्रयास धर्म है। बड़ी-बड़ी बाधाओं और संकटों को पार कर व्यक्तिगत आक्षेपों और विरोधों को उपहार मानकर कार्य करने वालों को इस क्षेत्र में आना चाहिए। पिछले जमाने के साहित्यिक अज्ञान ने जिनकी आंखें धुंधली कर दी हैं, हमारी समीक्षा उन्हें अंजन का काम देगी। विकार-युक्त, अज्ञान-युक्त व्यक्ति-पूजा के जो जड़ संस्कार बंध गए हैं, उन्हें उखाड़ फेंकना होगा। बंधी लकीरों में चलने वालों को यह सन्मार्ग सुझाना होगा और विरोधवाणी को आर्तध्वनि मानकर उससे संवेदना प्रकट करनी होगी।

साहित्यिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा के लिए यह युग अत्यंत उपयुक्त है। हमारे देश की वर्तमान राजनीतिक प्रगति के सदाचार, उदारता, कष्टसहन आदि की प्रवृत्तियों को जगा दिया है और पश्चिमीय साहित्य-समीक्षा के नवीन आदर्शों और प्रणालियों ने हमें सहायता पहुंचाई है। आज जो नवयुवक समाज झूठे साम्यवाद के पीछे अनुरक्त होता दीख पड़ता है वह इस

क्षेत्र में आकर अपनी प्रतिभा और कृति-शक्ति का प्रयोग कर सकता है। हम प्रत्येक विचारवान साहित्य-सेवी और विशेषकर नवयुवक समाज को आमंत्रित करते हैं कि वह इस क्षेत्र में आकर अपनी शक्तिमती सात्विक भावनाओं का प्रसार करे। अवश्य ही तुलसी, सूर, कबीर आदि तथा देव, बिहारी, मतिराम आदि का अध्ययन कर वे अंतर समझ सकेंगे और अपने मार्ग पर दृढ़ता से खड़े हो सकेंगे। राजनीतिक सत्याग्रह की भांति साहित्यिक सत्याग्रह भी अपना महत्व दिखावेगा और आज नहीं तो कल उसके शुभ परिणाम भी हमारे सामने आएंगे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जहां राजनीति में और समाज में चतुर्दिक जागृति दीख पड़ती है, वहां साहित्य का एक विशाल समुदाय अचेत होकर सो रहा है। यह और भी विस्मय की बात है कि जहां समाज और राजनीति ने संकीर्णता को दूर कर स्वतंत्रता का आयोजन किया है, वहां साहित्य ने अब तक आंख नहीं खोली। चटक-मटक का त्याग और सरल सदाचार का ग्रहण, सत्य और अहिंसा इस युग की विशेषताएं हैं पर साहित्य में देव-बिहारी और उनके हिमायतियों की ही तूती बोल रही है। यह बड़ी विश्रृंखल स्थिति है। जो पत्र-पत्रिकाएं एक ओर उत्कृष्ट राजनीति को प्रोत्साहन देती हैं वे निकृष्ट साहित्य को कैसे पसंद करती हैं, यह हम समझ नहीं पाते। इसका तो मतलब यही हुआ कि वे पत्र यह नहीं समझते कि वे क्या कर रहे हैं। उनकी कोई नीति नहीं, उनका कोई धर्म नहीं। उनकी स्वतंत्रता की पुकार झूठी है अथवा अज्ञान-जन्य है। यह स्थिति देखकर हमें कष्ट होता है।

सुना जाता है कि हिंदी साहित्य सम्मेलन आगामी अधिवेशन के सभापतित्व के लिए किसी ऐसे आदमी की तलाश में है जो रुपए दे सके। हम ऐसे सम्मेलन को साहित्य सम्मेलन नहीं समझते। हम चाहेंगे कि वह अपना नाम बदलकर कुछ और नाम रखे। राष्ट्रीय कांग्रेस को देखिए। क्या उसे रुपयों की आवश्यकता नहीं पड़ती, पर क्या सरदार वल्लभभाई पटेल इसलिए अध्यक्ष बनाए गए हैं कि रुपए देंगे। अपने कार्यक्षेत्र में दृढ़तापूर्वक खड़े रहना पहला कर्तव्य है। साहित्य सम्मेलन का साध्य है साहित्य, साधन कुछ अंशों में रुपया हो सकता है। राष्ट्रीय कांग्रेस का साध्य है स्वतंत्रता, साधन कुछ अंशों में रुपया हो सकता है। साध्य के लिए साधन उपकरण मात्र है साध्य ही प्रधान है, प्रायः सब कुछ है। हम चाहते हैं कि हमारा साहित्य सम्मेलन ऐसा हो जो हमारे साध्य के उच्च साहित्यिक आदर्श और साहित्यिक साम्यवाद का लक्ष्य लेकर चले और उसे पूरा करे। यदि वर्तमान साहित्य सम्मेलन ऐसा करे तो यह उसके लिए प्रतिष्ठा की बात होगी। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो वह साहित्य सम्मेलन कहलाने का सच्चा अधिकारी नहीं होगा। तब विचारवान साहित्यिकों का यह कर्तव्य होगा कि वे व्यक्तिगत रीति से अथवा संघबद्ध होकर जैसे भी हो उपर्युक्त लक्ष्य की ओर आगे बढ़ें और भारतीय साहित्य को देश की उच्च परंपरा के तथा युग की गति के अनुकूल बनाने का उद्योग करें। यह कार्य सरल नहीं है, कठिन है, बड़ी-बड़ी बाधाएं और बड़े-बड़े अड़ंगें हैं पर कठिनाई का सामना करने में और अपने सत्य लक्ष्य पर दृढ़ रहने में ही तो देश-जाति का कल्याण है और जीवन की सफलता है।

(शुक्रवार, 13 फरवरी 1931)

आगामी पंथ

प्रयाग आजकल राजनीति का तीर्थराज हो रहा है। राष्ट्रीय कांग्रेस, माडरेट दल और देशी राज्यों की प्रतिनिधियों की विचारधाराओं का संगम राजनीतिक त्रिवेणी का दृश्य दिखाता है। यह संगम स्वर्गीय राजर्षि मोतीलाल नेहरू के आश्रम आनंद भवन में हो रहा है। बड़े-बड़े त्यागी महापुरुष एकत्र हुए हैं और वे देश के आगामी पथ की खोज कर रहे हैं। प्राचीन काल से जिस तीर्थराज की बड़ाई चली आती है आज वह और भी बढ़ती दीख पड़ती है। आज स्वर्गीय मोतीलालजी की करुण स्मृति की छाया में एकत्र होने वाली यह परिषद् सहसा चित्रकूट में होने वाली उस परिषद् की याद दिलाती है जो सूर्यवंशी राजा दशरथ की मृत्यु के उपरांत हुई थी। राम, लक्ष्मण और सीता बनवासी होकर चित्रकूट के तपोवन में रहते थे। भरत उन्हें लौटा ले चलने को आए थे। वसिष्ठ, जनक, रामचंद्र, भरत तथा अनेक ऋषि-मुनियों की वह परिषद् जिस करुण स्थिति में जिस महान उद्देश्य को लेकर बैठी थी, उसी करुण स्थिति में वैसे ही उद्देश्य को लेकर आज की परिषद् भी बैठी है। यह इतिहास का मार्मिक साम्य है जिसका रहस्य समझ में नहीं आता। जिस प्रकार अयोध्यावासी भरत आदि ने रामचंद्र से अयोध्या लौट चलने और देश का राज्यचक्र संभालने की प्रार्थना की थी, उसी प्रकार आज कांग्रेस के नेताओं, विशेषकर महात्माजी से कहा जा रहा है। महात्माजी का सत्याग्रह भी रामचंद्र के वनवास की ही भांति कष्टप्रद है और उनका आश्रम-त्याग भी रामचंद्र के अयोध्या त्याग की ही भांति वचनबद्ध है। इतिहास की यह अद्भुत आवृत्ति है। शीघ्र ही कांग्रेस का निर्णय प्रकाशित हो जाएगा और तब हम यह जान सकेंगे कि इन दोनों आवृत्तियों में कितनी समता है और कितना अंतर है।

यद्यपि अब तक के प्राप्त समाचारों से लक्षण विशेष अनुकूल नहीं दीख पड़ते और समझ पड़ता है कि कांग्रेस की वर्किंग कमेटी संधि के पक्ष में अपना मत नहीं देगी, फिर भी अब तक आशाएं बंधी हुई हैं और सारा देश प्रतीक्षा कर रहा है। इस समस्या पर सभी दलों की ओर से बहुत कुछ कहा जा चुका है और विधान की दृष्टि से, देश हित की दृष्टि से तथा अन्य कितनी ही दृष्टियों से इस पर काफी विवचेन हो चुका है। गोलमेज से लौटे हुए विद्वान प्रतिनिधियों ने प्रत्येक प्रकार से समझाने की चेष्टा की है और ब्रिटेन की सच्ची अवस्था का परिचय दिया है। देश के प्रसिद्ध व्यवसायियों ने भी अपनी राय प्रकट की है और उन्होंने सम्मानपूर्ण संधि करने की सिफारिश महात्माजी तथा भारत सरकार दोनों से की है। देश के अनेक विचारवान व्यक्तियों और पत्रों ने संधि के पक्ष में दलीलें पेश की हैं और मत प्रकट किया है। भारत सरकार की ओर से लार्ड इर्विन ने महान कांग्रेस संस्था की शक्ति स्वीकार की है और राजनीतिक नेताओं को जेल से छोड़कर कुछ अंशों में संधि का संकेत किया है। स्वयं महात्मा गांधी भी संधि के लिए तरस रहे हैं और उनके सिद्धांतों के अनुसार जहां तक संभव होगा वे शांति स्थापना का ही उद्योग करेंगे। सारांश यह कि थोड़े-बहुत अंतर के साथ संधि और शांति के लिए देश भर एकमत हो रहा है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि अशांति,

विद्रोह और रक्त-पात सभ्य-संसार को पसंद नहीं हैं और वे इस देश के प्राचीन संस्कारों और परंपरा के अनुकूल भी नहीं हैं।

यदि सब बातें अनुकूल ही होतीं तो संधि में कुछ देरी ही न लगती पर सब बातें अनुकूल नहीं हैं। देश के लगभग पचीस हजार व्यक्ति अब भी जेलों में पड़े हैं और सरकार की कठोर नीति अब भी ज्यों की त्यों चल रही है। बंगाल के प्रसिद्ध नेता श्री सुभाषचंद्र बोस की गिरफ्तारी और बोरसद का लाठीकांड हाल की दो प्रसिद्ध घटनाएं हैं। पुलिस की ज्यादती की परीक्षा कराने की महात्माजी की इच्छा थी और उन्होंने वाइसराय को इस संबंध में एक पत्र भी लिखा था परंतु कहा जाता है कि वाइसराय का उत्तर संतोषजनक नहीं है। बोरसद में स्त्रियों पर लाठी प्रहार हुए जिसकी निंदा देश के अनेक स्थानों में की गई और *टाइम्स ऑफ इंडिया* जैसे अर्द्ध-सरकारी पत्र ने पुलिस की ज्यादती की जांच करने की सम्मति दी, पर सरकार उसके लिए भी तैयार नहीं हुई। इसी संबंध में लंदन में भाषण करते हुए भारत-सचिव ने भी पुलिस की कोई शिकायत नहीं की बल्कि उसे निर्दोष बतलाया। कांग्रेस अवश्य ही इस सरकारी नीति से असंतुष्ट होगी और संभव है, उसके निर्णय पर इसका प्रभाव भी पड़े।

परंतु मुख्य प्रश्न तो देश की स्वतंत्रता का है जिसके लिए इतने उद्योग किए गए और पिछले वर्ष भर इतने कष्ट सहे गए। जैसाकि उचित भी है, कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी इसी प्रश्न पर सबसे अधिक ध्यान देगी। यह प्रश्न विशेष जटिल है। गोलमेज सम्मेलन में जो विधान भारत को दिया गया है उसकी जांच कांग्रेस की ओर से की जाएगी। यह तो ठीक है कि नवीन विधान अभी अधूरा है और इसमें अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन होंगे। प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने अपने पिछले भाषण में इस बात पर जोर दिया है। आशंका की जाती थी कि पार्लियामेंट का वर्तमान मजदूर सरकार पर अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाएगा और अगले चुनाव में अनुदार दल वालों की प्रधानता होगी, पर अब लक्षणों से जान पड़ता है कि वर्तमान मजदूर सरकार पराजित नहीं होगी और भारत का आगामी विधान उसी के हाथों से बनेगा। कांग्रेस नेता अवश्य ही इस पर विचार करेंगे।

गोलमेज सम्मेलन का कार्य ऐसा नहीं हुआ है जिससे कांग्रेस के नेताओं को पूरा संतोष हो। यह बात तो श्री जयकर ने स्पष्ट की कह दी है कि लंदन में जितना कुछ किया जा सकता था, किया गया। अब भारत में शेष की पूर्ति करनी होगी। सम्मेलन में अर्थ विभाग पर आंशिक सरकारी अधिकार रखने का निर्णय किया गया है पर इस आंशिक का मतलब देश के नेताओं ने 80 प्रतिशत लगाया है। श्री चिंतामणि आदि ने भी इस सरकारी अधिकार के विरुद्ध में सम्मति दी है और यह तो निश्चय है कि कांग्रेस नेता इससे संतुष्ट नहीं होंगे। फौज और अंतर्राष्ट्रीय विभाग के संबंध में भी मतभेद होगा।

ऐसी अवस्था में दो ही मार्ग दिखाई देते हैं। एक तो यह कि कांग्रेस देश के अन्य दलों के साथ सहयोग करे और गोलमेज के विधान से जो अधिक से अधिक अधिकार मिल सकते हैं उन्हें अपनी शक्ति से ले। दूसरा यह कि असहयोग और सत्याग्रह की वर्तमान नीति ही जारी रहे और देश की अवस्था अनिश्चित काल तक आज जैसी ही बनी रहे। तीसरी बात यह भी

संभव है कि वर्किंग-कमेटी कुछ शर्तें पेश करे और सरकार को मौका दे कि वह आगामी कराची कांग्रेस के अवसर तक उन पर विचार करे और कराची कांग्रेस में ही आगामी नीति निर्धारित हो जाए। कांग्रेस वास्तव में जनता की संस्था है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि कांग्रेस नेता तब तक कोई निर्णय न करें जब तक जनता के बहुसंख्यक प्रतिनिधि एकत्र होकर सलाह मशविरा न कर लें। निश्चय ही हम संधि मार्ग को ही श्रेष्ठ समझते हैं। विग्रह हमें पसंद नहीं। हम केवल सिद्धांत की दृष्टि से ही नहीं व्यावहारिक दृष्टियों से भी संधि के पक्ष में मत देते हैं। मनुष्य स्वभाव के स्वार्थ तथा शिथिलता सत्याग्रह आंदोलन को अनिश्चित समय तक नहीं चलने देंगे। सामूहिक आंदोलन में धीरे-धीरे अशांति और उत्तेजना की लहरें भी निकलती हैं जो सत्याग्रह के मार्ग में बाधा डाल सकती हैं। देश की जनता अशिक्षित होने के कारण न तो आंदोलन का सच्चा महत्व समझ सकती है और न उच्च सिद्धांतों के पालन में तत्पर रह सकती है। व्यवसायियों का स्वार्थ भी प्रतिदिन प्रकाश में आता रहता है। ऐसी अवस्था में केवल व्यावहारिक दृष्टि से भी आंदोलन के प्रवाह की दिशा बदलने की आवश्यकता है।

(सोमवार, 16 फरवरी 1931)

अर्थ-समस्या

अपने एक पिछले अग्रलेख में हम यह कह चुके हैं कि देश का आगामी कार्यक्रम बहुत कुछ इस बात पर अवलंबित रहेगा कि आगामी विधान में अर्थ-समस्या किस प्रकार हल की जाती है और भारत को राष्ट्र के धन पर कितना अधिकार दिया जाता है। हमने अनेक बार यह संकेत किया है कि महात्माजी की ग्यारह शर्तों के ही नहीं, वर्तमान सत्याग्रह आंदोलन के मूल में भी अर्थकष्ट ही है। महात्माजी ने आंदोलन को जनता का आंदोलन बतलाया है। सचमुच इस जनता के आंदोलन को केवल ऊंचे सिद्धांतों के आधार पर इतने दिनों तक चला सकना बहुत्र ही कठिन होता यदि सिद्धांतों के साथ-साथ यह गरीबों का प्रश्न न होता। केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए इतना त्याग करने और इतनी लड़ाई लड़ने के लिए भारत की वर्तमान अशिक्षित जनता तैयार होती, इसमें संदेह है। परंतु जब हम देखते हैं कि देश के अशिक्षित किसान और मजदूर ही वर्तमान आंदोलन के आगे-आगे हैं और शिक्षित नवयुवकों तथा पेशेवर व्यक्तियों ने आंदोलन का साथ देने में आगा-पीछा किया है अथवा उदासीनता दिखाई है तब हमें यह समझने में देर नहीं लगती कि प्रधान प्रश्न राजनीतिक स्वतंत्रता का नहीं है, क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता में तो शिक्षित वर्ग का ही अधिक स्वार्थ है। प्रधान प्रश्न आर्थिक स्वतंत्रता का है जिससे देश की गरीबी मिटाई जा सके। इसी आर्थिक स्वतंत्रता से राष्ट्रीय जीवन क़ा विकास हो सकेगा और भारत अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कारों के अनुकूल नवीन युग में प्रवेश कर सकेगा।

जिस विधान में राष्ट्रीय संपत्ति पर राष्ट्र का अधिकार नहीं रहता। उसे स्वराज्य विधान कहना केवल शब्दों की मरीचिका में फंसना है। जिस देश के निवासियों को यह सुविधा नहीं प्राप्त हुई कि वे अपनी कष्टप्रद गरीबी से ऊपर उठकर जीवन का विकसित रूप देख सकें और स्वयं अपना विकास कर सकें वह देश स्वतंत्र कैसे कहा जा सकता है! केवल विधान का नाम स्वराज्य-विधान रख देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसे विधान से तर्कशास्त्र के प्रेमियों और कल्पनाप्रिय व्यक्तियों को संतोष भले ही मिले पर देश की अधिकांश जनता के लिए इसमें कुछ भी प्रलोभन नहीं। जनता ने तो अपने अर्थसंकट को दूर करने के लिए सत्याग्रह आंदोलन का साथ दिया था और वह नवीन विधान से तभी प्रसन्न होगी जब वह समझ लेगी कि उससे उसका वह संकट दूर हो जाएगा। वर्तमान शासन नीति से उसका अर्थकष्ट बढ़ गया है और शायद बढ़ता ही जाता है। इसलिए वह ऐसी नवीन शासन-नीति चाहती है जिसमें वर्तमान अर्थशोषण बंद हो।

राष्ट्रीय विकास के लिए सामूहिक शिक्षा-प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। बिना शिक्षा के मनुष्य अपने को भूल जाता है और अपना भला-बुरा नहीं पहचानता। संसार के सारे सभ्य देश आज पूर्ण शिक्षित हैं पर भारत सभ्यता का दावा चाहे जितना करे, आज वह संसार के शिक्षित राष्ट्रों के सामने मुंह नहीं दिखा सकता। यह बड़ी शोचनीय स्थिति है। भारत के अस्सी प्रतिशत से अधिक पुरुष निरक्षर हैं, स्त्रियां तो प्रायः सभी अशिक्षित हैं। यह सामाजिक उन्नति के लिए बहुत बड़ी बाधा है। इसे दूर करने के लिए धन की आवश्यकता है। अभी संयुक्त प्रांत में शिक्षा की जांच करने के लिए एक कमेटी बैठी थी जिसने यह निर्णय किया है कि दस वर्ष में प्रांत की निरक्षरता दूर की जा सकती है। परंतु उसमें कई करोड़ रुपयों का खर्च है। लगभग ऐसी ही अवस्था अन्य प्रांतों की भी है। शिक्षा के अतिरिक्त ग्राम-सुधार, उद्योग-धंधों के विकास, कृषि की उन्नति आदि की अत्यंत आवश्यक समस्याएं हैं जिन पर प्रत्येक देश प्रेमी का ध्यान जाना अनिवार्य है। कहा जाता है कि भारत की प्राचीन सभ्यता आदर्श थी। यह भी कहा जाता है कि इस समय समस्त संसार को भारत की आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता है। परंतु जब तक भारतवासी अपना पेट नहीं भर पाते, जब तक वे और उनकी संतान अशिक्षा में पड़े जीवन के साधारण सुखों से भी वंचित हैं तब तक वे दूसरों को शिक्षा देने के अधिकारी नहीं कहला सकते।

महात्मा गांधी की ग्यारह शर्तों में इन समस्त बातों का ध्यान रखा गया है और यदि आगामी विधान में वे शर्तें स्वीकार कर ली जाएं तो उससे देश की उन्नति का पथ सुगम हो जाएगा। महात्माजी की शर्तों की शब्दावली का विचार न करके उनके लक्ष्य और भावों का विचार करने से यह समझ पड़ेगा कि वे शर्तें असंयत नहीं हैं। कांग्रेस नीति के बहुत से विरोधियों ने भी उन शर्तों को उचित बतलाया है। अर्थ-समस्या के विशेषज्ञ बहुत से विद्वानों और व्यवसायियों ने उनका समर्थन किया है। अभी-अभी कलकत्ते के प्रसिद्ध मारवाड़ी अर्थशास्त्री श्री देवीप्रसाद खेतान ने उन शर्तों के पक्ष में सम्मति दी है और कहा है कि उनके आधार पर ही समझौता करना उचित होगा।

गोलमेज सम्मेलन में जिस विधान की सिफारिश की गई है उससे देश को अर्थविभाग पर कितना अधिकार मिलता है, यह प्रश्न अभी विवादग्रस्त है। गोलमेज से लौटे हुए प्रतिनिधि सर कवासजी जहांगीर ने हाल में एक लेख लिखकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अर्थ विभाग पर राष्ट्र का पूरा अधिकार होगा, परिवर्तन काल के लिए कुछ रुकावटें नाममात्र की रहेंगी। रिजर्व बैंक की स्थापना के उपरांत भारत अपनी संपत्ति का आप स्वामी होगा। विलायत से लौटे हुए *इंडियन डेली मेल* पत्र के संपादक श्री एफ.डब्ल्यू. विल्सन महोदय ने भी आपका समर्थन किया है और ऐसा आभास दिया है कि अर्थ विभाग पर पूर्ण राष्ट्रीय अधिकार रहेगा। आपका कहना है कि फौज के संरक्षित विभाग के संबंध में भी ऐसा प्रबंध किया गया है जिसमें फौजी खर्च पर निगाह रखी जा सके, ब्रिटिश-फौज समयानुसार कम की जा सके और सेना के भारतीयकरण में अधिकाधिक व्यय किया जा सके। परंतु भारत के अनेक राष्ट्रीय अर्थशास्त्री इस प्रकार की राय से सहमत नहीं हैं। गोलमेज के ही कुछ प्रतिनिधियों ने इस संबंध में अपना विरोधी मत प्रकट किया है और भारत के राष्ट्रीय पत्रों ने तो हिसाब लगाकर बतलाया है कि भारत सरकार की आय का लगभग 80 प्रतिशत राष्ट्रीय अधिकार के बाहर रहेगा। रिजर्व बैंक की स्थापना कब हो सकेगी, कब नहीं इसका कुछ निश्चय नहीं। फौज का भारतीयकरण कितने धीरे-धीरे होगा यह भी समझने की बात है। ऐसी अवस्था में यदि मिस्टर विल्सन की बात ठीक भी हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रीय संपत्ति पर पूर्ण अधिकार पाने में अभी भारत को बहुत देर लगेगी। यह देर अच्छी नहीं कही जा सकती। भारत-सचिव मिस्टर बेजल्ड बेन ने स्वयं कहा है कि देर के कारण भारत की स्थिति प्रतिदिन बिगड़ती गई है। यह बिलकुल सच है कि देश की जनता की मनोवृत्ति ऐसी नहीं है कि वह अधिक विलंब स्वीकार कर सके। उसकी अवस्था भी ऐसी है कि जिसका सुधार अत्यंत शीघ्र होना आवश्यक है। यह ठीक है कि परिवर्तन काल में अवश्य कुछ प्रतिबंध और रुकावटें रखी जाएंगी पर परिवर्तनकाल जितना ही थोड़ा हो और रुकावटें जितनी ही कम हों उतना ही अच्छा होगा। अर्थ-विभाग को राष्ट्रीय बना देने में तो परिवर्तनकाल की अवधि कम से कम होनी चाहिए और रुकावटें तो बिलकुल ही नहीं होनी चाहिए। यह भारत की स्थिति के अनुकूल भी होगा और न्याय भी होगा।

हिंदी साहित्य सम्मेलन—2

रायगढ़, सी.पी. से एक मित्र लिखते हैं कि इस बार हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन रायगढ़ में निमंत्रित किया जाएगा और यदि निमंत्रण स्वीकार किया गया तो आगामी कलकत्ता-अधिवेशन के बाद का अधिवेशन रायगढ़ में ही होगा। रायगढ़ राज्य के महाराज चक्रधरसिंह अच्छे हिंदी प्रेमी और साहित्य-सेवी हैं। आपकी साहित्यिक रुचि का पता आपके लिखे *बैरागढिया राजकुमार* नाम के उपन्यास और उसकी भूमिका से लगता है। आपके राज्य

के दो ऐसे सज्जनों का हमें पता है जो हिंदी के सुंदर लेखक और विद्वान हैं। एक पं. बलदेव प्रसादजी मिश्र एम.ए., एल-एल.बी. हैं जो राज्य के नायब दीवान हैं। आपके लेखों और पुस्तकों का हिंदी साहित्य में अच्छा सम्मान है। दूसरे पं. आनंद मोहन वाजपेयी एम.ए. हैं जिन्होंने गत वर्ष काशी विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की है और जो हिंदी के उदीयमान लेखक हैं। स्वयं राजा साहब और इन दोनों सज्जनों के सहयोग से सम्मेलन का रायगढ़ का अधिवेशन सफल होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। यह भी जान पड़ता है कि इनकी चेष्टा से हिंदी साहित्य सम्मेलन का वर्तमान विकृत रूप सुधर सकेगा और साहित्य सम्मेलन अपना नाम सार्थक करने के योग्य बन सकेगा। रायगढ़ छत्तीसगढ़ी हिंदी का केंद्र है और यद्यपि वह हमारे यहां से काफी दूर है फिर भी अन्य बातों का विचार कर हम कह सकते हैं कि यदि आगामी अधिवेशन रायगढ़ में हो तो उचित हो। हम चाहते हैं कि इस प्रस्ताव पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाए और उसे पूरा करने का प्रयत्न किया जाए।

(शुक्रवार, 20 फरवरी 1931)

शांति का मार्ग

शांति तो सबको प्रिय है, सबको काम्य है। संसार का यह अद्भुत किंतु अटल नियम है कि वह शांति के लिए लालायित रहता है, तरसता रहता है। लौकिक अर्थ में देखिए अथवा अलौकिक अर्थ में संसार की परिणति शांति में ही होती है। दिन भर की अशांति के बाद विरामदायिनी, शांतिदायिनी संध्या आती है। जीवन के अशांति-जर्जर स्वेदपूरित शरीर को मृत्यु ठंडक पहुंचाती है, शांति देती है। मनुष्य ओम शांतिः शांतिः शांतिः कहता हुआ संतोष पाता है। जीवन की सारी अशांति, सारे विद्रोह भी शांति के लिए हैं। अशांति और विद्रोह का दूसरा कोई कारण नहीं, दूसरा कोई लक्ष्य नहीं। अशांति अशांति के लिए, विद्रोह विद्रोह के लिए है, यह भ्रांत कल्पना है। प्राचीन असभ्य और बर्बर मनुष्य पशुहिंसा करते थे, मनुष्य को मारकर खा जाते थे। इस नृशंस कृत्य के मूल में भी तृप्ति की, शांति की प्रेरणा छिपी हुई थी। आज के सभ्य मनुष्य की पशुहिंसा बहुत कुछ आदत-सी बन गई है। भावना का, चैतन्य का, अभाव-सा हो गया है। इस जड़वाद की वृद्धि के कारण आजकल के आमिषभोजी पशुहिंसा का समर्थन करते हुए तरह-तरह के ज्ञानाभास और तर्काभास उपस्थित करते हैं। उन्हें और कुछ तो कहा नहीं जा सकता, केवल यह प्रार्थना की जा सकती है कि ऐतिहासिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार करें और एक अंध तथा अज्ञान परंपरा का भार वहन करने से विरत हों। सामाजिक अनेक रूढ़ियों की श्रेणी की यह अन्यतम रूढ़ि नवीन युग में बिलकुल शोभा नहीं देती।

विकास क्रम के साथ मनुष्य ने अपने चिंतन से शांति-कामना को सिद्ध करने की अनेक

योजनाएं की हैं। प्राचीन बर्बरता कम हो रही है और शांति की निष्कलुष निर्लेप मूर्ति अधिकाधिक प्रकाश में आ रही है। विगत महायुद्ध के बाद जिस निरस्त्रीकरण पर जोर दिया जाने लगा है कूटनीति और साम्राज्य तृष्णा के कारण उसमें बड़े-बड़े विक्षेप पड़े हैं और पड़ेंगे, पर एक भावना के रूप में वह परम सात्विक अंतःयुग की स्मरणीय संपत्ति है। भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी ने जिस शांति और अहिंसा का आवाहन किया है वे इस युग की परम पवित्र विभूति हैं। महात्माजी ने एक उच्चतम आदर्श का क्रियात्मक सामूहिक रूप दिखलाया है जो अब तक के इतिहास में अभूतपूर्व आयोजन है।

जब हम शांति के इस विकसित रूप के सामने इंग्लैंड के मिस्टर चर्चिल सरीखे राजनीतिज्ञों की नीति की तुलना करते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वह नीति प्राचीन, अज्ञानजन्य, रूढ़िग्रस्त और असामाजिक है। इंग्लैंड के पुराने युग के व्यक्ति सिफारिश करते हैं कि भारत पर ब्रिटेन का अधिकार लौह-शक्ति से दृढ़ किया जाए और भारत ब्रिटेन की इस लौह शृंखला में जैसे भी हो, जकड़ा रहे। भारत की वर्तमान अशांति को दबाकर शांति स्थापना करना मिस्टर चर्चिल आदि को अभीष्ट जान पड़ता है। भारत के वाइसराय लार्ड इर्विन ने इसका विरोध किया है और कहा है इस प्रकार यदि शांति स्थापित भी की जा सकेगी तो यह मरुभूमि की शांति होगी—उजड़ी और भयानक शांति। पर यदि शांति को भयानक नहीं बनाना है, सुंदर, ईप्सित बनाना है तो मिस्टर चर्चिल की सिफारिशें उसी प्रकार की ठहरेंगी, जिस प्रकार प्राचीन समय की पशुहिंसा वृत्ति। दोनों का अवसान जिस शांति अथवा तृप्ति में होता है, वह अत्यंत भीषण है, अतः त्याज्य है।

महात्माजी जिस अहिंसा का प्रचार करते हैं वह बड़ा ऊंचा आदर्श है। सत्य और अहिंसा के मार्ग में महात्माजी इतने आगे बढ़ गए हैं कि उनके देशवासी पीछे छूटते जाते हैं। महात्माजी की साधना बड़ी सच्ची है। वे इस युग के श्रेष्ठ योगी और महापुरुष हैं। पर उनकी महत्ता योगी होने के कारण ही नहीं है। कम से कम वे इतिहास में तो एक योगी होने की हैसियत से उतना स्मरण नहीं किए जाएंगे जितना एक लोक-नेता होने की हैसियत से किए जाएंगे। महात्माजी ने लोकवाद पर बहुत जोर दिया है और वे समूह के सच्चे प्रेमी और अधिनायक हैं। उनका चरखा, उनके कला संबंधी विचार, उनके अनेक भाषण इस बात के प्रमाण हैं कि वे व्यक्तिगत साधना को लोकहित के बराबर महत्व नहीं देते। पिछली बार चौरीचौरा हत्याकांड के बाद उन्होंने अपना सामूहिक आंदोलन बंद कर दिया था। इसका भी मतलब यही हुआ कि महात्माजी लोक को, समूह को अपने साथ-साथ ले चलना चाहते हैं, कम से कम वे समूह को छोड़कर चलना नहीं चाहते।

जब ऐसी बात है तब महात्माजी जिस शांति के लिए इतना प्रयत्न कर रहे हैं उसका लोक-पक्ष भी हमारी समझ में आना चाहिए। दूसरे शब्दों में हम महात्माजी के शांति संबंधी सिद्धांतों का व्यवहार-पक्ष भी देखना चाहते हैं। अभी हाल में एक ब्रिटिश पत्र को संदेश देते हुए महात्माजी ने कहा है कि मैं चाहता हूं कि भारत में जो ब्रिटिश फौज है वह आज ही यहां से चली जाए। भारत को आत्मरक्षा के लिए फौज की आवश्यकता नहीं। भारत पर कोई बाहरी

राष्ट्र चढ़ाई नहीं करना चाहता। यदि अफरीदी हम पर हमला करेंगे तो हम अपने सत्याग्रह का व्यवहार उनके प्रति भी करेंगे। महात्माजी के इस संदेश को एक योगी और साधक के कथन के रूप में तो हम समझ सकते हैं, पर इसका व्यावहारिक पक्ष हमारी समझ में नहीं आता। मनुष्य का अज्ञान, उसकी दुर्बलता, भय आदि वहां कहीं देखने को नहीं मिलते। जो आदर्श चित्र सामने आता है वह बड़ा ही सुंदर किंतु कल्पना की वस्तु बन जाता है। कम से कम महात्माजी के इस कथन में हम उनका वह रूप नहीं देख पाते जो चौरीचौरा कांड के बाद दीख पड़ा था।

हम कहना यह चाहते हैं कि मिस्टर चर्चिल आदि द्वारा सृजित नीति से भारत की समस्या कभी सुलझ नहीं सकती। वह इस युग के बिलकुल अनुपयुक्त है। शांति का जो मार्ग शांति की हत्या करके बनाया जाएगा उसे कौन पसंद करेगा? यदि महात्माजी के प्रदर्शित पथ से चला जा सकता तो संसार की चिरकालीन स्थायी शांति मिल सकती थी। किस देश की, किस काल की जनता महात्माजी के आदेश पर चलने योग्य होगी यह हम अभी नहीं कह सकते। समाज इतने धीरे-धीरे चलता है कि महात्माजी का निर्दिष्ट लक्ष्य कब मिलेगा, कब नहीं, इसका कुछ ठीक नहीं। बड़े-बड़े अंतरीय, विघ्न-बाधाएं हैं। शिक्षा नहीं, संस्कृति मृतप्राय है। फिर भी शांति और कल्याण के पथ में आगे तो बढ़ना ही होगा।

संसार एक रात सोकर उठे और दूसरे दिन देखे कि महात्माजी अपने अहिंसावादी-सत्याग्रही दलबल से अफरीदियों के आक्रमण को व्यर्थ कर रहे हैं, उस नृशंस, असभ्य तथा हिंसक जाति का हृदय पिघल गया है। और उस जाति की जीवन-धारा दूसरी दिशा में बहने लगी है तो वह कितना आनंदमय दिन होगा? पर साथ ही वह बड़ा ही अद्भुत दिन भी होगा। सत्याग्रह की आभा से संसार उज्ज्वल हो उठे पर उसकी ज्योति उसी दिन से क्षीण भी पड़ने लगे। संसार के इतिहास में वह एक अचिंत्यपूर्ण क्रांति-दिवस होगा, पर वही अंतिम दिवस भी होगा। तो क्या संसार का अंत इतना निकट आ पहुंचा है।

जब तक इस प्रश्न का उत्तर दिया जाए तब तक हम धीरे-धीरे आगे बढ़ते चलें। शिक्षा से, सद्भाव से, संस्कृति के पुनरुज्जीवन से शांति का मार्ग प्रशस्त होता चलेगा। बहुत स्थानों पर झुकना होगा, समझौता करना होगा। महात्माजी ने जिस आदर्श की प्रतिष्ठा की है, वह बहुत ऊंचा है। बीच की कई सीढ़ियां चढ़नी बाकी हैं। देर न लगाकर हमें अपनी मंजिल तय करनी चाहिए।

शुभ लक्षण

देहली की गांधी-इर्विन बातचीत के संबंध में जो अंतिम समाचार आए हैं, वे आशाप्रद हैं। अवश्य ही लंबी बातचीत से यह आभास मिलता है कि दोनों ओर से व्यावहारिक समस्याओं पर विचार किया जा रहा है। गांधीजी ने कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों को सलाह-मशविरे

के लिए बुलाया है और लार्ड इर्विन ने देहली स्थित प्रांतीय गवर्नरों से बातचीत की है और विलायत सरकार की भी राय ली है। इससे भी जान पड़ता है कि कुछ गंभीर विषयों पर विचार किया जा रहा है। अंतिम सूचना यह है कि महात्मा गांधीजी ने गुजराती पटेलों के इस्तीफे वापस करने, उन्हें पद प्रतिष्ठा फिर से देने और किसानों की जब्त जायदाद लौटाने की बातें कही थीं और वाइसराय ने इस पर बंबई प्रांत के कर विभाग के अधिकारी से परामर्श करने का निश्चय किया है। यदि *लीडर* पत्र के संवाददाता का अनुमान ठीक है तो भविष्य बहुत कुछ वाइसराय के उत्तर पर अवलंबित है। कांग्रेस की ओर से दो प्रधान शर्त ये हैं कि पुलिस की ज्यादतियों की जांच की जाए और नवीन समझौता-सम्मेलन में नई समस्याएं रखने दी जाएं तथा विलायत की बातचीत में रद्द-बदल करने के अधिकार दिए जाएं। यदि वाइसराय का अनुकूल उत्तर मिला तो भारतीय राजनीति की धारा बिलकुल बदल जाएगी। उत्तर अनुकूल मिलने के लक्षण तो दीख पड़ते हैं।

(सोमवार, 23 फरवरी 1931)

देहली के भाषण

पिछले दिनों देहली में महात्मा गांधी और अन्य नेताओं के जो भाषण हुए हैं वे दो अर्थों में देहली के भाषण कहे जा सकते हैं। देहली भारत की राजधानी और भारत सरकार का प्रमुख केंद्र है। शताब्दियों से देहली का वातावरण सम्राटों और साम्राज्ञियों, राजपुरुषों और राजा-रईसों से आपूरित रहा है। वैसी ही परंपरा बन गई है, वैसे ही संस्कार बंध गए हैं। देहली भारत के राजनीतिक रंगमंच की प्रधान अभिनेत्री रही है और रजोगुण-विशिष्ट एक राजकीय परिस्थिति ही उसके जीवन की विशेष व्याख्या अथवा परिभाषा कही जा सकती है। अभी हाल में ही नई देहली का उद्घाटनोत्सव हुआ था जिसमें एक बार फिर आमोद-प्रमोद की पुनरावृत्ति हुई थी। परंतु मनुष्य तो परंपरा, संस्कार, आमोद-प्रमोद आदि सबसे ऊंचा है। चिनगारियों की भांति आत्माएं राख में छिपी रहती हैं जो अवसर पाकर चमक उठती हैं। ऐसा ही एक अवसर महात्माजी के स्वागत में उपस्थित हुआ। जब देहली की एक लाख से अधिक जनता केवल दर्शन की सात्विक लालसा से उमड़ पड़ी और भक्ति पुष्पांजलि अर्पित कर प्रसन्न-चित्त, नख-शिख लौटती दीख पड़ी। देहली का वह उद्वेग मनुष्य के प्राणों की पुकार ही तो है जो समय-समय पर उठकर कुछ रहस्यमयी कथा सुनाती, कुछ सात्विक संकेत करती और मनुष्य को कुछ उन्मुक्त कर चुप हो रहती है। इसी प्रकार संसार का विकास होता है।

महात्माजी आदि के भाषण इस अर्थ में भी देहली के भाषण हैं कि स्वतंत्रतादेवी को भारत की दहलीज से प्रवेश कराने की मंगलध्वनि उनसे सुन पड़ती है। यह बड़े ही संयोग की बात है कि महात्माजी जैसे महापुरुष स्वराज्य का स्वस्ति-पाठ कर रहे हैं। यह बड़ा ही शुभ लक्षण है। महात्माजी ने अपने भाषण में कहा है कि वाइसराय से उनकी बातचीत बड़ी ही प्रीति से

हो रही है। यद्यपि परिणाम परमेश्वर के हाथ में है पर मनुष्य की कृतिशक्ति का अपना अलग महत्व है। इतिहास में यह नहीं लिखा जा सकेगा कि देश बिना सोचे-विचारे जल्दी में अथवा अहंकार आदि में पड़कर पथ-भ्रष्ट हो गया है। उसके महान नेता भी कुछ कर न सके। महात्माजी ने वाइसराय के लिए जो प्रशंसा-मूलक शब्द कहे हैं वे उन्हीं के योग्य हुए हैं।

सत्याग्रह और हिंदू-मुस्लिम एकता के संबंध में महात्माजी के देहली के भाषण अत्यंत मार्मिक और महत्वपूर्ण हैं। उनसे महात्माजी के स्पष्ट और दृढ़ अहिंसात्मक विचारों का पता लगता है। उनकी क्षणिक नीति अहिंसा नहीं है, उनका जीवन ही अहिंसा के लिए है। यह सिद्ध हो जाता है। उन्होंने अनुचित शक्ति का प्रयोग करने वाले और ज्यादतियां करने वाले स्वयंसेवकों को वैसा करने को मनाही की है। उन्होंने उन्हें फटकार तक बतलाई है और यहां तक कहा है कि आंदोलन में उनकी आवश्यकता नहीं। अवश्य ही महात्माजी की इस आज्ञा से आंदोलन का रूप और अधिक आकर्षक बन जाएगा। यदि संयोगवश समझौता न हो सका और आंदोलन भविष्य में भी चलता रहा तो हम यह देखेंगे कि पिकेटिंग का काम कितना शांतिपूर्ण हो गया है और उसका वर्तमान उग्र रूप कितना बदल गया है। व्यापारियों, शराब विक्रेताओं आदि ने समय-समय पर जो शिकायत की है। वे नहीं की जा सकेंगी और त्याग की परख भी अच्छी तरह की जा सकेगी। महात्माजी ने जिन शब्दों में कांग्रेस स्वयंसेवकों की ज्यादतियों को बुरा बतलाया है। वे चाहते हैं कि सरकार भी अपने शांति-रक्षक पुलिसमैनों की जांच करे। यदि पुलिस के छोटे कर्मचारियों ने आवेश में आकर अफसरों की आज्ञा के प्रतिकूल आचरण किया है तो उसकी प्रतिरक्षा और दंड का विधान होना चाहिए। सुना जाता है कि सरकार की ओर से इस पर विचार किया जा रहा है कि जांच किस प्रकार की जाए। न्याय और कर्तव्य का विचार कर तथा शांति की स्थापना का विचार कर सरकार को इस प्रकार की जांच कराने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

महात्मा गांधी ने हिंदू-मुस्लिम एकता का बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में समर्थन किया। देहली की मुस्लिम लीग कौंसिल में आप आमंत्रित थे। आपका परिचय देते हुए मौलवी मुहम्मद याकूब ने कहा कि ये इक्कीस करोड़ भारतवासियों के प्रतिनिधि महात्मा गांधी हैं। तब महात्माजी ने कहा—'मैं बनिया हूं, मेरा लोभ अपार है। मेरे हृदय की यह चिर अभिलाषा रही है कि मैं केवल इक्कीस करोड़ हिंदुस्तानी भाइयों की ओर से ही नहीं बल्कि तीस करोड़ भाइयों की ओर से बोलूं। आज आप भले ही यह न स्वीकार करें कि मैं तीस करोड़ का प्रतिनिधि हूं। परंतु यह तो निश्चय है कि बाल्यकाल से ही मेरा लालन-पालन ऐसी परिस्थिति में हुआ है कि हिंदू-मुस्लिम एकता तो मेरे जीवन का ध्येय बन गई है। यह मेरी बुड्ढे की बकवास नहीं है। मेरे मन को यह निश्चय है कि ईश्वर किसी न किसी दिन मुझे इस योग्य बनावेगा कि मैं समस्त भारत की ओर से बोल सकूंगा, और यदि मैं इस लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न करता-करता मर भी गया तो भी मेरी आत्मा को शांति मिलेगी।' महात्माजी के इन शब्दों में इतनी शक्ति है, इतनी करुणा है और इतना निश्चित विश्वास है कि हृदय स्तंभित हो रहता है। गोलमेज में गए हुए कुछ संकीर्णमना सांप्रदायिक प्रतिनिधियों को समझाते हुए जो बातें सम्मेलन के कुछ उदार

नेताओं ने कही थीं, वे ही बातें महात्माजी ने अद्भुत शक्ति के साथ कही हैं। हिंदू-मुस्लिम एकता व्यवस्था-परिषद् की सीटों के लिए लड़ने और बंटवारा करने में नहीं है। एकता तब होगी जब परस्पर का संशय और अविश्वास दूर होगा। जब यह दृढ़ धारणा बंध जाएगी कि हिंदू और मुसलमान एक ही राष्ट्र की दो आंखें हैं। निश्चय ही महात्माजी शांति और समता के अवतार हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश देने वाले इस युग के बुद्ध और अशोक, कबीर और तुलसी की सम्मिलित विभूति लेकर आए हैं। भारत को शांति, समता और एकता की आवश्यकता है। इसलिए वह गांधीजी का संदेश इतने मनोयोग से सुन रहा है।

सरकार की ओर से, विशेषकर वाइसराय की ओर से जो उदारता दिखाई गई है उसका उल्लेख स्वयं महात्माजी ने किया है। गोलमेज सम्मेलन के फलस्वरूप ब्रिटेन में भारत संबंधी जानकारी बढ़ी है और भारत की राष्ट्रीय पुकार पर उसका ध्यान गया है। भारतीय समस्या पर सहानुभूति के साथ विचार किया गया और यदि कांग्रेस ने सहयोग किया तो आगामी सम्मेलन में भी वैसी ही सहानुभूति बनी रहने की आशा है। कांग्रेस की ओर से राष्ट्र की मांग विशेष शक्ति के साथ पेश की जा सकेगी। गोलमेज सम्मेलन से लौटे हुए कुछ नेता वहां की कार्रवाई से अत्यंत तृप्त होकर लौटे हैं। परंतु बहुत से ऐसे भी हैं जो असंतोष लेकर लौटे हैं। कांग्रेस उनका भी सहयोग पा सकेगी। व्यापारियों के बढ़ते हुए असंतोष का विचार कर, देश की अशिक्षा, जनशिथिलता और आंदोलन पर उसके प्रभाव का प्रचार कर, साथ ही विलायत से लौटे हुए विद्वान और देशसेवी प्रतिनिधियों के परामर्श का विचार कर कांग्रेस अपना मत निर्धारित करेगी और भारत सरकार भी मजदूर सरकार की उदारनीति और देश की परिस्थिति देखकर अपना मत निर्धारित करेगी। यद्यपि देहली के भाषण में महात्माजी ने कहा है कि फल भगवान के हाथ में है पर लक्षण अच्छे दीख पड़ते हैं और भगवान भी अच्छे के—सत् के—पक्ष में ही रहते हैं। इस समय देश की राजनीति ने हमें चारों ओर से खींच रखा है और समाज का सर्वतोमुखी विकास प्रायः रुका हुआ है। इतने दिनों से एकटक राजनीति को देखती हुई हमारी आंखें अब विराम चाहती हैं। यदि पूज्य मालवीयजी की भविष्यवाणी सत्य हुई और समझौता-सम्मेलन भारत में सफल संपन्न हुआ तो हम संतोष की सांस ले सकेंगे और देश के अनेक ठहरे हुए धंधे सजग होकर चलने लगेंगे।

हिंदी में आदर्शोन्मुख समीक्षा का विकास

पारिवारिक समीक्षा-मंडलियों का उदय

हिंदी की साहित्य-समीक्षा का इतिहास बड़ा ही मनोरंजक है। हिंदी-भाषी जनता और हिंदी पंडित विद्वानों ने मिलकर उस इतिहास में हम लोगों के लिए विनोद की अच्छी सामग्री जुटा दी है। अब हमारे बारे में कुछ गंभीर साहित्य चर्चा प्रारंभ हो गई है। इसलिए जब कभी

हमारा ध्यान उस पूर्व कथा पर जाता है तब एक हल्की-सी मुसकान आए बिना नहीं रहती। बात हंसने की नहीं है, वास्तव में बात अफसोस करने और सहानुभूति प्रकट करने की है। पर आज का कुछ उन्नत समाज यदि साहित्यिक लेखों में नहीं तो पारिवारिक साहित्यिक मंडलियों में अपनी हंसी रोक नहीं पाता। यह पारिवारिक हंसी बहुत कुछ सात्विक होती है। इसमें भविष्य के साहित्यिक-विकास की रूप-रेखा झांकती दीख पड़ती है। इसलिए इसे हम अनुचित नहीं समझते। विलायत के साहित्य-समाज में यही दृश्य 19वीं शताब्दी में दीख पड़ता था। एक ओर एडीसन, स्टील आदि के कॉफी हाउस के विनोद गृह थे, दूसरी ओर लैंब, हेजलिट, डिकेंस आदि की मंडली थी। कवियों का संघ अलग एकत्र होता था और इनमें सबसे अधिक विनोद-प्रिय डॉक्टर जानसन थे जिनकी बात-बात में हंसी आती थी। ये सभी साहित्य-सेवी प्रायः एक साथ भी एकत्र होते थे और साहित्य संबंधी बड़ी मनोरंजक, साथ ही, बड़ी सार्थक बातचीत करते थे। एक बार इसी जमात में डॉक्टर जानसन आदि कई विद्वान बैठे थे। संयोग से एक सज्जन और आ पहुंचे। आप वैसे ही थे जैसे हिंदी के पुराने युग के समीक्षक। आकर कहने लगे शेक्सपीयर और मिल्टन बहुत अच्छे कवि थे। साहित्य मंडली के सब लोग उनका मुंह ताकने लगे। कुछ लोगों को आशा थी कि इसके बाद आप कुछ और कहेंगे। पर डॉक्टर जानसन ने क्षण भर में ही सारा भेद समझकर टिप्पणी की—'इनके दिमाग की जांच करनी होगी।'

हिंदी की साहित्य-मंडलियों में ऐसी एक भी नहीं है जो विलायत की उन मंडलियों की बराबरी कर सके। हमारी मनोवृत्ति, हमारी सामाजिक व्यवस्था, हमारी अंध प्राचीन प्रियता आदि इसके कितने ही कारण हैं, पर हमारा अल्प-साहित्यिक विकास इसका सबसे बड़ा कारण है। हममें बहुत थोड़े व्यक्ति ऐसे हैं जो साहित्य की हास्यास्पद बातों को ठीक-ठीक समझते हैं और विनोदपूर्ण टिप्पणियों से उनका संहार करते हैं। अभी तक तो उसी प्रकार की साहित्य-चर्चा की भरमार थी जो स्वयं विनोद की सामग्री बन सकती है। अब तक तो हिंदी—शब्द ही हंसी की सृष्टि करता रहा है। अब कुछ दिनों से स्थिति बदली है और साहित्य में नवीन शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप नया आलोक फैला है, साथ ही, समाज में एक नई साहित्यिक चेतना की सृष्टि हुई है। यही चेतना आगे चलकर एक नवीन अथच भव्य साहित्य-भवन का निर्माण करेगी। हमारे इस नवीन साहित्य-भवन का शिलान्यास अत्यंत गंभीर, अंतः दृढ़ होगा। उसकी प्रतिष्ठा हंसी-खुशी के स्वस्थ वातावरण में होगी। पुराने युग की जीर्ण-शीर्ण अवशेष रह जाएंगी कुछ गालियां और कुछ कीचड़ होली में खूब उछाला जाता है। इन्हें भी पुरानी प्रथा समझकर टाल देना होगा। कुछ समय के बाद वे साहित्य के इतिहास में दो-एक पंक्तियों के भीतर बंद कर दी जाएगी। आगामी साहित्यकारों की साहित्यिक हवाखोरी में इनसे अच्छा मनोरंजन होता रहेगा।

यह बड़ी ही शुभ सूचना है कि हमारे समाज में इस प्रकार की मंडिलयों का उदय होने लगा है जो उच्चकोटि की साहित्यिक चर्चा करने लगी हैं। यह अत्यंत आवश्यक बात है कि ये मंडलियां पारिवारिक वातावरण बनाए रखें और सरकारी अथवा अर्द्ध-सरकारी न बन जाएं।

सभापति, उपसभापति, वार्षिक अधिवेशन आदि के झगड़ों की विकृति न लगने दी जाए। तभी इनका सम्यक् विकास हो सकेगा, तभी उच्चकोटि की साहित्यिक संस्कृति प्रगति पा सकेगी।

पुरानी साहित्य-समीक्षा कवित्त सुनाने में थी। समस्या यह रहती थी कि आप किस रस के कितने अधिक कवित्त सुना सकते थे। आप रात भर सुनाते रहिए, सुनने वाले रात भर सुना करेंगे। जब किसी धनवान आमोद-प्रमोद-प्रिय व्यक्ति के सामने कवित्त सुनाने हैं तब वैसे ही कवित्त भी होते थे। वैसी ही मधुर आवाज, वैसी ही मीठी भाषा भी होती थी। जब किसी साहित्यिक मंडली में सुनाना हुआ तब बारीक खयालों पर अधिक ध्यान रखा गया। ऐसा कुछ लिखिए कि श्रोतागण आपके छंद के अंतिम शब्दों को आपके कहने के पहले ही दोहरा सकें। कुछ ऐसा सुनाइए कि आपका भाव देखकर ही आपका मतलब समझ लिया जाए। आपको यदि थोड़ा लय के साथ सुनाना आता है तो मैदान अपने हाथ समझिए। यह अवस्था थी। वास्तव में ये कवि सम्मेलन नहीं थे, एक प्रकार के संगीत-सम्मेलन थे, एक प्रकार के स्मृति परीक्षा सम्मेलन थे और एक प्रकार के विहार-सम्मेलन थे।

इन्हीं के अनुरूप समीक्षा भी होती थी। जिसे हिंदी में तुलनात्मक समालोचना कहा जाता है उसे हम मायापक्षी यंत्र या रसिक कला कहेंगे। उसे आगामी युग में कोई समालोचना नहीं कहेगा। इसी युग में बिहारी पर पचीसों समीक्षा पुस्तकें निकालीं जिनमें *बिहारी-रत्नाकर सतसई भाष्य, बिहारी बोधिनी* आदि में भाषा-संबंधी और इतिहास-संबंधी कुछ अच्छी जांच की गई है पर अधिकांश में शक्ति का बहुत अधिक दुष्प्रयोग किया गया। प्रारंभ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने *हिंदी नवरत्न* की समालोचना में इसका संकेत किया था। उन्होंने एक अंग्रेजी का उदाहरण देकर साहित्य के आदर्शात्मक लक्ष्य का ध्यान दिलाया था। तुलसीदास और सूरदास की कक्षा में देव आदि को रखने का अनौचित्य उन्होंने सबसे पहले प्रदर्शित किया था। तब से अब तक समीक्षाबेलि का जो विकास हुआ है उसका मूल द्विवेदीजी की *नवरत्न* की समीक्षा में मिलता है। संयोग की बात यह है कि साहित्य के उस आदर्श मार्ग को प्रशस्त करने वाले समीक्षकों को आज पुराने लोगों की गालियां सुननी पड़ती हैं और यह घृण्य सामग्री प्रकाशित करने का श्रेय एक ऐसे पत्र को है जिसके संस्थापक इस युग के आदर्श महर्षि हैं! यह बहुत बड़ी विडंबना है।

परंतु ऐसी विडंबनाएं हुआ ही करती हैं। इनकी कोई चिंता नहीं। नवीन युग की संपूर्ण शक्ति हमारी स्वस्ति कामना करेगी। हम अरुणोदय के आवाहन में तन्मय होंगे। यदि आचार्य द्विवेदीजी के हाथ में सरस्वती होती और यदि महर्षि मालवीयजी से अभ्युदय संचालित होता तो हमारे अनुष्ठान को उनकी विभूतियों का योग मिलता। परंतु जो चेतन पर विश्वास करते हैं वे यह भी समझते हैं कि वह योग हमें अब भी मिल रहा है। हम आशावादी हैं और विश्वास करते हैं कि वर्तमान निरीह सरस्वती शक्तिमती होगी और तिमिरग्रस्त अभ्युदय का दुर्दिन समाप्त होगा। भारत में नवीन साहित्यिक संस्कृति की जो उज्ज्वल आभा जाग रही है *भारत* के पृष्ठों में उसकी झांकी देखकर हमारे विद्वान मित्रों और पाठकों के दिल खिल उठे हैं। परंतु प्रकृति के नियमानुसार आलोचक की प्रतिक्रिया भी होती ही है। जो प्रतिकारी हैं उन लोगों

के लिए हम ख्रीष्ट के शब्दों में यही कह सकते हैं 'भगवान, इन्हें क्षमा करें क्योंकि ये जानते ही नहीं कि ये क्या कर रहे हैं।'

हिंदी के पुराने कवि सम्मेलनों के अवशेष पर उपर्युक्त विलायती समीक्षा मंडलियों की भांति पारिवारिक वातावरण के भीतर जो नवीन साहित्य-चर्चा प्रारंभ हुई है, वह हिंदी के समीक्षा-इतिहास में युगांतर की सूचना दे रही है। स्वागत।

(शुक्रवार, 27 फरवरी 1931)

शांति की सिद्धि

आज देश भर की आंखें देहली की ओर खिंची हुई हैं। सारे देशवासियों के हृदय में शांतिकामना विराज रही है और देश के नेतागण भी शांति का मंत्र पाठ कर रहे हैं। स्वयं महात्मा गांधी शांति की सिद्धि में लगे हुए हैं। पिछले कितने ही वर्षों से जो प्रयत्न किए गए हैं, जो तपस्या और साधना की गई है उसी का फल मिलने की आशा लगी है। राष्ट्र के इतिहास में यह बड़ा महत्वपूर्ण संयोग है। ऐसे ही समय में हमें अपने ऋषि-मुनियों की याद आती है जिन्होंने शांति का संदेश सुनाया था और मोक्ष के उपाय बतलाए थे। उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में कहा है कि शांति का मार्ग बड़ा दुर्गम है, बड़ा दुरूह है। जन्मजन्मांतर की कठिन साधना के बाद शांति की सिद्धि होती है। शांति के आवाहन में हमारे प्राचीन पुरुषों ने महान तप किए थे, महान त्याग किए थे। हमें उनका संदेश सुनना चाहिए और समझना चाहिए। शास्त्रों ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि शांति के मार्ग में बड़े-बड़े अंतराय और विघ्न-बाधाएं आती हैं। अज्ञान, असत्य आदि के दुर्दांत राक्षस और हिंसा आदि की राक्षसियां, यम, नियम आदि को भंग करने में तत्पर रहती हैं और अवसर पाकर भंग कर देती हैं। शास्त्र मिथ्या नहीं होते। हमें निरंतर आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता है। इसमें शिथिलता नहीं पड़ने दी जा सकती। हम उद्विग्न होकर, अधीर होकर कोई लाभ नहीं उठा सकते। हमें चाहिए कि हम निरंतर जाग्रत रहकर उन त्रुटियों को, उस अंतराय को दूर करें जो शांति सिद्धि में बाधक हैं। यह अब भी करना होगा और स्वराज्य की प्राप्ति के बाद भी करना होगा। यह हमारी नित्य क्रिया होनी चाहिए। शांति का अर्थ शैथिल्य नहीं है। शांति असत्य के द्वारा नहीं मिल सकती। शांति के लिए लालायित होने की अपेक्षा शांति के मार्ग की बाधाएं दूर करने में समय का अधिक सदुपयोग होगा।

एक ओर देहली में संधि चर्चा हो रही है, शांति का पथ प्रशस्त किया जा रहा है और दूसरी ओर मिस्टर चर्चिल जैसे व्यक्ति उसके प्रतिकार में लगे हैं। वे शांति की सिद्धि में बाधा पहुंचा रहे हैं। यद्यपि मिस्टर चर्चिल के जीवन काल में ऐसे अनेक अवसर आए हैं जिनमें उनकी इसी विरोधी नीति के कारण उनकी बदनामी और ब्रिटेन का अहित हुआ है, पर जान पड़ता

है उन्होंने इससे कुछ भी शिक्षा नहीं ग्रहण की। पर मिस्टर चर्चिल न सही, विलायत के विचारवान राजनीतिज्ञ और जनता पूर्व इतिहास से अवश्य लाभ उठावेगी। ब्रिटेन को यह मालूम हो चुका है कि भारत की समस्या पर उचित समय पर उचित रीति से विचार न करने के कारण ही आज दोनों में घोर असद्भाव फैल गया है। भारत सचिव मिस्टर बेजल्ड बेन ने इस बात पर जोर दिया है कि देर करने के कारण हमने हानि उठाई है और भविष्य में भी देर अच्छी नहीं होगी। परंतु मिस्टर चर्चिल और उनकी तरह के विचारवालों ने भारत की मांगों को दबाकर, कड़े शासन से एक प्रकार की अनोखी शांति स्थापित करने की कल्पना की है, अभी हाल में आपने अपने चुनाव-क्षेत्र से अपनी इस नीति का समर्थन भी प्राप्त किया है और इसी के लिए आप अब उद्योग करने वाले हैं। मिस्टर चर्चिल पर पिछले गोलमेज सम्मेलन की शिक्षा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अनुदार दल के कुछ और सदस्यों ने यह साबित करना चाहा कि उनके दल ने भारतीय प्रश्न पर कोई वचन नहीं दिए हैं और गोलमेज सम्मेलन के प्रस्तावों पर उन्होंने कोई अंतिम मत नहीं दिया है। इस प्रकार की नीति शांति और संधि के लिए बहुत बड़ी बाधा है। इसका एक प्रत्यक्ष प्रभाव देहली की संधि-चर्चा पर यह पड़ा है कि कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने भी वचनबद्ध होने से इनकार कर दिया है और अंतिम फैसला अपने हाथ में रखा है। परंतु संतोष की बात है कि कांग्रेस के नेता मिस्टर चर्चिल आदि की तरह समय की गति से अपरिचित नहीं हैं। उनका कार्यक्षेत्र व्यावहारिक है। मिस्टर चर्चिल की भांति काल्पनिक नहीं।

शांति की सिद्धि में सत्य की बहुत बड़ी आवश्यकता है। वही शांति स्थिर और सच्ची शांति होगी जो छल-कपट, अज्ञान और असत्य के आधार पर नहीं बल्कि सत्य के आधार पर स्थित होगी। गोलमेज सम्मेलन के बाद उसके संबंध में जो कुछ समाचारपत्रों में लिखा गया और देश के कुछ विद्वानों ने उसकी जिस प्रकार आलोचना की है उसमें दो प्रकार की त्रुटियां दीख पड़ती हैं। कहीं-कहीं तो उसकी बहुत अधिक निंदा की जाती है और कहीं-कहीं बहुत अधिक प्रशंसा की जाती है। यद्यपि दोनों ही अनुचित हैं फिर भी इस अवसर पर उसकी मिथ्या प्रशंसा से अधिक हानि होने की संभावना है। गोलमेज सम्मेलन जिस परिस्थिति में हुआ उसको देखते हुए वह आशातीत सफल समझा जा सकता है पर इसका यह मतलब नहीं कि हम उसके प्रत्येक प्रस्ताव की भूरि-भूरि प्रशंसा करें और ऐसा आभास दें कि उससे भारत को तत्काल पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जाएगा। ऐसा करना बहुत कुछ आत्मप्रशंसा करना है और दुनिया को मूर्ख समझना है। इस प्रकार का धोखा शांति की स्थापना में सहायक नहीं हो सकता। हम गोलमेज सम्मेलन के विधान की लंबी आलोचना नहीं करना चाहते, यहां हम केवल यह कहना चाहते हैं कि जो इस प्रकार की आलोचना करें वे भ्रम पैदा कर ज्ञात या अज्ञात भाव से शांति के पथ को और भी कठिन न बना देंगे।

यदि देहली में इस बार शांति की प्रतिष्ठा की जा सकी तो अवश्य ही देश को संतोष मिलेगा। अब तक निश्चयपूर्व कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परंतु यदि शांति की सिद्धि नहीं हो सकी तो हमें चुप होकर बैठना नहीं पड़ेगा बल्कि शांति के लिए सतत् उद्योग करना होगा।

शांति तो चिरकालीन साधना का परिणाम, मानव-प्रयत्नों का अन्यतम लक्ष्य है। यह आज नहीं तो आगामी भविष्य में भी प्राप्त की जा सके तो हमारा उद्योग सफल होगा। हमें प्रयत्न करके आगामी नीति ऐसी रखनी होगी जिसमें ईप्सित शांति शीघ्र मिल सके। महात्माजी का सत्याग्रह आंदोलन चलता रहेगा पर उसमें जिस सुधार का संकेत गांधीजी ने किया है, वह आंदोलन को अधिक शांतिपूर्ण बना देगा। पिकेटिंग के संबंध में इधर समाचारपत्रों में महात्माजी के तथा कुछ अन्य विद्वानों के विचार छपे हैं। अभी उस दिन बंबई में जिस उग्र पिकेटिंग का जिक्र प्रसिद्ध नेता सर फिरोज सेठना ने किया है महात्माजी उसे कम पसंद नहीं कर सकते। हमारा विचार है कि कांग्रेस के प्रतिष्ठित स्वयंसेवक इस प्रकार के दोषारोपण को अपने लिए मानहानिजनक समझेंगे। पर इस सामूहिक आंदोलन के भीतर बहुत से अशिक्षित और नासमझ लोग भी घुस आए हैं जो कांग्रेस के अहिंसात्मक लक्ष्य को नहीं समझते हैं और पिकेटिंग आदि के महत्वपूर्ण काम को मजाक समझकर उसमें दिलचस्पी लेते हैं। कांग्रेस को इसकी व्यवस्था करनी चाहिए। महात्माजी ने हाल में कई बार इस प्रकार की कार्रवाई को बुरा बतलाया है। आशा की जाती है कि शीघ्र ही वे इसे रोकने का कोई उपाय सोचेंगे। यही शांति का एक दृढ़ साधन होगा। देहली की संधि चर्चा अभी कुछ तय नहीं कर चुकी है। यदि महात्माजी के और वाइसराय के उद्योग से शांति की सिद्धि हो सकी तो देश के लिए इससे अधिक प्रसन्नता की बात दूसरी नहीं होगी पर यदि अन्यथा हुआ तो ऊपर की बातों पर ध्यान देना विशेष आवश्यक होगा।

साहित्य-समीक्षा-मंडलियों का कार्यक्रम

भारत की साहित्यिक-संस्कृति का पता लगावें

भारत के पिछले अंक में हमने विलायत के 19वीं सदी के एडीसन, स्टील, जानसन आदि विद्वानों की समीक्षा-मंडलियों का उल्लेख किया था और हिंदी में उसी ढंग की पारिवारिक समीक्षा-मंडलियों के उदय का स्वागत किया था। इस पर एक मित्र लिखते हैं, 'आप कभी तो भारत की धुन बांध देते हैं और कभी विलायत-विलायत करने लगते हैं। इसका मतलब क्या है? आपको यह मालूम होना चाहिए कि अब भारत ने विलायत के पीछे-पीछे चलना छोड़ दिया है और विलायत के भारवाही बांग्ला-साहित्य तक में प्रतिक्रिया होने लगी है। अब हम अपने पैरों के बल खड़े होंगे, आप 19वीं सदी के मदकवियों का नाम क्यों लेते हैं?' मित्र ने कुछ दूसरे प्रकार समझा है। हम मनुष्य को पहले मनुष्य समझते हैं, पीछे और कुछ। हम स्वयं मनुष्य हैं और हमारी समीक्षा का धरातल भी मानवीय है। मित्र ने भारत में कुछ अति-मानवीय और विलायत में कुछ उसके विपरीत लक्षणों का आरोप किया है। यह हमें स्वीकार नहीं है। हम दोनों के विकास की भिन्न-भिन्न धाराओं को मानते हैं, दोनों की सभ्यता और संस्कृति की विशेषताओं के हम हामी हैं। पर पूर्व और पश्चिम मनुष्यत्व के धरातल पर फिर

भी एक हैं। ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से जो विभेद उठ खड़ा हुआ है, आधुनिक प्रवृत्ति उसे बढ़ाने की ही दीख पड़ती है। पर साहित्य में तो इस प्रकार का कृत्रिम विभेद हम पसंद नहीं कर सकते। साहित्य कभी भी राजनीति के छल-कपट को नहीं अपना सकता। उसका संबंध जड़त्व से नहीं है। धन-संपत्ति, शासन अथवा पार्थिव अधिकारों के झमेले से अलग रहकर साहित्य मानव-अंतःकरण के सत्य, शिव और सुंदर का अन्वेषण करता उन्हीं से संबंध जोड़ता है। वर्तमान वियोजक और विच्छेदक वातावरण में साहित्यिक साम्य भाव के द्वारा विलायत और भारत, पश्चिम और पूर्व का समीकरण तथा ग्रंथि बंधन प्रीति के साथ संपन्न हो सकता है। यह समन्वय साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध भारतीय है। भारतीय साहित्य के नीरस मानव हृदय के लघुत्तम समावर्तक (LCM) हैं जो देशकाल के तमाम भेदों से रहित समष्टि (Cosmos) में समभाव से व्याप्त हैं।

सीधी बात तो यह है कि जहां देवता बनने का सवाल आता है, वहां सत्य राक्षस ही रहता है। बड़े-बड़े लोगों का यही हाल हुआ है। महर्षि नारद भी भगवान रामचंद्र द्वारा एक बार इसी प्रकार दंडित हो चुके हैं। विशेषकर इस समय तो हमारा बनना बिलकुल बेकार है। साहित्य में विशेषाधिकार का दावा करना मिथ्या का प्रचार करना है। इस क्षेत्र में सत्य को अक्षुण्ण रखना होगा। कबीर और जायसी, सूर और तुलसी, मीराबाई आदि हिंदी में हुए हैं। उसी प्रकार शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली आदि ब्रिटेन के कवि हैं। जो भेद अनिवार्य हैं उन्हें छोड़कर मिलाइए तो सबकी एक श्रेणी होगी। ख्रीष्ट से लेकर आज तक पश्चिम में भी ऐसे अनेक महापुरुष हो गए हैं जिन्हें पाकर भारत को गौरव प्राप्त होता। मार्क्स ओरलियस, सेंट फ्रांसिस, चैतन्य और रामकृष्ण में हमें तो कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता। शार्ल मेगन भारत के अशोक अवतार थे। रेफेल और माइकेल एंजिलों जैसे शिल्पी, कार्लाइल और रस्किन जैसे साहित्यकार, अब्राहम लिंकन और विल्सन जैसे राजनीतिक महापुरुष यदि भारत में होते तो भारत का मस्तक और ऊंचा हो जाता। इसमें संदेह नहीं कि इतने उच्च आदर्शों के पुरुष संसार में बहुत अधिक नहीं हुए। भारत अपने आदर्शवाद के लिए प्रसिद्ध है पर हमारा आदर्शवाद यह नहीं सिखाता कि हम अपने ही पथ पर चलने वालों का सम्मान न करें। हम अपनी उदारता के लिए प्रसिद्ध हैं, कुछ संकीर्णता के लिए नहीं हैं। संस्कृति संबंधी विभेद पूर्व और पश्चिम में अवश्य है। वह जितना है उतना स्वीकार करना होगा। दोनों के साहित्यों में भी दोनों की संस्कृति की छाप पड़ी है, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि साहित्य से ही संस्कृति की भिन्नता अधिकांश में जानी जाती है। परंतु पूर्व और पश्चिम के साहित्य इतने विशाल हैं कि उनका सर्वांगीण अध्ययन साध्य नहीं। दोनों ही साहित्यों में अनेक धाराएं हैं। अनेक प्रवाह हैं। उन धाराओं और प्रवाहों के भीतर साहित्य की नाड़ी पकड़कर प्रधान धारा का पता लगाना अत्यंत कठिन है और यदि कुछ पता लगे तो वह मतभेद से रहित नहीं कहा जा सकता। तथापि विशेषज्ञों की बातें माननी पड़ती हैं। उनका कहना है कि भारतीय साहित्य में अनुभूति की प्रधानता है, सत्य और शिव की खोज प्रमुख है। अंतःसौंदर्य की जिज्ञासा अधिक है और पाश्चात्य साहित्य में सांसारिक-समस्याओं का समाधान, बाह्यसौंदर्य और कला-कौशल विशेष है। यूरोप के फूल

बड़े रंगीले होते हैं पर उनमें से अधिकांश में तो महक नहीं होती। भारत के फूल उज्ज्वल होते हैं और सुगंधित होते हैं। यूरोप के पक्षियों और भारत के पक्षियों में भी ऐसा ही विभेद है और जान पड़ता है कि विशेषज्ञों द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त साहित्यिक विभेद भी स्वाभाविक है और सत्य है।

परंतु यहीं यह कह देना भी आवश्यक है कि संस्कृति बहुत स्थिर और दृढ़ होती हुई भी परिवर्तनशील है। इतिहास इस बात का प्रमाण है। पुरानी अनेक संस्कृतियां तो बिलकुल विलीन ही हो गईं। कुछ अन्य संस्कृतियां इस समय संकर अवस्था में हैं। यदि बुरा न माना जाए तो हम कहेंगे कि भारतीय-संस्कृति भी इस समय वैसी ही अवस्था से होकर गुजर रही है। ऐतिहासिक बहुत-सी घटनाएं घटीं जिनके कारण भारत की प्राचीन रीति-नीति और सामाजिक व्यवस्था बदल गई। विदेशियों के आगमन से रक्त-जन्य सम्मिश्रण हुआ। राजनीतिक पराधीनता के कारण अनेक जड़ संस्कार आत्मरक्षा, भय आदि की भावनाओं से प्रेरित होकर बंधे। यूरोपीय राष्ट्रों के बाह्य रूप-रंग ने भी भारतवासियों को आकर्षित किया। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से भी प्राचीन संस्कार बदले। इस प्रकार यदि सच पूछा जाए तो आदि वैदिक काल से लेकर, बौद्ध-जैन काल, यवन काल और अब तक देश के आदि संस्कार बहुत से बदल गए, बहुत से भुला दिए गए और अब जिस रूप में हैं उसमें देश की आधुनिक अशिक्षा लिपटी हुई है। इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि शुद्ध ज्ञानजन्य भारतीय आदर्शों का पुनरुद्धार किया जाए। जिससे देश की संस्कृति निखरकर प्रकाश में आवे। प्रसन्नता की बात है कि इस क्षेत्र में अच्छा काम होने लगा है। हिंदी लेखकों में हमारे विद्वान मित्र श्री वासुदेव शरण अग्रवाल एम.ए., एल-एल.बी. अग्रगामी हुए हैं और उन्होंने सामाजिक अनेक संस्कारों का रहस्योद्घाटन किया है।

साहित्य में भी ऐसे ही रहस्योद्घाटन की आवश्यकता है। यदि सत्य और शिव हमारे साहित्य की मूलधाराएं हैं तो हमें यह पता लगाना होगा कि 'कहैं पद्माकर' कहां से आ गए, देव-बिहारी की इतनी कद्र क्यों की गई, उन पर इतनी अधिक टीका-टिप्पणी में समय क्यों नुकसान किया गया और शक्ति का अपव्यय कैसे किया गया। इस समय हमारे साहित्य में पश्चिमीय प्रणालियों का अधिक व्यवहार किया जा रहा है यह व्यवहार कहां तक अवश्यंभावी है, इससे हमारे जातीय साहित्य में कितना हेर-फेर होगा? क्या पश्चिमी प्रणालियों को ग्रहण कर हम भारतीय आत्मा की रक्षा कर सकेंगे? ऐसे ही पचासों प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना है, सैकड़ों समस्याएं हैं जिनका समाधान करना है।

मित्र को मालूम होना चाहिए कि यह सब उनके ही प्रश्न का उत्तर है। उन्होंने भारत की संस्कृति और नवीन उत्थान पर जोर दिया है। इसलिए हमें भी वहीं तक परिमित रहना पड़ा है। यह सब काम हमारी उदीयमान समीक्षा-मंडलियों को करना है। उन्नीसवीं सदी के उल्लेखित अंग्रेज विद्वानों ने तो इतने से कहीं अधिक काम किया था। साहित्य में जातीय संस्कृति का प्रश्न महत्व रखता है पर अन्य अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न भी भुलाए नहीं जा सकते। पर मित्र के संतोष के लिए आज हम इतना ही कहेंगे।

(सोमवार, 2 मार्च 1931)

होली

होली हमारा जातीय पर्व, राष्ट्रीय कांग्रेस की भांति हमारी राष्ट्रीय संस्था है। इसके अधिवेशन भी वर्ष भर में हुआ करते हैं, विशेषता यह है कि इसके अधिवेशन अटल हैं और ठीक वर्ष भर में होते हैं। देश भर में एक ही विधि, एक ही समय होने वाले इन अधिवेशनों को देखकर आश्चर्य होता है, क्योंकि ये इतने महान हैं, देश भर के इतने करोड़ निवासी—बालक, वृद्ध, युवक, स्त्री, पुरुष इसमें भाग लेते हैं, फिर भी इनके लिए कोई आयोजन नहीं करना पड़ता। राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन वर्ष में एक बार एक स्थान पर होते हैं, फिर भी कितनी कमेटियां मिलकर कितना प्रबंध करती हैं और कितने रुपए खर्च होते हैं। होली कल होगी पर उसकी कोई स्वागत समिति बनी हो इसका हमें पता नहीं। नहीं बनी। प्रकृति स्वयं समिति का काम करती है। हम सभी उसके अध्यक्ष होते हैं। अथवा यों कहें कि सभी दर्शक होते हैं, अथवा अध्यक्ष कोई नहीं होता। यह मनुष्य के साम्यवाद का अद्भुत निदर्शक है। होली जल-वायु की भांति हमारे लिए स्वाभाविक हो गई है, हमारी अपनी हो गई है। हमारे हृदय की, आपके हृदय की, समष्टि के हृदय की तमाम वृत्तियां इसे अपना चुकी हैं, इसलिए हम देखते हैं कि यह देश के एक कोने से दूसरे कोने तक आप से आप बिना प्रबंध किए, बिना पर्चा बांटे न जाने किस सनातन काल से होती आ रही है, यही कल होगी और इसी प्रकार भविष्य के असंख्य अनंत वर्षों तक होती रहेगी। पिछले अगणित वर्षों की भांति इस वर्ष भी और इस वर्ष की भांति फिर-फिर होली होगी। हम नहीं थे तब होली थी, हम नहीं रहेंगे तब होली रहेगी। हम जहां रहते हैं वहां होली होती है, जहां नहीं रहते हैं वहां भी होली होती है। ऐसी होली की विराट भावना के सामने हम नतशिर होते हैं। यह आत्मनियोजित विराट पर्व अनादि काल से, असंख्य प्राणियों की अनंत वृत्तियों पर शासन कर रहा है। समूह की वाणी मुक्त कंठ से इसकी अभ्यर्थना करती है। अतएव इस सनातन सम्राट की दिगंत व्यापिनी विभूति को, अबीर को हम सिर-माथे लेते हैं।

परंतु जो विराट है, जो व्यापक है, वह सूक्ष्म भी है। मनुष्य एक ऐसी वस्तु है जो छोटे घेरे के भीतर रहती है। उसके विचार, उसकी भावनाएं और उसकी कल्पनाएं बहुत ही हल्की, बहुत ही शिथिल तथा बहुत ही सीमित होती हैं। जड़ के अतिरेक के कारण उसका ध्यान विराट और सूक्ष्म तत्वों पर नहीं जाता। वह अपनी छोटी-सी दुनिया में रहता है। उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसके बाहर निकल सके। दूसरी बात यह है कि मनुष्य को जो सुलभ वस्तुएं हैं उनकी वह परवाह नहीं करता। जल और वायु कितने उपयोगी हैं और कितने सुंदर हैं परंतु आज न तो उपयोगितावादी और न सौंदर्यवादी उन पर अपनी भावनाओं के फूल चढ़ाते हैं। वैदिक युग में चेतन का उद्वेग आज की अपेक्षा कहीं अधिक था। उस समय के कवियों ने देवताओं के रूप में पंचतत्वों की अर्चना की थी। परंतु आज वह बात नहीं रही। समष्टि की शक्ति के सामने प्रणत होने में ही मनुष्यता है परंतु आज वह मनुष्यता कम हो गई है और प्रतिदिन कम होती जा रही है। आज हम जिस व्यक्तिवाद पर जोर देकर होली की प्रथा को

दूर करना चाहते हैं हमारी फूंक से उस पहाड़ का उड़ना असंभव है। आज का व्यक्तिवाद विवेक रहित शक्तिशून्य ढोंग है। इसलिए वह आदर्शवाद के दायरे में नहीं आ सकता और न क्रांतिवाद ही कहा जा सकता है। इस जमाने में जिन्हें सुधारक नाम से पुकारा जाता है वे क्या सुधारेंगे और कैसे सुधारेंगे, इसका उन्हें ही ज्ञान नहीं।

जो दल अबीर से चिढ़ता है और रंग से नफरत करता है, जो होली को प्राचीन असभ्यों का पर्व समझता है वह दल तर्कतः नास्तिक है। परंतु हमें उससे कोई ऐतराज नहीं। यदि वह अपनी नास्तिकता के भीतर से अपनी स्थिति का मंडन कर सके। आप संस्कार नहीं मानते, परंपरा नहीं मानते, समूह नहीं मानते, मत मानिए। हम आपकी कल्पना कर लेंगे। पर आप होली को नापसंद करके पसंद किसकी करते हैं? अपने-आपके सिवा पसंद करने की दूसरी चीज ही क्या है। यदि अपने को पसंद करते हैं तो दूसरों को भी उनकी पसंद से काम करने दीजिए। उन पर अपनी पसंद का बोझ न लादिए।

परंतु खंडनात्मक तर्क व्यर्थ है। होली हमारे समाज में इतने दिनों से अविचल भाव से स्थित है, यही उसका सबसे बड़ा मंडन है। उसने राष्ट्रीय एकता की इतनी दृढ़ नींव खड़ी की है कि जिसे राष्ट्र अपने कल्याणार्थ कभी भूल नहीं सकता। हिंदुओं के चारों वर्णों का समीकरण इस पर्व की अद्वितीय विशेषता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस दिन चिरदिन का भेद-भाव छोड़कर एक होते हैं और प्रीति तथा मैत्री का जो आदर्श रूप दिखाते हैं वह हमारे वर्तमान समाज का जीवन मात्र है। महात्मा गांधी ने समूह के जिस 'रामधुन' को श्रेष्ठ कला बतलाया है, होली में वही तो प्रत्यक्ष होता है। सारे देश में एक साथ असंख्य लहरें एक महासागर में उठें। एक साथ गाना, बजाना, एक साथ भोजन पान, एक साथ आमोद-प्रमोद। हम आदर्शवादी हैं तो भी हम मनुष्य की ओर से मुंह नहीं मोड़ सकते। गंभीर एवं संयमशील बने रहने के लिए आमोद-प्रमोद का एक दिन सहायक ही होता है। आजकल तो हमारे समाज की, विशेषकर नागरिक यंत्र-तुल्य जीवन की जड़ता दूर करने के लिए कुछ न कुछ आयोजन परम आवश्यक है। भारत कभी भी यूरोप की क्लब पद्धति की बुराइयों को नहीं अपना सकता। रवींद्रनाथ जैसे आदर्शवादी व्यक्ति भी कहते हैं कि यह सारा संसार आनंदरूप है, दुःख रूप नहीं। संसार में यदि आनंद न होता, प्रेम न होता तो संसार का व्यवहार किस प्रकार चलता? हम सब जीव आनंद से ही उत्पन्न हुए हैं। आनंद ही हमारी आत्मा का विकास कर रहा है। आनंद रूप भगवान हमें अंत में अवश्य मिलेगा। तो फिर इसी आनंद की उपलब्धि के लिए यदि वर्ष में एक दिन—होली के दिन—समाज के छोटे-बड़े एक साथ एकत्र होकर अबीर लगाते, रंग चलाते और दिल्लगी-मजाक करते हैं तो अनुचित तो कुछ भी नहीं करते। वर्ष भर परदेश में हाय पैसा और हाय पेट करते-करते जिनकी जीवनी एक अविश्रांत करुण कथा बन गई है यदि वे एक दिन सुख उपसंहार की प्रार्थना करते हैं तो क्या हम उसे स्वीकार कर उनका एक दिन का सुख भी नहीं देख सकते?

होली के विरोध में कभी-कभी कुछ राजनीति का पुट भी रहता है और वह कुछ जंचता भी है। उद्वेगपूर्ण शब्दों में कहा जाता है, आज प्राणों की होली लगी हुई है, आज रक्त की

पिचकारी चल रही है। इस होली के सामने दूसरी होली क्या चीज है इत्यादि-इत्यादि। सामयिक राजनीति में इस प्रकार की वाक्पटुता अपना विशेष महत्व रखती है। उसका प्रभाव भी पड़ता ही है। परंतु और व्यापक अर्थ में देखने से इस प्रकार का विरोध क्षणिक ही समझ पड़ेगा। यह सिद्धांत की दृष्टि से कोई विरोध नहीं है। इसे केवल अर्थवाद समझिए। परंतु इस प्रकार के विरोध को हम बहुत उचित नहीं समझते। कारण होली तो राजनीतिक लक्ष्य सिद्धि का साधन भी है। यह पर्व केवल हिंदू जाति का ही संघटन नहीं करता बल्कि सारे राष्ट्र को एक सूत्र में बांधता है। जो पढ़-लिखकर जड़ बन गए हैं उनकी बात जाने दीजिए, पर जो सजीव हैं, निर्लिप्त हैं और आगामी आशा हैं, वे मुसलमान और ईसाई जाति के बच्चे होली से खास प्रेम रखते हैं। वे माताओं से पूछा करते हैं और माताएं बतलाया करती हैं कि होली किस दिन होगी, उसमें क्या होगा, वह क्यों की जाती है आदि। जहां हिंदुओं का संसर्ग अधिक है, वहां की अहिंदू स्त्रियां प्रह्लाद और होलिका की कथा भी याद रखती हैं और बच्चों को सुनाया करती हैं। देश का भविष्य जिनके हाथ में है उनके संस्कार इस प्रकार बनते रहते हैं। यह राष्ट्रीय विकास के लिए उपयोगी है। इसे सहज ही समझा जा सकता है।

आजकल पत्रों में कुछ इस प्रकार का शब्दाडंबर भी रहता है, जैसे 'होली तो हो ली, अब क्या होगी'? बहुत से व्यक्तियों के नाम गिनाए जाते हैं और कहा जाता है होली तो उनकी हो ली इत्यादि। परंतु इस प्रकार की बातें होली के विरोध में नहीं लिखी जातीं। ये तो एक प्रकार के मनोरंजन की सामग्री है जो होली में अच्छी भी लगती है।

हंस का विशेषांक

हंस काशी के सरस्वती प्रेस से निकलने वाला हिंदी कहानियों का प्रसिद्ध मासिक पत्र है। बाबू प्रेमचंदजी इसके संपादक हैं। इसलिए हिंदी के सभी श्रेष्ठ कहानी-लेखकों का सहयोग इसे प्राप्त है। इन कुछ महीनों में ही अनेक प्रतिकूल स्थितियों का सामना करते हुए इस पत्र ने हिंदी में अच्छी प्रतिष्ठा और अच्छा प्रचार प्राप्त किया है। प्रेमचंदजी के सहकारी श्री प्रवासी लालजी वर्मा के उद्योग से पत्र को गुजराती, मराठी आदि साहित्यों की कुछ सुंदर सामग्री प्रतिमास मिलती रहती है। हमें यह देखकर विशेष प्रसन्नता हुई है कि *हंस* में कविताओं का चयन हिंदी के अन्य साहित्यिक पत्रों की अपेक्षा विशेष सुंदर होता है। हमारे सामने *हंस* का इस मास का विशेषांक मौजूद है और हम देखते हैं कि अनेक प्रतिष्ठित लेखकों की कहानियों के अतिरिक्त इसमें हिंदी, गुजराती, मराठी आदि के कथा-साहित्यों का विवरण और विवेचन भी है। जितनी कविताएं हैं प्रायः सब उत्कृष्ट हैं। गुजरात के नई शैली के उदीयमान चित्रकारों के चित्र हमें बहुत अच्छे लगे। पत्र के संपादकीय लेखों में प्रेमचंदजी के अनुपम राष्ट्रीय विचार रहते हैं। इनमें ओज रहता है, प्रवाह रहता है और आकर्षण रहता है। हमें आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि सहयोगी *हंस* प्रेमचंदजी के संपादन और वर्माजी के प्रबंध में इसी प्रकार उन्नति करता रहेगा और हिंदी के

कथा साहित्य का आदर्श पत्र बनकर पाठकों का मनोरंजन तो करेगा ही, साहित्य का विशेष उपकार भी करेगा। पत्र की हित-कामना में हम हिंदी के अनेक विद्वानों और *हंस* के पाठकों के साथ हैं।

(शुक्रवार, 6 मार्च 1931)

विराम

महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन के उद्योग सफल हुए और कांग्रेस और सरकार में संधि हो गई। इस समाचार से देश भर में शांति और संतोष की सांस ली जाएगी और शांति स्थापकों को धन्यवाद दिया जाएगा। राजनीतिक सत्याग्रही कैदी छोड़ दिए जाएंगे, आर्डिनेंस वापस लिये जाएंगे, जब्त जायदादें यथासंभव वापस की जाएंगी और सरकारी नौकरियों से इस्तीफे देकर अलग होने वाले उन्हें फिर से पा सकेंगे। समुद्र तट के निवासी नमक बीनने, बनाने और बेचने का अधिकार रखेंगे। इनके साथ ही कांग्रेस अपने सत्याग्रह आंदोलन को बंद कर देगी। कर-बंदी का प्रचार बंद हो जाएगा। विलायती वस्त्रों का बहिष्कार राजनीतिक अस्त्र के रूप में रोक दिया जाएगा, पर देश की आर्थिक, नैतिक तथा सामाजिक अवस्था को सुधारने के लिए शांतिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगी, उद्योग-धंधों की उन्नति की जाएगी और मादक-वस्तुओं का निषेध किया जाएगा। कांग्रेस के सहयोग से आगामी विधान के संबंध में खुली बातचीत होगी। महात्माजी ने कहा है कि गोलमेज सम्मेलन ने विलायत में जो अधिकार प्राप्त किए हैं वे स्वराज्य के आधे के बराबर भी नहीं हैं। कांग्रेस अपनी शक्ति पूर्ण-स्वराज्य के लिए लगावेगी। महात्माजी ही नहीं, देश के बहुत से नर्म दल के नेता भी गोलमेज सम्मेलन के विधान से संतुष्ट नहीं हैं और बराबर कहते आए हैं कि अभी अधूरा काम ही किया जा सका है, बहुत कुछ बाकी ही पड़ा है। यह प्रसन्नता की बात है कि आगामी सम्मेलन भारत में होगा और देश भर के विचारशील नेता एकमत होकर भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए उद्योग करेंगे।

महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन के प्रयत्न से यह जो समझौता हुआ है, लोगों को उसमें हार-जीत देखने का बड़ा शौक हो रहा है। बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएं और प्रतिष्ठित नेता इस संधि को कांग्रेस और सरकार की शक्ति की कसौटी समझते हैं और हिसाब लगाकर यह देखना चाहते हैं कि कौन दल जीता, कौन दल हारा। जिन लोगों को दुनिया के नक्शे को हार-जीत के रूप में ही देखने का अभ्यास पड़ गया है वे और कर ही क्या सकते हैं। पर महात्माजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इस प्रकार का प्रश्न पूछना कोई बुद्धिमानी नहीं है। जीत दोनों दलों की हुई है। कांग्रेस ने जीतने का कभी दम नहीं भरा। उसका तो एक निश्चित लक्ष्य है और उसे ही वह पूरा कर रही है। परंतु महात्माजी के इन शब्दों से भी बहुतों को संतोष नहीं होगा। विलायत में बैठे हुए मिस्टर जिन्ना का कहना है कि यदि कांग्रेस की ये ही शर्तें थीं और इन पर ही वह समझौता करने को तैयार हो गई, तब तो यह पहले भी हो सकता था और

कांग्रेस मजे में विलायत के गोलमेज सम्मेलन में शरीक हो सकती थी। मिस्टर जिन्ना के इस कथन से जो ध्वनि निकलती है उसे न हम उचित समझते हैं और न सामयिक समझते हैं। इसी प्रकार कांग्रेस की वास्तविक नीति, लक्ष्य और कार्यक्रम से अपरिचित, जोशीली जनता भी अचानक इस परिवर्तन को अपने चारों ओर देखकर चकित होगी। सुना जाता है कि ऐसे ही बहुत से लोग वर्तमान संधि से संतुष्ट नहीं हैं और तरह-तरह की शंकाएं करने लगे हैं। कुछ लोगों का यह अनुमान भी हो रहा है कि लगातार बारह महीनों तक चलने के बाद कांग्रेस के आंदोलन में शिथिलता आ रही थी, व्यापारियों का असंतोष बढ़ रहा था और पिकेटिंग में उग्रता अधिक बढ़ रही थी। इन कारणों का असर महात्माजी पर पड़ा और वे संधि कर लेने को राजी हो गए। परंतु ऐसे लोग महात्माजी के साथ अन्याय करते हैं। एक तो यह कहना भी ठीक नहीं जान पड़ता कि कांग्रेस का आंदोलन शिथिल पड़ रहा था। यद्यपि प्रथम उद्वेग शांति हो जाने पर उतनी चटक और उतना हल्ला नहीं देख-सुन पड़ते थे। पर देहातों में करबंदी का आंदोलन बहुत ही संघटित रूप से चल रहा था और स्वदेशी के प्रति एक नैसर्गिक अनुराग दृढ़ हो गया था। मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड के कथनानुसार करबंदी ही वास्तविक लड़ाई का श्रीगणेश था और हम भी यह समझ सकते हैं कि सरकार को वास्तविक क्षति इससे तथा विलायती-बहिष्कार से ही पहुंच रही थी। सरकार भी विशेष चिंतित थी, इसके लिए प्रमाण ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है। यह तो स्वाभाविक ही था। अब पिकेटिंग तो कांग्रेस की नीति के प्रति विद्रोह था। इसलिए उसको रोकना तो कांग्रेस की शक्ति को ही संयमित करना हुआ। इन सब बातों का विचार कर और इन सबसे अधिक महात्माजी के व्यक्तित्व और सिद्धांतों का विचार कर यह कहना बिलकुल व्यर्थ है कि उन्होंने हार मान ली। दक्षिण अफ्रीका के आंदोलन की परिणति और वर्तमान भारतीय आंदोलन की परिणति से तुलना करना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। यह तो हम जानते ही हैं कि संधि के एक दिन पहले भी कांग्रेस के नेताओं में उसके प्रति कोई विश्वास नहीं था और एक नेता ने तो दुबारा जेल जाने की तैयारी पूरी कर लेने के लिए एक दांत मांजने का ब्रश खरीदने की बात कही थी।

हमें यह समझना चाहिए कि संधि और शांति स्वयं महान हैं। उनका अपना मूल्य है, अपना महत्व है। सभ्य संसार लड़ाई-झगड़े और युद्ध के बल पर बहुत दिन नहीं जी सकता। गत यूरोपीय महायुद्ध के परिणाम अच्छी तरह जानकर आज संसार के अनेक राष्ट्रों में युद्ध के प्रति विरक्ति हो गई है। अमेरिका के प्रेसीडेंट विल्सन ने निरस्त्रीकरण के प्रश्न की ओर जब से संसार भर की आंखें आकर्षित कीं, तब से भौतिकताप्रधान यूरोपीय सभ्यता भी इस उज्ज्वल आध्यात्मिक भावना का आदर्श स्वप्न देखने लगी है। हम यहां यह नहीं कहते कि लीग ऑफ नेशंस ने इस क्षेत्र में कैसा और कितना काम किया है पर हम यह अवश्य कहना चाहते हैं कि आज के पाश्चात्य देश भी शांति की आध्यात्मिक भावना का अनुभव करने की चेष्टा कर रहे हैं। हमारे यहां तो शांति हमारे साधनों की अंतिम सिद्धि मानी गई है। शांति हमारे संस्कारों के अनुकूल है और शांति की स्थापना के लिए विरोध की विशेष चिंता नहीं

की जा सकती।

परंतु वास्तविक शांति के लिए अब भी उद्योग करना है। देहली में महात्माजी और लार्ड इर्विन ने जो कुछ किया उसे हम शांति नहीं कहेंगे, विराम कहेंगे। देश और देश के शासक दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में चले जा रहे थे, उनका अंतर बढ़ता चला जा रहा था। मानो महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन ने इन दो विरुद्ध दिशाओं में जाने वाले अपने-अपने दलों को विराम की आज्ञा दे दी है। हम इस चित्र की कल्पना करके देखते हैं कि देश और देश के शासक एक-दूसरे से दूर बहुत दूर जा पहुंचे हैं। दोनों की दूरी बढ़ती जा रही है। इसी समय ठहरने का आदेश दिया गया है। ऐसी अवस्था में हार-जीत का तो कोई सवाल ही नहीं है, सवाल तो यह है कि दोनों की दूरी कितनी बढ़ गई है और अब किस प्रकार कितनी जल्दी लौटा जा सकता है और लौटकर हित की बातें की जा सकती हैं।

महात्माजी ने यह विधि भी बतलाई है। उन्होंने कहा है कि देश की असंख्य जनता ने जिस उत्साह और सफलता के साथ कांग्रेस के आंदोलन को आगे बढ़ाया है, वह उतनी ही शक्ति के साथ आगामी राष्ट्रोत्थान का कार्य भी कर सकेगी। उन्होंने देशी नरेशों को विशेष रीति से आमंत्रित किया है कि वे उदार बनकर अपनी प्रजा के साथ न्याय की दृष्टि से आगामी विधान बनाने में योग दें। यही नहीं महात्माजी ने अपने स्वभाव-सुलभ अभिन्न भाव से प्रेरित होकर अंग्रेजों से भी यही प्रार्थना की है कि वे भी यथाशक्ति भारत को स्वतंत्र बनाने में सहायता पहुंचाएं। आवश्यकता इस बात की है कि संकीर्ण स्वार्थ के विचारों को छोड़कर और उदार, लोकहितैषी विचारों को लेकर प्रत्येक विचारवान व्यक्ति अपनी संपूर्ण शक्ति से राष्ट्र की इस नवीन प्रगति में (यदि कोई चाहे तो इसे लड़ाई भी कह सकता है) भाग ले और स्वतंत्रता के नवीन महायज्ञ में योग देकर आत्मशक्ति को दृढ़ करे।

यह तो निश्चय है कि वर्तमान संधि कोई अंतिम लक्ष्य नहीं था, जिसकी प्राप्ति के बाद हम शिथिल होकर बैठ रहें। यह संधि तो आगामी कार्यक्रम की पहली सीढ़ी मात्र है। इसलिए भी पहली सीढ़ी की ही छत समझकर पड़े रहने में विवेक नहीं है और न पहली सीढ़ी से ही छत को देख सकने की कल्पना करने में विवेक है। जो असंतोष प्रकट करते हैं उनके संबंध में कम से कम यह आरोप किया जा सकता है कि वे बहुत जल्दी में हैं और जो साधन हैं उसे ही सिद्धि समझने के भ्रम में हैं। हम इसे विशेष उचित नहीं समझते। हमें यह आशा करनी चाहिए कि महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन जैसे निर्मल दृष्टि तथा विवेकवान पुरुषों ने जो संधि की है उससे अच्छे फल की प्राप्ति होगी। हमें हार-जीत का झूठा लेखा न लगाकर आगामी कार्य का महत्व समझना चाहिए। हमें मनुष्य स्वभाव की इस दुर्बलता को समझना चाहिए कि मनुष्य को जो कुछ मिलता है उससे संतुष्ट नहीं होता, और जो कुछ नहीं मिलता उसके संबंध में अनेक प्रकार की झूठी-सच्ची कल्पनाएं किया करता है। जो अत्यंत असंयमशील हैं और महात्माजी के नवीन आयोजन में कांग्रेस की हार ही देखना चाहते हैं वे भी इतनी कल्पना कर ही सकते हैं कि आगामी गोलमेज सम्मेलन की कार्रवाई को देख-सुनकर कांग्रेस के नेता फिर भी अपनी आगामी नीति का विचार कर सकेंगे और यदि विचार करने के बाद कांग्रेस की

राय इन असंयमशील व्यक्तियों की राय से नहीं मिली तब भी उन्हें तो थोड़े-बहुत पैमाने पर हुल्लड़ मचाने की सुविधा और अवसर मिल ही जाएंगे। ऐसे लोगों को ऐसी कल्पना शोभा भी देती है। कुछ स्कूल और कॉलेजों के विद्यार्थी समझौते से असंतुष्ट होकर महात्माजी के चित्रों को फाड़ते सुने गए हैं।

ऐसा आभास मिलता है कि इटली फ्रांस के विरुद्ध अपनी शक्ति इकट्ठा करना चाहता है। सच तो यह है कि इटली बड़ी तैयारी के साथ यूरोपीय राष्ट्रों से मेल करने में व्यस्त हैं और इस प्रकार विगत महायुद्ध के पहले के-से दो दल अब भी तैयार हो रहे हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि फ्रांस को जर्मनी की यह नई मांग और इटली का समर्थन अपने लिए खतरे की चीज समझ पड़ती है। फ्रांस उसका विरोध करने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति से तैयार है।

आज 1931 में यह स्थिति है। यदि यही स्थिति बनी रही तो सन् 1940 तक फ्रांस वह रूप धारण कर लेगा जो 1914 में जर्मनी का था और उस समय तक इटली की भी 1914 के फ्रांस की-सी अवस्था रहेगी।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या स्थिति ऐसी ही बनी रहेगी अथवा राष्ट्रों का कार्य भार उन अधिक विवेकवान पुरुषों के हाथों में जाएगा जो युद्ध का त्याग करना चाहते हैं और विश्वशांति के आदर्श को सफल करना चाहते हैं।

यदि ऐसा नहीं हुआ तो शीघ्र ही वह दिन आवे। जब कहीं एक छोटी-सी हत्या हो जाएगी (जैसाकि पिछले महायुद्ध में हुआ था) और उसके बाद अस्त्र-शस्त्रों की दिगंतव्यापी झंकार और जहरीली गैसों से हमारी वर्तमान सभ्यता, जो महान होने का दम भरती है, और कुछ अंशों में महान है भी, धुएं की तरह क्षण भर में विलीन हो जाएगी।

हमें भ्रम में न पड़कर सत्य को समझना चाहिए। हमारी वर्तमान सभ्यता में अब इतनी शक्ति नहीं रह गई है कि वह एक और महायुद्ध का धक्का सह सके। केवल नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, व्यावहारिक और आर्थिक दृष्टियों से भी युद्ध हमारे लिए असाध्य हो गया है। तब साहस के साथ इस स्थिति का सामना क्यों नहीं किया जाता और क्यों नहीं स्पष्ट कह दिया जाता कि युद्ध नहीं होना चाहिए, और युद्ध नहीं होगा।

निरस्त्रीकरण के मार्ग में भी बाधाएं हैं और खतरे हैं। परंतु इस प्रश्न पर विशेष मनोयोग के साथ विचार करने के बाद हमारी यह दृढ़ धारणा हो गई है कि निरस्त्रीकरण की अपेक्षा शस्त्रीकरण से कहीं अधिक खतरा है। यदि हम (ब्रिटेनवासी) आज निरस्त्र हो जाएं और इस बात का विचार न करें कि दूसरे राष्ट्र क्या करते हैं और नहीं तो संसार के सामने हम अपनी ओर से एक नवीन नैतिक आकर्षण रख सकेंगे। इससे हमारी राष्ट्रीय प्रगति में सहायता मिलेगी और सारे संसार में नवीन परिस्थिति व्याप्त होगी।

इस समय विलायत में मजदूर सरकार है। मिस्टर ऐंडरसन पर-राष्ट्रसचिव हैं। इसलिए युद्ध की संभावना भले ही न हो पर यही उपयुक्त समय है, जब निरस्त्रीकरण का प्रयोग कर 11 करोड़ पौंड के सालाना फौजी खर्च की बचत की जा सकती है।

आप कह सकते हैं कि लीग ऑफ नेशंस के आदेशानुसार आगामी युद्ध में विषाक्त गैस का प्रयोग नहीं किया जाएगा। लेकिन यदि ऐसी बात है तो क्या संसार के सभी राष्ट्र अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में ऐसी विषैली गैसों का आविष्कार इसलिए कर रहे हैं कि आगामी युद्ध में उसका व्यवहार नहीं किया जाएगा?

संसार का लोकमत निरस्त्रीकरण के पक्ष में है। असल में कमी है दूरदर्शी राजनीतिज्ञों की जिनमें इस बात का साहस हो कि वे संसार के लोकमत के अनुसार काम कर सकें। इसी कारण पिछली नवसेना कॉन्फ्रेंस में संतोषपूर्ण काम नहीं किया जा सका।

संसार के राष्ट्रों के सामने एक नवीन अवसर आ रहा है। यदि वे चाहें तो पिछली सभी त्रुटियों का प्रतिकार कर सकते हैं। वर्ष भर बाद संसार भर का निरस्त्रीकरण सम्मेलन होगा। वह इस संबंध की संपूर्ण समस्याओं पर विचार करेगा। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यदि किसी प्रकार वह सम्मेलन असफल हुआ तो हमारी सभ्यता का सर्वनाश हो जाएगा। जब तक दूसरा सम्मेलन बुलाया जाएगा तब तक हम युद्ध से घिरे रहेंगे।

लेकिन यदि आज की ही नीति बरती गई तो सम्मेलन अवश्य असफल होगा। आज की स्वार्थपरक कूटनीति से काम नहीं चल सकता। निरस्त्रीकरण इस तरीके से कदापि नहीं होगा। उसे गणित की समस्या समझकर हल करना व्यर्थ है। वह आत्मविश्वास का प्रश्न है। हमारी नैतिक शक्ति की परीक्षा है। हम अपने पड़ोसियों पर कितना विश्वास करते हैं इसकी जांच की जाएगी।

यदि ब्रिटेन की भांति एक प्रथम श्रेणी की फौजी शक्ति आज निरस्त्रीकरण को स्वीकार कर ले तो संसार की रक्षा हो सकती है। इसी की प्रतीक्षा संसार कर रहा है।

(सोमवार, 9 मार्च 1931)

संधि के बाद

महात्मा गांधी ने लार्ड इर्विन से मिलकर जो संधि की, कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने उसका समर्थन किया। कांग्रेस के सब बड़े-बड़े नेता अब जनता के सामने अपनी-अपनी दलील पेश करने में लगे हैं और यह समझा रहे हैं कि समझौता सम्मानपूर्ण हुआ है। जिस आंदोलन में देश समूह रूप में शामिल होता है उसके नेताओं की जिम्मेदारी बहुत बड़ी होती है। पिछले वर्ष भर में वह प्रवाह विशेष तीव्र हो गया है। अब उसे रोकने की आवश्यकता पड़ी है। प्रवाह का रोकना कठिन होता है। उसके लिए विशेष उद्योग करना पड़ता है। इसलिए हम यह देखते हैं कि इस समय प्रायः सभी राष्ट्रीय नेता और प्रायः सभी राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाएं जनता को यह समझा रही हैं कि कांग्रेस ने जिन शर्तों को स्वीकार कर संधि की है वे उचित हैं, उनसे कांग्रेस की नैतिक शक्ति विशेष दृढ़ होती है और संसार के सभी विचारवान व्यक्तियों और

राष्ट्रों को सहानुभूति मिलती है। महात्माजी ने तथा अन्य नेताओं ने संधि के संबंध की प्रायः सभी बात स्पष्ट कर दी हैं और हमें यह देखकर प्रसन्नता हो रही है कि देश में अधिकांश ने संधि के पक्ष में ही राय दी और आंदोलन के प्रवाह को रोकने का उपक्रम किया है। यदि अपवादस्वरूप कुछ उत्तेजनाशील युवक और जनता का कुछ अंश संधि से असंतुष्ट हैं तो यह आश्चर्य की बात नहीं बल्कि स्वाभाविक है। जो असंतुष्ट हैं, उनमें कुछ तो आंदोलन में भाग लेने वाले व्यक्ति होंगे पर अधिकांश में वे ही होंगे जो काम करने में पीछे रहते हैं और बातें करने में आगे रहते हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में इसका जिक्र किया था।

यदि हम यह समझ सकें कि आगे का काम कितना अधिक महत्व रखता है और उसके सामने संधि की घटना कितनी छोटी है तो बहुत-सा वाद-विवाद बंद हो सकता है और बहुत-सी शक्ति संयमित हो सकती है। कांग्रेस के नेताओं पर जो जिम्मेदारी देश की ओर से है उसे पूरा करने के लिए इस समय वे संधि संबंधी चर्चा में लगे हुए हैं पर सबसे बड़ी जिम्मेदारी अब आने वाली है। महात्माजी उस आने वाली जिम्मेदारी के लिए तैयारी करने लगे हैं। उन्होंने समाधान करने के आशय से देश को कह दिया है कि यदि देश ने गांधी-इर्विन समझौते को पसंद नहीं किया तो वह आगामी कराची कांग्रेस में अपनी यह राय घोषित कर देगा और कांग्रेस समझौता करने वाली वर्किंग कमेटी से अविश्वास प्रकट कर देगी। महात्माजी यह अंतिम बात कहने के बाद बड़ी ही तत्परता से आगामी समस्याओं को सुलझाने में लग गए हैं। उन्होंने देशी नरेशों और अंग्रेजों, हिंदू और मुसलमानों, स्त्रियों, पुरुषों सबको आमंत्रित किया है कि वे अपनी संपूर्ण शक्ति से राष्ट्र के आगामी महायज्ञ में भाग लें। आज से एक वर्ष पहले जो युद्धघोष था आज वह शांति की वीणावाणी बन गई है। महात्माजी का निर्लिप्त भाव इससे अधिक और किस प्रकार प्रकट हो सकता है? संघटित शक्ति की जो अंतर्धारा युद्ध काल में बहती थी वही शांति में भी बहती दीख पड़ती है। इसे जो नहीं समझते वे ही महात्माजी से असंतुष्ट हो सकते हैं। परंतु इस प्रकार के असंतोष की परवाह वे क्या करेंगे?

हम देखते हैं कि बंगाल के छात्र-वर्ग ने संधि से असंतोष प्रकट किया है और वहां के कुछ पत्रों ने भी वैसा ही भाव दिखाया है। उनकी प्रधान शिकायत यह है कि अब तक बंगाल के सैकड़ों राजबंदी जेलों में पड़े रहेंगे, जब तक उनकी रिहाई नहीं होगी, तब तक बंगाल को संतोष नहीं होगा। हिंसा का अभियोग लगाकर अथवा उसके संदेह पर पकड़े गए व्यक्तियों और षड्यंत्र के संबंध में चलने वाले मुकदमों के विषय में महात्माजी अपना वक्तव्य दे चुके हैं। वह विशेष स्पष्ट भी हैं। बंगाल के नेता श्री जे.एम. सेनगुप्त ने तो और भी स्पष्ट संकेत किए हैं। राष्ट्रपति जवाहरलाल ने तो अपने भाषण में खुले तौर पर कह दिया है कि यदि भगतसिंह और उनके साथी अब तक जीवित हैं तो उसके कारण महात्माजी हैं। महात्माजी ने हिंसावादियों से जो अपील की है उसमें उन्होंने कहा है कि यदि विश्वास से नहीं तो कम से कम नीति के विचार से ही उन्हें शांति का पथ ग्रहण करना चाहिए। महात्माजी की यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है क्योंकि वे नीति (Policy) पर कभी जोर नहीं देते। उन्होंने तो अपने अहिंसात्मक सत्याग्रहियों के लिए भी यह शर्त रखी थी कि वे नीति की दृष्टि से नहीं धर्म की

दृष्टि से अहिंसावादी हों। यद्यपि गांधीजी ने विश्वास नहीं दिलाया है पर स्थिति को चारों ओर से देखने पर यह प्रकट हुए बिना नहीं रह सकता कि सरकार और कांग्रेस ने इस समय मेल का जो हांथ बढ़ाया है वह यदि सफल हुआ तो शांति-स्थापना के लिए सरकार अधिक से अधिक आगे बढ़ेगी। महात्माजी ने पुलिस की जांच संबंधी अपनी शर्त उठा ली है। सरकार पर इसका प्रभाव पड़ेगा और स्वभावतः वह बदले में वैसी ही उदारता दिखाने को तैयार होगी। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि छोटे-छोटे विभेदों को मिटाकर सारा देश एकमत हो और गांधीजी द्वारा प्रस्तावित संधि का हृदय से स्वागत करे और समर्थन करे।

नवीन विधान की सीमा क्या होगी इस संबंध में कुछ मतभेद सुन पड़ता है। संधि की शर्त में जो शब्द आए हैं वे कुछ भ्रम पैदा करते हैं। विलायत के गोलमेज सम्मेलन ने कोई महत्वपूर्ण काम किया ही नहीं, इस धारणा के कारण भी बहुत-सा भ्रम फैलता है। महात्माजी ने यद्यपि गोलमेज के विधान को आधे स्वराज्य से भी कम बतलाया है पर उन्होंने तथा अन्य कांग्रेस नेताओं ने प्रायः एक स्वर से संघ-शासन (Fedeoration) की प्रणाली को ही व्यावहारिक बतलाया है। विलायत में यही प्रणाली मूल रूप में तय की गई थी और आगामी सम्मेलन में उसी का विकास होगा। संरक्षणों (Reservation) के संबंध में भी फिर से जांच होगी और अत्यंत अनिवार्य-संरक्षण भी अत्यंत सीमित समय तक के लिए रखे जाएंगे। इस संबंध में कांग्रेस के कुछ अग्रगामी नेता संकल्प-विकल्प में पड़े दीख पड़ते हैं। कुछ ने अपनी निराशा अभी से प्रकट करनी प्रारंभ कर दी है। परंतु महात्माजी तो पूरी आशा के साथ कार्य-तत्पर हो रहे हैं और उनका आदेश भी पूरी आशा और शक्ति के साथ काम करने का है।

जहां हम अपने देशवासियों से यह आशा रखते हैं कि वे एकमत होकर आगामी विधान बनाने में सहयोग करेंगे और व्यावहारिक दृष्टि से सब समस्याओं को सुलझाएंगे वहां हम विलायत से भी कुछ आशा रखते हैं। संधि तो दोनों दलों के अधिक से अधिक लाभ और कम से कम हानि के लिए की गई है। उसमें केवल भारत का ही हित नहीं है, ब्रिटेन का भी हित है। हमारे देशवासियों का तो यह मत है कि अधिक हित ब्रिटेन का ही है। यदि उसका हित न होता तो वह इतना शक्तिशाली होकर निरस्त्र देश से समझौता ही क्यों करता? प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड, भारत सचिव मिस्टर बेन और वाइसराय लार्ड इर्विन के प्रयत्न से सरकार ने मेल की जो नीति प्रतिष्ठित की है उसका लक्ष्य यही है कि भारत को उसके अधिकार मिलें और वह बराबरी के आधार पर ब्रिटेन से मैत्री स्थापित करे। इसमें व्यावसायिक तथा साम्राज्य संबंधी लाभ का ध्यान रखा गया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि जिस प्रकार देश की जनता महात्माजी का हाथ दृढ़ कर रही है उसी प्रकार विलायत की जनता सरकार के प्रतिनिधि लार्ड इर्विन का हाथ मजबूत करे। मजदूर सरकार ने जिस रास्ते पर चलना शुरू किया है, उस पर आगे बढ़कर मंजिल पूरी करनी चाहिए। इधर हाल में पार्लियामेंट के अनुदार दल ने कुछ अनोखी घोषणाएं की हैं जिनमें एक यह भी है कि वह दल भारत के आगामी गोलमेज सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि नहीं भेजेगा। हम अधिक न कहकर केवल इतना ही कहेंगे

कि यदि अब तक के किए काम को चौपट नहीं कर देना है और यदि भारत की राष्ट्रीय शक्ति और उसके असंतोष को समझकर नीति निर्धारित करनी है तो ब्रिटेन के किसी भी दल को इस प्रकार की अदूरदर्शिता नहीं करनी चाहिए। इस संबंध में ब्रिटेन को पिछले वर्ष भर की घटनाओं का विचार कर मजदूर सरकार की वर्तमान नीति का समर्थन करना चाहिए। अब यह बतलाने का समय नहीं रह गया कि भारत अपने अधिकार चाहता है और इतनी शक्ति का संचय कर चुका है कि वह अनुदार दल के मिस्टर चर्चिल जैसे व्यक्तियों की अवहेलना कर सकता है। वह तो इससे कहीं अधिक शक्ति का संचय कर चुका है और यदि वह अब ब्रिटेन से मेल करने को तैयार हुआ है और शांति के साथ अपने अधिकारों के संबंध में बातचीत करना चाहता है तो ब्रिटेन को नैतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से उचित है कि वह उदारता, दूरदर्शिता और विवेक के साथ, भारत के प्रतिनिधियों की बातें सुने और वर्तमान क्षणिक संधि को सच्ची और स्थायी शांति का रूप दे।

साहित्य-समीक्षा की दो धाराएं और उनका संगम—1

भारत के पिछले एक अंक में हमने पारिवारिक समीक्षा मंडलियों के उदय की सूचना दी थी। इसी प्रकार की एक समीक्षा-मंडली ने हाल में अपनी एक बैठक में जो बातें की थीं वे हमें बड़े ही महत्व की जान पड़ी हैं। कुछ अधिक विचार करने पर ज्ञात हुआ कि मंडली ने उस दिन की बातचीत में एक अत्यंत गंभीर अथवा गहन तत्व का उद्घाटन किया था। उस दिन ऐसा नहीं जान पड़ता था पर आज ऐसा जान पड़ता है। हम नाम लेकर आतंकित और भयभीत नहीं करना चाहते। और कर भी कैसे सकते हैं, शास्त्रों ने नामरूपात्मक जगत को पहले से ही मिथ्या ठहरा रखा है। फिर भी महात्मा तुलसीदास ने 'राम न सकहिं नाम गुण गाई' और 'कलियुग एके नाम अधारा' आदि का बहुत बड़ा प्रलोभन दे रखा है। ऐसी अवस्था में 'उभय भांति तेहि आवहू', के अनुसार हमें नाम लेने ही पड़ेंगे। डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठीजी का आयोजन था। पं. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निरालाजी', पं. सुमित्रानंदन पंतजी, प्रोफेसर रामकुमार वर्माजी, श्री गिरिधर पाठकजी और उनकी बहन श्री ललिता देवीजी आमंत्रित थीं। हम अतिथि थे। इस प्रकार एक सुंदर, सुहृद परिवार एकत्र हुआ था। त्रिपाठीजी के व्यक्तित्व के कारण पारिवारिक भावना का रंग अच्छा खिल रहा था। घर की-सी बातें हो रही थीं और सबका मन लग रहा था।

बात ही बात में कविता संबंधी एक बड़ी ही मार्मिक समस्या उठ खड़ी हुई। कहा गया कि कविता उसकी परिणति है। वह काव्य भावना (Poetic feeling) अत्यंत व्यक्तिगत होती है। वह भावना ही कवि का सर्वस्व है। उसके जीवन का संदेश, उसके अस्तित्व की सार्थकता उसी में है। अपने संस्कार, अपने विकास, अपनी प्रतिभा और अध्ययन की समष्टि, वह कवि, एक सत्ता रखता है जो शेष समस्त सत्ता से अलग है। कवि की वह व्यक्तिगत भावना जब

व्यक्त होकर रचनाओं का रूप धारण करती है तब रसज्ञ उसका आस्वाद करते हैं। व्यक्त होकर वह रचना विश्वामित्र की रचना की भांति अद्‌भुत नहीं होती, वह सामान्य सृष्टि के प्राणों की वाणी बन जाती है और विश्ववाणी से एकाकार हो जाती है। इस प्रकार कवि की व्यक्तिगत सत्ता विकसित होकर परम सत्ता बन जाती है। हाल में रवींद्रनाथ ठाकुर ने अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान आइंस्टीन से वार्तालाप करते हुए इसी प्रकार इसी मानव-विकास पर जोर दिया है।

यह एक पक्ष था। उस समय इस पक्ष में त्रिपाठीजी, पंतजी, वर्माजी, पाठकजी आदि थे और निरालाजी चुप थे। बातचीत शिथिल न पड़े, इसी आशय से हमने दूसरे पक्ष की बातें शुरू कीं। यदि वास्तव में काव्य भावना व्यक्तिगत है तो पाठक अथवा सामाजिक उसका रसास्वाद कैसे करते हैं? जीवन का संदेश और कवि का संदेश, ये सब तो यूरोप की बातें हैं। भारत ने कभी संदेशों पर जोर नहीं दिया। भारतीय काव्य समीक्षा का रस-संप्रदाय तो समष्टि की अनुभूतियों का लघुतम समापवर्तक (L.C.M.) है, व्यक्ति से तो उसका कुछ संबंध ही नहीं रहता। इस प्रकार बातचीत चलाने का उपक्रम किया गया।

उस समय ये दोनों पक्ष परस्पर विरोधी जान पड़े थे और इन पर थोड़ी-बहुत बहस भी चली थी। पर अब विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है कि ये काव्य-समीक्षा संबंधी दो धाराएं हैं जिनका संगम संभव है। हमें एक ऐसी ही घटना याद आती है। काशी विश्वविद्यालय की सनातन धर्म सभा का अधिवेशन था। सभापति थे आचार्य ध्रुव। भाषण देने के लिए बाबू भगवान दासजी आए हुए थे। आपने वर्णाश्रम धर्म पर भाषण दिया। *गीता* के 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः' का उद्धरण देकर जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि होने का आपने खंडन किया। 'वर्ण' शब्द की उत्पत्ति बतलाते हुए आपने कहा कि इसका अर्थ होता है वरण करना, चुनना आदि। यहां भी व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है और अधिकार दिया जाता है कि वह अपना वर्ण वरण कर ले, चुन ले। बाबू भगवान दास के इस 'आर्यसमाजी' भाषण से सनातन धर्म सभा वाले कुछ असंतुष्ट से दीख पड़े, परंतु आचार्य ध्रुवजी ने कहा, 'बाबू भगवान दास का बड़ा ही मार्मिक और गंभीर भाषण हुआ है। हम उनसे संपूर्णतः सहमत हैं। केवल एक शब्द हमें कहना है। 'वर्ण' की उत्पत्ति के साथ वर्णमाला का मेल मिलता है। वर्णमाला के अक्षरों से (प्रस्तर-पट) पत्थर का स्लेट भर जाता है उसी से बना है 'आवरण' शब्द जिसका अर्थ है भर देना, ढंक लेना (To Cover) इत्यादि। ढंक लेने में व्यक्ति प्रधान नहीं है, वस्तु प्रधान है। प्रधानता समष्टि (Cosmos) को मिलनी चाहिए।' तब बाबू भगवान दास ने कहा कि अंतिम कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय तो व्यक्ति ही करेगा। ध्रुवजी ने कहा, 'लेकिन निर्णय के लिए व्यक्ति को समष्टि-ज्ञान का अर्थात् श्रुति, स्मृति, शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए।'

जो भेद आर्यसमाज और सनातन धर्म की इन दो धाराओं में है, ठीक वही भेद साहित्य-समीक्षा की उपर्युक्त दो धाराओं में भी है। यह भेद बहुत बड़ा है अथवा बहुत छोटा यह कुछ कहा नहीं जा सकता। कभी-कभी तो यह बड़ा ही दीख पड़ता है क्योंकि इसकी बदौलत गाली-गलौज आदि की नौबत आ जाती है। परंतु भगवान दास और आचार्य ध्रुव जैसे व्यक्तियों का आश्रय पाकर तो वह विभेद बहुत कम हो जाता है। ध्रुवजी ने कहा ही था कि हम बाबू भगवान दास

से सहमत हैं, केवल एक शब्द आगे कहना है। हम चाहें तो और बड़े लोगों के उदाहरण भी ले सकते हैं। यदि अपने देश से ही चुनना हो तो कवि रवींद्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी को चुना जा सकता है। कवि का कहना है कि जीव ही, मनुष्य ही विकसित होकर 'परम' बनता है। मनुष्य के भीतर से ही अनंत शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। परंतु अभी उस दिन देहली की एक सभा में भाषण करते हुए महात्माजी ने कहा था—'यह जो महान कार्य आपके सामने आया हुआ है—संधि, शांति और मुक्ति का कार्य—यह अकेले एक आदमी के बूते नहीं हो सकेगा। भगवान ने मनुष्य को इतना महान नहीं बनाया, नहीं तो शायद वह अहंभाव में ही फंस जाता।' उस युग में व्यक्ति के भीतर से 'परम' का विकास करने वाले सबसे महान पुरुष महात्माजी ही हैं, और उनकी यह उक्ति है। वे रवि बाबू की भांति 'विकास' का आग्रह नहीं करते, समष्टि में विलीन-तन्मय हो जाने की चेष्टा करते हैं।

तो क्या रवि बाबू और महात्माजी में पश्चिम और पूर्व का, यूरोप और भारत का, विभेद है? हम तो ऐसा नहीं कह सकते। रस्किन और कार्लाइल जैसे यूरोपीय साहित्यकार भी बहुत कुछ महात्माजी की ही तरह की बातें कहते हैं। जगतविख्यात वैज्ञानिक गैलीलियो ने अपना महान अनुसंधान कर चुकने के बाद यह कहा था कि अभी तो मैं ज्ञान के महासागर के तट पर आकर खड़ा हूं। अगाध समुद्र आगे फैला है, कहीं एक कण मिल जाए तो उसे ही मनुष्य की जन्मजन्मांतर की कमाई समझनी चाहिए। प्राचीन न्यूटन और आधुनिक लाज जैसे श्रेष्ठ वैज्ञानिक भी इन्हीं बातों को अपने ढंग से दुहराते हैं। हमारे जगदीशचंद्र बोस भी यही कहते हैं। लेकिन रविबाबू की बात भी अन्यथा कैसे कही जा सकती है? उनका 'विकास' भी वेदांत-सम्मत होने के कारण शास्त्रीय है। यह भले ही संभव हो कि सामान्य भारतीय प्रवृत्ति महात्माजी के अनुकूल हो। निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

फिर भी व्यक्तिगत रुचि और व्यावहारिक लाभ-हानि का विचार रखकर हम महात्माजी की ओर, आचार्य ध्रुव की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। साहित्य-समीक्षा में भी डॉक्टर त्रिपाठी, पंतजी, वर्माजी आदि की धारा में हमें विशेष रुचि नहीं। कुछ उद्धरण और कुछ प्रमाण हम आगामी अंक में देंगे।

(शुक्रवार, 13 मार्च 1931)

विलायत की राय

लार्ड इर्विन ने सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से जो संधि महात्मा गांधी और राष्ट्रीय कांग्रेस से की, उसके संबंध में विलायत की राय जाननी बाकी ही रह गई थी। बात यह है कि सम्राट की वर्तमान मजदूर सरकार पार्लियामेंट की संपूर्ण शक्ति को देखते हुए निर्बल है, अर्थात् अल्प संख्या में है। भारतीय समस्या पर मजदूर सरकार की एक उदार नीति है परंतु उसकी निर्बलता के कारण वह निश्चित नीति नहीं है। अन्य प्रश्नों को लेकर तो मजदूर सरकार विरोधी शक्तियों

से लड़ती रही है और अब तक विजय ही पाती रही है पर उस विजय से उसका साहस नहीं बढ़ा है और भारतीय प्रश्न पर वह परमुखापेक्षी ही बनी हुई है। वह चाहती है कि जो कुछ निर्णय हो यथासंभव तीनों दलों का, विशेषकर अनुदार दल का, सम्मिलित निर्णय हो। यही कारण है कि भारत के संबंध में वह खुले दिल से निर्णय नहीं कर सकती। यही कारण है कि उसकी भारत संबंधी नीति में बराबर एक प्रकार की उदारता और अनुदारता का विस्मयजनक मेल रहता है और यही कारण है कि हमें सम्राट के भारतीय प्रतिनिधि लार्ड इर्विन द्वारा की गई संधि पर विलायत की सम्मति का पता लगाना पड़ता है। इस समय हमें स्पष्ट और खरी बातों की जितनी आवश्यकता है, उतनी इसके पहले शायद कभी नहीं थी। इसलिए यदि हमें उस प्रकार की कुछ सामग्री मिल सके तो हम उसका स्वागत करेंगे।

हम यह नहीं कहते कि मजदूर सरकार की मेल-बुद्धि अच्छी नहीं अथवा उसमें विवेक नहीं। यह तो हमारी कामना है कि विलायत के सभी दल और भारत के सभी दल एक साथ मिलें और सहयोग के साथ आगामी जटिल समस्या को सुलझाएं। वास्तव में गांधी-इर्विन संधि भी इसी उद्देश्य से की गई है। इस संधि के परिणाम स्वरूप हमारे देश में एक अद्‌भुत प्रकार का परिवर्तन हो गया है, जिसकी व्याख्या पं. जवाहरलाल नेहरू ने यह कहकर की कि हमारी आंखों में आंसू आ गए। भारत में जो देशव्यापी सामूहिक आंदोलन चल रहा था, वह शाम तक चलता-चलता दूसरे दिन प्रातःकाल ही रुक गया। यह बड़ा विस्मयजनक दृश्य था जिसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। दूसरे दिन से ही देखा गया कि जो कांग्रेस नेता लगान-बंदी और बहिष्कार का प्रचार कर रहे थे, वे सहयोग की पुकार करने लगे। महात्मा गांधी ने उसी दिन विज्ञप्ति निकालकर आंदोलन में भाग लेने वाले स्त्री-पुरुषों को तथा भाग न लेने वाले देशी नरेशों और अंग्रेजों तक को आमंत्रित किया कि वे अपनी संपूर्ण शक्ति से आगामी कार्य में सम्मिलित हों। कांग्रेस के सभी बड़े नेताओं ने एकमत होकर एक स्वर से देश भर को सहयोग का नवीन संदेश सुनाया जिसे सुनकर कुछ उग्र दल वाले असंतुष्ट भी हुए। पर यह कांग्रेस के नेताओं के लिए गौरव की बात है कि उन्होंने व्यक्तिगत विरोध को भुलाकर और उद्वेगशील जनता के, विशेषकर नवयुवकों के, असंतोष और उससे होने वाले अपने मानापमान की चिंता न कर जी-जान से गांधी-इर्विन समझौते के अनुरूप काम किया। इस प्रकार के सात्विक और मनोयोगपूर्ण कार्य का परिणाम अच्छा ही होता है और वह अच्छा हुआ भी। कांग्रेस के नेताओं की ही भांति भारत सरकार भी संधि की शर्तों के पालन करने के लिए अग्रसर हुई है और आशा की जाती है कि भारत की जनता और वर्तमान भारतीय सरकार के बीच शीघ्र ही सद्‌भाव की प्रतिष्ठा हो जाएगी।

इस भारतव्यापी सद्‌भाव को यदि विलायत वालों ने जाना और यदि इसका मूल्य उन्होंने समझा तो यह उनके ही हित की बात होगी। हमारी यह इच्छा थी कि जिस प्रकार भारत में, उसी प्रकार विलायत में भी सब दल एक होकर नवीन विधान को अधिक से अधिक सफल बनाने की चेष्टा करते। परंतु इधर कुछ दिनों से विलायत के अनुदार दल के संबंध में जो रहस्यमयी बातें सुन पड़ती थीं उनसे हमें संदेह हो रहा था। अनुदार दल के नेता मिस्टर

बाल्डविन ने यह सूचना दी है कि वे आगामी गोलमेज में, जो भारत में होने वाला है, अपने दल के प्रतिनिधि नहीं भेजेंगे। महात्मा गांधी ने इस सूचना का स्वागत किया है क्योंकि वे खरी बातें विशेष पसंद करते हैं और विरोधी शक्ति का हिसाब रखना चाहते हैं। संतोष की बात है कि मिस्टर बाल्डविन ने पार्लियामेंट के पिछले महत्वपूर्ण भाषण में लार्ड इर्विन की नवीन संधि योजना की बड़ी प्रशंसा की है, गोलमेज की कार्रवाई का कोई विरोध नहीं प्रकट किया है और मिस्टर चर्चिल जैसे व्यक्तियों को फटकार बतलाई है। केवल कार्यक्रम संबंधी कुछ मतभेद होने के कारण आगामी भारत में होने वाली कार्रवाई में शरीक नहीं होना चाहते थे। उनके प्रबल भारतीय समर्थक स्क्रटेटर साहब बंबई के *इंडियन डेली मेल* पत्र में लिखते हैं कि मिस्टर बाल्डविन यदि आगामी गोलमेज में सम्मिलित नहीं होना चाहते तो इसमें घबराने की कोई बात नहीं। आपका कहना है कि मिस्टर बाल्डविन शायद इसलिए नहीं शरीक हो रहे कि वे जानते हैं कि मजदूर दल और उदार दल मिलकर जो कुछ निर्णय करेंगे, अनुदार दल को अंततोगत्वा उसे मानना ही पड़ेगा। इस कारण उन्होंने अपने दल को शरीक करना एक प्रकार से व्यर्थ का विषय खड़ा करना समझा। यदि ऐसी बात हो तो इससे बढ़कर अच्छा और क्या हो सकता है? यदि ऐसा नहीं हो तब मजदूर दल को अपनी भविष्य नीति पर फिर से विचार करना होगा।

भारत सचिव मिस्टर बेजल्ड बेन के पार्लियामेंट के भाषण में दो-तीन स्थलों पर इस प्रकार के प्रसंग आए हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि मजदूर सरकार ने भारतीय असंतोष के कम होने के शुभ फलों को अच्छी तरह समझा है। अभी संधि हुए बहुत थोड़ा समय बीता है पर अभी से विलायत की व्यापारिक स्थिति पर उसका आशाजनक प्रभाव पड़ा है। मिस्टर बेन ने इस बात की सूचना दी है कि इतने थोड़े समय में ही व्यापारिक मंडल आगामी आशा से प्रसन्न हो रहा है। यह तो सरकारी सूचना है। पर यदि गैर-सरकारी सूचनाओं का हवाला दिया जाए और समाचारपत्रों की टिप्पणियों का जिक्र किया जाए तो यह निश्चयपूर्वक समझ पड़ेगा कि गांधी-इर्विन संधि का अर्थ एक बड़े अंश में विलायती व्यापार का उद्धार भी है। यह प्रसन्नता की बात है कि भारत सचिव का ध्यान इस अत्यंत व्यावहारिक और महत्वपूर्ण प्रश्न पर गया है, साथ ही, उन्होंने विदेशों के लोकमत पर भी विचार किया है। उनका कहना है कि संसार के सभी देश गांधी-इर्विन समझौते की ब्रिटिश नीति से प्रसन्न हुए हैं। अमेरिका में तो उसका बड़े ही धूमधाम से स्वागत किया गया है। आशा है, मजदूर सरकार इस बात की चेष्टा करेगी कि गांधी-इर्विन समझौते से होने वाला विलायत और विदेशों का यह सुख, संतोष और प्रसन्नता चिरदिन तक बनी रहे।

मिस्टर बेजल्ड बेन ने अपने भाषण में एक स्थान पर ऐसा आभास दिया है कि आगामी गोलमेज में बहुत अंश में पुरानी बातें ही दोहराई जाएंगी और संरक्षणों में कोई हेर-फेर नहीं होगा। उनके पहले मिस्टर बाल्डविन ने भी इस बात की सिफारिश की थी कि मजदूर सरकार कोई बहुत बड़ा परिवर्तन स्वीकार न करे। जान पड़ता है, मिस्टर बेन ने अपने विपक्षी नेता को प्रसन्न रखने के लिए ही ऐसा कह दिया है क्योंकि प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने पहले

भी कहा था और अब भी कहा है कि हिंदुस्तान में जो महान परिवर्तन हुए हैं उन्हें देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि अब तक जो कुछ कह दिया, वह कह दिया। वही अंतिम कथन नहीं हो सकता। हमें विकास क्रम के अनुसार आगे बढ़ना ही होगा। तभी हम क्रांति की अवस्था से बच सकेंगे। प्रधानमंत्री का यह कथन आशाजनक और समयोचित है और मजदूर सरकार की तथा उसके अध्यक्ष की इस नीति की सर्वत्र प्रशंसा की जाएगी। इसी नीति से भारत की समस्या हल होगी। यदि विलायत की जनता अपना हित समझती है और यदि वह एक महान प्रश्न को विवेक के साथ हल करना चाहती है तो वह अवश्य ही मजदूर सरकार का हाथ मजबूत करेगी और उसे विपक्षियों से भयभीत न होकर साहस के साथ आगे बढ़ने की शक्ति देगी।

साहित्य-समीक्षा की दो धाराएं और उनका संगम—2

हम सिद्धांतों को लेकर बहस करना नहीं चाहते। सिद्धांत तो सब सत्य सिद्ध कर दिए जाते हैं। कहा जाता है कि सब रास्ते एक ही में मिलते हैं। दुनिया के इतिहास में देखा भी यही जाता है कि एक विशेष सिद्धांत के मानने वाले जितने बड़े महापुरुष हुए हैं ठीक उसके विपरीत सिद्धांत को मानने वाले भी ठीक उतने ही बड़े महापुरुष करार दिए गए हैं। बड़े-बड़े आस्तिक हुए हैं। बड़े-बड़े नास्तिक हुए हैं। तर्क से ही यदि पार लगता तो दुनिया अब तक पार लग गई होती। जिस विवाद में एक ओर डॉक्टर भगवान दास और महाकवि रवींद्रनाथ हों और दूसरी ओर आचार्य ध्रुव और महात्मा गांधी हों, थोड़ी-सी श्रद्धा के साथ देखने से जान पड़ेगा कि उस विवाद के दोनों पक्ष एक-से प्रबल हैं, अथवा दोनों एक ही हैं। केवल दृष्टि भेद है। इसलिए विवाद हम नहीं करेंगे। पं. सुमित्रानंदन पंतजी साहित्य-समीक्षा में जिस पक्ष की तुला पर बैठे हैं, उसी पक्ष में रवि बाबू भी हैं। डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठीजी अपनी गंभीर ऐतिहासिक विश्लेषण प्रणाली साहित्य में भी चरितार्थ कर बड़ी उदारता के साथ प्रत्येक गुदड़ी में लाल का अन्वेषण करते हैं। यह तो *गीता* के ऊंचे सिद्धांत से सम्मत है। इस अतिमानवीय धरातल पर कोई बहस नहीं हो सकती। हमें देखना यह है कि उन सिद्धांतों का व्यावहारिक रूप क्या है, हम लोगों के और हमारे पुरखों के हाथों में पड़कर वे कहां तक बने-बिगड़े हैं और कहां तक बन-बिगड़ सकते हैं। यहां तो हम बड़े मजे में कह सकते हैं कि हमारी राय त्रिपाठीजी, पंतजी अथवा वर्माजी से नहीं मिलती। पूरी-पूरी नहीं मिलती। यह बात नहीं है, थोड़ी-थोड़ी नहीं मिलती। रवींद्रनाथ के अंग्रेज समीक्षक डॉक्टर टामसन ने अपनी समीक्षा-पुस्तक के अंत में इस बात की जांच की है कि विश्व साहित्य में रवि बाबू का क्या स्थान है। उसी प्रसंग में वह बहुत संक्षेप में यह बतलाता है कि शब्द-सौंदर्य की ओर विशेष आकर्षित रहने और कुछ अज्ञेय प्रकार की कविता करने के कारण उन्हें संसार के साहित्य में वह स्थान नहीं मिल सकता जो होमर, दांते अथवा शेक्सपीयर को प्राप्त है। हां, उन्हें छोड़कर यूरोप का कोई कवि,

वड्र्सवर्थ और विक्टर ह्यूगो भी, रवींद्रनाथ की बराबरी नहीं कर सकते। रवि बाबू के भारतीय समीक्षक द्विजेंद्रलाल राय ने विशेष कड़े शब्दों में, 'तूने मुझे असीम बनाया है' आदि गीतों की आलोचना की है और हिंदी के आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी वैसी ही सम्मति प्रकट की है। प्रयाग विश्वविद्यालय की मैगजीन में किन्हीं आई.डी. सिंह महाशय ने, स्मरण पड़ता है, आधुनिक हिंदी कविता पर लिखते हुए पंतजी प्रभृति कवियों की विद्युतवत क्षणिक भावनाओं की शिकायत की थी।

हम इनका जवाब दे सकते हैं पर जवाब देने की अपेक्षा सत्य का अनुसंधान करना अधिक अच्छा है। विद्युतवत क्षणिक भावनाएं तो गीतकाव्य की, कम से कम यूरोपीय (Lyrics) की, अनिवार्य विशेषता बन गई हैं। कुछ थोड़े से कवियों को छोड़कर शेष सबमें ये ही चंचल भावनाएं जीवन की एक निश्चित धारा (A Sound Philosophy) बनाने में बाधक हुई हैं। व्यक्तिवाद के हिमायती साहित्यकार और कवि नवीन संदेश देने के फेर में पड़कर सारवान कुछ भी नहीं देते। आजकल दुनिया में यह शोर मचा हुआ है कि यह गीतकविता (Lyrics) का जमाना है। कहा जाता है कि महाकाव्य पढ़ने की फुर्सत किसे है? परंतु यदि सच पूछा जाए तो यह भी आधुनिक युग की एक अतिगंभीर अथवा व्यक्तव्य मुख्य मनोवृत्ति का ही परिचय है क्योंकि हम समझते हैं कि संसार की वर्तमान सभ्यता का पथनिर्देश करने के लिए एक महाकाव्य की जितनी आवश्यकता और जितना उपयुक्त समय आज है, शायद उतना कभी नहीं था। *रामायण* और *महाभारत* का नवीन संस्करण हमारे वर्तमान युग के लिए अत्यंत अनिवार्य रीति से आवश्यक हो गया है, सामग्री चारों ओर बिखरी पड़ी हैं, पर कुछ अन्य कठिनाइयों के साथ। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि हमें अपना संदेश भी तो सुनाना है।

पहले लीरिक (गीत काव्य) का चाहे जैसा अर्थ हो आज हिंदी में उसका अर्थ हो रहा है 'मैं'। आज हमारी कविता में 'मैं' की भरमार देखिए, तबीयत भर जाएगी। 'तुमने मुझे असीम बना दिया है' के साथ रवि बाबू यह भी कहते हैं, 'अपने चरणतल में मेरा मस्तक नत कर दो' फिर भी द्विजेंद्रलाल उन पर आक्षेप करते हैं, पर हिंदी में तो उच्छृंखल व्यक्तिवाद का ही खूब दौर-दौरा है।

पंतजी का-सा आशामय और सुंदर विकास हिंदी के इस नवीन युग में शायद ही किसी अन्य कवि का हुआ हो। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उनकी कविता में उद्वेगपूर्ण व्यक्तिवाद का कहीं पता नहीं मिलता और उनकी काव्यधारा बड़े ही संयम से बहती है। यह उनके लिए विशेष गौरव की बात है कि उनके श्रेष्ठ गीतों में उनका बड़ा ही निर्मल एवं प्रसन्न व्यक्तित्व झलकता है और वह झलक अंतर्मुखी है। यह उनके सुचारु विकास का ही परिचय है कि वे भावना प्रधान लीरिक कविताओं में भी वर्णनात्मक काव्यों के ढंग की वस्तु प्रधानता (Objectivity) व्यंजित करते हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद का एक कथानक काव्य *हंस* के पिछले विशेषांक में निकला है, उसी अंक में पंतजी का एक गीत भी है। जहां विषयसाम्य है वहां एक उद्धरण देकर हम यह दिखाना चाहते हैं कि पंतजी गीत कविता में अपने युग की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को कितनी शक्ति के साथ रोकते हैं—

जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है,
विश्व भर से मैं जिसे छाती
में छिपायी रही?
कितनी मधुर भीख मांगते हैं
सब ही :—
अपना दल अंचल पसार
कर बनराजी
मांगती है जीवन का
बिंदु बिंदु ओस-सा।
क्रंदन करता-सा जलनिधि भी
मांगता है नित्य मानो
जरठ भिखारी-सा
जीवन की धारा मीठी
मीठी सरिताओं से।
व्याकुल हो विश्व
अंध तम से
भोर में ही मांगता है
जीवन की स्वर्णमयी
किरणें प्रभाभरी।

—प्रसाद

जग के उर्वर आंगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन।
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय नितनूतन
बरसो कुसुमों में मधु बन
प्राणों में अमर प्रणयघन,
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में
उर अंगों में सुख यौवन!
छू छू जग के मृत रज-कण
कर दो तृण-तरु में चेतन,
मृन्मरण बांध दो जग का
दो प्राणों का आलिंगन!

बरसो सुख बन सुषमा बन
बरसो जग-जीवन के घन!
दिशा दिशा में ओ, पल पल में
बरसो संसृति के सावन!

—पंत

पंतजी की इस गीत-रचना में 'प्रसादजी' के कथानक काव्य की संयमित अभिव्यक्ति बड़ी ही प्रशंसनीय हुई है।

परंतु हाल की उनकी दो-एक रचनाओं में जान पड़ता है उनकी समीक्षा-नीति (Theory) का कुछ बुरा असर भी पड़ा है। शायद वे दोनों कविताएं *विशाल भारत* में छपी हैं। एक तो 'विहग के प्रति' है जिसकी दो-एक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

विजय बन के ओ विहग कुमार,
आज घर घर में तेरे गान।

* * *

विजय बन के ओ राजकुमार!

* * *

छा दिए तूने शिल्पि सुजात
जगत की डाल डाल में बास

इन अपवादों का उल्लेख पंतजी की कविता को नहीं, उनकी समीक्षा-नीति को संभावित विपथगति प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। गीत काव्य में इसकी आशंका अधिक रहती है। महाकवि रवींद्रनाथ इसके चक्कर में पड़े हैं इसलिए पंतजी भी पड़ सकते हैं।

(सोमवार, 16 मार्च 1931)

समस्याएं

गांधी-इर्विन संधि के बाद एक ओर विलायत में और दूसरी ओर भारत में दो समस्याएं आई हुई हैं। विलायत में अनुदार दल की समस्या है और भारत में किसी दल की समस्या नहीं है केवल हुल्लड़ मचाने वालों की समस्या है। जब मिस्टर बाल्डविन के हस्ताक्षर से यह सूचना निकली थी कि उनका दल भारत में होने वाले आगामी सम्मेलन में भाग नहीं लेगा तब एक प्रकार की आशंका का फैलना अवश्यंभावी था। मिस्टर बाल्डविन के हाल के महत्वपूर्ण भाषण के बाद अब यह तय हुआ है कि सम्मेलन भारत में न होकर विलायत में होगा और सभी दल

के प्रतिनिधि उसमें शरीक होंगे। प्रधानमंत्री ने आशा की है कि महात्मा गांधीजी सम्मेलन में भाग लेंगे। फिर भी अनुदार दल के कुछ अत्यंत संकीर्ण बुद्धि, रूढ़िवादी लार्ड राथरमियर जैसे व्यक्तियों को संतोष नहीं हुआ है और वे अपने नेता बाल्डविन के प्रति अविश्वास प्रकट करने की धुन में हैं। मिस्टर बाल्डविन अपने इन रूढ़िपंथी और जड़ अनुयायियों की कुछ भी परवाह नहीं करते और उनकी धृष्टता पर विचार तक नहीं करना चाहते। फिर भी इन रूढ़िवादियों ने एक नई समस्या की सृष्टि अवश्य की है। जिस प्रकार विलायत में यह अतिजड़ दल है उसी प्रकार भारत में एक अतिक्रांतिकारी बनने वाला समूह भी है जो गांधीजी से अप्रसन्न होकर उन्हें खरी-खोटी सुनाने का दुस्साहस करता है। अभी उस दिन बंबई की एक सभा में मजदूरों के एक दल ने राष्ट्रीय तिरंगे झंडे को उखाड़ फेंका, क्रांति का लाल झंडा फहराया और 'गांधी को दूर करो' की आवाज कसी। जहां देश की असंख्य जनता ने संधि के बाद संतोष की सांस ली है और महात्माजी की सहस्र मुख स्तुति की है वहां मुट्ठीभर क्रांतिवादियों की गिनती क्या है? हम जिस दृष्टि से राथरमियर और चर्चिल जैसे व्यक्तियों को देखते हैं उसी दृष्टि से इन्हें भी। दोनों ही समाज के असाध्य रोग हैं, जिनकी कोई दवा ही नहीं।

ये दो समस्याएं तो यों ही हल हो जाती हैं। असल में वे कोई समस्याएं नहीं हैं, समस्याओं के अपवाद हैं। असली समस्याएं तो वे हैं जो सारे देश से संबंध रखती हैं और जिन पर हमारा संपूर्ण भविष्य अवलंबित है। निश्चय ही वे समस्याएं हिंदू-मुस्लिम एकता और देशी राज्यों से संबंध रखती हैं। पिछले गोलमेज के कट्टर मजहबी प्रतिनिधियों ने, विशेषकर मुसलमानों ने अपना जो रूप संसार को दिखाया वह बड़ा ही लज्जाजनक था। थोड़े-थोड़े वोटों और थोड़े-थोड़े अधिकारों के लिए मरने वाले प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय हित की प्रवंचना की और विश्वासघात किया था। इसमें किसी व्यक्ति का दोष नहीं है। यह तो वर्तमान विकृत जीवन का ही परिणाम है कि हमारी बुद्धि संकीर्ण हो गई और हम उदार बुद्धि के साथ विचार करने के योग्य ही नहीं रह गए। परंतु अब हमें सचेत होकर अपने को पहचानना होगा और अपने गौरवपूर्ण अतीत की गाथाएं स्मरण करनी होंगी। हिंदू और मुसलमान दोनों ही जातियां महान हैं और गंगा-यमुना की भांति दोनों की जीवन-धाराएं एक-दूसरे से मिली हुई हैं। यदि एक ने अपनी चिरसंचित आत्मशक्ति की अमिट छाप डाली तो दूसरी ने अपनी शक्तिमत्ता के बल पर दूसरे पर शारीरिक आधिपत्य जमाया था। एक का मानसिक और दूसरे का शारीरिक आधिपत्य रहा। मध्यकाल की कलाओं में दोनों की एकता दीख पड़ी। तत्कालीन साहित्य में दोनों ने जो मणिकांचन योग दिया उसकी आभा आज भी हमें चमत्कृत करती है। उस काल की शासन-व्यवस्था में भी दोनों का एक-सा हाथ रहा। उसी समय के धार्मिक आंदोलन में दोनों एक घेरे में आने लगे। दोनों ने भेदभाव भूलकर राम-रहीम की एकता समझी और स्वीकार की। भक्ति के पावन स्रोत में मग्न होने के लिए दोनों ही जातियां एक-दूसरे की होड़-सी कर रही थीं। नानक और कबीर, दादू और रैदास, जायसी, तुलसी आदि दोनों को ही मान्य हुए। फतेहपुर सीकरी की इमारतें, रहीम, रसखान आदि कवि तानसेन, हरिदास आदि गायक उस काल की हिंदू-मुस्लिम एकता के मर्मस्पर्शी स्मृति चिह्न हैं।

इस समय उन्हीं स्मृतियों को जगाने की आवश्यकता है। हमारे देहातों में तो वे आज भी जाग रही हैं। हिंदुओं के पूजापाठ, पुरोहित, ज्योतिषी अनेक रीति-नीति सब मुसलमानों ने अपनाई हैं और यह सम्मेलन धारा निरंतर बढ़ती ही जाती है। हिंदुओं की पोशाक में, बातचीत में, देवी-देवतों में मुसलमानों का प्रभाव पड़ा है। और वह हिंदू जीवन का एक अंग सा हो गया है। इस समय राष्ट्रीय दृष्टि से भी दोनों एक ही प्रकार की हालत से गुजर रहे हैं। इसीलिए पिछले असहयोग आंदोलन में हिंदू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर एक लक्ष्य की ओर एक रास्ते से बढ़े थे। समूह के समूह गले मिलते थे, हाथ जोड़ते थे और बंदे कहते थे। हमने भारतमाता के वे चित्र देखे हैं जिनमें दोनों ही जातियों के वीर कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि के रूपों में चित्रित किए गए हैं। अभी कल के सत्याग्रह आंदोलन में बंबई के हिंदू-मुसलमानों ने मिलकर जिस शक्ति के साथ राष्ट्रीय कार्य किया, एक साथ लाठियां खाईं, एक साथ अस्पताल में रहे. एक-दूसरे की सेवा-शुश्रूषा की, एक साथ खाया-पिया उसका उल्लेख प्रसिद्ध अंग्रेज यात्री मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड ने किया है। हमको इसके लिए किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है।

यदि हजारों वर्षों से एक साथ, एक देश में, एक विचारधारा और भावधारा के संगम में रहकर हमने एक-दूसरे को नहीं पहचाना तो हमारे मनुष्य होने में संदेह है। हम जिस ज्ञान की संपत्ति का गर्व करते हैं जिस विश्वबंधुत्व के आदर्श के लिए हमारी ख्याति है क्या हम उसे तिलांजलि दे देंगे? किसी देश की सभ्यता और संस्कारों का क्या मतलब है यदि उस देश के निवासियों के जीवन में उसकी ज्योति न दीख पड़ी। हमें एक साथ मिलकर रहना है—सौ वर्ष नहीं, हजार वर्ष नहीं, अनंत वर्ष। हम झगड़ा करने के लिए नहीं पैदा हुए। हमारे जीवन का लक्ष्य इतना नीच नहीं हो सकता। हम आशा करते हैं कि महात्मा गांधी और कांग्रेस के प्रयत्न से यह समस्या अवश्य हल होगी और पिछले गोलमेज में जो विकारयुक्त राष्ट्रीयता दीख पड़ी थी वह परिमार्जित होकर शुद्ध राष्ट्रीयता बनेगी। कांग्रेस की ओर से अधिक संख्या में उदार मुसलमान प्रतिनिधि चुने जाएं तो आगामी गोलमेज सम्मेलन जातीय विद्वेष का रंगमंच न बनकर राष्ट्रीय एकता की साम्य-भूमि बनेगा। जटिल व्यावहारिक समस्याओं पर विचार करने के पहले व्यापक और उदार भावों को हृदयंगम करना ही सफलता की कुंजी होगी।

हिंदू-मुस्लिम एकता के अतिरिक्त दूसरी समस्या देशी राज्यों की है। देशी राज्यों में भी कई करोड़ भारतीय प्रजा रहती है और उसका सुख-दुःख भी भारत का ही सुख-दुःख है। उसे छोड़ना उचित नहीं होगा। महात्मा गांधी ने इस बात का ध्यान रखकर देशी नरेशों से आग्रह किया है कि वे आगामी सम्मेलन में अपनी प्रजा के सच्चे प्रतिनिधि बनकर उपस्थित हों। लार्ड इर्विन ने अभी उस दिन देशी नरेशों की परिषद् (चेंबर ऑफ प्रिंसेस) में बड़ा ही महत्वपूर्ण भाषण दिया है जिसमें उन्होंने यह आशा प्रकट की है कि देशी नृपति पहले अपने को भारतीय समझेंगे, पीछे और कुछ और इसी भाव से आगामी सम्मेलन में भाग लेंगे। देश को छोटे-छोटे खंडों में न देखकर एक विशाल महादेश के रूप में देखने से ही संकीर्णता दूर होगी और विवेक और न्यायबुद्धि से विचार किया जा सकेगा। वाइसराय ने पिछले गोलमेज में दिए गए देशी

नरेशों के प्रतिनिधियों के भाषणों की प्रशंसा की और कहा कि नवीन युग के नवीन प्रवाह को देखते हुए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि लोकमत का अधिकाधिक आदर किया जाए। यदि आगामी विधान में संघ शासन स्वीकार किया गया तो यह अवश्यंभावी है कि राष्ट्रीयता की लहर जोर पकड़ेगी और देशी-राज्यों पर उसका प्रभाव पड़ेगा। आजकल के अनेक युग-धर्म से अपरिचित राजों को वाइसराय की इस शिक्षा से लाभ उठाना होगा। वे अपने पुराने अधिकारी का स्वप्न देखना छोड़कर उठ बैठें और जाग्रत राष्ट्र की उषा-रश्मि के दर्शन करें तो बड़ा अच्छा हो। आज नहीं तो कल सचेत होना ही पड़ेगा। पूज्य मालवीयजी यह विश्वास लेकर देहली गए हुए हैं कि हिंदू-मुस्लिम प्रश्न अवश्य हल होगा। और देशी नरेशों की समस्या भी सुलझेगी। वे अपनी शक्ति भर इन दोनों के लिए उद्योग करेंगे। हमें पूरा विश्वास है कि महात्मा गांधी और पूज्य मालवीयजी की अनेक वर्षों की तपस्या सफल होगी और उनकी निर्मल दृष्टि देश की उलझी समस्याओं को सुलझाने में सफल होगी।

साहित्य-समीक्षा की दो धाराएं और उनका संगम—3

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने एक विस्तृत निबंध में 'कालिदास की निरंकुशता' दिखाई है, और संस्कृत के अनेक कवियों में समधिक मात्रा में वह मिलती भी है पर इस कारण वह कोई पवित्र परंपरा नहीं कही जा सकती। हमारे आदि कवि उस अर्थ में उतने निरंकुश नहीं थे जिस अर्थ में कालिदास थे। महाकवि वाल्मीकि के वेगवान अनुष्टुप प्रवाह में जो स्वच्छंदता है उसे निरंकुशता नहीं कहा जा सकता। हमारे कवि हरिश्चंद्रजी अपने विषय में कहीं-कहीं प्रशंसा करते हैं। महात्मा तुलसीदास के गीतों में उनका नाम आया है पर वह नाम उस प्रकार नहीं आया जिस प्रकार आजकल के कवियों का 'मैं' आता है। साहित्य में भी सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की धाराएं अलग-अलग दीख पड़ती हैं। अंग्रेजी में जो (Poetic license) निरंकुशता मिली हुई है, वह भाषा संबंधिनी भी है और भाव संबंधिनी भी। भाषा संबंधिनी निरंकुशता तो किसी प्रकार चल सकती है पर भाव संबंधिनी नहीं। परंतु कुछ अंग्रेज समीक्षकों ने कवि को अथवा कलाकार को एक विशेष प्रकार का जीव न ठहराकर उसके बहुत से प्रमादों का परिहार किया है। जो बातें हमारे-आपके लिए सत्य हैं वे कवि के लिए लागू नहीं होतीं। यह विशेषाधिकारों की प्रथा अंग्रेजी में चाहे जब चली हो संस्कृत में यह कालिदास आदि के समय से चली है जब देश गुप्तकालीन सुवर्ण युग में सुख-समृद्धि से घिरा हुआ था। हम जोर देकर कहना चाहते हैं कि इस युग के कवि को इस प्रकार के किसी विशेषाधिकार का आसरा नहीं करना चाहिए क्योंकि यह आसरा आज नहीं तो कल बिलकुल विफल हो जाएगा।

अंग्रेज समीक्षक मिस्टर बेनसल डॉक्टरों की भांति कुछ अनुसंधान-सा करके बतलाते हैं कि प्रत्येक कलाकार में अहं भाव सामान्य से अधिक रहता है। उनका कहना है कि दुनिया में स्त्री जाति उतनी अधिक संख्या में कवि और कलाकार नहीं हुई जितनी अधिक संख्या में

पुरुष जाति हुई है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि पुरुषों में अहंमन्यता अधिक होती है, स्त्रियों में उतनी नहीं होती। भगवान जाने उनके देश में किस प्रकार की मनुष्य जाति होती है। हमारे देश में तो न तो कलाकार पर अहंभाव का आधिपत्य स्वीकार किया गया है और न स्त्री जाति को परमहंस बतलाया गया है। आश्चर्य तो यह है कि यूरोप के आधुनिक अनेक साहित्यकार और विद्वान इस बात पर जोर दे रहे हैं कि स्त्री और पुरुष में कोई निसर्ग सिद्ध विभेद (Sex-difference) नहीं है और इसी आधार पर स्त्रियों के बराबरी के (उसे बराबरी नहीं प्रतियोगिता कहना ठीक होगा) अधिकारों की सिफारिश की जाती है और घोषणा की जाती है। अभी हाल में विलायत की पार्लियामेंट को स्त्री जाति ने घेर लिया था और पूरे पौरुष के साथ अपने अधिकारों को छीनने के लिए लंगोट कसकर खड़ी हो गई थीं। ये दोनों बातें हमारी समझ नहीं आतीं। हमारे देश में तो मनुष्य को मनुष्य समझा गया है कवि होने, पुरुष होने अथवा स्त्री होने का सवाल पीछे आता है। पहले मनुष्य होने का सवाल मौजूद रहता है। स्त्रियों ने कविता नहीं की इसलिए वे परमहंस हो गईं, यह तो कोई बात नहीं हुई।

मनुष्य के अहंकार, अज्ञान आदि उसकी निरंकुशता और स्खलन आदि के लिए उत्तरदायी हैं। वह पुरुष हो अथवा स्त्री हो, कवि हो अथवा और कोई हो। हमने अभी इसी प्रकार के व्यक्तिवाद का विरोध किया है। वह व्यक्तिवाद आत्मदर्शी महात्माओं के चेतनवाद से भिन्न है, भिन्न ही नहीं विपरीत भी है। परंतु व्यक्तिवाद के एक-दूसरे प्रकार के कट्टर विरोधी और भी हैं जो कवि और कलाकार की अनुभूतियों को सामान्य जन समाज की अनुभूतियों के अनुरूप होने की शर्त रखते हैं। वे जीवन के असाधारण, रहस्यपूर्ण अथवा गहन तत्वों के उद्घाटन का इस तर्क द्वारा प्रतिकार करते हैं कि वे तत्व व्यक्तिगत हैं। हम स्पष्टतः इस श्रेणी के समीक्षकों के साथ नहीं हैं। जो अनुभूतियां सत्य हैं वे सार्वदेशिक और सामूहिक होंगी ही, यह बात दूसरी है कि किसी देश और किसी काल का समूह अपने अल्प विकास, विरोधी संस्कार आदि कारणों से उन अनुभूतियों के साथ तादात्म्य न स्थापित कर सके। यह एक प्रकार का जड़वाद है कि हम सत्य का इसलिए खंडन करते हैं कि हममें उसे ग्रहण करने की क्षमता नहीं। यह वर्तमान पर बहुत अधिक जोर देना है और चिरंतन की ओर से नजर फेर लेना है। यह यूरोप के साम्यवाद अथवा समूहवाद से अधिक मेल खाता है। हमारे समष्टिवाद से नहीं मिलता।

इस युग के कवि अधिकांश में हमारे-आपके-से लोग होते हैं। वे हम लोगों की तरह ही, हमारे समाज में रहते हैं। उनका जीवन बहुत कुछ व्यावहारिक होता है। आजकल के कवि ही नहीं होते वे औपन्यासिक, कहानी-लेखक, नाटककार आदि भी होते हैं। उनमें से कुछ तो पुस्तक-प्रकाशन का, कुछ नौकरी-चाकरी का तथा कुछ इसी प्रकार का कुछ न कुछ काम करते रहते हैं। सारांश यह कि आजकल के कवि उपन्यासों के-से अनोखे जीव नहीं होते, न वे प्राचीन कथाओं के चरित्रों की तरह कल्पनाओं और भावनाओं के बने होते हैं। अपवादों को छोड़ देने पर सामान्य नियम यह बन जाता है कि हम अपने कवियों से यह आशा रखते हैं कि उनकी कविता ऐसी हो जिसमें हम उनके परिचित व्यक्तित्व की छाप देख सकें, कम से कम वह ऐसी न हो, जिसे देखकर हम आतंक में पड़ें और भयभीत हों। कवियों को मित्र मंडली की आस्था

अक्षुण्ण रखने की फ़िक्र रहनी चाहिए। कवि यदि कल्पनाओं और भावनाओं से ही निर्मित होता तो वह बड़ी ही विलक्षण बात होती। सतयुग में ऐसे कवि रहे होंगे। पर आजकल के कवियों को तो ऐसी सुविधा नहीं मिली है। उन्हें यदि और कुछ भी नहीं करना पड़ता तो कम से कम अपनी भावनाओं के प्रकाशन के लिए शब्द सामग्री जुटानी पड़ती, छंद-चयन करना पड़ता और कुछ न कुछ आकर्षण लाने की चेष्टा करनी पड़ती है। जिस समय वह कलम-दवात अथवा फाउंटेन पेन लेकर बैठता है, कम से कम उस समय वह सशरीर होता है। कवि वर्ड्सवर्थ के एक प्रशंसक ने लिखा है कि प्रकृति स्वयं उसके हाथ से कलम लेकर उसके लिए रचनाएं करती थी। इसका अर्थ समझने में हम भ्रम नहीं कर सकते। वेदांत में जिस भूमि के आधार पर मनुष्यों के क्रिया-कलाप चलने का उल्लेख है, हमारे कवि उस सौभाग्य से वंचित हैं। कम से कम हमारे परिचित तो कोई कवि जीवन्मुक्त होने का दम नहीं भरते।

आशा है ऊपर के विवरण से साहित्य-समीक्षा की व्यक्त्योन्मुखी धारा निस्सीम में मिलने के पहले अपनी सीमा का थोड़ा-बहुत परिचय पा जाएगी।

(शुक्रवार, 20 मार्च 1931)

कराची कांग्रेस

इन पंक्तियों के छपते-छपते कराची कांग्रेस में जाने की तैयारी होने लगेगी। प्रतिनिधियों का चुनाव अनेक स्थानों में हो गया है और जहां नहीं हुआ, वहां होने में अब देर नहीं है। लाहौर कांग्रेस के बाद देश भर में स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी जाती रही और अब वर्ष भर के बाद वह राम-राम कह के शांत हुई है। फिर भी लड़ाई की याद अब भी बनी हुई है और कांग्रेस के कुछ नेता उसे बनाए रखने की अपील भी कर रहे हैं। मनुष्य स्वभाव कुछ ऐसा ही होता है। बहुत से राजनीतिक कैदी भी अभी जेलों में ही बंद हैं। अब तक छोड़े नहीं गए। इसका प्रभाव भी अच्छा नहीं पड़ रहा और उत्तेजना कम नहीं हो रही। गांधी-इर्विन संधि के बाद विलायत का रुख कुल मिलाकर संतोषप्रद ही कहा जाएगा पर अनुदार दल की ओर से शंका बनी ही रही है और इस संबंध में जो बातें कही हैं वे भी संदेह को दूर नहीं करतीं। उन्हीं के जवाब में राष्ट्रपति जवाहरलाल भी युद्ध-वृत्ति को शांत न करने का आग्रह कर रहे हैं और सुना जाता है, श्री सुभाषचंद्र बोस और श्री श्रीनिवास आयंगर मिलकर महात्मा गांधी के विरुद्ध खड़े हो रहे हैं और गांधी-इर्विन संधि पर अविश्वास प्रकट करना चाहते हैं। इसी मौके पर भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव आदि की मुक्ति प्रार्थना अस्वीकार कर दी गई है जिससे और भी असंतोष बढ़ने की संभावना हो रही है। श्री जे.एम. सेनगुप्त और स्वयं महात्मा गांधी ने इस बात का संकेत किया था कि उपर्युक्त षड्यंत्र केस के अभियुक्तों को मृत्युदंड नहीं दिया जाएगा। यदि संधि के शब्दों पर ही नहीं, उसके भावों पर ध्यान दिया जाता तो सरकार अवश्य ही इस अवसर

पर उदारता और क्षमा से काम लेती, पर जान पड़ता है, अब तक संधि की सच्ची कामना-उत्पन्न नहीं हुई है और यदि उत्पन्न भी हुई है तो वह अधूरी और अनिश्चित है।

इस डावांडोल परिस्थिति में कराची कांग्रेस का महत्वपूर्ण अधिवेशन होने वाला है। कहा जा सकता है कि इस बार कांग्रेस के सामने जो महत्वपूर्ण समस्या आई हुई है वह उसके अब तक के इतिहास में कभी नहीं आई। वहां दो राष्ट्रों की संधि अथवा विच्छेद का महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होगा। आज ही नहीं भविष्य में चिरकाल तक भारत और ब्रिटेन का संबंध मेल और प्रीति का रहे अथवा युद्ध विग्रह का, इसका निर्णय कराची कांग्रेस को करना है। हम कह सकते हैं कि इस अत्यंत गंभीर और मार्मिक समस्या पर विचार करने के अनुकूल परिस्थिति अब तक नहीं बन सकी है और अब दो-चार दिनों में ही बन जाएगी इसकी कोई आशा नहीं। ऐसी अवस्था में एकमात्र महात्मा गांधी के उपदेशों तथा पूज्य मालवीयजी के संयत विचारों का ही शुभ प्रभाव पड़े तो पड़ सकता है। कांग्रेस के अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल वर्ष भर लड़ाई के मैदान में रहे हैं और उन्होंने दोनों पक्षों की शक्ति और दुर्बलता का अनुभव किया है। योद्धा को जितना संयम होता है, युद्ध-दर्शकों को उतना नहीं होता। सरदार पटेल गुजरात केशरी हैं और महात्माजी को जितना अधिक समझा है, शायद ही और किसी ने समझा हो। इसलिए आशा की जाती है कि उनके सभापतित्व में होने वाली राष्ट्रीय कांग्रेस अक्षरशः महात्माजी के आदेशों का पालन करेगी और विरोध वाणी दब जाएगी।

महात्माजी के महान प्रभाव के संबंध में हमें कुछ कहना नहीं है। वे भारत के हृदय सम्राट हैं और उनकी वाणी राष्ट्र वाणी है। इस युग में उनका-सा निर्मल दृष्टि सात्विक नेता दूसरा कोई नहीं हुआ। देश ने अब तक आंखें मूंदकर महात्माजी का आदेश माना है और उनके बतलाए पथ पर चलने को उद्यत रहा है। अब तक महात्माजी के विरोध में किसी को ऊंची आवाज उठाने का साहस नहीं हुआ और न्यायतः कोई आवाज उठ भी नहीं सकती। त्याग और तपस्या, बुद्धि, विवेक और ज्ञान का जैसा समन्वय महात्माजी में है किसी भी राष्ट्रीय नेता में नहीं है। भारतवर्ष सदा से कर्मयोगी का सम्मान करता आया है और महात्माजी का-सा कर्मयोगी कहां मिलेगा? सत्य और अहिंसा के प्राचीन दिव्यास्त्रों का आधुनिक युग के लिए आविष्कार कर महात्माजी ने देश को जो उपहार दिए हैं, वे एकदम अमूल्य हैं। देश अपने कल्याणार्थ कभी भी गांधीजी को भूल नहीं सकता, आवेश में आकर उनके साथ अन्याय नहीं कर सकता। राष्ट्र की असंख्य जनता मूल, निरीह मेमने की भांति जिस गड़ेरिये के पीछे-पीछे चल रही थी, उससे विमुख होकर वह कहीं जा नहीं सकती। यदि गई तो भटक जाएगी। महात्माजी का-सा संयम किसी भी नर्म दल के नेता को शोभा दे सकता है, उनकी-सी शक्ति किसी भी उग्र दल के नेता में नहीं है। इनके साथ उनका अनुभव, उनका निर्लिप्त भाव, उनकी दिव्यदृष्टि मिलकर उन्हें भारतीय आकाश की पवित्रतम और दिव्यतम ज्योति बना देती है जो भूले-भटके व्यक्तियों के लिए आशा की ध्रुव ज्योति होती है और जिसके प्रकाश में अन्य आभाएं फीकी पड़ जाती हैं।

उन महात्माजी का आदेश ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। गांधी-इर्विन समझौते के संबंध में

गांधीजी ने जो लंबी विज्ञप्तियां निकाली हैं, उनके अक्षर-अक्षर पर विचार करना चाहिए। उन्होंने संपूर्ण शक्ति से उक्त समझौते की प्रत्येक शर्त को पूरा करने का आग्रह किया है। आशा है वह आग्रह कार्य रूप में परिणत किया जाएगा। कराची कांग्रेस पर इसका बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। इसलिए महात्माजी ने कांग्रेस में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों से निवेदन किया है कि पिछले वर्ष भर के युद्ध ने आपमें जो अभिमान भर दिया है उसे छोड़कर, तिलांजलि देकर कांग्रेस की भूमि में आइए और अपना निर्णय दीजिए। हम अहंकार से, असहनशीलता से और उद्वेग से सफल नहीं हो सकते। हमें दूरदर्शिता से, संयम से और विवेक से काम लेना होगा। महात्माजी ने शायद अत्यंत उग्र दल वालों को समझाने के लिए यह कहा है कि अब तो केवल कुछ महीनों का ही सवाल रह गया है, या तो राष्ट्र को अधिकार मिल जाएंगे या उसे फिर उसी कष्ट सहन के पथ पर चलना पड़ेगा। इसका तात्पर्य यह है कि कराची कांग्रेस मेंइस तरह का कोई झगड़ा न खड़ा किया जाए जो गांधी-इर्विन संधि का बाधक हो। समझौता-सम्मेलन होने में अब कुछ ही महीनों की कसर है। देश कम से कम उतने समय तक तो प्रतीक्षा कर ही सकता है। उसे ऐसा करना चाहिए और कराची कांग्रेस में किसी प्रकार के मतभेद को स्थान न देकर कांग्रेस की शक्ति को देश की ओर संसार की निगाह में बढ़ाना चाहिए। यह महात्माजी का कथन है और हम समझते हैं इसका उल्लंघन करने से किसी प्रकार का हित नहीं हो सकता।

यदि सरकार की ओर से अनुकूल परिस्थिति लाने का पूरा-पूरा उद्योग किया जाता तो कांग्रेस के नवयुवक दल की बहुत-सी उत्तेजना आपसे आप दब सकती थी और आगामी संधि का कार्य शांति और सहयोग के साथ पूरा किया जा सकता था। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि वह नवयुवक दल जिसके हाथों में देश का भविष्य है, जो आगामी स्वराज्य शासन का अधिकार पाकर उसे चलाने का उत्तरदायित्व लेने वाला है, वह क्षणिक परिस्थितियों से उत्तेजित होकर व्यापक राष्ट्रीय हित पर कुठाराघात करे। देहली के एक कॉलेज के विद्यार्थियों के सामने भाषण करते हुए श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कुछ बड़ी ही मर्मस्पर्शी ध्यान देने योग्य बातें कही हैं। आपने नवयुवकों से प्रश्न किया, आपमें कितने युवक नए युग की तैयारी कर रहे हैं? कितने लोग राष्ट्रीय आवश्यकताएं समझने की कोशिश कर रहे हैं? भावी शासन विधान पर कितनों ने विचार किया है और शासन-प्रबंध, रेल-प्रबंध आदि किन-किन समस्याओं को सुलझाया है? अवश्य ही श्रीमती नायडू ने विद्यार्थियों और नवयुवकों से इन शब्दों में यह अपील की है कि उत्तेजित होकर यों ही न फिरा करें। व्यावहारिक प्रश्नों पर अपनी बुद्धि और शक्ति का सद्व्यय करें। कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने पिछले दिनों देहली में और बंबई में जो रूप दिखाया वह कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि कराची में उसकी पुनरावृत्ति न हो। यदि कांग्रेस को और सारे राष्ट्र को प्रतिवृत आसन पर बैठाना है तो यह कभी भी, किसी प्रकार उचित नहीं कि कांग्रेस के प्रतिनिधि कराची में तू-तू मैं-मैं की नौबत आने दें। महात्माजी जैसे नेता को कुछ महीनों की मुहलत न देना बहुत बड़ी धृष्टता और कृतघ्नता होगी। यदि समझौता-सम्मेलन के बाद कांग्रेस को संतोष न हो तो वह दूसरा अधिवेशन करके दूसरा कार्यक्रम बना सकती है। कराची में तो महात्माजी की संधि चेष्टा की शक्ति को

ही बढ़ाना चाहिए। सरकार की भविष्य नीति भी, संभव है, कराची कांग्रेस के निर्णय पर अवलंबित रहे। ऐसा मौका न आने देना चाहिए जिससे देश की, सरकार की और सारे संसार की निगाह में कांग्रेस गिर जाए और वाइसराय लार्ड इर्विन ने जिसे 'महान कांग्रेस संस्था' कहा है वह पारस्परिक कलह का रंगमंच बन जाए और दुनिया की हंसी का कारण हो।

साहित्य-समीक्षा की दो धाराएं और उनका संगम—4

अब दूसरे पक्ष पर विचार किया जाए। व्यक्ति के समस्त गुण-दोष को, उत्कर्ष को, उसकी अनंत विशेषताओं को अंतर्लीन कर, आत्मसात कर, पीकर भारतीय साहित्य की सनातन रसधारा चिरदिन से नवतरंगिनी बन बहती आती है। 'हमारे साहित्य का भविष्य' शीर्षक लेखमाला में हमने इस धारा की विश्व साहित्य के आधुनिक समीक्षा-प्रवाहों की प्रखर गति से तुलना की है और उसके मंद-प्रशांत प्रवाह को वर्तमान साहित्य के अपार कूड़ा-करकट को बहा ले जाने में सक्षम बतलाया है, फिर भी उसकी स्तुति के लिए हमारे पास शब्दों की कमी नहीं हो सकती। रस-संप्रदाय भारतीय साहित्य का सनातन धर्म है जिसने समष्टि रूप से साहित्य-स्रोत का जीवन-यापन किया, प्राण-रक्षा की। साकार उपासना अथवा मूर्तिपूजा की भांति ही यदि यह संप्रदाय काल-चक्र में पड़कर पार्थिवोन्मुख प्रवृत्तियों और जड़वाद से घिर गया तो यह उसका दोष नहीं है, दोष ऐतिहासिक परंपरा और मनुष्य प्रकृति का है। मानवीय धरातल पर बने हुए समस्त भारतीय सिद्धांतों की भांति यह भी अत्यंत व्यावहारिक और पूर्ण है। परंतु मनुष्य की त्रुटियां कालक्रमानुसार इसके साथ लग गई हैं। जिस प्रकार भारतीय विचारों में प्रत्येक क्षेत्र में अधिक से अधिक लाभ और कम से कम हानि—समष्टि का अधिक से अधिक ध्यान रखा गया है, हमारा रस-संप्रदाय भी उसी भारतीय मनोवृत्ति की रक्षा करता है। जो धर्म लोकधर्म होगा, उसकी नींव आदर्शों पर नहीं रखी जा सकती, दृढ़ व्यवहार पर ही रखी जा सकती है। हमारे देश के धर्म की भांति ही साहित्य की भी नींव अत्यंत व्यावहारिक है।

परंतु इसी व्यावहारिकता में जहां उसकी उज्ज्वल सफलता झलकती है वहीं उसकी असफलता की करुण रेखा भी दीख पड़ती है। यह तो मानव-प्रयास मात्र की परिणति है, यही हमारी अविच्छिन्न, अविच्छेद्य नियति है। रोकर भी चुप ही रहना पड़ता है। जो मानवधर्म है वह अपूर्ण तो होगा ही, त्रुटियां तो होंगी ही, स्खलन तो होंगे ही। यदि एक गाल में थप्पड़ खाकर दूसरा गाल तत्काल फेरने की हिम्मत न हो तो यह मनुष्यता का कोई लांछन नहीं बल्कि यही तो मनुष्यता है। परंतु ख्रीष्ट ने तो फेर लिया था, वह भी तो मनुष्य था। महात्मा बुद्ध ने भी तो यही कहा है। इसका क्या उत्तर है? उत्तर में पाइलेट (ख्रीष्ट को फांसी पर लटकाने वाला) और रावण आदि के नाम लेकर, आंसू पीकर चुप ही रहना पड़ेगा। कोई उपाय नहीं है, हमें औसत मनुष्य का विश्लेषण करना पड़ेगा और कुछ किया ही नहीं जा सकता। धर्म में भी, समाज में भी, साहित्य में भी यही एक विधि है। हमारे यहां कहा गया है 'महाजनो येन

गताः स पंथाः'। यहां महाजन शब्द का अर्थ महान पुरुष नहीं है, अर्थ है अधिक संख्यक पुरुष (Majority) समष्टि। जो महाजन कहें-करें, वही सत्य, शिव और सुंदर समझिए। हां, यह अवश्य स्वीकार किया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति ज्ञान से है, उसका चिरंतन विकास हो रहा है और महाजनों की प्रगति भी सदा शुभ दिशा में ही होती है। जहां महाजन भ्रम में पड़े वहां वे शास्त्र का (Cosmic Intelligence) का आश्रय लें। पर वे भ्रम में पड़ें या न पड़ें, शास्त्र का आश्रय लें या न लें व्यक्ति को सिर उठाने का मौका नहीं है। हमारे साहित्य के रसवाद का सिद्धांततः यही आधार है। इसके मूल में व्यक्ति (Subjective) दबा पड़ा है, वस्तु (Objective) ही सामने है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस प्रारंभिक वस्तुवाद ने ही आगे चलकर उस पद्धति की वह अवस्था की जो आज दीख पड़ती है।

प्रारंभ से ही वस्तु की प्रधानता होने के कारण क्रमशः रसवाद अपनी पार्थिवोन्मुख प्रवृत्ति को बढ़ाता गया। युगों की मूर्ति-प्रियता, विलास-प्रियता, अलंकार-प्रियता उसमें योग देती गई। फिर भी यदि हम बिलकुल ही अंधे न जो जाएं तो रस की उस प्रसन्न धारा को मजे में देख सकते हैं, और देखकर पुलकित हो सकते हैं जो चिरकाल से भारतीय साहित्य की विभूति बनी हुई है। हमारे जितने महान कलाकार हुए हैं सबके प्राणों में इसी रसधारा का स्रोत उमड़ा था, अतएव यह अर्हणीय, अभ्यर्थनीय धारा है। जिस प्रकार आजकल बड़े-बड़े नगरों का कूड़ा-करकट, मल-मूत्र सब गंगा में प्रवाहित किया जाता है फिर भी उसकी धारा निरंतर पवित्र ही रहती है उसी प्रकार भारतीयों का विचार है कि हमारी सनातन रसधारा भी अक्षत और चिर उज्ज्वल है। हम इसके विरोध में यहां कुछ कहना नहीं चाहते। रसवादियों ने अपने अनुयायियों को धोखा देने के लिए ही सही, यह प्रतिपादित कर रखा है कि नवरसों का आनंद, काव्यानंद है जो ब्रह्मानंद सहोदर है। यह भी विश्वास करने से फलप्रद हो सकता है। जो विश्वास नहीं करते, वे जो चाहे कहें-करें। परंतु चिरकाल से साहित्य आचार्यों ने इस अलौकिक आनंद की पुकार उठाई है और इस प्रकार का फल समष्टि रूप से शुभ ही पड़ा है। आज के आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी भी—

सुरम्य कविते रस राशि रंजिते,
अलौकिकानंद विधायिनी महा।

आदि कहकर उसी सनातन परंपरा से समवेत प्रभाव को बढ़ाते हैं। आजकल हम लोग तार्किक हो गए हैं, नहीं तो सनातन धर्म तो यह है कि हम इसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लें।

यह अवश्य है कि हमें युग की गति प्रभावित करती है और यह युग की गति भी समष्टि की ही गति है। इसलिए इसका प्रभाव स्वीकार करना भी मानवधर्म है। आजकल संसार में व्यक्ति का उत्थान हो रहा है। चाहे यह प्रमाद हो, अहंकार हो अथवा जो हो यह एक सत्य की भांति हमारे चतुर्दिक व्याप्त है। दूसरी बात यह कि संसार के प्रादेशिक समूह एक-दूसरे से निकट का परिचय पा रहे हैं और यद्यपि यह परिचय अब तक आत्मिक साम्य की सिद्धि नहीं कर सका है, फिर भी प्रेसीडेंट विलसन की निरस्त्रीकरण नीति और रवींद्रनाथ आदि के

विश्वप्रेम के आदर्शों ने अपना प्रभाव डालना शुरू किया है। हमारे देश के सत्याग्रह आंदोलन ने हममें सदाचार और आडंबररहित सरल जीवन की प्रवृत्ति उत्पन्न की है जिसमें हमारी आर्थिक दरिद्रता भी सहायता दे रही है। इन्हीं के साथ जब हम आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव और नवीनताप्रिय मनुष्य स्वभाव पर विचार करते हैं, तब हमारी समझ में आता है कि साहित्यिक नवरसों का सनातन धर्म भी युगगति के अनुकूल परिवर्तित होगा। कुछ आवश्यक परिवर्तनों का उल्लेख हमने उपर्युक्त 'हमारे साहित्य का भविष्य' लेखमाला में किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आगामी युग में व्यक्ति को अभीप्सित स्वतंत्रता मिलेगी, विराट भावनाओं और चित्रों की वृद्धि होगी। अलंकार भेद, ध्वनिभेद आदि के अत्यावश्यक प्रश्न पीछे हटेंगे। हमारे साहित्य में वही युग आ रहा है जो यूरोप में एक शताब्दी पूर्व आया हुआ था और जिसका नामकरण Romanticism शब्द से किया गया था। भाव और भाषा का उद्दाम प्रवाह, सरल अथवा तीक्ष्ण अभिव्यक्ति, आध्यात्मिक प्रेरणा आदि सामयिक साहित्य के लक्षण होंगे। रसवाद के सनातन संप्रदाय को क्षुब्ध होने का कोई कारण नहीं है। यदि साहित्य-समीक्षकों ने सुधारक बनने की लालसा में सत्य का अत्यंत तिरस्कार नहीं किया और यदि वे संयम के साथ रसवाद की रूढ़ियों को ही मिटाने में प्रवृत्त हुए तो उनसे साहित्य का अपार कल्याण होगा। आवश्यकता ऐसे साहित्यिक आर्य-सामाजिकों की है जो साहित्य के सनातन धर्म को सिर झुकाकर स्वीकार करें। युग की क्षुद्र नदियां उतरा कर न बहें तो साहित्य की सनातन सुरसरिता का प्लावन वेग न बढ़े। मध्यमार्ग ही मानव मार्ग है। अपनी रक्षा और अपने कल्याण के लिए इसी पथ पर चलना होगा। हम इससे अधिक और कुछ नहीं कह सकते।

(सोमवार, 23 मार्च 1931)

फांसी का असर

दिल्ली के समझौते के बाद देश के एक शक्तिशाली दल ने यह आवाज उठाई थी कि बंगाल आर्डिनेंस के कई सौ राजबंदियों, मेरठ आदि षड्यंत्र-केसों के सैकड़ों अभियुक्तों और नवयुवक भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव की रिहाई का आग्रह न कर और उसे संधि की एक शर्त न बना महात्माजी ने अच्छा नहीं किया और देश में तब तक स्थायी शांति स्थापित नहीं हो सकती, जब तक सब राजनीतिक कैदी बिना किसी शर्त के तत्काल छोड़ न दिए जाएं। सामान्यतः देश के सभी भागों में, विशेषकर बंगाल में यह असंतोष जोर पकड़ रहा था और उद्वेगशील जनता गांधीजी के संबंध में तरह-तरह की बातें कहने लगी थी। उस समय विद्यार्थियों के प्रांतीय सम्मेलन में भाषण करते हुए बंगाली नेता श्री जे.एम. सेनगुप्त ने कहा था कि यदि आप अपने राष्ट्रीय संघटन को मजबूत बनावें और देश में शांति का वातावरण तैयार कर दें तो महात्माजी के लिए कुछ दिनों के भीतर ही हिंसात्मक अपराधों के कैदियों को छुड़ा लेना

संभव हो जाएगा। आप अपनी आंखें बिलकुल बंद न कर लें। क्या आप देख नहीं रहे हैं कि फांसी की आज्ञाओं का पालन नहीं हो रहा है। क्या आप इसका अर्थ नहीं समझ रहे हैं कि बंगाल में हमारे साथ निर्दयता का व्यवहार करने वाले अनेक अफसर यहां से रवाना हुए जाते हैं। क्या आप इसका कोई मतलब नहीं निकाल सकते? श्री सेनगुप्त ही नहीं, देश के प्रायः सभी नेताओं ने और राष्ट्रपति जवाहरलाल तक ने यह कहा था कि यदि भगत सिंह और उनके साथी आज जीवित हैं तो महात्माजी के कारण जीवित हैं। स्वयं महात्माजी ने अपने स्वाभाविक विनीत स्वर में कहा था कि मैं झूठा विश्वास नहीं दिलाना चाहता पर यदि क्रांतिकारियों ने सामयिक आवश्यकता के विचार से ही अपनी कार्रवाइयां रोक दीं तो सभी राजनीतिक कैदी शायद छोड़ दिए जाएंगे और मृत्युदंड प्राप्त कैदी भी मुक्त कर दिए जाएंगे।

भगत सिंह आदि को तो फांसी दे दी गई। महात्माजी के संबंध में असत्य की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वप्न में भी नहीं। सत्य तो उनका जीवन है। उनका सत्य का प्रयोग है, उनका सत्याग्रह है। वे सत्य को नीति नहीं मानते, उसे धर्म मानते हैं। धर्म ही नहीं, उसे ही ईश्वर मानते हैं। अपने लेखों में, अपने भाषणों में, अपनी जीवन-चर्या में वे एक बार नहीं असंख्य बार यह दिखला चुके हैं कि लाखों स्वराज्य से सत्य की महत्ता अधिक है। फिर वे झूठा भरोसा क्यों दिलाते। उन्हें तो स्पष्ट कह देने का अवसर था कि हमारा सिद्धांत, हमारा आंदोलन अहिंसा आंदोलन और हमारा धर्म अहिंसा पर स्थित है। हम हिंसा पर विश्वास नहीं करते। वे साफ कह सकते थे कि हिंसावादियों से हमारी कोई सहानुभूति नहीं, कोई मतलब नहीं। एक से अधिक बार उन्होंने कुछ ऐसी ही खरी बातें कही हैं। वे जनता की वाह-वाही की क्या परवाह करेंगे। उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है। चौरीचौरा की घटना आज भी ताजा है। महात्माजी पर खूब बोलियां कसी गईं, वे एक प्रकार से राजनीतिक क्षेत्र से तटस्थ तक हो गए पर सत्य को तो उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। यदि दोष महात्माजी का ही है तो यह उनके सत्य का दोष नहीं है। यह उनकी महत्ता का दोष है। महात्माजी मनुष्य स्वभाव की सच्चाई और उदारता पर परम विश्वास करते हैं। उन्होंने लार्ड इर्विन की उदार बातचीत को ही ब्रिटिश शासन यंत्र का हृदय-परिवर्तन समझा। परंतु यंत्र के हृदय ही कहां होता है जो परिवर्तित हो। लार्ड इर्विन का व्यक्तित्व चाहे जितना ऊंचा हो पर समासतः भी उसी शासनयंत्र के अंश हैं जो इतने दिनों से चलता आ रहा है। चलते-चलते जो शक्ति उस यंत्र ने संग्रह की है वह एक-बारगी रुक जाएगी या शुभदिशा में चल पड़ेगी, इसकी आशा कैसे की जाए? लार्ड इर्विन के ऊपर भी शक्तियां हैं और उनके नीचे भी शक्तियां हैं जो पहले की तरह ही चलती जा रही हैं। व्यक्ति का दोष नहीं है, दोष यंत्र का है, इसलिए जब तक यह यंत्र नहीं बिला जाता तब तक स्थायी शांति कदापि नहीं मिल सकती। महाजनों के ऊपर तब तक इसी प्रकार के आरोप होते रहेंगे और उन्हें सहन भी करना ही पड़ेगा। आज यदि देश के एक हिस्से में महात्माजी, राष्ट्रपति और सेनगुप्त जैसे नेताओं पर संदेह किया जा रहा है तो यह भी ब्रिटिश शासन यंत्र का ही परिणाम है।

इसी शासन यंत्र के सुधारने का प्रयत्न राष्ट्रीय कांग्रेस करती आ रही है और कराची

कांग्रेस में वह अपने समस्त पिछले प्रयासों की एकत्र शक्ति से काम लेगी। उसने वर्षों के संघटन और शिक्षा के बाद पिछले वर्ष भर जिस अहिंसात्मक शक्ति का परिचय दिया और जो आशातीत सफलता प्राप्त की वे देश-देशांतरों में फैल चुकी है। इसी अंक में छपे हुए विलायत के प्रसिद्ध भारत हितैषी मजदूर सदस्य मिस्टर बिलफ्रेज क्लाक के लेख में पिछले अहिंसा युद्ध और उसके सूत्रधार महात्मा गांधी की महती विजय की घोषणा की गई है। सामाजिक ज्वार-भाटा में पड़कर महात्माजी का प्रभाव कम पड़ जाएगा। इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। केवल नीति के विचार से ही नहीं, संसार का लोकमत विचार करके भी कराची कांग्रेस महात्माजी के विरुद्ध निर्णय देकर अपनी शक्ति को, अपने संयम को और अपने संघटन को नष्ट नहीं कर सकती। आज देश को महात्माजी के लिए अत्यधिक संताप हुआ है। आवश्यकता इस बात की है, यह संताप हममें सच्ची कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करे। देश को आंसू पोंछकर, शांत भाव से अपने काम में लगना चाहिए। पूज्य मालवीयजी इन फांसियों से स्तब्ध हो गए हैं और अपने शोक को व्यक्त करने के लिए उन्हें शब्द नहीं मिले। राष्ट्रपति जवाहरलालजी को जैसे काठ मार गया हो, वे सन्न हो गए हैं। सरदार पटेल ने ब्रिटिश कानून के मिथ्या दंभ को खोलकर दिखाया है। अंत में महात्माजी ने कहा है कि सरदार भगतसिंह और उनके साथियों ने फांसी पर लटककर जो आत्माहुति दी है, वह उनके अमर किरीट की भांति शोभन होगी। सरकार ने एक अमूल्य अवसर खोकर ही हित पर कुठाराघात किया है। फिर भी राष्ट्र का कर्तव्य स्पष्ट है। कांग्रेस अपने पथ से विचलित नहीं हो सकती। हममें नवीन पवित्रता और नवीन त्याग की भावनाएं उत्पन्न हों और हम उनकी सहायता से आगामी कार्य में सफल हों तो आज की सरकारी 'गुंडावृत्ति' नष्ट हो जाए। महात्माजी के इस खरे संदेश पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

यदि कराची कांग्रेस ने देश की इस क्षुब्ध अवस्था में भी अपने संयम का परिचय दिया और यदि अपने आत्मदर्शी और तपस्वी नेता महात्माजी का अनुसरण किया तो वह संसार के लोकमत की कसौटी में तप्त-स्वर्ण की भांति खरी उतरेगी।

यथार्थवाद पर कुछ फुटकर बातचीत

मित्रों की समीक्षा-मंडली कल श्री रामचंद्र टंडनजी के यहां बैठी थी। पहले पहल की बात ठहरी, थोड़ी-सी झिझक, थोड़ी-सी परिचय लालसा, थोड़ी-सी मिथ्यास्तुति और थोड़ी-सी तर्कप्रियता बनी हुई थी। ये सब मिट जाएंगी, तब काम की बातें की जा सकेंगी। अभी बिलकुल स्वस्थ वायुमंडल नहीं बन सका है, उपयुक्त भूमि नहीं तैयार की जा सकी है। अभी विषय छेड़ने की प्रतीक्षा की जाती है, तैयारी की जाती है, विषय छिड़ जाए ऐसा अकृत्रिम वातावरण बनना बाकी है। बातचीत में सिद्धांतों का उद्घाटन करना हमारी कृत्रिमता को और भी पुष्ट करता है और हम चाहते हैं कि हमें शीघ्र ही उससे फुर्सत मिले। आशा की जाती थी हम अपना फर्ज

अदा करेंगे पर फर्ज के नाम पर हमारा मुंह बिलकुल बंद था। फर्ज को हम मानते ही नहीं।

आखिर टामस हार्डी की बात चली। टंडनजी के वे प्रिय लेखक हैं। उनके दुःखवाद से टंडन भी प्रभावित हुए हैं। उनकी एक दुःखांत कृति को सिनेमा वालों ने सुखांत बना डाला था। यह हार्डी के परवर्ती काल की बात है, जिस समय स्वभावतः उसका दुःखोद्वेग कुछ उपशमित होकर प्रशांत धारा में बहने का प्रयासी रहा होगा। कहा गया कि हार्डी ने उस परिवर्तन को पसंद किया और कहा कि 'यथार्थ' में यही उचित अंत है।'

हमें इसी समय चार्ल्स लैंब की वह समीक्षा याद आई, जिसमें यह जोर देकर कहा गया है कि शेक्सपीयर के दुःखांत नाटकों को सुखांत बनाने के नाटक कंपनियों के प्रयत्न नितांत अनुचित हैं। किंग लियर का एक उदाहरण लेकर लैंब ने अत्यंत मार्मिक शब्दों में यह अपील की है कि जिस कठोर वात्याचक्र में पड़कर किंग लियर बुढ़ापे में दर-दर टक्कर खाता फिरा, जिसका जीवन यातनाओं और मर्मभेदी वेदनाओं का तांडव-मंच था, उसके लिए अंतिम समय में सुख की सेज बिछाना 'यथार्थ' का घोर तिरस्कार करना है।

इन दोनों यथार्थों से भिन्न भारतीय नाटकों के 'यथार्थ' की याद आई जिनके अंत में दुःख कहीं है ही नहीं, आनंद का ही प्रसार है। यह कहना तो बहुत बड़ी हिमाकत होगी कि भारतीय नाट्यकला जीवन की भौतिक सुख-समृद्धि, दुःख-क्लेश का अनुभव ही नहीं कर सकती थी। युद्ध का दुःखवाद तो हमारे सामने है और *उत्तररामचरित* में सुख-दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात भी हम देखते ही हैं। लेकिन हमारे साहित्य की 'यथार्थ' परिणति तो आनंद में ही हुई है।

ऐसा समझ पड़ा कि बूढ़े हार्डी को *उत्तररामचरित* भले ही रुचिकर प्रतीत हो पर मिस्टर लैंब तो शायद उसे भारतीय नाट्यकला का एक अक्षम्य अपराध ही समझेंगे। इसलिए यह उचित जान पड़ा कि आदर्शों की दार्शनिक और सिद्धांत संबंधी (Acadamic) बातें न चलाकर कुछ सामान्य यथार्थ बातें की जाएं।

डॉक्टर त्रिपाठीजी ने जो उदाहरण रखा वह बहुत ही उपयुक्त था। यदि किसी को कोई चिकोटी काट खाय तो पीड़ा तो अवश्य होगी। यथार्थ में होगी। यहां पीड़ा यथार्थ है। हमने त्रिपाठीजी के उदाहरण को साहित्यिक चर्चा के लिए अत्यंत उपयुक्त समझा और उसका समर्थन किया।

भारतीय रसवाद इस यथार्थवाद को मानता है। सीता के वियोग (रूपी चिकोटी) से राम को पीड़ा मिलती है तो इसमें रस की पूरी सामग्री है पर ध्यान देने की बात यह है कि इस चिकोटी में बेचारे राम को प्रधानता नहीं दी जाएगी, प्रधानता सीता को मिलेगी। राम तो आश्रय मात्र हैं। रसवाद में आश्रय को कोई नहीं पूछता। सीता रस की आलंबन हैं। उनके रास्ते में पड़े हुए आभूषण उसके उद्दीपन हैं। इस निष्पत्ति का कारण सीता हैं जो पंचवटी में अप्रस्तुत हैं। परंतु अप्रस्तुत होने पर भी उनकी प्रभावसत्ता दृढ़ है और वे ही युगों के असंख्य सामाजिकों का रस स्रोत खींच रही हैं। राम निरीह हैं, इसलिए उनके क्लेश के प्रति सामाजिकों ने सहानुभूति प्रकट की है। यदि ऐसा न होता तो उन्हें कोई पूछता भी नहीं।

राम (व्यक्ति) की वियोगानुभूति (वस्तु) फैलकर समष्टि में एकाकार हो गई है। इसलिए जो हममें है उसे हम किस प्रकार ढूंढ़ें और क्यों ढूंढ़ें? अतएव रसवाद में सीता की ही ओर अधिक दृष्टि रखी गई है। वे ही रस की आलंबन हैं। यदि त्रिपाठीजी का ही उदाहरण रखा जाए तो यही बात इस तरह कही जाएगी कि यदि कोई किसी को चिकोटी काटे तो साहित्यिक दृष्टि से यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण होगा कि कैसी चिकोटी थी—प्रेम की अथवा क्रोध की, हल्की थी या कड़ी थी—यह नहीं कि आपको कैसा अनुभव हो रहा है। हां, यदि साधारण चिकोटी से ही आप तिलमिला उठे हैं तो आपकी खूब मजाक उड़ाई जाएगी, आपकी खैरियत नहीं है।

आजकल के व्यक्तिवादियों को यह रीति कम अच्छी लगती है। उन्हें आए दिन करीब-करीब असंख्य चिकोटियों के काटे जाने का अनुभव होता है और उनकी यह आशा कि साहित्य समीक्षक फीस लेने वाले डॉक्टर की भांति उनके पल-पल के साहित्यिक तापमान (Temperature) का हिसाब (Record) रखेंगे। यदि यथार्थ में वे इस रोग से ग्रस्त हैं तो डॉक्टर को साफ जवाब दे देना उचित है और यदि ऐसी बात नहीं है तो उन्हें नियमित दवाओं (Tonics) का सेवन करना चाहिए। जो बिलकुल स्वस्थ हैं उनकी बात नहीं कही जाती।

यहां यह स्पष्ट कह देने की आवश्यकता है कि यदि साहित्य समीक्षक ने चारण कवि की भांति अपनी सत्ता खो नहीं दी है तो वह भी एक विशेष व्यक्तित्व का हकदार है। टिप्पणीकार अथवा भाष्यकार के पद पर पहुंचने में ही उसकी सीमा नहीं बांधी जा सकती। कविता यदि जीवन की समीक्षा है (Poetry is the Criticism of life—Arnold) तो समीक्षा भी जीवन की कविता है। बड़े-बड़े समीक्षकों ने कपिल, कणाद, जैमिनी, पतंजलि आदि समीक्षक ही तो थे—जीवन संबंधी उच्चातिउच्च रहस्यों का पता लगाया है। कुछ लोग तो यह कहते हैं कि कविता यदि जीवन का भावात्मक एवं असत्य पक्ष है तो समीक्षा उसका व्यावहारिक एवं सत्य पक्ष है। हमें इतना कहने की न तो इच्छा है और न आवश्यकता। हां, हम इतना अवश्य कहेंगे कि समीक्षक उच्छृंखल व्यक्तिवाद की शत-सहस्र अनर्गल उद्भावनाओं और जीवन संगीतों का व्यर्थ विश्लेषण करने और प्रत्येक के मिथ्या अनुभूतिपूर्ण दर्शनाभास (Pseudo Philosophy) का गुणगान करने की अपेक्षा संश्लिष्ट और नियमित व्याख्याएं करने में समय का विशेष शुभ उपयोग और साहित्य का यथार्थ हित-साधन कर सकता है।

(शुक्रवार, 27 मार्च 1931)

कांग्रेस का रुख

नए वर्ष के राष्ट्रपति सरदार वल्लभभाई पटेल का नए वर्ष का संदेश—उनका अभिभाषण—अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। हम उसकी प्रतीक्षा में हैं और सारा देश उसकी प्रतीक्षा में है।

परंतु यदि उस अभिभाषण से भी अधिक किसी बात की प्रतीक्षा की जा रही है तो वह दिल्ली के गांधी-इर्विन समझौते पर कांग्रेस के मत और निर्णय की जा रही है। एक ओर सारा देश और दूसरी ओर विलायत तथा विदेशी साम्राज्य भी कराची के इस निर्णय की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। जिनका स्वार्थ है, जो राजनीतिक, आर्थिक और व्यावसायिक दृष्टि से समस्या पर विचार करते हैं, वे भी और जो संसार में शांति और सद्‌भाव तथा मनुष्य जाति के स्वतंत्र विकास की सात्विक कामना करते हैं, वे भी, विशेष उत्सुक होकर कराची की ओर ध्यान लगाए हैं। वास्तव में कांग्रेस के इतिहास में यह अधिवेशन अत्यंत असाधारण है। गत यूरोपीय महायुद्ध के बाद यूरोप की जितनी जटिल समस्याओं का समाधान बर्सेलिस में किया गया, भारत के लिए उतनी महत्वपूर्ण समस्या कराची में आई हुई है। प्रेसीडेंट विल्सन की भांति महात्मा गांधी भी इस समय संसार के एक बड़े भूखंड के भाग्य विधाता, विशाल मानव समाज के कर्मों का निर्णय करने वाले महापुरुष हो रहे हैं और कराची को यह सूचना संसार के सामने रखनी है कि उस महापुरुष के संदेश को देश के प्रतिनिधि किस प्रकार सुनते हैं और किस रूप में ग्रहण करते हैं।

इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता अपनी जांच करने—आत्म-निरीक्षण करने की है। यह देखने और पता लगाने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा कि दूसरे पक्ष वालों की क्या नीति है और क्या आचरण है। यदि हममें संयम और विवेक है, यदि हम उत्तेजना रहित होकर क्षणिक परिस्थितियों को महत्वपूर्ण प्रश्नों से अलग करने की क्षमता रखते हैं, यदि हम व्यावहारिक ज्ञान के साथ उच्च आदर्शों का मेल मिला सकते हैं, यदि हम पिछले अनुभवों—त्रुटि और सफलता, शक्ति और दुर्बलता के अनुभवों से काम ले सकते हैं तो यह निश्चय है कि हम दूसरे दल की ओर ध्यान दिए बिना भी आत्महित करते हैं और संसार के सामने अपना न्याय पक्ष प्रकट करते हैं। भारत सरकार और राष्ट्रीय कांग्रेस का पिछले वर्ष भर का संबंध विरोध और विद्वेष का संबंध रहा है। सामूहिक आंदोलन के कारण बहुत कुछ उत्तेजनापूर्ण और असंयमशील वातावरण भी फैला हुआ है। लाहौर षड्‌यंत्र के अभियुक्तों को ऐन कांग्रेस अधिवेशन के मौके पर फांसी पर लटकाया जाना अवश्य ही परिस्थिति को और भी अधिक बेकाबू कर सकता है। कराची कांग्रेस इस प्रकार के क्षुब्ध वायुमंडल में जितने अधिक निश्चय के साथ अपना मत दे सकेगी, उसकी उतनी ही अधिक लोकप्रियता बढ़ेगी और सम्मान बढ़ेगा।

कांग्रेस का रुख अब तक निश्चयपूर्वक नहीं मालूम हो सका। लक्षण से अभी कुछ पता नहीं चलता। कहा जाता है कि बंबई यूथलीग के नवयुवक नेता मेहर अली का संघटन विशेष शक्तिशाली है और बंबई, बंगाल और पंजाब के नवयुवक प्रतिनिधि उनका साथ दे रहे हैं। श्री मेहर अली को इतना महत्वपूर्ण व्यक्ति समझा गया कि भूतपूर्व राष्ट्रपति जवाहरलाल नेहरू ने उनसे मिलकर पैंतालीस मिनट तक बातचीत की। प्रभावशाली नेताओं में श्री सुभाषचंद्र बोस ने नौजवान भारत सभा में भाषण करते हुए कहा है कि वे गांधी-इर्विन समझौते से असंतुष्ट हैं। कांग्रेस की 'शिथिल' नीति पर आक्रमण करते हुए आपने बतलाया कि कांग्रेस

जमींदारों और किसान, मजूदरों और पूंजीपतियों, ऊंची और नीची कही जाने वाली जातियों को मुलायम शब्दों द्वारा मिलाने की कोशिश करती है पर उसे सफलता नहीं मिल सकती। आपने उसके स्थान पर क्रांतिकारी सामाजिक संघटन का मसविदा रखा जिसमें जाति-भेद, वर्ण-भेद मिट जाएंगे, मजदूर और किसानों का संघटन हो जाएगा और क्या-क्या नहीं हो जाएगा।

इस प्रकार की बातें जोश पैदा करने के लिए तो बड़ी अच्छी होती हैं। इसमें सुभाष बाबू की कोई नवीनता नहीं है, संयमशील और उत्तेजनाशील दो दल संसार में चिरकाल से होते आए हैं। यदि सुभाष बाबू शब्दों की अमित शक्ति समझें और पैंतीस करोड़ मनुष्यों की इस शिक्षाहीन, धनहीन, मिश्ररक्त, मिश्रधर्म, पराधीन देश की वास्तविक अवस्था का विचार करें, साथ ही वे यदि महात्मा गांधी के संसार, श्रेष्ठ व्यक्तित्व और क्रिया कलाप की ओर ध्यान दें तो उनसे देश का विशेष हित-साधन हो सकता है। पिछली लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन में सुभाष बाबू ने समानांतर सरकार चलाने का जो प्रस्ताव रखा था वह कितना अव्यावहारिक था, इसका अंदाज इतने से ही लग सकता है कि बंबई जैसे सत्याग्रह के केंद्र में भी वह योजना चल नहीं सकी। जनता के नेताओं को अपना स्वतंत्र मापदंड नहीं बनाना चाहिए, जनता ही उसकी वास्तविक मापदंड होनी चाहिए। जनता का मापदंड कलकत्ता कार्पोरेशन के सदस्य ही नहीं, पिछले बनारस, मिर्जापुर और आज के कानपुर के दंगों में शरीक होने वाले और नृशंस हत्याएं करने वाले, बेचारे मूर्ख और धर्मांध समुदाय भी हैं। हमारी आत्मा अब तक विश्वास नहीं कर सकी है, अभी भी हमारी आशा का अंतिम तिनका नहीं टूटा है। नहीं तो यदि प्रांत के प्राणश्री गणेशशंकर विद्यार्थी, जो सचमुच हिंदू-मुस्लिम एकता की बलि वेदी पर चढ़ गए हैं तो हम यह स्पष्ट कह देंगे कि सुभाष बाबू के हवाई किले में फंसकर हमें शीघ्र से शीघ्र अपना घर संभालने की आवश्यकता पड़ेगी। एक हिंदू-मुस्लिम समस्या ही हमारी समस्त शक्तियों को अपनी ओर खींच लेने में समर्थ है और फिर भी उसके ओर-छोर का पता नहीं लग सकता। हम तुलना नहीं करते पर विद्यार्थीजी का प्रभाव कानपुर में उससे किसी प्रकार कम नहीं था जितना सुभाष बाबू का कलकत्ते में। पर चार-पांच दिनों की इतनी खोज-ढूंढ़ के बाद उनका पता न लगना हमें जिस प्रकार सशंक और स्तब्ध कर रहा है वह किसी से छिपा नहीं है। स्वयं महात्माजी इस सूचना से अत्यंत उत्कंठित हुए हैं और सुभाष बाबू ने भी उसका अनुभव किया ही होगा।

नौजवान भारत सभा को यदि जबानी जमाखर्च के अतिरिक्त अपनी कृतिशक्ति का भी कुछ परिचय देना है तो वह नवयुवकों के सेनापति श्री गणेशशंकरजी के उदाहरण से लाभ उठा सकती है। लाल कमीज पहनकर एक लाख की संख्या में कांग्रेस में प्रवेश करने का इरादा और 'गांधी का क्षय हो' कहने का शोक, बिलकुल बेकार है। गांधीजी मरने से नहीं डरते। क्षय तो वे हो ही नहीं सकते। एक सफेद कमीज पहनकर खाली हाथ कानपुर नगर के आततायियों के बीच में पड़े हुए निरीह बच्चों, स्त्रियों और वृद्धों की रक्षा करने में जो अक्षय कीर्ति विद्यार्थीजी ने प्राप्त की है, लाल-लाल कमीजें पहनकर 'गांधी को हटाओ' 'गांधीजी को दूर करो' आदि की पुकार मचाने में उसका लाखवां हिस्सा भी साहस नहीं है, दूरदर्शिता नहीं

है और लोकहित नहीं है। नवयुवकों को इस कठोर किंतु अटल सत्य को समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

नवरत्न ग्रंथावली

भारत के पिछले अंक में हमने पं. मातादीन शुक्ल की *नवरत्न ग्रंथावली* शीर्षक एक नई साहित्यिक योजना की सूचना प्रकाशित की थी। आशा है पाठकों ने उसे पढ़ा होगा और हिंदी प्रकाशकों का ध्यान भी उस ओर आकर्षित हुआ होगा। यद्यपि अब तक हमें उस ग्रंथावली के संबंध में विशेष जानकारी और विवरण नहीं मिल सका है, फिर भी शुक्लजी जैसे सुयोग्य और उत्तरदायी व्यक्ति द्वारा की गई यह योजना हमें विशेष आशान्वित करती है। शुक्लजी हिंदी के प्रसिद्ध पत्रकार हैं और अनेक प्रतिष्ठित पत्रों का संपादन कर चुके हैं। आजकल आप हिंदी की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका *माधुरी* के उपसंपादक हैं। हमें आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि शुक्लजी की यह *नवरत्न ग्रंथावली* हिंदी में एक नई और सुंदर वस्तु होगी। हम समझते हैं हिंदी-हितैषियों और संपन्न प्रकाशकों को इसका प्रकाशन भार स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं होगी। इस ग्रंथावली का विशेष विवरण मिलने पर हम अपना मत और भी स्पष्टता और विस्तार के साथ लिख सकेंगे।

साहित्य के रसवाद का अलौकिकानंद

द्वैत और अद्वैत की समन्वय चेष्टा

मद्रास के उत्तरादिमठ के अधिपति श्री शंकराचार्य महाराज हाल में एक मनोरंजक अथच आकर्षक वाद-विवाद में सम्मिलित हुए हैं। *हिंदू* के कुंबा कोनम के संवाददाता ने उस संबंध की जो सूचनाएं छपवाई हैं, वे ऐसा आभास देती हैं कि अद्वैतवादी पक्ष कुछ उन्नीस पड़ा, तथापि इस बात पर विशेष जोर दिया गया कि द्वैत और अद्वैत मत परस्पर विरोधी हैं और एक ही श्रुति में उन दोनों का सिद्धांत संबंधी साम्य कदापि सिद्ध नहीं किया जा सकता। मद्रास प्रांत धार्मिक द्वंद्व का शक्तिशाली अड्डा रहा है इसलिए यह सूचना पढ़कर हमें विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। शैव और वैष्णव, ब्राह्मण और अब्राह्मण की भांति द्वैत और अद्वैत की समस्या भी वहां समन्वित न की जा सकी हो तो यह भी प्रांतीय सनातन-धर्म के अनुकूल ही हुआ। द्वैत-वादियों ने विपक्षी पर आक्रमण करते हुए कहा कि सदाचार की कोई प्रेरणा अद्वैत में नहीं मिलती। जब जीव ब्रह्मात्मा ही है तब उसके कर्मों का क्या नियंत्रण हो सकता है? वृत्तियों को समेटकर संसार के तटस्थ ही रहने में कौन-सा लोकहित है? उत्तर में कहा गया कि अविद्या

और भेद-बुद्धि के अनर्थों को अद्वैतवाद ही मिटा सकता है, अभेद-ज्ञान के बिना संसार के वर्तमान प्रलयंकर महायुद्ध कैसे उपशमित होंगे आदि-आदि। विवादियों का अंतर कम नहीं हुआ। पर हम लोगों को इस विचार से इतना तो अवश्य अनुभव हुआ कि दोनों पक्ष सात्विक भावों को श्रेय देते हैं और संसार को शांति और सदाचार की दिव्य विभूतियों से समन्वित करना चाहते हैं। यही सनातन मानवधर्म है जो शताब्दियों से सत्य समतल का प्रसार कर विवादों के गड्ढे को भरता आ रहा है।

उत्तर भारत—विशेषतः संयुक्त प्रांत के रहने वालों को सभ्य लोग बहुत पिछड़ा हुआ समझा करते हैं। पर इस मामले में तो हम लोग प्रायः सभी प्रांतों से अच्छे ही कहे जाएंगे। महात्मा तुलसीदास ने शैवों, शाक्तों और वैष्णवों, द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों आदि ही नहीं प्रायः समस्त पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक संबंधों का ऐसा शुद्ध समीकरण किया है कि मद्रास की तरह के झगड़े शायद हमारे यहां स्वप्न में भी संभव न हों। कट्टर लोग आए दिन इसे हमारा धार्मिक शैथिल्य कहकर पुकारते हैं पर हमें तो यह शैथिल्य उनकी तत्परता से बदलना नहीं है। जब से *रामचरितमानस* की रचना हुई तब से मद्रासी तार्किकों की विवाद श्रुतियों की हमें आवश्यकता ही नहीं पड़ी। मद्रास में श्रुतिज्ञान की ऐसी ही वृद्धि हुई तो वहां की वर्तमान खिचड़ी संस्कृति को लाभ ही पहुंचेगा। महात्मा ख्रीष्ट के अनुयायी वहां शेष समस्त देश से अधिक हो चुके हैं और पिछले सत्याग्रह आंदोलन में उस प्रांत ने सब प्रांतों से कम व्यक्तियों को जेल भेजकर सनातन धर्माचरण की अच्छी रक्षा की है।

हम यहां और कुछ न कहकर केवल अपना यह आंतरिक विश्वास प्रकट करेंगे कि भारतीय विचार परंपरा ही ऐसी है जो विरोध नहीं चाहती, साम्य चाहती है, समन्वय चाहती है। जलवायु का प्रभाव कहिए अथवा जो जी चाहे कहिए, इस देश ने अभेद बुद्धि का उत्कट आग्रह किया है और कहीं-कहीं तो इस आग्रह में वहां तक आगे बढ़ गया है जहां इसे मिथ्या का प्रश्रय भी लेना पड़ा है।

यह समन्वय का अतिशय यदि हम समझ सकें तो हम समझेंगे कि हमने भारतीय संस्कृति की एक अक्षय विशेषता समझ ली।

साहित्य के रस संप्रदाय का उदाहरण लेकर देखिए। आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने इस भारतीय रसवाद की अभिव्यक्ति विशिष्ट बतलाकर जो प्रमाण और जो उद्धरण दिए हैं वे सब लोगों के सामने आ चुके हैं। उन्होंने जीवन के कर्म सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसे ही नव रसों की अंजलि चढ़ाई है। परंतु जो कर्म मात्र को माया और अविद्या समझते हैं, उन शंकर के अनुयायियों को झख मारकर या तो अपना धर्म बदलना पड़ेगा अथवा शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित रस संप्रदाय पर आस्था खोनी पड़ेगी। परंतु भगवान शंकर भी बड़ी सरस कविताएं करते थे और उन्हें रसवाद से कोई आपत्ति नहीं थी। ज्ञानियों के लिए रस संप्रदाय में जगह नहीं है। यह कहना तो हमारे समन्वय सिद्धांत के अनुकूल नहीं जान पड़ता है। इसी को लक्ष्य कर हमने पहले भी कहा है कि शुक्लजी ने अपने अभिव्यक्तिवाद में एक पक्ष की वकालत की है, न्याय नहीं किया। जान पड़ता है, *गीता* के तिलक भाष्य के बाद हम लोग काफी से अधिक एक-

पक्षीय हो गए हैं और जान पड़ता है कि मद्रास की ओर से जो मानसून बहती है, वह कभी-कभी सीधी काशी भी पहुंच जाती है। हमारा युग भी कुछ इसी प्रकार का है।

परंतु कभी-कभी हमें रस संप्रदाय के उस अलौकिक आनंद की याद आती है जो ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है। ध्यान देने की बात यह है कि आनंद अलौकिक है और ब्रह्मानंद सहोदर है। एक बार पहले हम इस बात का संकेत कर चुके हैं कि वीर, करुण, हास्य, बीभत्स, भयानक आदि रसों की जो अनुभूति होती है वह समभाव से अलौकिक है, इसमें हमें संदेह है। कला की स्वाभाविकता के निर्वाह से एक प्रकार का संतोष पैदा होता है जो शरीर में स्वेद, रोमांच आदि विभिन्न अनुभवों की सृष्टि करता है। पर क्या इसे ही अलौकिक आनंद कहा जा सकता है? हम अपनी शंका इस रूप में रख चुके हैं कि शृंगार की ओर नवयुवकों का, आश्चर्य की ओर बालकों का और शांति की ओर वृद्धों का आकर्षण विशेष होता है। यह भी अलौकिकता का प्रतिपादक नहीं ठहरता।

यदि हमें कुछ अनुमान लड़ाने का मौका दिया जाए तो हम कहेंगे कि रसवाद का यह अलौकिक आनंद साहित्य की व्यावहारिकता में आदर्श का पुट देता है। नवरसों के द्वैत में अद्वैत का मुलम्मा चढ़ाता है। इसमें भी उसी समन्वय का आग्रह है जो भारतीय जीवन और विचारों के प्रत्येक क्षेत्र में दीख पड़ता है। शुक्लजी ने हमें सीमित होने की फटकार बतलाई है। पर इस फटकार से डरकर हम 'लघुचित्रवादी' ('हमारे साहित्य का भविष्य' लेखमाला देखिए) न बन जाएं। इसलिए अलौकिक आनंद का आश्वासन दिलाया गया है। इसे कोई मिथ्या कहे पर हम सत्य कहेंगे। आदर्शों का प्रभाव देखा जाता है, वह प्रभाव ही सत्य है, तर्क सत्य नहीं है। हमारे साहित्य में कहीं यूरोप के नाचघरों वाला उद्दाम 'कर्म-सौंदर्य' न घुस पावे इसलिए अलौकिक आनंद का विधान रखा गया है। अद्वैतवाद के अधिकार बहुत कम होते हैं। इसलिए अद्वैतशास्त्रों के अध्ययन के संबंध में भी बड़े-बड़े विधि निषेध रखे गए हैं, फिर भी क्षुद्रता और दुर्बलता के भीतर निस्सीम शक्ति का आदर्श रखने वाला यही अद्वैतवाद है। अधिकारियों के लिए यह अनेक रहस्यात्मक भावनाओं का विस्तार करने वाला और अभिव्यक्तिवादियों के लिए भी यह काव्य में विराट-चित्रों की सृष्टि करने वाला है। हमारी समझ में इसी अद्वैतवाद का संकेत रसवाद के अलौकिकानंद द्वारा किया गया है। हमारे साहित्य की सनातन आदर्शोन्मुखता, व्यापकता, विराटचित्र, संयम आदि हमारे इस कथन के ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

(सोमवार, 30 मार्च 1931)

नवीन कविता की गति

कल श्री सुमित्रानंदन पंतजी की बातें सुनीं। इतनी अच्छी बातें सुनने की आशा नहीं थी। इतना बढ़िया विश्लेषण अच्छे समालोचकों को शोभा देता, इतने खरे, दुनियावी तथ्य पंतजी के छायालोक

में कहां से पहुंचे, भगवान जाने। इतना पता-ठिकाना, इतनी छान-बीन हमें बड़ा ही अच्छा लगा। जिस दिन हमने *वीणा* की पहली अग्नि-समर्पित भूमिका की वे पंक्तियां पढ़ी थीं जिसमें पंतजी ने श्रीमान् 'द्विरेपाजी' को उत्तर देते हुए यह आतंकपूर्ण घोषणा की थी कि हिंदी में सुंदर, साफ पद-रचना अब वे ही किया करेंगे उस दिन हिंदी की मरुभूमि में ऊंट की भांति पंतजी हमें कुछ अपरूप, कुछ महाकाय किंतु अल्पप्राण-से जान पड़े थे। परंतु वह विवादी स्वर अपवाद था। आज के पंतजी तो अध्ययनशील, सारग्राही, विनीत और तीव्रबुद्धि व्यक्ति हैं। *पल्लव* में सूरदास और तुलसीदास की स्तुति देखकर और फिर अन्य बातें देखकर हमें यह संदेह-सा हुआ था कि वह परंपरा पालन की प्रेरणा मात्र है। परंतु अब जान पड़ता है कि कवि पंतजी में उस समय भी दोनों भारतीय महाकवियों के प्रति सच्ची श्रद्धा रही होगी और वही प्रतिदिन प्रांजल होती गई। आजकल की बातों से ऐसा जान पड़ता है कि पंतजी की कविता-परी आकाश से उतरकर हमारे परिचित लोक में विचरण करेगी। हिंदी के साहित्यिक पक्षों के लिए अच्छा होगा क्योंकि राम गिरि से संदेश ले जाने वाले मेघदूत आधुनिक युग में मिलते ही नहीं, कुछ ऐसा रूठ-से गए हैं, कुछ ऐसा अभिशाप-सा दे दिया गया है।

यह तो मानने की बात रही है कि हिंदी के साहित्य-समीक्षकों का कुछ शुभफल न पड़ा हो। जो समीक्षाएं वास्तविक थीं, जिन्होंने रचनात्मक ढंग से कुछ छोटी-छोटी ही सही, किंतु सत्य-सत्य बातें कही थीं, उनका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। कल हमारे प्रश्न करने पर पंतजी ने बतलाया कि 'निरालाजी' की कविताएं बुद्धि के आधिक्य से पीड़ित हैं और स्वयं उनकी कविताएं कल्पना के आधिक्य से पीड़ित हैं। छायावाद की समस्त कविताएं अलंकरण के भार में दबी हुई हैं। यथापि वे आकाश में ही उड़ने का प्रयत्न करती हैं। कविता में जीवन से संबंध विच्छेद करने की अंग्रेजी तलाक पद्धति को अपनाया है। पंतजी इसे दोष समझते हैं। पं. रामचंद्र शुक्ल की कविता में जीवन के परमाणु (Vitamins) छायावाद की कविता की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। यह बात दूसरी है कि युग के नवीन उपकरणों को वे नहीं अपना सके हैं। साधु टी.एल. वासवानी ने इस बात पर विशेष आग्रह किया है कि भारत को इस समय एक नवीन रचनात्मक संस्कृति की आवश्यकता है। युग की संपूर्ण वास्तविकता को आत्मसात किए बिना काम नहीं चलेगा। जो तथ्य हमें चारों ओर से घेर रहे हैं, उनसे भागकर जाना तो संभव नहीं। जो घोर रूप मनुष्य ने कमाया है, उसके लिए 'देख फिर घोर रूप तू ने जो कमाया है' कहने मात्रा से काम नहीं चलेगा। शुक्लजी की प्रकृति प्रियता (Back to the Villages) गांवों को लौट चलो की पुकार मचाने वाले भावुक बंगालियों की ध्वनि से मिलती-जुलती है। अभी तो लाग लगा है, अभी से ही घबराने से काम कैसे चलेगा? हमें तो शक्ति के साथ युग के कठोर सत्यों का साक्षात्कार करना होगा। बगलें झांकने में विशेष लाभ नहीं हो सकता। युग-जीवन के भीतर से जो वाणी निकलेगी वही प्रतिनिधि कवि की वाणी कहला सकेगी। आधुनिक नागरिक जीवन और भौतिकवाद से डरने से वे मिट नहीं जाएंगे। साहस के साथ उनमें अंतर्निहित सत्य के अन्वेषक ही युग की शक्ति से समन्वित सच्चे कवि कहलाएंगे।

यह तो सभी समझते हैं कि कविता के लिए भावना (Perception) और उसकी

अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है। इन दोनों का साम्य ही कला की उत्कृष्टता है। अकेली भाव सबलता कलाकार को पागल बना सकती है और अकेली अभिव्यक्ति की शक्ति उसे असत् और ढोंग की ओर बढ़ा सकती है। पंतजी अंग्रेजी समीक्षक थामसन से सहमत होकर रविबाबू में अलंकरणाधिक्य की शिकायत करते हैं। चित्र (Imagery) भी अलंकार ही है और उनका भी बहुमूल्य देखा जाता है। पंतजी शेक्सपीयर में भी यह दोष पाते हैं यद्यपि अंग्रेज समीक्षक इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं। आधुनिक बर्नार्ड शा अथवा प्राचीन प्लेटो की तरह अत्यधिक कर्कशता न दिखाई जाए तो हम समझते हैं शेक्सपीयर इस लांछन से बच सकते हैं। हम चेस्टरटन की भांति शेक्सपीयरवादी बनने की बात नहीं कहते, केवल कविता मात्र से चिढ़ने का विरोध करते हैं। पंतजी तो स्वयं कवि हैं, वे ऐसा क्यों करेंगे?

यह तो सिद्धांतों का निरूपण हुआ। परंतु पंतजी ने तो उन्हें कार्यान्वित करना प्रारंभ कर दिया है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने प्रत्येक दिशा में समान गति से प्रवेश करने का उपक्रम किया है। वे शक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए शब्द-संग्रह में लगे हुए हैं। शायद वे कविता की शब्दावली से अलग गद्य की शब्दावली मानते हैं। पर आगे चलकर उन्हें दोनों को एक में मिला देने की आवश्यकता जान पड़ती है। शब्दचयन के संबंध में प्रसिद्ध कलाकार रस्किन ने मिल्टन की बड़ी प्रशंसा की है और उसके (Lycidas) काव्य का उद्धरण देकर शब्दों की बड़ी ही मार्मिक आलोचना की है। मिल्टन की पदावली में कहीं कविता की कोमलता, पर कहीं गद्य की गुरु-गंभीर ध्वनि भी सुन पड़ती है। आधुनिक जीवन के यह अनुकूल ही होगा कि गद्य और पद्य की शब्दावली दो भागों में न बांटी जाए बल्कि सम्मिलित परिवार की संपत्ति की भांति उसका यथारुचि उपयोग किया जाए। अंग्रेजी के प्राचीन (Classic) वर्ग के लेखकों और हमारे ब्रज भाषा कवियों में कोमलकांत पदावली की अभिरुचि ने एक कृत्रिम माधुर्येषणा उत्पन्न कर दी थी। यह युग वैसा ही था, अब तो बहुत चीनी फांकने से जी ऊब जाता है और डॉक्टरों ने रोगोत्पत्ति की शंका भी उत्पन्न कर दी है।

भावनाओं के क्षेत्र में पंतजी को—तथा अन्यान्य छायावादियों को भी—अधिक संयम और अधिक वास्तविकता से काम लेना है। भावों का अभाव नहीं है, भावों का आतिशय्य है। उनमें कल्पना की विक्षिप्तगति है, जिसकी दवा करनी होगी। पंतजी ने इसके लिए संभवतः अध्ययन को अपना साधन बनाया है। बड़ा अच्छा है। जो बातें सौ मील की यात्रा करने से नहीं मालूम होतीं वे दो पृष्ठों का अध्ययन करने से मालूम होती हैं। इस संबंध में भी हमें केवल एक ही बात कहनी है। पंतजी ने अपनी बातचीत में, कार्यक्षेत्र (Field of action) और विचारक्षेत्र (Field of contemplation) को अलग किया था और कहा था कि एक में अग्रसर होना जितना कठिन है, उतना ही दूसरे में भी। यह कोई स्वयंसिद्ध बात नहीं है। पर इस प्रकार के संस्कार मन में जम जाने पर एक प्रकार की विच्छेदक (Separatist) मनोवृत्ति बन जाती है और दोनों क्षेत्रों का एकीकरण नहीं हो पाता। आधुनिक छायावाद अवश्य ही एक हद तक युग की आर्तवाणी है, इसलिए यह आवश्यक है कि आर्तों से हमारा संबंध बना रहे। हम विचारकों की (Men of contemplation) स्वतंत्र समिति (heirarchy) खोलना कदापि

पसंद नहीं करेंगे। न तो यह युगगति के अनुकूल है और न यह छायावाद की विकास-परंपरा के अनुकूल। चाहिए तो यह कि हम व्यापक दृष्टि से मानव-विकास के इन दो अंगों—विचार और कार्य—का तारतम्य मिलावें पर यदि हम उतना आगे न बढ़ सके तो बिलकुल मुंह भी न फेर लें। जीवन संबंधी अनुभव कार्य के खुले मैदान में ही अधिक प्राप्त किए जा सकते हैं। वह भी हमारे अध्ययन का एक अंग होना चाहिए।

महात्माजी का 'धर्म'

इस समय देश में कहीं-कहीं हिंदू-मुस्लिम झगड़े के जो समाचार प्राप्त हो रहे हैं, उनसे महात्माजी को अत्यंत दुख हो रहा है, आपने कहा है कि बिना जातिगत विद्वेष को दूर किए हुए उनका राउंडटेबिल कॉन्फ्रेंस में शरीक होना व्यर्थ होगा। इसका मतलंब यही है कि वे आपस की एकता स्थापित करने में दृढ़ता से काम करेंगे। आपने कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर अपने मुख्य प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा भी था कि 'मैं अपना 'धर्म' अवश्य-अवश्य पालन करूंगा, नहीं तो बड़े भारी पाप का भागी बनूंगा।' महात्माजी के उक्त वाक्य वास्तव में विचारणीय हैं। महात्माजी के कहने का तात्पर्य यह है कि कॉन्फ्रेंस में शामिल होकर भारतीय प्रश्नों का ठीक-ठीक निबटारा कराने के लिए हिंदू-मुस्लिम एकता की प्रधान आवश्यकता है। ठीक भी यही है कि यदि भारतीय समस्याओं को सुलझाना है तो हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करना प्रत्येक देश प्रेमी का कर्तव्य है।

(सोमवार, 6 अप्रैल 1931)

मुस्लिम जमातें

कराची कांग्रेस के अवसर पर मुस्लिम समाज के विद्वान और धार्मिक उलेमाओं के अधिवेशन में जिस राष्ट्रीय भाव का परिचय दिया गया उसे देखकर बहुत-सी आंखें खुल गई होंगी। कहा जाता है कि अंग्रेजी की शिक्षा के बिना राष्ट्रीयता जाग्रत नहीं होती पर प्राचीन मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति के प्रतिनिधि उलेमाओं ने इस भ्रम को दूर कर दिया। संयोग से उसके बाद ही देहली में होने वाले मुस्लिम सम्मेलन की अंग्रेजी पढ़ी-लिखी, उपाधियां आदि से विभूषित जमात ने अपने प्रस्तावों और भाषण से और भी साबित कर दिया कि अंग्रेजी पढ़कर मजहबी कट्टरता और संकीर्णता मिट नहीं जाती, शायद बढ़ ही जाती है। इस देहली की जमात ने मौलाना शौकत अली के सभापतित्व में एक प्रस्ताव यह भी पास किया है कि बनारस, आगरा, मिर्जापुर और कानपुर आदि के हिंदू-मुस्लिम दंगों में तमाम शरारत हिंदुओं की है क्योंकि हिंदुओं ने निरीह और अरक्षित मुसलमान की हत्या की है। इस प्रकार के प्रस्तावों से शांति स्थापना के कार्य

पर क्या प्रभाव पड़ेगा, भविष्य में उससे क्या अनिष्ट हो सकता है, आदि आवश्यक और हितकारी बातों की ओर से आंखें मूंद ली गईं। इसी जमात ने राष्ट्रीय कांग्रेस के सत्याग्रहियों की अहिंसा नीति को हिंदुओं की राजनीतिक चाल ठहराया और जातीय झगड़ों के लिए उन्हें जिम्मेदार ठहराया है। और यह सब ऊल-जलूल कह चुकने के बाद उस जमात के सम्मानित सदस्य सर मुहम्मद सफी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह जमात मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है। मुसलमान जनता यदि अपने हित को पहचानती है और अपने सम्मान का ध्यान रखती है तो वह कभी भी ऐसी जमात को अपनी प्रतिनिधि संस्था स्वीकार करने का भ्रम नहीं कर सकती।

इसी अवसर पर होने वाले अखिल भारतवर्षीय शिया मुस्लिम राजनीतिक सम्मेलन ने इस बात की सूचना दे दी कि देश की मुसलमान जनता का एक महत्वपूर्ण दल देहली जमात की कट्टरता का कायल नहीं है, वह उदार विचार रखता है और राष्ट्रीय आंदोलन को सहायता पहुंचाना चाहता है। उसके अध्यक्ष राजा नवाब अली महोदय का भाषण बड़ा ही सारगर्भित हुआ। राजा साहब खद्दर पहने हुए पंडाल में आए। उन्होंने सत्याग्रह आंदोलन को हिंदुओं की कूटनीति बतलाने वाले मजहबपरस्तों की बात का खंडन करते हुए यह दिखाया कि उस आंदोलन में तमाम देश ने भाग लिया था और जेल जाने वाले 53,000 व्यक्तियों में सभी जातियों और फिरकों के लोग यथोचित संख्या में थे। कांग्रेस की राष्ट्रीय शक्ति का उल्लेख करते हुए आपने कहा है कि उसने गोलमेज में शरीक न होकर विलायती दलों में यह भावना उत्पन्न कर दी कि देश की मांगों को अधिक समय तक टाला नहीं जा सकता। गोलमेज सम्मेलन की बातचीत में ब्रिटेन के द्वारा जो उदारभाव दिखाया गया उसका कारण एक हद तक कांग्रेस का आंदोलन भी था। देहली की जमात के मिस्टर जुहूर अहमद की झूठी और भ्रामक बातों से राजा साहब की खरी बातों को मिलाने से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकता कि समझदार मुसलमानों का क्या रुख हो सकता है और क्या रुख होना चाहिए।

महात्मा गांधी ने मुसलमानों के सामने यही एकमात्र शर्त रखी है कि उनके सब दल मिलकर और एकमत होकर जो मांगें रखेंगे, उन्हें वे स्वीकार कर लेंगे। यद्यपि गांधीजी को इस प्रकार की शर्त रखने की अनुमति कांग्रेस ने अथवा हिंदुओं की किसी संस्था ने नहीं दी है, पर उनका कहना है कि यदि मुसलमान एकमत होकर अपने प्रस्ताव कर सकें तो वे (गांधीजी) हिंदुओं पर जोर डालकर उन्हें मना लेंगे। गांधीजी की इस उदार शर्त का मुसलमानों पर अच्छा असर पड़ना चाहिए पर देहली की जमात का रुख अच्छा नहीं दीख पड़ता। इस प्रकार भी जब वह मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था होने का दम भरती है तब हिंदुओं का असंतुष्ट होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। जो जमात हाल के सभी दलों को हिंदुओं की सरासर शरारत और कांग्रेस की कूटनीति कहने में नहीं हिचकती उसके प्रतिनिधियों के साथ हिंदू जनता मेल का हाथ बढ़ाने को कैसे तैयार हो सकती है? खैरियत यही है कि मनुष्य स्वभाव से भला होता है और असत्य को पसंद नहीं करता। देश के राष्ट्रीय मुसलमानों ने महात्माजी से आग्रह किया है और उन्हें यह विश्वास दिलाया है कि वे संयुक्त निर्वाचन को

स्वीकार करते हैं। डॉक्टर अंसारी, मौलाना अबुलकलाम आदि नेताओं ने तो यहां तक कहा है कि मुसलमानों को किसी प्रकार के संरक्षण की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि कांग्रेस ने बिना भेद-भाव के एक निश्चित अवस्था के ऊपर प्रत्येक मनुष्य को वोट देने का (Adult soffrage) अधिकार स्वीकार कर लिया है। महात्माजी ने कह दिया है कि वे ऐसे किसी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकते जो राष्ट्रीय हित में बाधक हो, त्रुटिपूर्ण भी हो और साथ ही, जिसका समर्थन सभी मुस्लिम दल न करें। जान पड़ता है, महात्माजी की उदार शर्त का बेजा फायदा उठाकर कुछ मुस्लिम सांप्रदायिक अपनी कट्टरता को मुसलमान जनता के सिर पर लादना चाहते हैं और अपनी विद्वेषवाणी को ही मुसलमानों की जातीय वाणी करार देना चाहते हैं। इस प्रकार की कार्रवाई से न तो राष्ट्रीय हित हो सकता है और न मुसलमान जाति की सत्यता, सम्मान और प्रतिष्ठा की रक्षा की जा सकती है।

गोलमेज में कांग्रेस

पहले यह सूचना निकली थी कि गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस की पूरी वर्किंग कमेटी शरीक होगी, पर अंतिम विज्ञप्ति यह निकली है कि यदि महात्मा गांधी विलायत जाएंगे तो अपने साथ बहुत थोड़े कांग्रेस नेताओं को ले जाएंगे। पिछली बार यह शिकायत की गई थी कि सम्मेलन में बहुत अधिक लोग चले गए थे। उनका नियंत्रण करना साध्य नहीं था।

हमारी समझ में इस बार भिन्न-भिन्न दलों के अलग-अलग सदस्य न रखे जाएं बल्कि थोड़े से शक्तिपूर्ण नेता, राजनीतिज्ञ और विशेषज्ञ रखे जाएं। पिछली गोलमेज ने अर्थ, फौज और अंतर्राष्ट्रीय विभागों के संबंध में जो निर्णय किए हैं, उन पर ही विशेषतः बहस की जाएगी। इसलिए यह आवश्यक है कि इन्हीं समस्याओं के विशेषज्ञ अधिक संख्या में रखे जाएं। यह प्रसन्नता की बात है कि सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, श्री घनश्याम दास बिड़ला और श्री जमाल व्यापार संघ की ओर से सम्मेलन के लिए चुने गए हैं। इस तीनों महोदयों से अर्थसमस्या पर अच्छा प्रकाश पड़ने की आशा है। बर्मा के प्रश्न पर विचार करने के लिए सच्चे प्रतिनिधियों का रहना जरूरी है। कांग्रेस प्रतिनिधि मंडल की कम से कम संख्या में जाने की बात हमें पसंद है और हम चाहते हैं कि अन्य दल भी इसी का अनुकरण करें।

हिंदी और उर्दू की एकता का प्रश्न—1

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

हिंदुस्तानी एकेडमी का दूसरे वर्ष का उत्सव प्रयाग में 4-5-6 अप्रैल को मनाया गया। इस बार

के सभापति जस्टिस सर सुलेमान महोदय ने अपने भाषण में इस बात का स्पष्ट संकेत किया कि एकडेमी हिंदी और उर्दू को मिलाकर चलाना चाहती है। अब से पहले एकेडमी के इस लक्ष्य की ओर किसी ने इतने खरे शब्दों में संकेत नहीं किया था, इसलिए जस्टिस महोदय हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। भारत में अंग्रेजी राज्य के आरंभ काल से ही हिंदी और उर्दू को मिलाने की थोड़ी-बहुत कोशिश अधिकारियों की ओर से की जाने लगी थी पर इतिहास ने इस प्रसंग को इतना विचित्र और इतना रहस्यमय बना दिया है कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज में हिंदी और उर्दू पढ़ाने के लिए सैयद इंशाउल्ला खां, पं. सदल मिश्र, श्री लल्लू लाल आदि अध्यापक रखे गए थे और उनकी बनाई हुई पुस्तकों की भाषा हमारे सामने मौजूद है। उस भाषा से जब हम डॉक्टर ताराचंद्र के एकेडमी में पढ़े हुए लेख की भाषा को मिलाते हैं, तब हमें स्पष्ट एक बड़ा अंतर दीख पड़ता है। हम कह नहीं सकते कि एकेडमी के मंत्री डॉक्टर ताराचंद के लेख की भाषा आदर्श हिंदुस्तानी है। पर यदि ऐसा है तो हमें कहना पड़ेगा कि इन 70-80 वर्षों में इंशाउल्ला खां की हिंदुस्तानी भाषा ने डॉक्टर ताराचंद तक पहुंचते-पहुंचते अपने हिंदुस्तानीपन को एक बड़ी हद तक खो दिया है और विदेशीपन को अपना लिया है।

हिंदुस्तानी में उर्दू की इस विजय का कारण भी इतिहास में मिलता है। उस समय की सरकार को यह समझाया गया कि फारसी भाषा और लिपि हिंदुस्तान में कई सौ वर्षों से राजभाषा रह चुकी है, कचहरियों में, मदरसों में, समाज में सर्वत्र उसका प्रयोग होता है इसलिए उसको ही प्रधानता मिलनी चाहिए। फलतः सारे उत्तर भारत की कचहरियों में एक अत्यंत अपरिचित और कृत्रिम भाषा का व्यवहार किया जाने लगा, जिसकी शब्दावली और जिसका वाक्य विन्यास विदेशी था। एक बार जब वह चल पड़ी तब चलती ही रही। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से इसका प्रतिवाद शुरू किया गया, नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्न से हिंदी को भी वैकल्पिक स्थान मिला, पर एक प्रकार से मिलना, न मिलना बराबर हुआ। एक बंधी हुई परंपरा को बदलने में जब तक प्रत्यक्ष सरकारी सहायता नहीं मिलती, बल्कि उदासीनता और विरोध का ही परिचय मिलता है तब तक हिंदी अपना उचित स्थान पाने से पिछड़ी रहेगी। एकेडमी के अवसर पर काशी के एडवोकेट श्री गौरीशंकर प्रसादजी ने विदेशी प्रयोगों की घोर क्लिष्टता और अस्वाभाविकता के जो खरे उदाहरण दिए हैं, सरकार पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा, भगवान जाने। अब तक तो कुछ नहीं पड़ा। जस्टिस सुलेमान महोदय ने एक देशी लिपि (नागरी) के और एक विदेशी लिपि (फारसी) के अंतर को निहायत छोटा अंतर बतलाकर जिस भाव का आभास दिया है, यदि वही सरकारी भाव भी है तो यह स्पष्ट है कि सरकार अब तक न्याय नहीं करना चाहती। स्कूलों की भाषा भी उर्दू की ही तरफदारी करती रही। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की नीति से हिंदी का हित हुआ क्योंकि उनकी हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा नागरी लिपि में लिखी जाकर विद्यार्थियों के सामने आई। तब तक बेचारे विद्यार्थियों को विदेशी शब्द विन्यास और विदेशी लिपि की दोहरी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। राजा शिवप्रसाद ने आधा बोझ हल्का कर दिया। अब स्कूलों और कॉलेजों में हिंदी और उर्दू को

एक प्रकार से विकास का समान अवसर मिला है और यह स्वाभाविक है कि परीक्षार्थियों में हिंदी-वालों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। परंतु समाज में अब तक एक कृत्रिम वायुमंडल बना हुआ है, जिसके लिए राजसत्ता प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से जिम्मेदार है।

यहां हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि सरकार को इस नीति के कारण ही हिंदी-उर्दू के सम्मिलन प्रवाह में बड़ी बाधा पड़ी। हिंदी और उर्दू की धाराएं अलग-अलग बहती रहीं और उनका अंतर बढ़ता ही गया। परंतु जातीय सभ्यता और संस्कारों की आग बुझ नहीं सकी, वह विपरीत परिस्थितियों में भी प्रज्वलित होती रही। स्वामी दयानंद ने संस्कृत साहित्य के अनुशासन की प्रेरणा समाज में खूब भरी। हमारी स्त्रियां अटल भाव से नागरी लिपि को अपनाए रहीं। हिंदी के लेखकों और कवियों ने जनता की रुचि सुधारी। साहित्यिक संस्थाएं खुलीं जिन्होंने सरकारी उदासीनता की चिंता न कर निरंतर प्रयत्न किया और हिंदी की हिमायत की। उर्दू के उस दौरदौरे के भीतर सरकारी उच्च समाज ने भी हिंदी को बिलकुल भुलाया नहीं। यह बात हिंदी की पारसी नाटक कंपनियों को देखने से मालूम पड़ती है। आज हम इन कंपनियों की निंदा करते हैं क्योंकि हममें कुछ शक्ति आ गई है। पर कुछ समय पहले का विचार कर हमें इनका कृतज्ञ होना चाहिए।

ऊपर के विवरण से हिंदी समाज की वर्तमान मनोवृत्ति का पता लगाने में सहायता मिलेगी। आज यह कहा जाता है कि बीती बातों को भुला दो और हिंदी-उर्दू को एक हो जाने दो। सरकार की लाड़ली उर्दू बेचारी हिंदी से हाथ मिलाने को तैयार हुई है। यह विस्मय की बात जान पड़ती है। इसीलिए एकेडमी के हिंदी विभाग में तरह-तरह की शंकाएं प्रकट की गईं। आचार्य श्यामसुंदर दास के भाषण में सरकार की उदासीनता का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। उन्होंने भाषा विज्ञान के तत्वों पर विशेष आग्रह कर भाषा के स्वाभाविक विकास पर जोर दिया है। नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना द्वारा हिंदी का नियमन (Standardisation) करने में उन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की है। परंतु हिंदी के स्वाभाविक विकास पर उन्हें इतना अधिक गर्व है कि वे सभा के नियमन-कार्य की ओर ध्यान तक नहीं देते। उन्होंने अत्यंत मार्मिक शब्द में Survival of the Fittest का जो सिद्धांत रखा, उसमें भी ऐतिहासिक कारणों का ही प्राबल्य है।

ऐसी स्थिति में डॉक्टर वेणीप्रसादजी के जोशीले भाषण को सरकारी अमन सभाओं की भांति की वस्तु समझा जाए तो अनुचित तो कुछ भी नहीं। डॉक्टर साहब ने जोश में आकर भाषाविज्ञान के साधारण नियमों को भी भुला दिया, पर इससे भी अधिक अन्याय उन्होंने इतिहास और मनोविज्ञान संबंधी तथ्यों को भुलाकर किया है। हिंदीसेवी विद्वान सरकार की पूर्वनीति से विशेष उदासीन हैं। उनकी शंकाएं जब तक दूर नहीं की जातीं तब तक उनपर किसी भी जोशीली बात का असर नहीं पड़ सकता। हिंदुस्तानी एकेडमी का प्लेटफार्म कुछ कांग्रेस का मंच नहीं है, डॉक्टर साहब और महात्मा गांधी को एक समझने में लोग संदेह करें तो हमारे पास उसकी कोई दवा नहीं।

इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि सरकार हिंदुस्तानी एकेडमी के द्वारा हिंदी सेवियों में अपने प्रति फैले हुए असंतोष, अविश्वास और शंकाओं को दूर करे। यदि वह हिंदी

और उर्दू को निष्पक्ष भाव से एक में मिलाना चाहती है तो केवल ऐतिहासिक दृष्टि से हम उसे नीचे लिखी थोड़ी-सी सम्मतियां देंगे—

1. हिंदी की साहित्यिक संस्थाओं के प्रति उदार भाव रखे और उन्हें आर्थिक सहायता पहुंचाए।
2. कचहरियों में हिंदी का प्रचार बढ़ाने के लिए वास्तविक उद्योग करे और इस प्रकार उर्दू के प्रति किए गए पक्षपात का प्रायश्चित करे।
3. समाज में हिंदी के प्रति बने हुए हीनभाव को हटाने में योग दे।
4. हिंदुस्तानी का वह रूप दृढ़ करे जिसे इंशाउल्ला खां और सदल मिश्र आदि ने दिया था, आजकल के उर्दू-दां लोगों की कृत्रिम और नकली भाषा को हिंदुस्तानी न करार दे। उदाहरण के लिए गद्य में आचार्य द्विवेदी जी, काव्य में सनेहीजी और कथासाहित्य में प्रेमचंदजी की भाषा को हिंदुस्तानी भाषा स्वीकार करे।

महात्मा गांधी ने विदेशी वस्त्र व्यवसाय और स्वदेशी वस्त्र व्यवसाय को बराबरी के सुभीते देने की बात का खंडन करते हुए लिखा है कि सरकार ने स्वदेशी उद्योग-धंधे को मटियामेट कर अपने देश के रोजगार को बढ़ाया है। अब उसे यह कहना शोभा नहीं देता कि दोनों के साथ एक-सा व्यवहार किया जाए। हाथी और चींटी का, राक्षस और बौने का क्या साथ हो सकता है? हिंदी वालों को भी लगभग ऐसी ही शिकायत है। इतिहास में इस बात के प्रमाण भी हैं। इसलिए यदि सरकार हिंदी और उर्दू की एकता स्थापित करने का सच्चा इरादा रखती है तो वह हिंदी के प्रति उदारता का संकेत (Gesture) करे। बिना इसके हिंदी वालों की ओर से मेल का हाथ शायद ही बढ़ेगा। इसके लिए उन्हें दोष भी नहीं दिया जा सकता।

(शुक्रवार, 10 अप्रैल 1931)

वाइसराय की विदाई

इन पंक्तियों के छपकर प्रकाशित होने के समय वाइसराय लार्ड इर्विन देहली से विदा हो जाएंगे और बंबई में जहाज पर बैठकर अपने देश की यात्रा कर देंगे। साथ ही, नए वाइसराय लार्ड विलिंग्डन जहाज से उतरकर भारत की भूमि पर पदार्पण करेंगे। हम लार्ड इर्विन को ससम्मान विदा करते हैं और लार्ड विलिंग्डन का उसी प्रकार स्वागत करते हैं। आजकल राजनीति का चश्मा चढ़ाकर ही सब कुछ देखने की आदत पड़ गई है। इसलिए जीवन संबंधी वे सरल और स्वच्छ अनुभव नहीं प्राप्त किए जा सकते जो राजनीति में कहीं अधिक आवश्यक हैं और हितकर हैं। पश्चिम के देशों ने राजनीतिक शिष्टाचार में मनुष्य को इस प्रकार जड़ बना दिया है कि जिसकी कोई सीमा नहीं। विलायत के सम्राट की मृत्यु होने पर देश भर के गिरजाघरों

और क्लबों में 'सम्राट मर गए' 'सम्राट जीवित रहें' (The King is dead, Long live the king) का हल्ला मच जाता है और हृदय की करुण क्षीण पुकार उसी में विलीन हो जाती है। ऐसे जमाने में प्रथाओं के, रीतियों और रूढ़ियों के सामने मनुष्य जीवन का जो अनादर होता है वह कलियुग का एक बड़ा कलंक है। काले झंडे, काली पोशाक, कुछ शब्द-संकेत, ये चिह्न ही हृदय की वृत्तियों का स्थान लेते जा रहे हैं और मनुष्य विवश होकर अपने को उन्हीं के हाथों में सौंपता जा रहा है।

लार्ड इर्विन भारत के वाइसराय थे और पांच वर्षों तक उस पद पर रहे। उन्होंने राजनीति के क्रांतिकारी वायुमंडल में ये वर्ष बिताए। पिछले वर्ष भर सत्याग्रह की लड़ाई हुई और उसने संपूर्ण वातावरण को अपने ही रंग में रंग दिया। अब जहां कहीं लार्ड इर्विन के संबंध में बातचीत की जाती है वहां सब बातें भुला दी जाती हैं और उनके आर्डिनेंसों वाले दमनचक्र की ही याद की जाती है। गनीमत इतनी ही है कि देहली के गांधी-इर्विन समझौते ने लार्ड इर्विन के कार्यकाल में 'मधुरेन समापयेत' की मिठाई भर दी है, नहीं तो बंबई से विदा होते समय वाइसराय महोदय को नागरिकों का मानपत्र न मिलता, उल्टा कुछ विरोध-प्रदर्शनों का ही उपहार मिलता। यह सब समूह का उत्पात है जिसके कारण की जांच करने का यह अवसर नहीं है। इस समय संयोगवश स्थिति सुधरी हुई है और वाइसराय की विदाई के समय कितने ही परिचित और अपरिचित देशवासियों के हृदयों में एक करुण अभाव का अनुभव होगा। महात्मा गांधी ने दिल्ली के समझौते पर अपनी सम्मति देते हुए सबसे पहले लार्ड इर्विन के प्रति कृतज्ञता प्रकाश किया है और हम समझते हैं महात्माजी का यह प्रशंसापत्र सारे देश का प्रशंसापत्र है। विलायत के गुमराह रूढ़िवादियों को छोड़कर उनके सारे देशवासियों के पत्र ने राजनीतिक दृष्टि से भी उनके कार्यकाल की सफलता स्वीकार की है। देश-विदेश के सभी विचारवान व्यक्ति लार्ड इर्विन की इस राजनीतिक कृति के कायल हैं।

परंतु लार्ड इर्विन का दूसरा पक्ष कुछ कम उज्ज्वल नहीं है। वे एक धार्मिक आचरण के व्यक्ति कहे गए हैं और उन्होंने लेडी इर्विन के साथ मिलकर लोक-हितैषिता के अनेक कार्य किए हैं। कृषि संबंधी विशेषज्ञ होने के कारण उन्होंने उस क्षेत्र में काफी दिलचस्पी दिखाई यद्यपि समय उसके अनुकूल नहीं था। दरिद्रों और रोगग्रस्तों की ओर उनका विशेष ध्यान रहा है और उन्होंने उनके लिए अच्छा उद्योग किया है। शिक्षा संस्थाओं के प्रति लार्ड इर्विन के विचार विशेष उदार रहे हैं। काशी विश्वविद्यालय में एक नवीन भवन शिलान्यास करते हुए उन्होंने जो भाषण दिया था उसे हमने सुना था और वह आज भी हमारे कानों में गूंज रहा है। यह सर्वथा उचित हुआ कि उनके नाम पर देहली में एक बड़े कॉलेज की स्थापना होने वाली है। इस प्रकार उनकी शिक्षा संबंधी अभिरुचि मूर्तिमान होकर चिर दिन तक उनका स्मरण दिलाती रहेगी।

लार्ड इर्विन सत्य की ओर सदैव आकर्षित रहे हैं। भारत की राष्ट्रीय जागृति को उन्होंने कितनी ही बार बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है और यह साफ-साफ कह दिया है कि देश की जागृति शक्ति दबाई नहीं जा सकती। यद्यपि अपने पद की जिम्मेदारी की हैसियत से

वे प्रत्यक्षतः कांग्रेस के विरोधी थे पर उन्होंने उसे एक 'महान राष्ट्रीय संस्था' कहकर उसका सिर ऊंचा किया है। महात्मा गांधी के पिछले कुछ पत्रों का असंतोषजनक उत्तर देने के कारण ऐसी कल्पना की जाती थी कि लार्ड इर्विन महात्माजी की आत्मशक्ति का अनुभव नहीं करते पर यह कल्पना पिछले समझौते के समय झूठी साबित हो गई। मिस्टर चर्चिल को यह शिकायत थी कि सम्राट के प्रतिनिधि लार्ड इर्विन एक अर्द्धनग्न फकीर (गांधी) को बराबरी का आसन देते हैं और उनसे खुलकर बातचीत करते हैं पर लार्ड इर्विन के हृदय में ऐसी भावना कभी उत्पन्न नहीं हुई। उन्होंने आधी-आधी रात तक गांधीजी से बातचीत की और उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि गांधीजी के पावन व्यक्तित्व पर उनका अटल विश्वास है।

देहली के चेम्सफोर्ड क्लब में अपने प्रसिद्ध भाषण में लार्ड इर्विन ने अपने संबंध में कहा था कि मैंने भारत की सेवा जहां तक बन पड़ी, की। भविष्य में भी जब कभी मुझे सेवा का शुभ अवसर मिलेगा मैं उसे हाथ से जाने नहीं दूंगा। उनका भारत हितैषिता का यह दृढ़भाव सारे देश को उनके प्रति कृतज्ञ बनाने में समर्थ हो, और वे चिर दिन तक जीवित रहकर इस देश की मूल्यवान सेवा करने में समर्थ हों—हमारी यही अंतिम कामना है।

महात्माजी का स्वास्थ्य

महात्माजी के स्वास्थ्य का संवाद सुनकर सारे राष्ट्र की चिंता बढ़ेगी। कराची कांग्रेस से देहली लौटने के दिन उन्हें हरारत थी और सर्दी की शिकायत थी पर पिछले समाचार से उन्हें ज्वर हो जाने की सूचना मिलती है। कराची कांग्रेस के अवसर पर गांधीजी को दिन-रात मेहनत करनी पड़ी और चौबीस घंटों में तीन घंटे विश्राम करने का समय भी नहीं मिल सका। इस कारण उनका शरीर अधिक शिथिल हो गया और टूट गया। यह तो पीछे की अंतिम बात हुई, पर महात्माजी सरकारी जेल से छूटते ही जिस अद्‌भुत मनोयोग से समझौते के काम में लगे थे और दिन-रात एक कर दिया था उसका प्रभाव उनके शरीर पर अवश्य पड़ा होगा। जिस समय सारी दुनिया सुख की नींद सोती है उस आधी रात के समय महात्माजी पहरेदार की भांति, विलक्षण संयमी और तपस्वी की भांति जाग-जाग कर लोक-कल्याण में लगे हुए थे। देहली समझौते के बाद राष्ट्रीय प्रवाह की गति बदल देने का जो भगीरथ प्रयत्न उन्होंने किया वह वे ही कर सकते थे। इस महान प्रयत्न में भी उनकी शरीर-शक्ति विशेष क्षीण हुई होगी। शरीर सब धर्मों का साधन है। महात्माजी के शरीर की प्राणपन से रक्षा करने की आवश्यकता है। महात्माजी को लोक के निस्तार के लिए ही चिरदिन जीवित रहना ही पड़ेगा। देश उन्हें कभी खो नहीं सकता। देशवासियों को चाहिए कि वे जिनके दर्शन करते हैं और जिनकी पूजा करते हैं उन्हें जड़-मूर्ति न समझकर चैतन्य शरीरधर्मा सत्ता समझें और अपने प्यार और श्रद्धा की धुन में अनर्थ न कर बैठें। उन्हें कुछ दिनों के लिए गांधीजी का पिंड छोड़ देना चाहिए। पूर्ण निश्चिंत और शांत होकर विश्राम कर चुकने के बाद जब महात्माजी

स्वस्थ हो जाएं तब उनके दर्शन जी भरकर करें। अभी तो उनमें दर्शन देने की भी शक्ति नहीं रह गई है।

हिंदी और उर्दू की एकता का प्रश्न—2

सामयिक स्थिति

यहां हम हिंदुस्तानी एकेडमी की ओर से विचार कर रहे हैं। उसे खरी बातों से अधिक लाभ होगा। पिछले अंक में हमने उसके प्रति हिंदी वालों के उदासीन भावों के कारण देखे थे। हम समझते हैं कि हमने हिंदी की अनुचित हिमायत नहीं की थी। पर सवाल उचित-अनुचित का उतना अधिक नहीं है। मुख्य सवाल यह है कि हिंदी वाले एकेडमी के कार्य में किस तरह योग दे सकेंगे। एकेडमी ने पिछले सम्मेलन में हिंदी वालों का रुख देख लिया। वह उसे समझने में भ्रम न करें। यदि वह और स्पष्ट बातें सुनना चाहें तो हम कहेंगे कि सम्मेलन के हिंदी विभाग का रुख हिंदी के माडरेट दल का रुख है। अभी एकेडमी को उग्र दल वालों की बातें सुनने का मौका नहीं मिला। सुनकर उसे आश्चर्य न करना चाहिए, मुंह न बनाना चाहिए। नहीं तो वह अत्यंत आवश्यक शर्त को ग्रहण नहीं कर सकेगी। विश्लेषण करके देखने से उग्रदल के तीन विभाग किए जा सकते हैं। एक तो साहित्यिक शुद्धिवादियों (Purists) का दल, दूसरा राजनीतिक साहित्यिकों का दल और तीसरा अंग्रेजी से अपरिचित हिंदी के विद्वानों का दल। इनमें पहले दल के भाव बाबू श्यामसुंदर दास और डॉक्टर गंगानाथ झा ने व्यक्त किए थे। श्री नलिनीमोहन सान्याल ने अपने भाषण में एक-आध बार तीक्ष्ण व्यंग्य के रूप में हिंदी-इतर प्रांतों की सम्मति प्रकट की थी। एकेडमी को यह सब समझना चाहिए।

इन शुद्धवादियों में कुछ तो सिद्धांत रूप से और कुछ सरकार की पूर्वनीति के कारण हिंदी-उर्दू की एकता को पसंद नहीं करते अथवा उसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं। इनमें से दूसरी बात ऐसी है जिसकी दवा की जा सकती है। बाबू श्यामसुंदर दास ने बाजारू बोलचाल के लिए ही नहीं, कथा-कहानियों तथा अन्य इसी प्रकार की साहित्यिक कृतियों के लिए हिंदी-उर्दू का मेल पसंद किया है और उसके पक्ष में राय दी है। वे नागरी प्रचारिणी प्रवाह (Nagari Pracharini strain) में भाषण दे रहे थे इसलिए कथा-कहानी आदि (Light life stories) को बहुत ही कम महत्व देते जान पड़ते थे, परंतु कुल मिलाकर वे अवश्य ही समझौते के पक्ष में थे और ऐसा जान पड़ता है कि आगे भी एकेडमी के इस कार्य के कट्टर विरोधी नहीं होंगे। एकेडमी को चाहिए कि वह साहित्यिक शुद्धिवादियों के दो दल बना डाले। एक तो अटल शुद्धिवादी और दूसरे अवसरवादी (Opportunist) शुद्धिवादी। इन दोनों दलों को एक-दूसरे से अलग रखना और अवसरवादियों को अपनी ओर मिला रखना, एकेडमी के लिए कोई बहुत बड़ी बात नहीं है।

हम उन्हें शुद्धवादी नहीं समझते जो यह तर्क पेश करते हैं कि हिंदुस्तानी भाषा हिंदी-इतर प्रांतों में कठिनाई से समझी जाती है और संस्कृत गर्भित हिंदी आसानी से समझी जाती है। आजकल की मराठी और गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओं में उर्दू के शब्दों की संख्या काफी है। बंगाल और पंजाब की जनसंख्या में आधे से अधिक मुसलमान हैं जिनमें उर्दू समझने और बोलने की प्रचुर शक्ति है। देश के सभी भागों में मुसलमान बसे हुए हैं, वे हिंदुस्तानी भाषा को ही अधिक सरलता से समझ सकते हैं। भारत भर के अंग्रेज निवासी भी शुद्ध संस्कृत कम जानते हैं, हिंदुस्तानी अधिक जानते हैं। इसके बाद जो बचे रहते हैं वे रामेश्वरम् आदि की यात्रा करने वाले पंडित और श्रद्धालु वर्ग हैं जिन्हें जल-वायु और आचार-विचार की अन्य अनेक कठिनाइयों के साथ हिंदुस्तानी भाषा के व्यवहार से भी कठिनाई उठानी पड़े तो आशा है वे क्षमा करेंगे।

जिनका यह कहना है कि एक हाथ से ताली नहीं बजती, दोनों हाथों से बजती है उन्हें शुद्धिवादी तो कोई नहीं कह सकता। वे भयभीत-हृदय व्यक्ति किसी सिद्धांत के पक्ष में नहीं जान पड़ते। महात्मा गांधी ने हिंदू होने के नाते आदर्श उदारता के साथ मुसलमानों को ललकार कर कह दिया है कि तुम सब मिलकर जो कुछ कह दोगे, उसे हम मान लेंगे। हमें चाहिए कि हम भी इसी हिंदू उदारता के साथ अपना हाथ आगे बढ़ावें तब देखें कि ताली बजती है या नहीं। घर के भीतर हाथ पर हाथ धरकर बैठने में तो कोई बड़ाई नहीं है।

यहां सबसे बड़ी कठिनाई ये आती है कि एकेडमी को इस प्रकार की बातें कहने का कोई अधिकार (Sanction) अभी नहीं है। उसकी नैतिक स्थिति (Moral background) अब तब इतनी दृढ़ नहीं है। डॉक्टर वेणीप्रसाद के जोशीले व्याख्यान के संबंध में हमने जो सम्मति दी थी वह इसी दृष्टि से। अभी तो वह किसी प्रकार का विधि-निषेध नहीं कर सकती। अधिक से अधिक वह इतना कह सकती है कि हमारे पास रुपयों की एक अच्छी तादाद है। उसे हिंदी-उर्दू के विद्वानों का सहयोग प्राप्त करने में व्यय किया जाता है, साहित्य की श्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित करने में हम समर्थ हैं। संभव है आगे चलकर किसी समय वह अपनी साहित्य श्रीवृद्धि का दावा भी कर सके। पर उसके लिए समय की आवश्यकता है। उससे हिंदी या उर्दू समाज पर जो प्रभाव पड़ने वाला है, वह भविष्य की बात है। पर एकेडमी तो अभी से फ्रेंच एकेडमी बन जाना चाहती है। अभिलाषा अच्छी है पर अभी से उसका ढोल पीटना अनधिकार चर्चा करना है। अभी उसका नाम लेना भी ठीक नहीं। गांधी-इर्विन समझौता के कारण हवा का रुख बदल गया है, नहीं तो यदि सत्याग्रह की आंधी चलती रहती और मेयो हाल के प्रवेश द्वार पर धरना दिया जाता तो हमें तो कोई आश्चर्य न होता। एकेडमी के लिए इसे सुयोग ही कहा जाएगा। पर इस सुयोग में भी हमने लोगों को बोलियां कसते सुना है और उनका मुंह कोई कैसे बंद कर सकता है? राजनीतिक साहित्यिकों का विरोध दूर करना एकेडमी के लिए सबसे कठिन समस्या है और उसे अपनी शक्ति का व्यय सबसे अधिक इसी दिशा में करना ठीक होगा। आज साहित्य क्षेत्र के जिस अतिशय उद्दाम और स्वतत्र प्रवाह की शिकायत की जाती है उसका बहुत कुछ संबंध सामयिक राजनीति से भी है। एकेडमी यदि

साहित्य का नियमन चाहती है तो उसे सामयिक राजनीति का अधिक से अधिक साथ देना होगा। भाषा के संबंध में कांग्रेस की तरह एकेडमी भी हिंदुस्तानी के पक्ष में है। दोनों का ध्येय एक ही है। यदि एकेडमी अपना लोकपक्ष अधिक स्पष्ट कर सकी तो उसकी नैतिक शक्ति अवश्य बढ़ेगी और उसकी लक्ष्यसिद्धि में निश्चय सफलता मिलेगी।

हिंदी के विद्वानों का जो दल अंग्रेजी का जानकार और हिमायती नहीं है, वह अब तक हिंदुस्तानी एकेडमी को साहित्यिक अमन सभा समझता है। एकेडमी के सदस्यों का चुनाव चाहे जैसा कहा जाए, पर उसका वातावरण अवश्य कोरे हिंदी वालों के अनुकूल नहीं है। जस्टिस सुलेमान महोदय का भाषण अंग्रेजी में हो रहा था तब बहुत से लोग आंखें फाड़कर उन्हें ताक रहे थे। जब वे अंग्रेजी साहित्य की प्रशंसा में बोल रहे थे, तब बहुत थोड़े लोगों को अच्छा लग रहा था। कुछ समय की गति भी है और कुछ सत्य भी है। कुछ लोगों का विश्वास है कि एकेडमी प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यापकों की संस्था है जो उनकी कीर्ति कामना की तृप्ति के लिए खोली गई है। प्रयाग के कई प्रतिष्ठित साहित्यसेवी यही समझकर उसमें शरीक नहीं हुए। वे एकेडमी के नाम पर अन्यमनस्क रहते हैं और मौका मिलने पर हंसते भी हैं। इस दल की सहानुभूति प्राप्त करने में हमें कोई कठिनाई नहीं दीख पड़ती। एकेडमी के प्रकट नियमों के अनुसार भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। एकेडमी के संचालक और सदस्य लोग काफी बुद्धिमान और भले आदमी जान पड़ते हैं। उन्हें चाहिए कि वे इन अत्यंत आवश्यक बातों की ओर ध्यान देकर एकेडमी की नैतिक शक्ति बढ़ावें क्योंकि बिना उसके वह हिंदी-उर्दू एकता के अपने ऊंचे लक्ष्य का भेद करने में सफल नहीं हो सकेगी।

(सोमवार, 13 अप्रैल 1931)

राष्ट्रीय मुसलमान

यह प्रसन्नता की बात है कि देश भर के राष्ट्रीय मुसलमानों ने अपना संघटन शुरू कर दिया है। बंबई, पंजाब, संयुक्त प्रांत आदि में उन्होंने अपना दल बना लिया है और शीघ्र ही 18-19 अप्रैल को लखनऊ में उनका अधिवेशन होने वाला है। राजनीति में यह अकसर देखा जाता है कि हल्ला मचाने वाले ही अपना उल्लू सीधा करते हैं और जो चुपचाप निष्ठा के साथ काम करते हैं उनको कोई पूछता तक नहीं। शासक वर्ग का स्वार्थ भी इस नीति के लिए जिम्मेवार होता है। पिछले गोलमेज सम्मेलन में मुसलमानों के कट्टर मजहबी व्यक्ति ही प्रतिनिधि चुने गए। यह सरकार की कृपा थी और उसके बदले में कृतज्ञता भी काफी दिखलाई गई। बर्मा के मामले में भी यही देखा गया। परंतु यह सब जिस समय हुआ था, उस समय देश का शक्तिशाली दल सत्याग्रह के देशव्यापी आंदोलन में लगा हुआ था। गोलमेज सम्मेलन की ओर बहुत थोड़े लोगों का ध्यान था और उससे कुछ भी आशा नहीं की जाती थी।

मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड जैसे व्यक्ति इस बात के साक्षी हैं कि बंबई के दो-तिहाई मुसलमान अनन्य तत्परता के साथ राष्ट्र की लड़ाई में शरीक थे और अन्य प्रांतों में भी मुस्लिम नवयुवकों का एक बड़ा दल कांग्रेस के साथ था। उन्हीं दिनों अलीगढ़ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने बहुमत से कांग्रेस आंदोलन के पक्ष में अपनी सम्मति दी थी। मुसलमानों के कितने ही लोकनेता जेलों में पड़े हुए थे और किसी को इतनी फुर्सत नहीं थी कि वह गोलमेज के लिए चुने गए मुसलमानों की कट्टरता के संबंध में आंदोलन उठाता। फल यह हुआ कि मजहब के नाम पर ऐसा अड़ंगा खड़ा किया गया जिससे राष्ट्रीयता को बड़ी क्षति पहुंची, कोई समझौता न हो सका और विदेशों के व्यंग्य सुनने पड़े। परंतु अब समय बदल गया है। देश एकाग्रचित्त से इस समस्या पर विचार करने को तैयार हो गया है। देहली के पिछले मुस्लिम-सम्मेलन में एक भी राष्ट्रीय मुसलमान शरीक नहीं हुआ। अब यह बात छिपी नहीं रही कि गुमराह दल के अलावा मुसलमानों का एक दूसरा उदार, दूरदर्शी और राष्ट्रीय दल भी है जिसकी शक्ति शीघ्र ही प्रकट होने वाली है।

इस राष्ट्रीय दल के सामने मुख्य प्रश्न यह है कि आगामी विधान में निर्वाचन संयुक्त रीति से हो अथवा हिंदू-मुसलमानों के अलग चुनाव क्षेत्र रहें और आपस का तरफका बढ़ता ही जाए। लोगों के स्वार्थ और रूढ़ियां उन्हें सत्य को ग्रहण नहीं करने देतीं। एक प्रकार की आदत पड़ जाती है जिसका बुद्धि से और विवेक से कोई संबंध ही नहीं रह जाता। एक प्रकार का रोजगार-सा हो जाता है जिसे छोड़ने से आगा-पीछा होता है। पर लोकहित के लिए इन सबका त्याग करना होगा। यह समझने में देर न लगनी चाहिए कि पृथक निर्वाचन की प्रथा से मुसलमानों की रत्ती भर भी भलाई नहीं हो सकती। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी प्रकट होता है कि चुनाव की यह विभेद नीति हमारी अपनी मूर्खता और दूसरों की चाल का फल थी। इस बात को विचारवान मुस्लिम नेताओं ने अच्छी तरह समझा भी है। कोकोनाडा कांग्रेस के सभापति पद से भाषण करते हुए स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली ने पृथक निर्वाचन के मूल में छिपी हुई सरकारी नीति का जिक्र इन शब्दों में किया था—

> मार्ले-मिंटो सुधार के अवसर पर मुसलमान का एक डेपूटेशन वाइसराय से मिलने शिमला गया हुआ था। वह मुस्लिम जनता की मांगें पेश करने वाला समझा गया था। परंतु अब इस बात को प्रकट कर देने में कोई हर्ज नहीं है कि यह सब सरकार के हुक्म से किया गया था। सरकार उस समय के शिक्षित भारतीयों की मांगों को टाल नहीं सकती थी। इसलिए वह इस फिक्र में थी कि सुधारों की एक किश्त ऐसी बनाकर दी जाए जिससे कुछ समय तक हिंदुस्तानी उसी में उलझे रहें। उस समय तक मुसलमानों की दशा आयरलैंड के विचाराधीन कैदियों की-सी थी। उन कैदियों के मुकदमे पर विचार करने के पहले जज यह सवाल पूछते थे कि तुम्हारा कोई वकील है या नहीं। कैदी कहता था, वकील तो हमने नहीं रखा पर फैसला करने वाले जूरी हमारे दोस्त हैं। लेकिन मुसलमानों के जो फैसला करने वाले जूरी दोस्त थे उन्होंने प्राइवेट तरीके से ऐसा इंतजाम करा दिया

कि वे खास-खास 'काबिल' सलाहकारों की राय ले सकें। वे ही काबिल सलाहकार डेपूटेशन बनाकर सरकार के सामने पृथक-निर्वाचन का अधिकार लेने पहुंचे थे।

मौलाना मुहम्मद अली के इस व्यंग्यपूर्ण वक्तव्य से पृथक-निर्वाचन का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। मार्ले-मिंटो सुधारों के अवसर पर ही नहीं, उसके बाद के मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों के समय भी सरकार की ओर से यही नीति व्यवहार में लाई गई थी। इसका हवाला श्री अबुल कलाम आजाद ने कराची कांग्रेस के अवसर पर होने वाले जमैयतुल उलेमा सम्मेलन में दिया था। आपने कहा कि मैं प्रत्यक्षदर्शी की हैसियत से इस बात का साक्षी हूं कि पृथक निर्वाचन की प्रेरणा सरकार की ओर से ही की गई थी और मुसलमान नेता पीछे से उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाने को तैयार हुए थे।

इस ऐतिहासिक विवरण का मूल्य हमारी निगाह में इतना ही है कि मजहब का दम भरने वाले नेता इस बात को समझें कि जिस सनातन प्रथा के वे हामी हो रहे हैं—उसका रहस्य क्या है। उन्हें यह पता लगना चाहिए कि वे जिन संरक्षणों को इस्लाम के लिए आवश्यक समझते हैं और जिनके लिए पृथक निर्वाचन पर जोर देते हैं, उससे हित कितना कम होगा और अहित कितना अधिक होगा? हाल के जातीय-दंगों के कारण जो कटु भावनाएं फैली हैं उनसे राष्ट्रीय मुसलमानों के पथ में बाधाएं पड़ेंगी। पर उन दोनों का अंत तभी संभव है जब इन राष्ट्रीय मुसलमानों को अपने कार्य में पूर्ण सफलता मिले और हिंदू-मुसलमानों आदि की अलग-अलग मांग स्वराज्य के पथ को कांटों से न भर दे। पहले राष्ट्रीय एकता होगी, पीछे दंगे बंद होंगे। जब तक स्वराज्य शासन के अंतर्गत हिंदू-मुस्लिम एकता से एक नवीन संस्कृति का विकास नहीं होगा, तब तक आपस की सिर फुटौवल बंद नहीं होगी। इस पहले-पीछे के सवाल को समझने में ही कल्याण है, न समझने में ही नासमझी है।

मौलाना अबुल कलाम आजाद ने उलेमा-सम्मेलन में कहा था कि अगर हम मुसलमानों के लिए कुछ संरक्षणों पर जोर देते हैं और कुछ विशेषाधिकार चाहते हैं तो वह आर्थिक समस्या की दृष्टि से, न कि धार्मिक प्रश्न के विचार से। धर्म बंटवारा नहीं चाहता, धर्म तकरार नहीं करता। संरक्षणों से धर्म की उन्नति नहीं होगी। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस अत्यंत व्यावहारिक युग में हमें धर्म के नाम पर लड़ने-झगड़ने की फुर्सत ही कहां है। इस समय देश की सबसे पहली आवश्यकता है गरीबी से मुक्ति पाने की। भूखा आदमी प्रत्येक प्रकार के पाप कर सकता है। धन के अभाव में शिक्षा, रोजगार, व्यवसाय, उद्योग-धंधे, कृषि कुछ भी नहीं चलते। ये ही हमारे प्राथमिक धर्म हैं। इन्हें छोड़कर जो दूसरा धर्म कहलाता है वह आरामतलबी के समय की बात है। हमारे लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम इस बात को समझें। जब तक देश के हिंदू-मुसलमान आज की-सी दशा में रहेंगे तब तक उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे धर्म का स्वरूप समझें। धर्म-धर्म चिल्लाना और उसके लिए झूठ-झूठ को लड़ते फिरना हमारा अज्ञान है और अपराध है। देश के भटके हुए मजहबी नेताओं को यह जान लेना चाहिए कि वे अपनी आरामतलबी और दिमागी कसरत का धर्म वर्षों से विपन्न

और भूखी-प्यासी जनता के मत्थे न मढ़े। उसके लिए वर्तमान बोझ असाध्य और असह्य हो रहा है। वह सबसे पहले इससे मुक्त होंगे। परस्पर के भेदभाव से देश की गुलामी के दिन बढ़ेंगे। दरिद्र देश का दुःख दूर नहीं होगा और इतने दिनों से जो आर्तध्वनि सुन पड़ रही है वह बंद नहीं होगी।

कांग्रेस ने कराची में बालिग सत्ताधिकार मंजूर कर चुनाव की समस्या को बहुत कुछ सुलझा दिया है। अमृतसर की सिख लीग ने भी सांप्रदायिक चुनाव के विरुद्ध राय प्रकट की है। इन दोनों ही बातों का अच्छा प्रभाव पड़ना चाहिए। पर मुस्लिम सम्मेलन के मौलाना शौकत अली का स्वर अब तक नहीं बदला। बदलना तो दूर वह और बिगड़ा जा रहा है। उनकी तबीयत ठीक नहीं जान पड़ती। वे एक गांधी नहीं लाख गांधियों का मुकाबला करने को उतारू दीख पड़ते हैं। ये गांधी की छाया मूर्तियां शेक्सपीयर के *मैकबेथ* नाटक में आई हुई उन छाया मूर्तियों की तरह हैं जिन्हें देखकर 'बैंको' डर गया था। मौलाना साहब काफी से ज्यादा घबरा गए हैं, दहशत में आ गए हैं। बेचारे मौलाना पर यही बड़ी विपत्ति आई हुई है। वे एक काल्पनिक बोझ में दबे जा रहे हैं। राष्ट्रीय मुसलमानों को चाहिए कि वे उन पर दया कर उनका बोझ हल्का हर दें और मुस्लिम जनता को चाहिए कि उन्हें यह खबर दे दें कि वे दुनिया की चिंता छोड़कर पहले अपनी फिक्र करें।

हिंदी और उर्दू की एकता का प्रश्न—3

संस्कृति

भाषाओं के साथ जातीय संस्कृतियों का सवाल भी उठाया जाता है। डॉक्टर गंगानाथ झा महोदय ने एकेडमी के अवसर पर बड़ी भावुकता के साथ आग्रह किया कि हिंदी और उर्दू का मेल मिलाने में संस्कृत आदि मूलभाषाओं अथवा मातृभाषाओं को न भुला दिया जाए। प्राचीन प्रियता की इस आदर्शवादिता पर बहुतों की ममता होती है। यह अत्यंत स्वाभाविक और आवश्यक भी है। परंतु इतिहास इस बात का साक्षी है कि लोक का एक लघु अंश ही इस स्थिर आदर्श पर टिक सका है। भाषाएं परिवर्तनशील और गतिशील हैं। कालचक्र स्वयं वेगवान है। संस्कृति तो समूह की स्थिर वृत्ति कही जा सकती है पर यह स्थिरता भी सापेक्ष है, एकदम निरपेक्ष नहीं। जातीय साहित्य जिस संस्कृति की अभिव्यक्ति करता है, मनीषियों के द्वारा उसे अक्षुण्ण रखने की विविध चेष्टाएं की जाती हैं। समय-समय की रूपांतरित भाषाओं में, काल प्रवाह की अनेक ऋजु-कुटिल गतियों में, जातीय संस्कृति अपना अस्तित्व बनाए रखती है। यूरोप की आदिम संस्कृति की रक्षा करने वाली अनेक भाषाएं हुईं। हमारे यहां भी भाषा-ग्रंथों के रथों में प्राचीन संस्कृति ही अब तक बैठी चलती है। कहीं-कहीं ऐसा नहीं भी होता। उस अवस्था में बेचारी प्राचीन संस्कृतियों का लोप हो जाता है।

परंतु भाषाओं और संस्कृतियों का संबंध अंगादि संबंध की भांति अटल नहीं होता। भाषाओं के रंगमंच पर अनेक संस्कृतियां अपना अभिनय दिखा सकती हैं। उर्दू से बढ़कर इसका उदाहरण नहीं मिल सकता। एक जमाना था जब उर्दू के कवि भारत का अन्न खाकर भी फारस और अरब के गाने गाया करते थे। यह नहीं कि सभी उर्दू के लेखक इस्लाम धर्म के ही मानने वाले होते हों, बहुत से हिंदू लेखक भी थे पर फिर भी धारा विदेशी ही रही। किंतु समय की गति से जब वह धारा बदली तब सर मुहम्मद इक़बाल और ब्रजनारायण चकबस्त जैसे मुसलमान और हिंदू कवियों ने उर्दू की विदेशीयता दूर की और उसमें स्वदेशी भाव भरे।

जातीय संस्कृति निश्चय ही रक्षणीय है पर इसके लिए भाषाओं का समागम और संगम न होने देने का आग्रह एक प्रकार की कट्टरता ही कही जाएगी। भाषाओं का सम्मेलन तो स्वभावज है। भाषा-भेद को जाति-भेद, धर्म-भेद और संस्कृति-भेद के समानांतर खड़ा करना न्याय नहीं कहा जा सकता। रसखान की भाषा हिंदू-संस्कृति की अभिव्यक्ति करती है, कबीर की भाषा हिंदू-मुस्लिम संस्कृति को मिलाने का प्रयास करती है, जायसी की भाषा सूफी भावों का प्रकाशन करती है जिसमें भारतीयता का अंश और भी कम है। यद्यपि इन तीनों कवियों की भाषा हिंदी ही थी। परंतु भावों में संस्कृतिजन्य भेद लक्षित होते हैं। भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों का आभास देकर एक ही देश और एक ही प्रांत की कुछ दिनों से वियुक्त हुई भाषाओं को और दूर खींचने में कोई लाभ नहीं दीख पड़ता। जातीय संस्कृति की दृष्टि से भी नहीं। श्रीयुत मथुरालाल शर्मा हिंदी और उर्दू के मेल को असंभव बतलाते हुए भाषा-विज्ञान का आश्रय ले रहे थे और भाषाओं के स्वाभाविक विकास पर जोर दे रहे थे। आदिम भाषा-विज्ञान का स्वरूप वह अवश्य था। पर आज का विकसित मानव समाज तो भाषाओं को अपनी इच्छानुसार उपयोग में ला सकता है। संभव है, कुछ ही समय में एक ऐसी भाषा की सृष्टि की जाए जो संसार के सभी राष्ट्रों द्वारा व्यवहार में लाई जाए, संभव है वह भाषा आज की प्रचलित अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण से बने।

शायद स्वामी अखिलानंद तथा दो-चार उन्हीं की तरह के विचार वालों के लिए यह संभव हो कि वे संस्कृत को अपने घरों की भाषा बना लें पर भाषाविज्ञान के नियमों के प्रतिकूल होने के कारण यह संभव नहीं कि सारा देश संस्कृत बोलने लग जाए। इस सत्य को छिपाना व्यर्थ है। इसे ही ध्यान में रखकर बड़े अंतर्दृष्टि-संपन्न महात्माओं ने संस्कृत का शास्त्रीय ज्ञान रखते हुए भी लोक-कल्याण के विचार से जनसमाज की भाषा में ग्रंथरचना की। महात्मा तुलसीदास का उदाहरण हमारे सामने है। 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच' कहकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि भाषा का झगड़ा व्यर्थ है। वह समय भी आ सकता है जब तुलसीदासजी की *रामचरितमानस* भाषा की दृष्टि से पुराना पड़ जाएगा और उसके नवीन संस्करण की आवश्यकता होगी। श्रीयुत राधेश्याम की *रामायण* जैसी अत्यंत साधारण कोटि की पुस्तक की ओर बढ़ती हुई लोकरुचि को देखते हुए यह समझ में आता है कि भाषा की सरलता और सौंदर्य की ओर जन-समाज बड़ी तेजी से खिंचता है। यद्यपि ये कोई साहित्यिक

कृतियां नहीं थीं पर नौटंकी की पुस्तकों का बाजार इतना गर्म क्यों रहा? भाषा सहज थी इसलिए। पिछले युग के *चंद्रकांता संतति*कार और हमारे युग के प्रेमचंदजी को खूब पाठक मिले। इसके अन्य कारणों के साथ एक प्रधान कारण यह भी है कि उनकी भाषा जनता की भाषा के बहुत समीप है।

यदि यह स्वीकार किया जाए कि जाति के संस्कार आदर्शवादियों की कल्पनाएं ही नहीं हैं परंतु जाति के जीवन में उनका व्यावहारिक अस्तित्व भी देखा जा सकता है तो यहीं से प्रगतिशील सामूहिक संस्कृति की आस्था भी मान लेनी पड़ती है। ऐसी अवस्था में संस्कृति केवल प्राचीन साधकों की खोज का विषय ही न रहकर, जीवित और सजीव सत्ता बन जाएगी जिसका साक्षात्कार भी किया जा सकेगा। तब हमारा ध्यान भूत पर ही न ठहरकर, वर्तमान और भविष्य पर भी जाएगा और हम एक रचनात्मक, गतिशील संस्कृति का संश्लिष्ट चित्र भी देख सकेंगे। तब तो भाषाओं के प्रश्न पर मतभेद भी कम जो जाएगा क्योंकि वह एक वस्तुस्थिति का प्रश्न ही रह जाएगा। यदि लोक-रुचि भिन्नता से अभिन्नता, अनेकता से संघटन की ओर होगी तो भाषाएं भी मिलकर एक हो ही जाएंगी। जाति-भेद भी कोई बड़ी रुकावट नहीं डाल सकेगी। बंगाल में आज आधे से अधिक मुसलमान हैं पर यहां की नवीन संस्कृति में संग्रहन के इतने परमाणु हैं कि बांग्ला भाषा ही सर्वत्र बोली और समझी जाती है। काजी नजरुल इस्लाम जैसे बांग्ला के प्रतिभाशाली कवि इस्लाम मतानुयायी हैं। अवश्य ही बंगाल की वर्तमान संस्कृति में भारतीयता ही बलशालिनी है। भारत की ही भाषा, भाव, आचार-व्यवहार, ज्योतिष, क्रियाकलाप वहां के मुसलमानों ने भी स्वीकार कर लिये हैं। यदि पढ़े-लिखे मूर्खों ने बाधा न उपस्थित की तों बंगाल की यह संस्कृति आधे-आधे हिंदू-मुसलमानों को मिलाकर एक करने में समर्थ होगी।

यहीं एक बड़ा ही मनोरंजक प्रश्न उठता है कि जब बंगाल में इतने अधिक मुसलमानों के रहते दो भाषाओं का सवाल नहीं उठा तो संयुक्त प्रांत में क्यों उठा? महाराष्ट्र में नहीं, गुजरात में नहीं, हमारे ही यहां क्यों उठा? बात यह हुई की यहां भाषाओं का स्वाभाविक विकास तोड़-मरोड़कर कृत्रिम बनाया गया। बिहार प्रांत में तीन-चौथाई से भी अधिक हिंदू जनता के रहते हिंदी को उचित स्थान नहीं दिया गया। युक्तप्रांत में पहले का हाल तो कुछ बयान नहीं किया जाता। अब का हाल यह है कि सरकार हिंदू और मुसलमानों में बराबर-बराबर का बंटवारा कर देती है। बड़ी समष्टि है। जनसंख्या का सवाल कोई सवाल नहीं है। आवश्यकताएं कोई वस्तु नहीं हैं। नियम यह है कि जितना हिंदू विश्वविद्यालय को मिलेगा उतना ही मुस्लिम विश्वविद्यालय को भी। जितना हिंदी को, उतना ही उर्दू को। अलग-अलग जातियां हैं, अलग-अलग लिपियां भी बनी रहें। फिर भी हिंदी-उर्दू एक हो जानी चाहिए। यह नीति है। हम निश्चय के साथ कह रहे हैं कि हिंदी और उर्दू की एकता जिस सौभाग्य से होगी, उसमें इस नीति का कभी नाम तक नहीं लिया जाएगा।

(शुक्रवार, 17 अप्रैल 1931)

हिंदू-उदारता

हिंदू-मुस्लिम प्रश्न को हल करने की महात्मा गांधी की प्रसिद्ध शर्त यह है कि मुसलमान एकमत होकर अपनी मांगें रख दें तो वे आंखें मूंदकर उन्हें स्वीकार कर लेंगे। अपने अत्यंत सरल, स्वाभाविक और निष्कपट तरीके से इस शर्त को समझाते हुए महात्माजी ने कहा कि हिंदुओं को इस शर्त की सुंदरता समझनी चाहिए क्योंकि यह उनकी नैतिक शक्ति प्रकट करती है। उन्होंने मुसलमानों के सामने इस शर्त का हवाला देते हुए कहा कि हमारे पास राष्ट्रीय मुस्लिम दल के नेताओं की ओर से यह सूचना आई हुई है कि सम्मिलित चुनाव से ही मुसलमानों का हित होगा, अन्यथा नहीं। महात्माजी की इन बातों को सुनकर नासमझ और कट्टर लोगों में यह भाव तीव्र हो रहा है कि गांधीजी ने यह शर्त रखकर हिंदुओं की नैतिक शक्ति बढ़ाई, उनकी तरफदारी की और मुसलमानों में आपस का मतभेद और कलह-फूट पैदा किया है। देहली के कट्टरपंथी मुस्लिम-सम्मेलन ने अपने को देश की मुसलमान जनता का प्रतिनिधि बतलाने की कोशिश की थी और अपनी मजहबी मांगों पर जोर दिया था, पर थोड़ी ही देर बाद यह बात खुल गई कि न तो उनका सम्मेलन प्रतिनिधि कहलाने का अधिकार रखता है, न उनका कोई एक नेता है और न कोई सर्वसम्मत मांग है। उस छोटे से सम्मेलन के ही कई नेता निकल आए और कितने ही प्रकार की भिन्न-भिन्न बातें कही जाने लगीं। जान पड़ता है, अपनी इसी कमजोरी से चिढ़कर सम्मेलन के सभापति मौलाना शौकत अली साहब गांधीजी पर गुस्सा उतारने लगे और जोश में आकर एक नहीं, हजारों-लाखों गांधियों का मुकाबला करने को तैयार हो गए। ऐसा अकसर हुआ करता है। इसके लिए हमें कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ सुनना था, मौलाना साहब अपने ही सम्मेलन से सुन चुके। अपने सजातीय साथियों से भी उन्होंने अच्छा जवाब पा लिया है और जो कुछ बाकी है, वह लखनऊ में होने वाला राष्ट्रीय मुसलमानों का सम्मेलन पूरा कर देगा।

पर यदि महात्माजी की इस शर्त पर कोई निष्पक्ष रीति से विचार करे तो वह अवश्य ही इस नतीजे पर पहुंचेगा कि उससे हिंदुओं की ही नैतिक शक्ति दृढ़ नहीं होती, मुसलमानों की नैतिक शक्ति भी दृढ़ होती है। नैतिक शक्ति दृढ़ करने के लिए निश्चय ही कुछ काम करना होगा और वह काम अवश्य ही मौलाना शौकत अली जैसे लोगों के काम से भिन्न है। केवल महात्मा गांधी के कहने से हिंदुओं की नैतिक शक्ति नहीं बढ़ी। यदि महात्माजी की इस शर्त को सुनकर हिंदुओं का कोई दल देहली वाले मुस्लिम सम्मेलन का-सा रुख दिखाता, यदि हिंदुओं का कोई जिम्मेवार नेता यह आवाज उठाता कि महात्माजी को इस तरह की शर्त रखने का कोई अधिकार नहीं है तो उससे हिंदुओं की नैतिक शक्ति क्षीण पड़ना अवश्यंभावी था। पर प्रसन्नता की बात है कि हिंदुओं की ओर से गांधीजी की शर्त पर अविश्वास, शंका अथवा विरोध पैदा करने वाली एक भी आवाज नहीं उठाई गई। नैतिक शक्ति इस प्रकार बढ़ती है। यह हिंदू महासभा और उसके प्रधान नेता पूज्य मालवीयजी के लिए अत्यंत गौरव की बात है कि वे पूर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण का परिचय दे रहे हैं। पिछले गोलमेज सम्मेलन में, हिंदू-हित

की जो पुकार यहां से तारों द्वारा विलायत पहुंची थी, वैसी कोई भी पुकार आज नहीं सुन पड़ती। जान पड़ता है, हिंदू-समाज बड़ी ही उदारता से काम लेना चाहता है, क्योंकि यह तो किसी से छिपा नहीं है कि कांग्रेस और हिंदू महासभा दो भिन्न संस्थाएं हैं और महात्मा गांधी पिछली संस्था से बिलकुल असंपर्कित हैं।

महात्माजी की इस शर्त में मुसलमानों के प्रति बड़ा ही उत्कट विश्वास भरा हुआ है। मुसलमानों की कमजोरी और उनके मतभेद से बेजा लाभ उठाने की यह कोई राजनीतिक चाल है, ऐसा समझना महात्माजी के प्रति अन्याय तो है ही, सत्य के प्रति भी बड़ा भारी अपराध है। प्रसन्नता की बात है कि देश के थोड़े से गुमराह आदमियों को छोड़कर किसी ने इस प्रकार लांछन लगाने की कल्पना भी नहीं की बल्कि राष्ट्रीय मुसलमान मिलकर अपनी संपूर्ण शक्ति से गांधीजी के लक्ष्य की पूर्ति करने में तत्पर हो गए हैं। लखनऊ का सम्मेलन उसका उदाहरण है। प्रत्येक प्रांत में राष्ट्रीय मुसलमानों का शक्तिपूर्ण संघटन हो रहा है। उन्हें यह विश्वास होता जाता है कि जिस देश में उन्हें रहना है, उसके बहुसंख्यक समाज के साथ कंधे से कंधा मिलाकर एक लक्ष्य की ओर बढ़ने, शक्ति और त्याग का परिचय देने में ही मुसलमान जाति का हित है। मुसलमानों ने इसी राह पर चलने का निश्चय कर दिया है। इससे संसार की निगाह में और स्वयं अपनी निगाह में उनकी नैतिक शक्ति अत्यधिक बढ़ जाएगी।

यहां हम हिंदू उदारता पर ही विचार कर रहे हैं। मिस्टर ब्रेल्सफोर्ड ने हाल में एक पत्र प्रतिनिधि से बातें करते हुए हिंदू-मुस्लिम समस्या के संबंध में अपनी राय दी है और हिंदुओं को मुसलमानों की सभी शर्तें स्वीकार कर लेने की सलाह दी है। उन्होंने कहा है कि हिंदुस्तान की अधिकांश ग्रामीण जनता के सामने मुख्य प्रश्न धार्मिक और सांप्रदायिक नहीं होगा, वह आर्थिक होगा। हिंदू-मुसलमानों की समस्या नहीं रहेगी। गरीबी और धनिक का प्रश्न रहेगा। यही बात मौलाना अबुल कलाम आजाद महोदय ने कराची के जमैयतुल उलेमा सम्मेलन के भाषण में कही थी। यदि मुसलमान इस तथ्य को समझने के लिए अभी तैयार नहीं हैं तो कम से कम हिंदुओं को इसे अब से समझना चाहिए। लार्ड इर्विन महोदय ने बंबई की एक मुस्लिम सभा में ठीक यही आग्रह किया है। उन्होंने बहुसंख्यक हिंदू जाति को उदार बनकर सशंक अल्पसंख्यक जातियों की शंकाओं को दूर करने की सलाह दी है और कहा है कि यदि मुसलमानों की मांगें न्यायोचित न भी हों तो भी हिंदुओं को उदार भाव धारण करना चाहिए। उनकी शंका मिटाने का यही उपाय है। समय पाकर मुसलमान स्वयं अपने विशेषाधिकारों और संरक्षणों को वापस ले लेंगे क्योंकि वास्तव में वे कोई विशेषाधिकार नहीं हैं, वे तो केवल शंका और भय की निशानी हैं।

केवल आर्थिक-राजनीतिक आदि दृष्टियों से नहीं अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कारों पर दृष्टि रखते हुए भी हिंदुओं का स्पष्ट कर्तव्य यह है कि अपनी स्वाभाविक परंपरागत उदारता का परिचय दें और निश्शंक होकर मुस्लिम समाज की मांगें स्वीकार करें। यह कोई आज की बात नहीं है। यह युग-युगांतर की बात है। हिंदू जाति धर्म के नाम पर सदा से उदार

रही है। कभी संकीर्ण नहीं बनी। अवश्य ही हम यह कहेंगे कि हिंदुओं को डरा-धमकाकर उदार नहीं बनाया जा सकता। लार्ड इर्विन ने मुसलमानों को शंकित और भयभीत होने की बात कही है, पर मुसलमानों का एक दल यह आवाज उठा रहा है कि हिंदुओं पर उन्होंने कई सौ वर्षों तक राज्य किया है। उस राज्यमद की खुमारी अभी भी बनी है। यद्यपि इतिहास ने उसे बहुत पहले उतारने की दवा दे दी थी। हम यह खरी बात इसलिए नहीं कह रहे कि हिंदू उस पर गर्व करें बल्कि इसलिए कि जातीय समस्या को सुलझाने में जो अड़चनें हैं, वे दूर हों और हिंदुओं को उदारता दिखाने की प्रेरणा मिले।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सवाल को बहुत अधिक तूल देने से कोई लाभ नहीं होगा। यह तो आवश्यक ही है कि जब दो जातियां इतने दिनों से एक साथ रहती आई हैं और देश के अंतरंग में साथ-साथ फैली हुई हैं, तब उनका पारस्परिक समागम हो। धर्म के नाम पर कुछ मिथ्या प्रचारकों के कारण इस समागम में कभी-कभी विक्षेप पड़ता रहता है। पर प्रकृति का नियम तो शायद भंग नहीं किया जा सकता। हिंदुस्तान के इतिहास में बहुत से ऐसे प्रसंग मिलते हैं। बहुत-सी जातियां आईं, बहुत से आक्रमण हुए पर भिन्न-भिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों को एक में मिलाकर उसे धारावाहिक बनाने का कार्य इस देश के लिए प्राकृतिक-सा हो गया है। यह आशा ही नहीं विश्वास भी किया जा सकता है कि हिंदू जाति की उदारता, इस अवसर पर भी अपनी शक्ति का परिचय देगी और मुसलमानों को मिलाकर एक संयुक्त भारतीय संस्कृति का निर्माण करेगी। यह निर्माण कार्य आज से नहीं, शताब्दियों से हो रहा है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि हिंदू जनता उस पर उदारता की मुहर लगाकर उसे पक्की और अमिट बना दे जिसमें भविष्य का इतिहास और भारत के इस युग पर लिखते हुए हिंदू-उदारता के चिरकालीन आदर्श के दर्शन कर प्रसन्न हो सके।

(सोमवार, 20 अप्रैल 1931)

यू.पी. के किसान

हमारे पास अनेक ऐसे पत्र प्रकाशित होने के लिए आते हैं जिनमें किसानों की वर्तमान कठिन अवस्था का हाल रहता है और उनकी बड़ी-बड़ी सभाओं में पास हुए प्रस्तावों का समाचार मिलता है। किसानों से हमारा मतलब रैयत और जमींदार दोनों से ही है क्योंकि दोनों ही कृषि-जीवी हैं और दोनों पर विपत्ति आई हुई है। रायबरेली के किसानों की दुर्दशा पत्रों में प्रकाशित हो चुकी है और इस बार हम उन्नाव की एक सभा का समाचार छाप रहे हैं जिसमें 35000 की संख्या में लोग मौजूद थे और जिसमें रैयत और जमींदार दोनों शरीक थे। उन्नाव जैसे छोटे शहर में पैंतीस हजार की भीड़ अत्यंत असाधारण है और यह इस बात का प्रमाण है कि किसानों की स्थिति विशेष शोचनीय हो गई है। जब तक कांग्रेस का करबंदी आंदोलन

चल रहा था तब तक इस प्रकार की सभाएं नहीं की जाती थीं और न सरकार से प्रार्थना ही की जाती थी कि वह उनकी अवस्था पर ध्यान दे। उस समय किसानों का दुःख और असंतोष दबा हुआ था जिसके उभरने से कई स्थानों में काफी भयानक बलवे हुए। उस समय के जमींदार प्रत्यक्ष रीति से करबंदी आंदोलन का साथ नहीं दे सकते थे क्योंकि उन्हें जायदाद कुर्क हो जाने का खौफ था। उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे किसानों का लगान अपनी ओर से माफ कर देते क्योंकि वास्तव में उसकी भी हालत अच्छी नहीं थी। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि किसानों का जमींदारों से मनोमालिन्य बढ़ता और आपस में ही दंगा-फसाद होते। लगान माफी का सवाल यू.पी. कौंसिल में रखा जा सकता था, पर सरकार का रुख उस समय ऐसा नहीं था कि उससे इस समस्या पर शांति के साथ विचार करने की आशा की जाती।

यहां हमें इस बात पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि यदि कांग्रेस आंदोलन बंद न होता तो आज किसानों की क्या अवस्था होती और सरकार को कैसी परिस्थिति से गुजरना पड़ता। हमें यह अनुमान लगाने की आवश्यकता भी नहीं कि जमींदारों का कर्तव्य वैसी अवस्था में क्या होता और वे किस ओर अधिक हमदर्दी दिखलाते। स्थिति यह है कि कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता हो गया है और राजनीतिक आंदोलन के रूप में करबंदी का कोई सवाल नहीं रह गया। पर यह बात भी भूल जाने की नहीं कि कांग्रेस की ओर से सरकार को यह सूचना दे दी गई थी कि किसानों की आर्थिक अवस्था बहुत ही गिरी हुई है। इसलिए वे अर्थकष्ट के कारण अपनी मालगुजारी नहीं अदा कर सकते। प्रांतीय कौंसिल में भी यह प्रश्न उठाया गया और काफी प्रभावशाली व्याख्यान दिए गए पर सरकार के ऊपर इसका प्रभाव उचित रीति से नहीं पड़ा। यद्यपि विश्वास बहुत से दिलाए गए हैं और जांच का सवाल भी पेश है पर कौंसिल के मत के खिलाफ कालाकांकर के राजा साहब और भदरी के ठाकुर साहब की जायदादें कुर्क कर ली गईं। सरकार का यह रुख जमींदारों के प्रति है, संभव है, कुछ खास-खास जमींदारों के प्रति है जो राष्ट्रीय विचार रखते हैं। पर सरकार के लिए यह उचित नहीं है कि इस आपस के मेल-मिलाप और समझौते के समय लोकमत की इस प्रकार अवहेलना करें और बीती बातों को भूल न जाएं। विलायत की सरकार कांग्रेस की शिकायत करते हुए यह इल्जाम लगाती है कि वह समझौते की शर्तों को पूरा नहीं कर रही। हिंदुस्तान की अवस्था से परिचित न रहने के कारण विलायत वाले यह समझ रहे हैं कि लंकाशायर के कपड़ों का बाजार भारत में इसीलिए नहीं खुल रहा कि वहां बायकाट अब भी ज्यों का त्यों जारी है। उन्हें यह समझना चाहिए कि असल बात बायकाट के जारी रहने की नहीं है, बहुत-सी दूसरी-दूसरी बातें हैं। उन्हें यह पता लगाना चाहिए कि भारत की प्रांतीय सरकार किसानों और जमींदारों के प्रति जो भाव धारण कर रही है उनसे राजनीतिक विरोध और आर्थिक कष्ट दूर नहीं हो सकता। किसानों का जितना ही अधिक रुपया सरकार के खजाने में खींचा जाएगा, लंकाशायर के मिलों को उतनी ही अधिक शिकायत होगी क्योंकि उनके कपड़े खरीदने के लिए रुपए कहां से आवेंगे?

हमारी प्रांतीय सरकार ने जो व्यवहार उपर्युक्त जमींदारों के साथ किया है, यदि वही

उसका साधारण नियम हो गया तो बड़ी शोचनीय और भयानक अवस्था उठ खड़ी हो सकती है। सब जमींदार न इतने उदार हैं और न इतने संपन्न हैं कि वे रैयत की मालगुजारी माफ कर सकें और सरकार को लगान दे सकें। इलाहाबाद जिला के जमींदार सभा की यह उदारता ही कही जाएगी कि उसने कुछ किसानों के साथ कुछ रियायत करने का प्रस्ताव पास किया है और वह भी बिना किसी शर्त के। साधारणतः जो जमींदार यह शर्त लगाते हैं कि सरकार की ओर से उन्हें जितनी छूट मिलेगी उसी के अनुसार वे भी अपनी प्रजा के साथ रियायत करेंगे। पर इलाहाबाद जिला जमींदार सभा ने ऐसी कोई शर्त नहीं रखी। यह बात दूसरी है कि उनकी रियायत किसानों के लिए काफी न हो और वे इतने पर भी मालगुजारी की पूरी किश्त अदा न कर सकें। फिर भी जब तक सरकार की ओर से कोई निर्णय नहीं किया जाता तब तक इतने से भी शायद कुछ संतोष मिले।

प्रांत के भिन्न-भिन्न जिलों की किसान सभाएं 60 प्रतिशत लगान माफी और नहर-कर की रिहाई का आग्रह कर रही हैं। ध्यान देने की बात यह है कि उनकी इस मांग के साथ जमींदार भी सहमत हैं। किसान-सभाओं में उनका भी हाथ रहता है। यदि सरकार इस समय राजनीतिक भेदभाव से नहीं बल्कि शुद्ध आर्थिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार करेगी तो उसे अवश्य ही किसानों की मांग उचित जान पड़ेगी। यदि सरकार ने इन मांगों को मंजूर किया तो राजनीतिक वातावरण और शुद्ध हो जाएगा और जमींदार तथा रैयत दोनों ही उसकी उदारता के कायल होंगे। आवश्यकता इस बात की है कि यदि जांच ही करनी है तो वह शीघ्र की जाए और सहानुभूति के साथ की जाए। प्रांतीय गवर्नर सर मेलकम हेलो महोदय विलायत से लौट आए हैं और अपना कार्य-भार ग्रहण कर रहे हैं। हम उनका स्वागत करते हैं और उनसे यह आशा रखते हैं कि वे सबसे पहले किसानों की ही समस्या पर ध्यान देंगे। कहना न होगा कि यही इस समय प्रांत की सबसे बड़ी अधिक महत्वपूर्ण समस्या हो रही है।

लखनऊ का निर्णय

यह प्रसन्नता की बात है कि लखनऊ के राष्ट्रवादी मुस्लिम प्रतिनिधियों ने अपने तर्कों, भाषणों और प्रस्तावों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि चाहे जो हो वे पृथक निर्वाचन की नीति स्वीकार नहीं करेंगे और इसके लिए वे महात्माजी तक से लड़ने को तैयार हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया गया कि पृथक-निर्वाचन की प्रथा न हिंदुओं ने चलाई थी, न मुसलमानों ने। उससे न हिंदुओं का हित हुआ और न मुसलमानों का। वह एक तीसरे दल के सुभीते के लिए थी और उसी के लिए चलाई गई थी। जिन दोनों राष्ट्रों को एक होकर और स्वतंत्र होकर रहना है वे यदि पृथक-निर्वाचन स्वीकार करेंगे तो न वे एक होंगे और न स्वतंत्र होंगे। मौलाना हसरत मोहानी साहब का रुख देखकर स्थिति और भी समझ में आ जाती है। वे या तो संप्रदायवादी बनना चाहते हैं या साम्यवादी। जब तक वे साम्यवादी नहीं बन सकते तब

तक संप्रदायवाद (कट्टरता) ही उन्हें मंजूर है। लखनऊ के राष्ट्रीय मुसलमानों ने उनकी इस भोली नीति की गलती बतला दी और दोनों छोरों को प्रगतिशील और जीवित समाज यदि एक लक्ष्य की ओर चलना चाहता है तो बैठे रहने से उसका काम नहीं चल सकता। संप्रदायवाद और पृथक निर्वाचन में कोई फर्क नहीं। दोनों ही प्रगतिशील समाज को पंगु बना देंगे। इस सत्य को लोग धीरे-धीरे समझ रहे हैं। लखनऊ में उपस्थित देश भर के मुसलमान प्रतिनिधि यदि देश भर में अपना संदेश पहुंचा दें तो बड़ा कल्याण हो। मुसलमानों की इस राष्ट्रीय शक्ति को देखकर दूसरे दल वाले समझौता करने को हाथ बढ़ाने लगे हैं। इतना शीघ्र हाथ बढ़ाते देख राष्ट्रीय मुसलमानों की शक्ति का ही परिचय मिलता है। आवश्यकता इस बात की है कि देश की मुसलमान जनता इस नवनिर्मित राष्ट्रीय दल का संदेश सुन ले और तब सब दलों के प्रतिनिधि उचित संख्या में इकट्ठे होकर समझौता करें। हमें विश्वास है कि इस समझौता में राष्ट्रवादी मुसलमानों की ही विजय होगी। अभी तक तो यह हल्ला मचाया जा रहा है कि 99 प्रतिशत मुसलमान पृथक-निर्वाचन चाहते हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं है बल्कि इसके विरुद्ध कितने ही प्रमाण हैं। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने मुस्लिम नवयुवक समाज की राष्ट्रीयता प्रकट की है। हमें इनकी शक्ति समझनी चाहिए क्योंकि ये ही भविष्य के नेता और राष्ट्र-संचालक होंगे। पहले तो यह बात बिलकुल असत्य है, पर यदि यह सत्य भी मान ली जाए तो भी हम 99 प्रतिशत अनपढ़ और गुमराह मुसलमानों की अपेक्षा 1 प्रतिशत शिक्षित, समझदार और होनहार सज्जनों की प्रामाणिक बातों का मूल्य राष्ट्र के हित ही नहीं, मुस्लिम समाज के लिए भी अधिक हितकर मानते हैं।

छायावाद के संबंध में कुछ कड़ी और कड़वी बातें—1

अब पांच हजार वर्षों के बाद कलियुग काफी खरा चुका है और प्रसन्नता की बात है कि वह प्रतिदिन खराता जाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की ही तरह साहित्य में भी उसकी अच्छी रौनक दीख पड़ती है। चिकनी-चुपड़ी बातें सुनकर रुपए ऐंठने का जमाना अब चला गया है और लोगों को मेहनत करने और खाने-कमाने की फिक्र हो रही है। सिंहासन पर से तपस्या का उपदेश जब सुनाया जाता होगा, तब सुनाया जाता होगा अब तो स्वदेशी मिल के कपड़े पहनकर कोई खद्दर की हिमायत का भाषण दे तो कान पकड़कर प्लेटफार्म से उतार दिया जाए। आदर्शवाद नाम के किसी सिद्धांत की गुजांइश अब नहीं रह गई। जिसे 'हृदय' के नाम से पुकारा जाता था और जिस हार्दिक वृत्ति, 'सहृदयता' आदि की बड़ी तारीफ की जाती थी अब वह हृदय खून का संचालन करने वाली एक मशीन समझा जाता है और सहृदयता भी मस्तिष्क की ही एक वृत्ति मानी जाती है। साहित्य का जीवन से बड़ा घनिष्ठ, बड़ा व्यापक और बड़ा पवित्र संबंध बतलाया जाता था पर अब यह कहने में संकोच नहीं किया जाता कि साहित्य का जीवन में इतना ही संबंध है कि उससे आदमी को गुजर-बसर के लिए रुपए मिल जाते

हैं और काफी योग्यता हो तो नाम भी अच्छा पैदा होता है। यूरोप में इस प्रकार की बातें खुले आम कही-सुनी और समझी जाती हैं। अब वहां ऐसे किसी नाटक की कद्र नहीं की जा सकती जो रंगमंच पर सफलता के साथ खेला जाकर रुपए न बटोर सके। वहां ऐसी पुस्तक धड़ल्ले से लिखी जाने लगी है जिनमें साहित्य कला का उस तरह विचार होता है जिस तरह बढ़ईगिरी अथवा गेहूं-द्रव के रोजगार, बाजारभाव आदि पर बहस की जाती है कि किस प्रकार की गल्पें लिखने से किस क्षेत्र के कितने पाठक, कितने प्रकाशक और कितने रुपए मिल सकेंगे, आदि आदि प्रश्न खूब तेजी में हल किए जाने लगे हैं।

हिंदी के क्षेत्र में भी अब वही रंग दीख पड़ने लगा है। गल्पकार लोग हिंदी में लिखकर फिर उसे ही उर्दू में, उसे ही पुस्तकाकार आदि में छपाने की प्रणाली खूब जान गए हैं। रायल्टी सिस्टम से नौसिखिए तक परिचित दीख पड़े हैं और कवि प्रतिभा कापी-राइट की ओर अच्छी आकर्षित हो रही है। एक दिन एक कवि महोदय की नितांत सुखी और बेतकल्लुफ बात सुनकर हमने शिकायत की तो उत्तर मिला 'हम कवि हैं तो क्या दिन-रात माथा-पच्ची करने के लिए कवि हैं! क्या हमने सरस बातें करने का ठेका ले लिया है।' इसी तरह एक दिन 'निरालाजी' से बातें हो रही थीं। वैसी खरी बातें बहुत कम सुन पड़ती हैं। राजनीति और साहित्य का संबंध जोड़ने की चर्चा चल रही थी। हम राजनीतिक जीवन में क्रियात्मक भाग न लेने वाले साहित्यिकों की शिकायत कर रहे थे। 'निरालाजी' ने कहा यह सब कहने-सुनने की बातें हैं। राजनीति के क्षेत्र में भी बड़ी पोल चलती है। नेता लोग अपनी-अपनी टिप्पस भिड़ाने में लगे रहते हैं। जैसी मेहनत करते हैं, वैसा फल पाते हैं। वही हाल उनका है, वही हाल हम साहित्यिकों का भी है। दूर की आवाज सुहावनी लगती है। पीछे से पं. लक्ष्मीधरजी वाजपेयी की जबानी फैजाबाद जेल के प्रतिष्ठित बी क्लास के कैदियों का वृत्त सुनकर इसी की पुष्टि हुई। अब इस जमाने में महात्मा तुलसीदास की तारीफ करने वालों की परख बड़ी कड़ाई से की जाती है। तारीफ करने वाला अपने को उन्हीं के धरातल में रखे, नहीं तो चुप रहे। माइकेल मधुसूदन दत्त का *मेघनाद वध* लोगों को अधिक रुचता है। वह आजकल के लिए अधिक मानवीय है। एक बार आचार्य शुक्लजी ने छायावादियों के संबंध में लिखा—

आवें लोक लोचन समक्ष देखें एक बार
अपनी कलाहीन कोरी शब्द की उड़ान

तो उन पर तरह-तरह के व्यंग्य कसे गए और उनके 'राम-जप' 'राम-जप' को मातादीनजी ने चूरन बेचने वालों के वजन का लटकाना ठहराया।

यदि यही प्रवाह चलता रहा तो वह समय भी दूर नहीं जब छायावाद के संबंध में विशेष तीखी और कड़वी बातें कही जाने लगेंगी। जान पड़ता है, सबसे पहले उसके नाम पर भी आक्रमण किया जाएगा और उसे बदलकर कुछ और रखा जाएगा। हृदयवाद के बदले दिमागवाद, प्रकृतिवाद के बदले नजाकतवाद और छायावाद अथवा रहस्यवाद के बदले किसी दूसरे ही नाम की सृष्टि की जाएगी। प्रवृत्ति ऐसी हो रही है कि प्रत्येक वस्तु हमारी बुद्धि की कसौटी

में कसी जाकर खरी उतरे। क्लिष्ट कल्पनाओं की लड़ी प्रकृतिवाद कैसे कहला सकेगी? कोमल कांत-पदावली को हृदयवाद कौन कहेगा? *भारत* के पिछले अंक में पं. सुमित्रानंदनजी पंत ने *नीहार* की बड़ी ही मार्मिक आलोचना की है। उसमें *नीहार* की कवयित्री को कल्पना जगत की विवादमय और वास्तविक जीवन की हंसी-खुशी से भरा हुआ बतलाया है। फिर उनमें मनोवैज्ञानिक साम्य स्थापित करते हुए यह बतलाया है कि एक ही प्रतिक्रिया से दूसरे का स्वाभाविक आविर्भाव होता है। पर कुछ दिनों के बाद इस प्रकार का समझौता लोगों की समझ में नहीं आवेगा और उसकी जरूरत भी नहीं रह जाएगी। और पंतजी का यह तर्क कुछ कच्चा भी रह गया है। उनके कहने से तो ऐसा जान पड़ता है कि कल्पना जगत में प्रवेश करते ही कलम-दवात लेकर रचना करने लग जाना अनिवार्य हो जाता है। यदि यही कल्पना-जगत है तो इसे भी बुद्धिजगत ही कहना अधिक उचित होगा।

यह शुष्क, कर्कश युग कठोर सत्य चाहता है। इसमें किसी तरह की सफाई देने की जरूरत ही नहीं रह गई। आप जो कुछ कहते हैं सब अक्षर-अक्षर ठीक है, बशर्ते कि आप उसे ज्यों का त्यों कह दें। पालिश बेकार है। छायावाद की कविता यदि बुद्धिवाद से प्रेरणा पा रही है तो कोई हर्ज नहीं, यदि वह सांप्रदायिक हो रही है तो भी कोई चिंता नहीं। यह युग सब कुछ बर्दाश्त कर सकता है। इस तीव्र भावनाप्रधान युग में यदि इतनी शक्ति नहीं कि वह छायावाद के कवियों को अतीत की ओर से खींचकर अपनी ओर ला सके तो इसमें वह अपनी ही दुर्बलता स्वीकार कर लेगा। हमारे ही देश ने पिछले वर्ष के विकट आंदोलन में बड़े-बड़े विदेशी दार्शनिकों और अतीतान्वेषकों का दर्शन और अन्वेषण छुड़ाकर अपने में लीन कर लिया पर हमारे काल्पनिक कवियों की कल्पना फूंक-फूंककर ही पैर रखती रही। पचास-पचास, साठ-साठ हजार व्यक्तियों का श्वेतवस्त्रधारी जन समूह क्षीरसागर की भांति लहराता और स्वर्ण मेघ की भांति गर्जन करता था, अप्सराएं गीत गाती थीं, देवियां आरती उतारती थीं। कवियों की तृषित कल्पना इन्हें पाकर तृप्त हो सकती थी। फिर भी यह उदार युग अपनी-अपनी रुचि की बात स्वीकार कर लेगा। व्यक्ति को इतना अधिक स्वातंत्र्य मिल रहा है जितना शायद ही किसी युग में मिला हो।

इस समय एक ओर तो बुद्धि और तर्क का प्रवाह उमड़ा हुआ है, दूसरी ओर प्रेतात्मवाद और विशाववाद के दिन आए हुए हैं। एक ओर राम और कृष्ण की परख की जाती, बहस-मुबाहिसा किया जाता और दूसरी ओर रावण की तारीफ की जाती है। भक्ति की पंक्तियां समझ में नहीं आतीं, उसे एक प्रकार का मानसिक विक्षेप और दुर्बलता के नाम से पुकारा जाता है। 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' कहती हुई कोई स्त्री आज वृंदावन के आसपास चक्कर लगाती फिरे तो पुलिस वाले जरूर टोकेंगे। शायद हवालात में भी रखें। आजकल सब साधु वेशधारी सी.आई.डी. के आदमी समझे जाते हैं। इसके साथ ही बहुत से अज्ञेय, अतिमानवीय और अतींद्रिय संप्रदाय भी खुल गए हैं और चल पड़े हैं जिनमें बुद्धि काम ही नहीं देती। इन दोनों विरोधी प्रवाहों में मनुष्य सत्य, शिव और सुंदर को ढूंढ़ता है और शांति की तलाश करता है। हम पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि मानवीय सत्य दोनों में नहीं है, दोनों के सम्मेलन में है। शिव और सुंदर भी यहीं है। पर आधुनिक युग जिस धुन में है वह उसे सुनने को तैयार

नहीं। छायावाद के कुछ कवि और समालोचक भी इसी अन्यतम (Extreme) मनोवृत्ति का परिचय दे रहे हैं। परंतु मनुष्य की बुद्धि और विवेक इसे बहुत दिनों तक स्वीकार नहीं कर सकते। यदि छायावाद को बिलकुल प्रेतात्मवाद की-सी सांप्रदायिक वस्तु नहीं बना देना है तो कवियों और समालोचकों को चाहिए कि वे मध्यमार्ग पर आवें क्योंकि वही सत्य मानव-मार्ग है।

(शुक्रवार, 24 अप्रैल 1931)

विलायत का व्यापार

आजकल विलायत में व्यापार-संबंधी बड़ी हलचल मची हुई है। इधर कुछ दिनों से संसार भर में जो अर्थकष्ट फैला हुआ है, विलायत उसके कटुफल से बचा नहीं रहा। उसे भी बड़ी आर्थिक मुसीबतों का सामना करना पड़ा। इसी बीच में भारत का बायकाट आंदोलन भी चलाया गया जिससे विलायत के व्यापार की नस और भी ढीली पड़ गई। अन्य उपनिवेशों ने अपने-अपने यहां स्वदेशी-व्यवसाय के लिए जो सुविधाएं कीं उससे भी इंग्लैंड को नुकसान ही पहुंचा। सब ओर से निराश होकर भी विलायत के व्यापारी भारत के आसरे प्रसन्न रहते थे। पर इस बार वैसा मौका नहीं मिला। परंतु जब से गांधी-इर्विन समझौता हो गया और कांग्रेस ने विलायती वस्तुओं का बहिष्कार उठा लिया तब से विलायती व्यापार से पुनरुद्धार की आशा वहां की जाने लगी है और लंकाशायर के मिल-मालिक अपनी मिलों के ताले खोलने की कोशिश कर रहे हैं। बहुत दिनों के उपवास के बाद भूख का जोर से बढ़ना स्वाभाविक भी है और यही बात उन मिलवालों के संबंध में भी सत्य है। वे यह चाहते हैं कि भारत की मांग इतनी अधिक तादाद में आवे कि हमारे सब बेकार मजदूर काम में लग जाएं, हमारी रफ्तगी इतनी बढ़ जाए कि जिसका कोई हद-हिसाब नहीं। परंतु इस विराट कल्पना को सत्य होते न देख वे काफी उद्विग्न हो गए हैं और पार्लियामेंट के बहस-मुबाहिसे में भी उस दिन उनकी उद्विग्नता दीख पड़ी थी। भारतीय समस्या पर वाद-विवाद चल रहा था। पार्लियामेंट के कुछ सदस्यों ने भारतीय कांग्रेस पर इस बात का आरोप किया और जिम्मेदारी ठहराई कि वह गांधी-इर्विन समझौते की शर्तों को पूरा नहीं कर रही, नहीं तो कोई कारण नहीं कि लंकाशायर की व्यापारिक अवस्था अब सुधर न जाती। किसी ने बंबई नगर के प्रमुख व्यापारियों की शिकायत की, किसी ने विदेशी कपड़ा विदेशों को भेजने की कांग्रेस नीति पर आपत्ति की और इसी प्रकार अपने-अपने विचार प्रकट किए गए।

पार्लियामेंट के सदस्यों का यह रुख देखकर जो भाव हमारे मन में सबसे पहले उत्पन्न होता है वह यह है कि विलायत के पूंजी वाले अपने ही स्वार्थ की दृष्टि से इस प्रश्न को देखते हैं और किसी दृष्टि से नहीं। केवल आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक मामलों में भी वह पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों की नीति को ही सनातन धर्म समझकर उसी पर अड़ा रहना चाहते हैं। अब

तक ब्रिटेन भारत पर शासन करता रहा है, अब तक सामाजिक, राजनीतिक और व्यावसायिक आदि सभी क्षेत्रों में वह विजयी राष्ट्र की सुविधाओं का व्यवहार करता रहा है और यह स्वाभाविक ही है, उसकी यह आदत एक ब एक न छूट सके। इसके लिए एक नवीन आदर्श को ग्रहण करने की आवश्यकता है, केवल एक क्षेत्र में नहीं, सभी क्षेत्रों में। पिछले गोलमेज सम्मेलन में यह विश्वास दिलाया गया था कि भारत का राजनीतिक सूत्र जहां तक संभव होगा वहां के लोकमत का विचार करके चलाया जाएगा और नवीन-विधान के बनते ही शासन-अधिकार बदलकर भारतीयों के हाथों में सौंपा जाएगा। यदि सम्मेलन के इस प्रस्ताव पर अमल करना शुरू कर दिया जाता तो ब्रिटेन का दृष्टिकोण थोड़ा-बहुत अवश्य बदल गया होता और तब पार्लियामेंट के सदस्य विलायती व्यापार के प्रश्न को केवल विलायत की ही निगाह से नहीं, भारत की निगाह से भी देख सकते। यदि भारत की निगाह से नहीं तो कम से कम उदारता और निष्पक्ष नीति की निगाह से तो इस प्रश्न पर विचार करना बहुत आवश्यक है। बहुत-सी गलतफहमी और बहुत-सी मिथ्या आशा के दूर करने का यही उपाय हमारे सामने है।

गांधी-इर्विन समझौते के बाद विलायत को भारत से मन-मुताबिक व्यापारी मांगें क्यों नहीं आईं, इसके कतिपय कारणों का हवाला सहयोगी *लीडर* ने दिया है। सबसे प्रमुख कारण है भारत का अर्थकष्ट। भारत किसानों का देश है और किसानों के पास इतने भी पैसे नहीं कि वे किसी प्रकार अपनी मालगुजारी अदा कर सकें। जमींदारों की भी यही दुर्गति है। विलायत वाले अपने लिए चिल्ला रहे हैं। उन्हें यह नहीं दीख पड़ता कि भारत की स्वदेशी मिलों का कारबार भी ढीला हो रहा है। यह आर्थिक दुरवस्था का ही कारण है कि स्वदेशी आंदोलन के होते हुए भी स्वदेशी मिलों को काम नहीं मिल रहा और उनमें से कुछ तो बंद तक हो गई हैं। दूसरा कारण यह है कि भारतीय व्यापारियों के यहां अभी पुराने विलायती मील का स्टाक पड़ा हुआ है और वे सबसे पहले उसे ही निकालना चाहते हैं। जब तक वह नहीं बिक जाता तब तक नए ऑर्डर कैसे दिए जा सकते हैं? तीसरा कारण यह है कि पिछले वर्ष भर के बायकाट आंदोलन का इतना गहरा असर पड़ गया है कि जिन व्यापारियों के पास विलायती माल का स्टाक नहीं है वे भी अब माल-मंगाने में आगा-पीछा करते हैं। कांग्रेस ने उन्हें आगाह कर दिया है और नवीन विधान के संबंध में भी अभी कुछ निश्चय नहीं हुआ है। ऐसी डावांडोल हालत में वे नया माल मंगाना और अपने घर का रुपया दूसरे को सौंप देना एक समझते हैं। दूध का जला मठ्ठे को भी फूंककर पीता है। जब तक राजनीतिक वातावरण स्थिर नहीं हो जाता तब तक विलायत के भारतीय व्यापार में विशेष उन्नति न होना स्वाभाविक है। चौथा कारण यह कि भारत सरकार की आय के लिए विदेशी माल पर कर बढ़ा दिया गया है। पांचवां जबर्दस्त कारण यह है कि सामूहिक राष्ट्रीय आंदोलन ने पिछले वर्ष स्वदेशी के प्रति गहरा अनुराग भर दिया है और लोग स्वदेशी पहनने की ही रुचि रखने लगे हैं। यह कहना असत्य है कि पहले की ही तरह अब भी पिकेटिंग जारी है। महात्माजी ने अपनी अद्‌भुत शक्ति से स्थिति को बिलकुल बदल दिया है और अब पिकेटिंग के वे उत्पात कहीं सुन भी नहीं पड़ते। फिर भी देश में स्वदेशी की भावना सर्वत्र प्रबल हो रही है। स्थान-स्थान पर चरखा संघ खुल

गए हैं और सभी शहरों में खद्दर भंडारों की संख्या काफी हो रही है।

विलायत की यह भी शिकायत है कि भारत विलायती वस्तुओं की अपेक्षा जापानी वस्तुएं खरीदना ज्यादा पसंद करता है, इस कारण भारत में जापान का रोजगार विलायत के मुकाबले में अधिक बढ़ रहा है। परंतु क्या इसका कारण राजनीति है? क्या विलायत यह साबित कर सकता है कि भारतवासी जापान का पक्षपात करते हैं? सत्याग्रह आंदोलन के पहले भी जापान का रोजगार इस देश में बढ़ रहा था और विलायत का उसके टक्कर में कम पड़ रहा था। इसका कारण केवल व्यापारिक प्रतियोगिता ही है। कीमत की कमी की होड़ में जापान आगे बढ़ा जा रहा है। केवल भारत में ही नहीं मिस्र आदि अन्य देशों में भी जापानी व्यापार तरक्की कर रहा है। इसका कोई राजनीतिक कारण नहीं है, यह तो शुद्ध आर्थिक प्रश्न है। जहां की वस्तुएं सस्ती और टिकाऊ होंगी, वही खरीदी जाएंगी।

विलायत के व्यापारियों को चाहिए कि वे स्वप्न के किले बनाना छोड़कर वास्तविक और व्यावहारिक दृष्टि से संपूर्ण अवस्था पर विचार करें। भारत की बदली हुई स्थिति और उसकी राजनीतिक अधिकार-प्राप्ति का उन्हें खयाल रखना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि शीघ्र ही नवीन विधान बनने वाला है जिससे वह 'स्वराज्य का सार' प्राप्त करेगा। यह समझ आ जाने पर विलायती व्यापारी महात्मा गांधी, कांग्रेस और मजदूर सरकार को कोसने में समय न नष्ट कर अधिक संतोषी, संयमी और विवेकवान बनेंगे।

छायावाद के संबंध में कुछ कड़ी और कड़वी बातें—2

यहां छायावाद की तुलनात्मक आलोचना की जा रही है। छायावादी यह सफाई न पेश करें कि उन्हें पिछले युग से साहित्य की जो विरासत मिली थी, उसे देखते हुए उन्होंने काफी तरक्की की है, कम से कम पुरखों का नाम नहीं डुबाया। आज से पचीस वर्ष पहले की साहित्यिक कर्मगति से अपनी तुलना कर गौरवान्वित बनने में न कुछ लाभ है, न बड़ाई। वह परिवर्तन का युग था, निर्माण का नहीं। अथवा वह नवीन साहित्य के क, ख, ग, घ का समय था। जब साहित्य शिशु को पाटी पकड़ने और बाराखड़ी से परिचित होने की तजबीज की जा रही थी। वे छोटे-छोटे साहित्यकार प्यार करने की वस्तु भले ही हों स्पर्द्धा करने की वस्तु कदापि नहीं। कविताएं देखिए 'स्त्री शिक्षा' 'क्षमा' 'साहस' आदि शीर्षक से की जा रही थीं अथवा सरकार बहादुर की किसी प्रदर्शनी की वस्तुएं गिनाई जा रही थीं। यह सब उस समय के लिए अत्यंत उपयुक्त थी क्योंकि जीवन की कोई सचेतन अनुभूति उस समय उत्पन्न ही कहां हुई थी, एक क्षीण, अपरिचित अभी शायद कभी कहीं से झांक जाती थी तो वह भी कवि के विस्मय को ही आकर्षित करती थी। किसी स्थायी वृत्ति को नहीं। अब वे बातें छूट गई हैं। अब वे कवि यदि इतने महत्वाकांक्षी नहीं कि दुनिया के साहित्य लोक में अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करें तो कम से कम इतने विनीत भी नहीं कि भारत के सामयिक साहित्य में अपना अस्तित्व न

स्वीकार करें। अच्छा तो एक इसी प्रश्न को लेकर देखा जाए।

हम यही नहीं पूछते कि भारत की राष्ट्रीय जाग्रति में छायावाद का क्या स्थान है, हम केवल यह पूछते हैं कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में छायावाद का क्या स्थान है? याद रखिए, हमने जान-बूझकर इस प्रश्न के साथ 'सामयिक' शब्द नहीं रखा और सामयिक राष्ट्रीय जाग्रति अथवा सामयिक राष्ट्रीय जीवन का उल्लेख नहीं किया। हम जानते हैं कि छायावादी 'सामयिक' शब्द को यदि विद्वेष नहीं तो घृणा की दृष्टि से अवश्य देखते हैं। वे सार्वकालिक बनने की धुन में 'काल' का बहिष्कार कर देना चाहते हैं। परंतु 'काल' को खोकर उनके हाथ क्या लगा है यह उन्हें नहीं मालूम। वे यह तो समझते हैं कि अणु के भीतर निस्सीम किस सूक्ष्म भाव से निहित रहता है पर उन्हें यह नहीं समझ पड़ता कि सामयिकता के भीतर भी सार्वकालिकता निहित रहती है, निहित रह सकती है। यह समझ का फेर है। इसी कारण छायावाद की कविता में कहीं कल्पना की विक्षिप्त गति, कहीं भावना का असंयमित, अनिश्चित प्रवाह और कहीं अलंकरण की चकाचौंध दीख पड़ती है। जीवन की शांतिदायिनी, स्फूर्तिदायिनी किरण से विहीन ही कवियों का छायालोक है। हम यह नहीं कहते कि छायावाद में जीवनी धारा है ही नहीं। हम तो समझते हैं उसमें उसका क्रमशः विकास हो रहा है। और यदि कवियों का यह भ्रम दूर जो जाए कि 'सामयिकता' और सामयिक जीवन कोई अछूत वस्तु है तो उनकी कविता अपनी वर्तमान अपरिचित थकी उड़ान से थमकर अपनी मति-गति दुरुस्त कर सके। बंगाल और गुजरात को नवीन कलात्मक जाग्रति की मूल प्रेरणा साबरमती और शांति निकेतन के मनीषियों की कृतिशक्ति से मिली थी, उनकी कल्पनाशक्ति से नहीं।

सामयिक जीवन को अछूत समझने की नहीं, उसे अपनाने, उसमें सराबोर होकर एकाकार हो जाने की आवश्यकता है। जीवन की गति सबके लिए स्वाभाविक आकर्षण रखती है। उसकी पुकार है कि उसमें आ मिलो। छायावाद के कवि उस पुकार को जितनी हद तक सुनते हैं उतनी हद तक भी स्वीकार नहीं करते। यह उनकी विनयता नहीं है, एक कृत्रिम धारणा है जो धीरे-धीरे रूढ़ि (Convention) बनकर उनके संस्कारों में मिलती जा रही है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि छायावाद के प्रमुख कवि भी ऐसी ही धारणा रखते हैं। एक दिन बाबू जयशंकर प्रसादजी ने हमसे पूछा कि यह जो हम लिखा-पढ़ी में दिन बिताते हैं क्या (Luxury) आरामतलबी नहीं? क्या साहित्य मात्र ही साधारण सामाजिक जीवन का व्यंग्य नहीं? प्रसादजी की इस मीठी चुटकी का आशय समझने में देर नहीं की जा सकती। उनकी व्यंजना हमें उस समय पसंद नहीं आई थी और अब भी हमें संदेह है कि प्रसादजी को सिद्धांततः साहित्यधारा और जीवनधारा का संगम रुचिकर है अथवा नहीं। यही हाल पंतजी का भी है। हमने उनसे पूछा था कि उनकी कविता में 'वर्तमान' का कोई स्थान है या नहीं। उत्तर में उन्होंने कहा, कोई ज्ञात स्थान नहीं। इसके कई अर्थ किए जा सकते हैं, एक अर्थ यह भी कि कोई खास स्थान नहीं। उनके कहने का ढंग भी शायद ऐसा ही था। यदि यही निष्कर्ष ठीक है तो यह हमें अच्छा नहीं लगता।

छायावाद की कविता में विषाद की एक धारा व्याप्त देखकर हमने इन्हीं स्तंभों में विश्लेषण किया था कि छायावाद वर्तमान लौह युग की आर्तवाणी है और अब तक हमारी यह धारणा

शिथिल नहीं हुई है। परंतु यदि प्रमुख छायावादी कवियों के मतानुसार वर्तमान युग उनकी काव्य प्रेरणा में कोई विशेष स्थान नहीं रखता तो उनके 'विषाद' को समझना बड़ा कठिन हो जाएगा। शेक्सपीयर के *एज यू लाइक इट* नाटक में जैक्स नाम का एक अद्‌भुत पात्र आया है। वह प्रारंभिक जीवन में बड़ा ही मौजी और चरित्रहीन व्यक्ति था। पीछे से वह दार्शनिक बन गया और उसका दर्शन विषाद प्रधान था। दुनिया की वस्तुएं उसे विषाद के ही रंग में रंगी दीख पड़तीं। शेक्सपीयर के आलोचकों ने जैक्स के उस विषाद (Melancholy of Juques) पर बड़े ही मनोरंजक निबंध लिखे हैं और बहुतों ने उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उसके दर्शन को मूर्खतापूर्ण (Fools Philosophy) ठहराया है। पश्चिमी समालोचक अधिकतर मानवीदृष्टि (Rationalist look) ही रखते हैं। इसलिए उनके विचार लोगों को कड़वे लग सकते हैं। परंतु हमारी निगाह में वह व्यावहारिकता की दृष्टि अपना विशेष महत्व रखती है और उसमें निहित सत्य पर कोई शंका नहीं की जा सकती। यहां हमारा यह लक्ष्य नहीं है कि हम छायावादी कवियों के विषाद की तुलना जैक्स के विषाद से करें पर हमें भय है कि ऐसी तुलना का मौका उनकी ओर से दिया जा रहा है।

एक पिछले लेख में हमने पं. सुमित्रानंदन पंतजी की यह सम्मति उद्धृत की थी कि 'निरालाजी' की कविता बुद्धि की अतिशयता से (Excess) और स्वयं पंतजी की कविता कल्पना की अतिशयता से पीड़ित है। पंतजी ने पीछे बतलाया कि 'अतिशयता' (Excess) शब्द उपयुक्त नहीं है। उसके लिए (Abstractness) 'निर्विकल्प पूर्णता' शब्द ठीक होगा। निर्विकल्प बुद्धिजन्य पूर्णता निरालाजी की कविता और निर्विकल्प कल्पनाजन्य पूर्णता उनकी कविता की विशेषता है। हमने कहा यह तो बहुत ऊंचा धरातल है। उत्तर मिला ऊंचा भी कहा जा सकता है और स्वाभाविक भी। तब से हम पंतजी को बड़ी श्रद्धा से देखने की चेष्टा कर रहे हैं।

परंतु एक व्यक्ति की निर्विकल्प पूर्णता के प्रति श्रद्धा करने से छायावाद का कुछ बन-बिगड़ नहीं सकता। कल्पना की ही निर्विकल्प पूर्णता के कुछ छायावादी चित्र देखने से काफी रोचक बातें मालूम हो सकती हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान चार्ल्स लैंब (Charles Lamb) के बारे में यह कहा जाता था कि उसे राजपथ अच्छे नहीं लगते थे, गलियां अच्छी लगती थीं। यह बात एक दूसरे अर्थ में छायावादी कवियों की कल्पना के लिए भी ठीक उतरती है। इन्हें भी राजपथ अच्छे नहीं लगते, गलियां भाती हैं। उदाहरण बहुत से मिलेंगे। एकांत तालाब के पानी में तैरने वाली मछलियां और उनके संबंध की तरह-तरह की बातें, टिमटिमाते हुए तारों के संबंध में अर्द्ध-वैज्ञानिक, अर्द्ध दार्शनिक निष्कर्ष आपको काफी तादाद में मिलेंगे। उन्हें पढ़कर उनके सूक्ष्मदर्शन पर आतंकित हो जाना पड़ता है पर यह प्रश्न बाकी ही रह जाता है। क्या इस सूक्ष्म कल्पनाजाली ने निर्विकल्प रूप से निखिल विश्वब्रह्मांड का रक्षाबंधन कर रखा है अथवा उन सूक्ष्मता के भीतर संकीर्णता, एकांगिता, शैथिल्य और अपूर्णता का ही प्रवेश है? जो सूक्ष्म दृष्टि तालाबों की मछलियों के नाक-कान देख सकती है, क्या उसे देखने के लिए और कुछ बाकी नहीं रहा? क्या जवाब है?

(सोमवार, 27 अप्रैल 1931)

देर की हद

धर्म पुस्तक *बाइबिल* में एक मनोरंजक और शिक्षाप्रद कहानी आई हुई है। कई नायिकाएं हैं, एक नायक है। नायिकाएं करार करती हैं कि वे ठीक तय किए हुए समय पर नायक के यहां आएंगी और नाच-रंग में शरीक होंगी। परंतु वे अपनी बात को भुला देती हैं और ठीक समय पर हाजिर नहीं होतीं। फिर भी नायक की कृपा से उनमें से कुछ तो प्रवेश पा जाती हैं पर एक नायिका हद से ज्यादा देर कर देती है। नायक द्वार बंद कर शेष नायिकाओं के साथ रास-क्रीड़ा में रत होता है। वह हद से ज्यादा देर कर आने वाली नायिका दरवाजा बंद देख उसे खटखटाती है और बड़ी विनती करती है कि उसे भी भीतर आने की इजाजत मिले। पर उत्तर यह मिलता है कि बहुत अधिक देर हो चुकी है, अब तुम प्रवेश नहीं पा सकती। उसे लौट जाना पड़ता है। इस कथा का आध्यात्मिक अर्थ है। पर यही ब्रिटेन और भारत की वर्तमान स्थिति में भी एक बड़ी हद तक लागू होती है। मार्ले-मिंटो सुधारों के समय से ही ब्रिटिश नायिकाएं देर करती गईं। जो आज का काम था वह दस वर्ष बाद किया गया। एक नहीं अनेक अवसरों पर यही देरी देखी गई। देर भी की गई तो बेरुखी के साथ, उदाहरण के लिए साइमन-कमीशन। परंतु भारत का द्वार फिर भी खुला ही रहा। सन् 1930 की लाहौर कांग्रेस ने सचेत करने की अंतिम घंटी बजाई, पूर्ण-स्वाधीनता का प्रस्ताव रखा। ब्रिटिश जाति सचेत हुई, पर वह अर्ध-चेतन स्थिति ही कही जाएगी जिसमें पिछली गोलमेज सभा हुई थी। देहली के गांधी-इर्विन समझौते के बाद यह आशा हुई कि अब ब्रिटेन अपना हित समझकर पिछले समस्त विलंब से शिक्षा ग्रहण करेगा और भविष्य में हद से ज्यादा देर करने वाली उस नायिका की-सी गलती नहीं करेगा।

पर उस आशा के पूरा होने में फिर से संदेह किया जाने लगा है। गांधी-इर्विन समझौते की शर्त नं. 2 जो आगामी गोलमेज में रखे जाने वाले प्रस्तावों से संबंध रखती थी, बड़े ही अस्पष्ट शब्दों लिखी गई थी। उसे समझाते हुए कितने ही नेताओं ने कितने ही प्रकार की बातें कहीं, परंतु महात्मा गांधी की व्याख्या यह थी कि आगामी गोलमेज में संघ शासन विधान के अनुसार सभी समस्याओं पर नए सिरे से विचार किया जा सकेगा और भारत के हित का अधिक से अधिक ध्यान रखा जा सकेगा। जो संरक्षण आवश्यक होंगे और देश के लिए लाभप्रद होंगे, वे ही रखे जाएंगे। महात्माजी की यह व्याख्या अवश्य ही लार्ड इर्विन और उनके बीच की बातचीत में तय हो चुकी होगी और हमें यह मानने का कोई प्रमाण नहीं कि लार्ड इर्विन महोदय महात्माजी की व्याख्या से सहमत न रहे हों। परंतु इस बीच में पार्लियामेंट में जो भाषण हुए उनमें भारत सचिव मिस्टर बेजल्ड बेन ने कुछ ऐसी बातें कहीं जिनसे शंकाओं की उत्पत्ति हुई। उनकी वक्तृता से ऐसा आभास मिला कि पिछले गोलमेज सम्मेलन में जो कुछ तय हो चुका है वही प्रायः ब्रह्मवाक्य की तरह अटल है और भारत की विधि लिपि उन्हीं अक्षरों में लिखी जाएगी। इसका विरोध भारत में सर्वत्र हुआ पर तब से अब तक ब्रिटेन की ओर से कोई ऐसा विश्वसनीय जवाब नहीं दिया गया जिससे शंकाएं दूर हो सकतीं।

शंकाएं दूर होने की तो बात बहुत दूर है, स्थिति तो यह है कि वे अनेक प्रकार से बढ़ती

ही जा रही हैं। गोलमेज सम्मेलन में यह विश्वास दिलाया गया था कि भारत का नवीन विधान जितना शीघ्र संभव होगा, बनाया जाएगा और जब तक नवीन विधान नहीं बनता तब तक पुराने विधान के रहते हुए भी उन तमाम बातों का ध्यान रखा जाएगा जो भारतीय लोकमत के अनुकूल हों। बहुत-सी ऐसी सुविधाओं और अधिकारों का उल्लेख प्रांतीय व्यवस्था-सभा में श्री चिंतामणि ने किया था और अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने भी यही आग्रह किया था पर इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। सर जॉर्ज रेनी और सर अर्नेस्ट हाटसन, देहली और बंबई के इन उच्च पदाधिकारियों की अनुपस्थिति में भारतीयों को उनका स्थानापन्न नहीं बनाया गया। लार्ड विलिंग्डन के आने की प्रतीक्षा की जा रही थी। पर उन्होंने आकर अब तक कोई संतोषजनक संदेश नहीं सुनाया। इस प्रकार भारत के लोकमत को अधिक से अधिक निराश करने में प्रत्यक्ष और परोक्ष रीति से ब्रिटेन की शक्ति खर्च हो रही है।

विलायत के अनुदारदल के करिश्मे बहुत अधिक प्रकाश में आ चुके हैं और उसका बहुत अधिक श्रेय मिस्टर चर्चिल को है। पहले यह तय था कि गोलमेज सम्मेलन की एक बैठक भारत में होगी। परंतु अनुदारदल ने अपने प्रतिनिधि न भेजने का निश्चय किया जिससे तमाम स्कीम बदल गई। सेंट जॉर्ज के प्रसिद्ध चुनाव के समय लार्ड राथरमियर और बीभर ब्रुक नाम के पूंजीपति प्रेस मालिकों के निहायत नीच तरीके से भारत के पूज्य नेता महात्मा गांधी को चुनाव के मामले में घसीटा और ऐसे-ऐसे फिकरे कसे जो हमारे देश को अवश्य ही मानहानिजनक समझ पड़ें। और हाल में कुछ लोगों का ऐसा गुट तैयार किए जाने की बात सुन पड़ी है, जो विलायत में जाने पर महात्मा गांधी का बायकाट करेगा और उनके विरुद्ध प्रदर्शन करेगा। महात्मा गांधी जैसे परमहंस पुरुष इन ओछी बातों की स्वप्न में भी परवाह नहीं करेंगे। पर इनसे ब्रिटिश जाति के एक अंश की मनोवृत्ति का परिचय जरूर मिलता है। इसी अनुदारदल के एक सदस्य लार्ड पील हैं। पाठक जानते होंगे ये लार्ड पील अनुदारदल के प्रतिनिधि बनकर पिछले गोलमेज में शरीक हुए थे। खबर है कि ये महोदय पार्लियामेंट की लार्ड सभा में कुछ प्रश्न पूछने वाले हैं। उनके प्रश्नों को देखते ही यह पता लग जाता है कि ब्रिटेन और भारत के बीच में होने वाले समझौते में क़हां तक अड़ंगे खड़े कर सकते हैं। उनका एक सवाल यह है कि क्या गोलमेज सम्मेलन में शरीक होने वाले देशी नरेशों के अलावा दूसरे देशी नरेशों ने संघशासन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है और यदि किया है तो किन शर्तों पर? दूसरा सवाल यह है कि क्या सरकार भारत के हिंदू-मुस्लिम दंगों की बढ़ती हुई संख्या पर कोई वक्तव्य दे सकती है जिससे ब्रिटेन की भारत संबंधी शंका दूर हो? तीसरा सवाल भारत के विदेशी वस्त्र-बायकाट और स्वदेशी प्रचार के संबंध में है। पहले दो सवालों से ऐसा जान पड़ता है कि लार्ड पील महोदय हिंदुस्तान के बहुत बड़े हितैषी हैं और हिंदू-मुस्लिम दंगों के बढ़ने के कारण उन्हें रात-दिन चिंता रहती है, और नींद नहीं आती। मालूम तो ऐसा पड़ता है कि भारत के लिए वे इतने फिक्रमंद हैं कि उनका वजन घटा जा रहा है। परंतु संयोगवश तीसरा स्वदेशी संबंधी सवाल पूछकर लार्ड महोदय ने अपनी भारत-हितैषिता का कच्चा चिट्ठा सुनाया। हम अनुमान करते हैं कि लार्ड पील महोदय का यह इरादा हो रहा है कि कानून बनाकर भारत

के स्वदेशी उद्योग-धंधों को रोक दिया जाए और भारतवासी कानूनन ब्रिटेन की बनी वस्तुएं ही इस्तेमाल कर सकें और कहीं की नहीं। लार्ड पील की भारत हितैषिता इससे अधिक और किस तरह स्पष्ट की जा सकती है?

विलायत का रुख तो ऐसा है कि भारतवासियों पर दोष मढ़ने में कसर नहीं की जाती। पंजाब के गवर्नर महोदय ने हाल में ही एक बड़ा ओजपूर्ण भाषण दिया है जिसमें आपने यह बात जाहिर की है कि भारत की अराजकता से अब आप तंग आ गए हैं, अब वह आपको सह्य नहीं हो रहा। यह अराजकता क्या है, इसके कारण क्या हैं, इसमें दोष किसका है इनसे कोई विशेष मतलब नहीं। यदि भगतसिंह और उनके साथियों को देश भर की आवाज की अनसुनी कर फांसी दी गई और उसके जवाब में कुछ कड़ी बातें कही गईं तो हम समझते हैं, गवर्नर महोदय को मनोविज्ञान का सहारा लेना चाहिए और उनसे विशेष चिंतित न होना चाहिए। यदि किसानों के अर्थकष्ट की पुकार गवर्नर महोदय को तीखी मालूम पड़ती है तो यह तो किसानों का ही दुर्भाग्य है। यदि कांग्रेस की ओर से ब्रिटेन की नीति पर आक्षेप किया जा रहा है तो उससे ऊबने का तो कोई कारण नहीं। यदि देहली के समझौते के अनुसार राजनीतिक कैदियों को न छोड़ने की शिकायत की जा रही है तो बुरा क्या किया जा रहा है? सबसे बड़ी बात तो यह है कि ब्रिटेन ने अपनी हद से अधिक सुस्त नीति, लापरवाही और बेरुखी से भारत की सहनशक्ति को इतना अधिक क्षीण (Strain) कर दिया है कि जिसकी कोई हद नहीं। महात्मा गांधी और सरदार वल्लभ भाई जैसे संयमी नेता भी इस ब्रिटिश नीति से असंतुष्ट हो उठे हैं। हाल की खबर है कि वे इस पर गंभीरता के साथ विचार कर रहे हैं कि सरकार की इस नीति को देखते हुए उन्हें सत्याग्रह का फिर से प्रयोग करना चाहिए अथवा नहीं। जो महात्मा गांधी प्रबल विरोध का सामना कर एक मात्र शांति का ही आग्रह कर रहे थे, जिन्होंने कराची कांग्रेस की विपरीत परिस्थिति में समझौते का प्रस्ताव पास कराया, वे ही अब राष्ट्रपति पटेल से सत्याग्रह को फिर से शुरू करने का परामर्श कर रहे हैं। यह बड़ा कठिन प्रसंग है। सरकार को चाहिए कि वह *बाइबिल* की उस हद से अधिक देर से पहुंचने वाली नायिका की तरह समय और सुयोग को नष्ट न करें बल्कि शीघ्र से शीघ्र अपने कर्तव्य का पालन करे और भारत के प्रिय संबंध को समय रहते हाथ से न खो दे।

छायावाद के संबंध में कुछ कड़ी और कड़वी बातें—3

इस प्रकार अणु-अणु में परम की तलाश करने वाले कविवरों को यह मालूम होना चाहिए कि कविता से मुक्ति नहीं मिलती। इस जानकारी से उनकी बहुत-सी लिप्सा दूर हो सकती है। सब कुछ कह चुकने पर अंततोगत्वा कविता मात्र की परिमिति स्वीकार करनी पड़ती है। यह मानना पड़ता है कि अध्यात्म की ऊंची सीढ़ियों तक कविता की पहुंच नहीं। 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' की उक्ति अन्यथा नहीं कही गई। भावनाओं की सरिताएं कलकल छलछल

करती एक विशेष सीमा से आगे नहीं बढ़तीं। इसके लिए बड़े-बड़े महात्माओं का ही नहीं बड़े-बड़े कवियों का भी प्रमाण है। महाकवि तुलसीदास का ही उदाहरण लें। भरत और राम चित्रकूट में मिले हैं। प्रेम का पारावार अखंड, अबाध गति से उमड़ा हुआ है, कवि तिनके की तरह इधर-उधर लहरों में वहा जा रहा है–

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अमग करम मन बानी॥
परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुद्धि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहिं अरथ आखर बलु सांचा, अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जिहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

भारतीय कवि यहीं से विनय की प्रेरणा पाता है, यहीं से आत्मशुद्धि, आत्मावदान का श्रीगणेश होता है, शायद यहीं से कविता का संबंध व्यष्टि (कवि) से छूटकर समष्टि से जुड़ जाता है। यह कविकुल का आत्मसमर्पण भारतीय साहित्य शास्त्र की अटल आधारशिला है–गोस्वामीजी कहते हैं–

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल शोभा अधिकाई॥
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

इस अन्यत्र उत्पत्ति और अन्यत्र छवि-प्राप्ति में ही तो हमारे रस-संप्रदाय का उद्‌गम है। यद्यपि सांप्रदायिक रूढ़ियों की राख में आदर्श ज्योति दबी रह गई और आज वही रस संप्रदाय अनेक आडंबरों के चक्र में पड़कर बीभत्स रीति कवियों के हाथ का पुतला बन गया है, परंतु यदि सत्य तत्व की चिनगारी उसमें निहित है तो कोई कारण नहीं कि अनुकूल अवसर पाकर वह ज्योति जाग न उठे और वह प्रकाश फिर से न फैले। हमारे अग्रगामी साहित्यकारों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

हमारी कविता का धरातल सदा से मानवीय रहा है और समस्त मानवीय प्रयास विकास शक्ति पर ही चल सकते हैं। धर्म और समाज की भांति कविता भी सदा से गतिशील और अभ्युदयशील रही है और भविष्य में भी उसे ऐसा ही रखना होगा। कवि के पक्ष में कविता चिरंतन साधना का विपथ है और समाज के पक्ष में उसकी अलग-अलग विशेषताएं हैं। *राम चरितमानस* के आदि में गोस्वामीजी लिखते हैं–

करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥
मति अति नीच ऊँच रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी॥

और वे ही महाकवि *मानस* की अंतिम पंक्तियों में कहते हैं–

जाकी कृपा लवलेस ते मति मंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

भारतीय कवि की अंतहीन साधना यहीं समाप्त नहीं हो जाती, वह फिर भी कहता है।

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

यहां *रामचरितमानस* की परिसमाप्ति हो जाती है पर मानसकार की साधना 'परम विश्राम' के बाद भी गतिशील ही बनी रहती है, वैसी ही बनी रहना चाहती है। यूरोप के कवियों के मस्तिष्क और कला के विकास का पता लगाने वाले विद्वान आलोचकों को इस पर विस्मय हो सकता है, पर हमारे यहां की तो यही चिरदिन की अक्षय रीति है।

निस्संशय इस अटल सत्य पर कोई बहस नहीं की जा सकती कि कविराज आदि की कलात्मक अभिव्यक्तियां अपनी सीमित शक्ति साधन से निस्सीम साध्य की ओर अनादिकाल से गतिशील हो रही हैं और अनंत काल तक गतिशील होती रहेंगी। कविवर बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त जब *शब्द के प्रति* लिखते हुए–

जीते रहो जगत है जब तक,
तुम ध्वनि के जीवनधन प्राण!
लो, अनुभूति विभूति विश्व की
तुम्हीं करोगे उसका त्राण।

कहते हैं तब वे अभिव्यक्ति मात्र की सीमा और उसके लोक-पक्ष को बड़ी ही स्पष्टता से प्रकट करते हैं। हां जब वे बाद की पंक्तियों में–

तुम सजीव संकेत हमारे,
आत्मसिद्धि के स्वतः प्रमाण।
तुम्हीं प्रकाशक सत्य तत्व के,
तुम्हीं कल्पना के कल्याण।

आदि लिखते हैं, तब स्वयं प्रकाश्य 'सत्य तत्व' के लिए प्रकाशक की आवश्यकता ठहराकर वे 'शब्द' के प्रति अतिशयोक्ति करते हैं। इसी प्रसंग में *गीता* के–

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' का स्मरण करके ही हम भला उठा सकेंगे क्योंकि कविता-संबंधी व्यवसायात्मिका बुद्धि की साधना इसी प्रकार हो सकेगी। 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' पुष्पिता वाणी (Flowery language) का यह अविवेक प्रत्येक क्षेत्र में, साहित्य नें भी सत्य है, और जरा विचार कर देखें तो आधुनिक साहित्य में इसकी बड़ी भरमार दीख पड़ेगी।

जीवन के प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों में कौन श्रेष्ठ है इसका निर्णय करना बेवकूफी है। प्रत्येक युग इसका निर्णय अपने महापुरुषों द्वारा कराता रहता है। सामान्यतः मानव प्रवृत्ति दोनों का सामंजस्य देखना चाहती है। इसीलिए हमारे मानव धर्मशास्त्र में दोनों का विधान है। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसे कर्मनिष्ठ और प्रवृत्तिवादी और रामकृष्ण जैसे संन्यासी इस युग की अर्हणीय विभूतियां मानी गई हैं। इनमें छोटे-बड़े का सवाल उठाना हमें अच्छा नहीं लगता। यदि हमारी व्यक्तिगत रुचि महात्माजी की ओर हो तो भी सिद्धांततः हमें चुप रहना पड़ेगा। परंतु छायावाद के निवृत्ति मार्ग की छानबीन तो करनी ही होगी। आशा है कि उसके निवृत्ति मार्ग होने में तो किसी को संदेह न होगा। उसकी वाणी में एक करुण पुकार है, उसके वर्णन-चित्रण में अवश्य निवृत्ति की ही झलक है। शास्त्र कहते हैं कि निवृत्ति आनंद के मोक्ष के समीप ले जाने वाली साधना है। आनंद के समीप में पहुंचाने वाली साधना में आनंद न मिले यह संभव नहीं। परंतु छायावाद के थोड़े कवियों में यह आनंद दीख पड़ता है और जिन दो-एक विशिष्ट कवियों में दीख भी पड़ता है वहां उसका चित्र इतना क्षीण है कि समीक्षक को उस पर नजर दौड़ाने में भी संकोच हो सकता है। हम किसी सामान्य कवि का नहीं, कविवर पंतजी का उदाहरण लेते हैं–

नयन मूंद लेती हूं जब मैं
तुझको निज मन में अनुमान

*   *   *

द्रोह मदन मद का मल मेरा
    धो देता है जब हरा नीर।
तब मेरे सुख का अनुमान
    क्या तू कर सकती है प्राण?

हम इसके संबंध में इतना ही कहेंगे कि यह साधना की कोई ऊंची सीढ़ी नहीं। आंखें मूंदकर ब्रह्मदर्शन करने की शिक्षा पढ़े-लिखे आर्यसमाजी महाशय गण अपने लड़कों को अकसर अब भी दिया करते हैं। अवश्य ही पंतजी की यह बाल-साधना है। उनकी भोली-भाली सच्चाई देखकर हम मुग्ध होते हैं। परंतु यह प्रश्न बना ही रहता है कि आंखें खुलने का क्या होगा?

(शुक्रवार, 1 मई 1931)

चिंताजनक स्थिति

देश का दुर्दैव दूर नहीं हो रहा, ग्रहदशा सुधर नहीं रही। शताब्दियों से जो किस्मत फूटी है वह संभली नहीं। क्षुद्र मनुष्य भाग्य का दास है, किस्मत के हाथ पुतला है, पर बड़े-बड़े राष्ट्र तो

और भी अधिक देव के दृढ़ पाश में, भाग्य की मजबूत जंजीरों में जकड़े हुए हैं। मनुष्य की जिंदगी थोड़ी होती है। यह अच्छा होता है। अधिक से अधिक सौ वर्ष में ही जो कुछ भोगना होगा, भोगा जाएगा। आगे का राम मालिक है। इसीलिए मनुष्य के क्रूरग्रह भी हल्के ही होते हैं। सनीचर का रोष ज्योतिष में प्रसिद्ध है पर वह भी एक बार में साढ़े सात वर्ष से अधिक नहीं सताता। कितना कम है, कितना अच्छा है? जल्द झेलकर छुट्टी मिलती है, पर जातियों और राष्ट्रों के दुर्भाग्य का कहीं आदि-अंत नहीं। सौ वर्ष, पांच सौ वर्ष, हजार वर्ष कष्ट की ज्वाला बहुत भीषण नहीं समझी जाती। मामूली मानी जाती है। नृशंस शासकों के राज्यचक्र शताब्दियों तक चलते रहते हैं। अत्याचारियों का अत्याचार भी गनीमत समझा जाता है, स्वार्थ नीति भी सेहत समझी जाती है। सैकड़ों-हजारों मीलों तक फैली हुई व्याधियां आंसुओं से बहा दी जाती हैं। यहां मृगतृष्णा भी अमृत का काम देती है, यहां भूतों के अड्डे भी सुख और विश्राम के साधन होते हैं। यह बड़ी क्रूर कल्पना है पर राष्ट्रों का यही अवलंबन है। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की बात राष्ट्रों के लिए अधिक सत्य नहीं, वे बेचारे विघ्नों में ही श्रेयस् की खोज करते हैं और उन्हीं पर किसी कदर टिके रहते हैं। यहां अंधकार ही स्वाभाविक है, छायापथ की धुंधली आभा तो मुक्ति ज्योति है।

हम अपने ही देश को देखें, कालचक्र में किस बुरी तरह पड़ा हुआ है। हम पुरानी गाथाएं नहीं गा रहे, सैकड़ों-हजारों वर्षों का राग नहीं आलाप रहे, अभी कल की बात कर रहे हैं। लाहौर कांग्रेस के पहले लार्ड इर्विन ने मजदूर सरकार की ओर से गोलमेज सम्मेलन के लिए जाने की घोषणा की थी। जान पड़ा कि देश का दुर्भाग्य दूर होगा और भले दिन आएंगे। बड़ी-बड़ी आशाएं बांधी गईं पर इसी बीच में लार्ड रीडिंग और मिस्टर लायड जॉर्ज ने पार्लियामेंट में भाषण देते हुए सम्मेलन संबंधी तमाम समस्या को बड़ी ही विकट रीति से उलझा दिया और शंका, संदेह तथा अविश्वास को खूब बढ़ाया। यह शब्दों की शक्ति थी जिसने संपूर्ण कार्यक्रम को उलट दिया और उसी के फलस्वरूप देश भर में वर्ष भर तक उत्तेजना की आंधी चलती रही। राष्ट्रीय शक्ति इतने उग्र रूप में इसके पहले कभी नहीं दीख पड़ी थी और उसका प्रभाव देश-देशांतरों में इतना अधिक कभी नहीं फैला। गोलमेज सम्मेलन हुआ। और उसमें लार्ड रीडिंग का रुख बदला हुआ, भारत की राष्ट्रीय मांगों के अनुकूल दीख पड़ा। लोगों को आश्चर्य हुआ पर आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। गोलमेज सम्मेलन समाप्त हुआ, उसकी सिफारिशें और उसके प्रस्ताव सब दर्ज किए गए। भिन्न-भिन्न कमेटियों के कार्य थोड़े समय के लिए स्थगित कर दिए गए। प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि सम्मेलन का कार्य आगे बढ़ाया जाएगा और ऐसी चेष्टा की जाएगी कि भारत के सभी प्रतिनिधि दल—प्रधानतः राष्ट्रीय कांग्रेस—आगामी कार्य में योग दे सकेंगे। इसके बाद कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य छोड़े गए। आपस में सलाह-मशविरा किया गया। अंत में राम-राम कहके देहली का गांधी-इर्विन समझौता हुआ। विलायत इस समझौते से कितना प्रसन्न हुआ यह हमारे बतलाने की बात नहीं है।

पर बड़ी दिक्कत तो यह है कि पुरानी बातें बड़ी जल्दी भुला दी जाती हैं और पुरानी

गलतियों से कोई शिक्षा नहीं ली जाती। कहा जाता है कि यदि लार्ड रीडिंग और मिस्टर लायड जॉर्ज के उस अवसर पर वैसे भाषण न होते तो कांग्रेस भी गोलमेज में शरीक हुई होती और पिछले वर्ष की असाधारण घटनाएं घटती ही नहीं। यह सत्य हो या नहीं, पर इतना तो अवश्य है कि लार्ड रीडिंग पर अपनी पिछली गलती का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे सन् 1930 के भयानक वात्याचक्र को भूल गए हैं। पार्लियामेंट की लार्ड सभा में उस दिन लार्ड पील और लार्ड रीडिंग ने जो प्रश्न किए और जो भाषण दिए उनमें लार्ड पील की बातों पर हम पिछले अंक में काफी कह चुके हैं। जिसके सुधार का कोई उपाय नहीं है, उसके संबंध में चुप रहना ही ठीक है। परंतु लार्ड रीडिंग ने पिछले गोलमेज सम्मेलन में काफी उदार वृत्ति दिखलाई थी और हाल में मजदूर सरकार और उदार दल का प्रीति-संबंध बढ़ा ही है, घटा नहीं। ऐसी अवस्था में हमें लार्ड रीडिंग की लार्ड सभा की बात आश्चर्यजनक जान पड़ती है। यह तो निश्चित सत्य है कि कांग्रेस के प्रतिनिधि और महात्मा गांधी पिछले गोलमेज की कार्रवाई से संतुष्ट नहीं हैं। महात्माजी ने उसे आधे स्वराज्य से कम बतलाया है। ऐसी अवस्था में यदि वे आगे की बातचीत में भाग लेने को तैयार हुए हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि उन्हें विलायत की सैर करने का शौक हुआ है अथवा वे सम्मेलन के प्रतिनिधियों के साथ नए विधान के रचयिताओं में अपना भी दस्तखत करना चाहते हैं, बल्कि कारण यह है कि उन्होंने प्रधानमंत्री के वक्तव्य और देहली के समझौते के आधार पर यह समझा है कि आगे कार्रवाई में शरीक होकर वे भारत के राष्ट्रीय हित की रक्षा कर सकेंगे और इन दोनों देशों के पारस्परिक संबंध की समस्या को सुलह और शांति के द्वारा सुलझा सकेंगे।

अब तो पिछले उग्र आंदोलन को समाप्त हुए एक महीने से अधिक हुआ। विलायत के समझदार और जिम्मेदार आदमियों की उसकी शक्ति, उसके हिताहित आदि-आदि पर ठंडे दिल से विचार करना चाहिए। जब आंदोलन तीव्र गति से चल रहा था तब भी विलायत के कुछ दूरदर्शी व्यक्तियों ने यह बतलाया था कि इसके भीतर से भारत की राष्ट्रीय-लहर इतने वेग से उमड़ रही है कि उसकी रोकथाम की ही नहीं जा सकती। कांग्रेस के साथ सुलह कर लेने का निर्देश उन्होंने उस समय किया था जब ब्रिटेन और भारत के संबंध अतिशय तिक्त हो गए थे। यदि आज वह आंदोलन स्थगित हो गया है तो उसे भूल जाना तो बुद्धिमानी की बात नहीं होगी और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जो वचन दिए जा चुके हैं उसे पूरा करने की जिम्मेदारी टाली नहीं जा सकती। हम समझते हैं लार्ड सभा में लार्ड पील महोदय के प्रश्नों का उत्तर देते हुए मजदूर सरकार की ओर से लार्ड स्नेल ने उस जिम्मेदारी को स्वीकार किया है और उसके अनुसार कार्य करने का वचन दिया है। आवश्यकता इस बात की है कि दूरदर्शिता और उदारता के साथ शीघ्र से शीघ्र भारत की समस्या पर विचार किया जाए नहीं तो आज की चिंताजनक स्थिति दिन ब दिन अधिकाधिक चिंताजनक होती जाएगी।

खबर है कि नवीन वाइसराय लार्ड विलिंग्डन दो-एक दिनों में भारत की स्थिति पर कुछ महत्वपूर्ण वक्तव्य देने वाले हैं। कहा जाता है कि एक ओर महात्मा गांधी और राष्ट्रपति पटेल आदि की सत्याग्रह को फिर से शुरू करने की बात और दूसरी ओर पंजाब के गवर्नर

महोदय द्वारा की गई कांग्रेस की शिकायत दोनों ही लार्ड विलिंग्डन महोदय सुन चुके हैं और वे इनके आधार पर कोई समझौते का मार्ग सोचने में लगे हैं। यही उचित भी है। हम आग्रह करेंगे कि लार्ड विलिंग्डन महोदय केवल इन्हीं दो बातों का नहीं, संपूर्ण भारतीय स्थिति का व्यापक रीति से विवेचन करें और मनोविज्ञान के पहलुओं पर भी ध्यान दें। एक नवजाग्रत राष्ट्र की उच्चाकांक्षाओं पर लार्ड पील, और लार्ड रीडिंग आदि के भाषणों का क्या असर पड़ सकता है? इसी सिलसिले के बहुत से अन्य विचारणीय प्रश्न भी हैं। अब तक न छोड़े गए राजनीतिक कैदियों का, गुजरात के किसानों की जब्त जमीन का, देश भर के कृषि जीवियों की विपन्नावस्था का, और इसी तरह के अन्य कितने ही प्रश्न हैं जिन पर तत्काल विचार करना परम आवश्यक है। देश की चिंताजनक स्थिति तभी दूर होगी और तभी भारत और ब्रिटेन का मैत्री-ग्रह उदय होकर अपना सुखद प्रकाश और प्रभाव दिखा सकेगा।

(सोमवार; 4 मई 1931)

प्रांतीय सम्मेलन

पिछली 2, 3 और 4 मई को मिर्जापुर में यू.पी. का प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन बड़े समारोह के साथ संपन्न हुआ। जैसाकि उचित भी था, सजधज में निहायत सादगी किंतु सुरुचि से काम किया गया। पंडाल में पचीस हजार आदमियों के बैठने की जगह थी जिससे यह पता लगता है कि राजनीति अब बड़े दिन का जश्न नहीं समझी जाती, समूह की सम्मिलित पुकार मानी जाती है। पंद्रह सौ डेलीगेट प्रतिनिधि बनकर भिन्न-भिन्न जिलों से एकत्र हुए थे। स्वयंसेवकों का प्रबंध नियमबद्ध और प्रशंसनीय था। देवियां एक बड़ी तादाद में पर्दे को विदा कर इकट्ठी हुई थीं। कुछ थोड़ी-सी पर्दानशीन महिलाएं अपने समाज की प्रतिनिधि बनकर एक कोने में बैठी थीं। हिंदू और मुसलमानों के प्रीतिभोज में दो-तीन सौ महाशय उपस्थित थे जिन्होंने एक साथ बैठकर कच्चा खाना खाया और बहुतों को हैरत में डाल दिया। यहां हम किसी की निंदा-स्तुति नहीं कर रहे, दुनिया का रंग दिखा रहे हैं। मिर्जापुर का राजनीतिक सम्मेलन किसी भी दर्शक को शक्तिपूर्ण सामूहिक संघटन का ही नहीं, समाज के आचार-व्यवहार, रीति-नीति और प्रगति को भी प्रकट करने की अच्छी प्रदर्शनी था।

सम्मेलन के सभापति श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी का जबानी भाषण हुआ जिसमें आपने हिंदू-मुस्लिम-एकता के प्रश्न पर विशेष विचार किया। आपने प्रत्येक प्रकार के जातीय संघटन और आंदोलन को राष्ट्रीय दृष्टि से हानिकर बतलाया क्योंकि आपकी राय में ऐसा संभव नहीं है कि किसी प्रकार की जातीय संस्था दूसरी जाति के संदेह को बढ़ाए बिना चल सके। ऐसी ही राय पं. जवाहरलाल जैसे व्यक्ति भी रखते हैं जिन्होंने काशी विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए एक बार कहा था कि हिंदू यूनिवर्सिटी और मुस्लिम यूनिवर्सिटी के बदले एक हिंदू-मुस्लिम

यूनिवर्सिटी खोली जानी चाहिए। इस प्रकार की हिंदू-मुस्लिम यूनिवर्सिटियां तो सरकार की ओर से कितनी ही चल रही हैं पर कहा नहीं जा सकता कि वे हिंदू-मुस्लिम एकता को कहां तक दृढ़ कर सकी हैं। सिद्धांत की दृष्टि से हम शेरवानी साहब के कथन का समर्थन नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि जिस देश में दो बड़ी-बड़ी जातियां निवास करती हैं वहां दो ही बातें संभव हैं या तो एक जाति दूसरी जाति को अपने में लीन कर ले अथवा दोनों ही अपना अस्तित्व बनाए रखें। भारतवर्ष में पहली बात संभव नहीं है, इसलिए दोनों जातियों का विकास स्वच्छंद रीति से होने देना चाहिए। अवश्य ही श्री शेरवानी का यह कथन शुद्धि, संघटन, तबलीग, तंजीम आदि का विरोध करता है और इस दृष्टि से यह अत्यंत सामयिक और आवश्यक है, पर इसके साथ ही हमें यह न भूल जाना चाहिए कि दोनों जातियों को एक साथ, एक देश में चिरकाल तक रहना है। इस दृष्टि से इनका कुछ रचनात्मक कार्य भी होना चाहिए। पं. जवाहरलाल नेहरू ने यह बड़ा अच्छा प्रस्ताव किया था कि हिंदू विश्वविद्यालय में इस्लाम धर्म का परिचय और ज्ञान पैदा कराने का प्रबंध किया जाए और इसी प्रकार मुस्लिम विश्वविद्यालय में हिंदू धर्म की शिक्षा का इंतिजाम किया जाए। पं. जवाहरलाल की यह सलाह हिंदू और मुसलमानों के स्वच्छंद विकास पर उतना ही जोर देती है जितना उनके सम्मिलन-प्रयत्न पर। सभ्यताओं और संस्कृतियों का प्रवाह अवश्य संगम चाहता है। एक होने की अभिलाषा रखता है। आवश्यकता ऐसे सच्चे धार्मिक शिक्षकों की है जो सांप्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठकर हिंदू और मुस्लिम जातियों के एकीकरण का वैसा प्रयास करें जैसा पिछले जमाने में महात्मा कबीर आदि ने किया था। हां, यह अवश्य है कि गुमराह, धर्मांध व्यक्तियों के मिथ्या-प्रचार के कारण इस समय हिंदू-मुसलमानों में भेद-भाव बढ़ा हुआ है, अशिक्षा के कारण धार्मिक साम्यवाद को जनता समझ नहीं सकती। इसलिए श्री शेरवानी का उपदेश अत्यंत समयोचित है। वह समय अभी नहीं आया है, भविष्य में शायद कभी आवे जब हिंदू और मुसलमान धार्मिक उपदेशक सत्य मानव धर्म की जिज्ञासा में संकीर्ण मजहबी भेद बुद्धि को भूल जाएंगे और उस व्यापक धर्म की प्रतिष्ठा करेंगे जिसे सभी सच्चे हिंदू और सभी सच्चे मुसलमान अपने कल्याण के लिए स्वीकार कर लेंगे। पश्चिम के अनेक देशों के मनीषियों में इस प्रकार की जिज्ञासा उदय हो रही है, वहां इस कारण कोई झगड़ा नहीं खड़ा हो रहा। भारत में भी अनुकूल परिस्थिति होते ही शुद्ध ज्ञान के आधार पर मनुष्य-धर्म की समीक्षा आरंभ की जाएगी, ऐसी हमें आशा है। पाठकों को यह भ्रम न होना चाहिए कि श्री शेरवानी ने जातीय संघटन के नाम से चलने वाले जिस विद्वेषभाव और पाखंड की निंदा की है हम उसे स्वीकार नहीं करते। श्री शेरवानी ने अपने इस भाषण में हिंदू-मुस्लिम समस्या को निषेधात्मक दृष्टि से देखा है। हमने उसके दूसरे रचनात्मक अंग की ओर संकेत करने की चेष्टा की है।

सम्मेलन में आए हुए प्रस्तावों में कितने ही महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य हैं। कराची कांग्रेस के बाद इधर लगभग दो महीनों में प्रांत में सरकार के प्रति कैसा असंतोष बढ़ रहा है, यह बात अनेक प्रस्तावों में की गई शिकायतों से जाहिर होती है। यद्यपि सम्मेलन ने गांधी-इर्विन समझौते को स्वीकार कर लिया फिर भी उसने कितनी ही तफसीलें देकर यह

बतलाया कि समझौते की शर्तों का पालन सरकार की ओर से नहीं किया गया। राजनीतिक कैदियों की रिहाई अब तक पूरी-पूरी नहीं हो सकी है, जब्त जायदादें, स्थगित सहायताएं, छूटी नौकरियां अब तक वापस नहीं मिली हैं। राजनीतिक कैदियों का प्रश्न अवश्य ध्यान देने योग्य है। पिछले सप्ताह हमने पं. लक्ष्मीधर वाजपेयी का 'जेलों में राजनीतिक कैदी' शीर्षक लेख प्रकाशित किया था जिसमें कुछ नामों का उल्लेख है और कुछ अन्य बातों पर विचार किया गया है। हम देख रहे हैं कि महात्मा गांधी बंबई प्रांत के गवर्नर से मिलकर इस संबंध की बातचीत कर रहे हैं। शोलापुर के मार्शल लॉ के भी कुछ कैदी छोड़ दिए गए हैं, और भी छोड़े जा रहे हैं। हमारे प्रांत में भी इसी का आग्रह किया जा रहा है। कितने ही जेलों में पड़े हुए व्यक्ति तो अहिंसात्मक अपराध में पकड़े गए थे। कितने ही हुल्लड़बाजी में, दंगों में बिना पूरी जांच-पड़ताल के पकड़े गए होंगे। सामूहिक आंदोलन में ऐसा होता ही है। सुना जाता है कि बहुतों का मुकदमा अब तक नहीं चला है, महीनों से जेल में पड़े हैं। सरकार को चाहिए कि वह कानून के शब्दों को इस अवसर पर उतना महत्व न दें बल्कि देहली के समझौते के अनुरूप उदारता का परिचय दे। दूसरे-दूसरे प्रांतों की सरकारें इस संबंध में यू.पी. की अपेक्षा अवश्य आगे बढ़ी हुई हैं। ये सब समस्याएं प्रांतीय सरकार के लिए शीघ्र से शीघ्र ध्यान देने योग्य हैं।

सम्मेलन ने श्री बालकृष्ण शर्मा का यह संशोधन भी पास किया कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से यह सिफारिश की जाए कि वह आगामी गोलमेज में बहस किए जाने वाले संरक्षणों के संबंध में सरकार के वक्तव्य को स्पष्ट करा ले और यदि सरकार पिछले गोलमेज सम्मेलन के संरक्षणों से हटने को तैयार न हो तो कांग्रेस के प्रतिनिधि विलायत न भेजे जाएं। यह संशोधन अवश्य ही कराची कांग्रेस में पास प्रस्ताव से आगे बढ़ा हुआ है और यह इन दो महीनों की उस शिथिल और अनिश्चित कार्रवाई का प्रभाव है जो विलायत में भारतीय समस्या के संबंध में की जा रही है। केवल कुछ गुमराह व्यक्ति ही नहीं, लार्ड रीडिंग जैसे प्रभावशाली व्यक्ति भी संरक्षणों को अटल और अनुल्लंघ्य समझ रहे हैं। विलायत के इस रुख को देखकर संदेह और शंकाएं तो होंगी ही। पं. बालकृष्णजी ने कहा है कि इन सब कार्रवाइयों में मजदूर सरकार का हाथ नहीं है, पर मिस्टर बेव के पिछले वक्तव्य को सुनकर और सरकार की निश्चेष्ट नीति को देखकर मजदूर सरकार की सदभिलाषा की दुहाई भी कैसे दी जा सकती है? इधर भारत सरकार के कुछ ऊंचे पदों के जिम्मेदार व्यक्ति भी जो उद्‌गार प्रकट कर रहे हैं वे भी अशांति और अविश्वास की ही सृष्टि करते हैं। आशा है कि वाइसराय महोदय अपने निकट भविष्य में प्रकट करने वाले वक्तव्य में आगामी गोलमेज सम्मेलन और भारतीय समस्या के संबंध में आशाजनक बातें कहेंगे।

प्रांत की किसान समस्या के संबंध में जो आवश्यक प्रस्ताव किया गया, उस प्रश्न पर हम पहले भी लिख चुके हैं। हमने विगत 2 मई की सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित की है। जिसमें प्रांतीय सरकार ने कुछ छूट देना तय किया है। अभी उसकी कोई तफसील हमारे पास नहीं आई और जब तक वह नहीं आती तब तक हम चुप हैं। वह शीघ्र ही आने वाली है।

मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना–1

बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त को आधुनिक हिंदी का आदि कवि कहना चाहिए। यहां काव्य-साधना की बात कही जा रही है। हिंदी साहित्य सम्मेलन की सालाना गद्दियों के लिए जो साधनाएं की जाती हैं यहां उन पर विचार नहीं किया जा रहा। आज के आचार्य प्रवरों को अपनी उम्र का फख्र रहता है और जैसीकि कहावत है, ये वर्षों के बल पर वीर बनते हैं। दैवयोग से यह हिंदी में आजकल चल भी जाता है, पर हमें यहां उससे मतलब नहीं। इस प्रसंग में हम उस साधना का उल्लेख कर रहे हैं जो हिंदी की मरुभूमि में अंतःसलिला की भांति बहती शुष्क जीवन को प्रसन्न बनाती है। यह साधना कोरी भावुकता के बल पर नहीं की जाती, यह एक प्रकार का कर्मयोग है जिसमें भावना का मणिकांचन मेल मिला रहता है। यह जीवन का अंतर्मुखी प्रवाह है जो संसार की आंखों के ओट ही रहना चाहता है। डॉक्टर सुहरावर्दी ने बंगाल के मुसलमानों को सचेत करते हुए कहा कि यहां के हिंदू रात-रात भर सरस्वती की आराधना करके बड़े हुए हैं, तुम्हारी तरह नहीं। यहां हम जिस साधना का उल्लेख कर रहे हैं, वह ऐसी ही है। मैथिलीशरण जो हिंदी के इस युग के पहले कवि हैं, जिन्होंने कविता की ज्योति आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होंने प्रसन्न काव्य-धारा की अबाधगति से हिंदी समाज को अभिसिंचित किया है, उसकी भाषा संबंधिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त जीवनी में व्याप्त दीख पड़ती है जैसाकि उनके पहले के आधुनिक किसी कवि में नहीं दीख पड़ती है। एक चेतन काव्यात्मक अनुभूति के प्रकाश में उनकी रचनाएं चमक रही हैं। गुप्तजी को इस युग का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। प्रतिनिधित्व के लिए हम विशेष आग्रह नहीं करेंगे क्योंकि स्वयं महात्मा गांधी के प्रतिनिधित्व में शंका प्रकट की जाती है। परंतु युग के अनेक मुखी जीवन का साक्षात्कार करने और उसे वाणी का परिधान पहनाकर नयनाभिराम बना देने के कारण इस युग में गुप्तजी जन-समाज के प्रथम कृती कवि कहे जाएंगे।

हमने उन्हें दो बार से अधिक नहीं देखा, बातचीत तो एक बार ही की, वह भी बहुत थोड़ी। वे खद्दर पहनते हैं और स्वदेशी चाल-ढाल में रहते हैं। वे विनीत और मितभाषी हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की साहित्य-परिषद् बैठी थी। उपस्थित महिलाओं ने बाबू श्यामसुंदर दास को सूचना दी कि वे मैथिलीशरणजी का आशीर्वचन सुनना चाहती हैं। बाबू साहब के बहुत कहने से वे अपनी जगह से उठकर महिलाओं के पास गए पर उन्होंने वहां कोई आशीर्वाद नहीं दिया। गए और लौट आए। यह उनकी प्रकृति की बात है, जो ध्यान देने योग्य है। वे जब अपने भाई सियारामशरणजी के साथ बातें करते हैं, तो सदैव अपने घर की भाषा में। सरल जीवन की वैसी झलक हमने हिंदी के किसी कवि में नहीं देखी। 'निरालाजी' की सरलता दूसरे प्रकार की है। उससे हम आतंकित हो जाते हैं। इससे प्रसन्न होते हैं। निरालाजी की सरलता चोट करती है, यह मोह लेती है। शायद वह अधिक दार्शनिक हैं, यह अधिक कवित्वपूर्ण।

इससे अधिक हम अब तक कुछ भी पता नहीं लगा सके पर इससे उनकी काव्य-साधना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सरल अभिव्यक्ति उनकी सबसे प्रथम और सबसे प्रधान विशेषता

है। यही उस व्यापक प्रभाव का उद्‌गम है जो गुप्तजी की काव्यधारा में सर्वत्र दीख पड़ता है, यह कविता को लोकसामान्य भावभूमि में लाकर प्रतिहत करने का सबसे बड़ा साधन है। यही सरलता सारग्रहण में सबसे अधिक समर्थ होती है, इसी केंद्र से महती शक्ति की सृष्टि होती है जो युग-युगांतरों की समस्त काव्यवस्तु को अपनी ओर खींच लाती है। गुप्तजी जितना प्राच्य साहित्य से, प्राचीन गाथाओं से प्रभावित हुए हैं, उतना ही आधुनिक जीवन से भी। वीर-पूजा का भाव उनमें स्वतः प्रसूत है। यह बिलकुल मानवीय धरातल है, इसी को आदमीयत कहते हैं। यह कविता का अजस्र स्रोत है जो कभी सूख नहीं सकता। यह पूर्व से और पश्चिम से, भूत, वर्तमान और भविष्यत से, पृथ्वी और आकाश से भी कविता की प्रेरणा पाता है, यह उन सबमें मिलकर सबका रसास्वाद करता और सबमें एकाकार भी हो जाता है।

परंतु इस सारग्राही सरलता के साथ-साथ गुप्तजी की आदर्शवादिता भी चलती है। इन दोनों का सूक्ष्म अथवा निकट संबंध वर्तमान शंकावादी नास्तिक युग में कम समझा जाता है पर गुप्तजी का प्रारंभ से ही 'क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता' मत रहा है और उनकी समस्त रचनाएं इस बात की साक्षिणी भी हैं। उनकी यह आदर्शवादिता, हम समझते हैं, बहुत कुछ वर्तमान कृतिशील जीवन का स्वाभाविक परिणाम है अथवा उसके कल्पनाशील कवि-हृदय की आशावादिता के फलस्वरूप है। स्वामी दयानंद आदि की प्रेरणा से एक प्रकार के बुद्धिजन्य आदर्शवाद की सृष्टि हुई थी जो वेद की ऋचाओं में थोरीलेन की निर्माण विधि ढूंढ़ती फिरती थी। यही प्रेरणा समाज में प्रविष्ट होकर, आगे चलकर, थोड़ी-बहुत कृत्रिम हो गई। इसी से कभी-कभी सांप्रदायिक झगड़े भी होने लगे। हिंदी के इस युग में इस शुष्क आदर्शवाद के चिह्न रूखी-सूखी कविताओं और पक्षपातिनी कहानियों में दीख पड़े थे, परंतु गुप्तजी के सरल भावनामय हृदय के साथ मिलकर बहुत-सी कटुता दूर हो गई। काव्य की भूमि में एकरस प्रकाश पड़ा। *भारत-भारती* का काव्य-प्रवाह, स्वामी दयानंद के अनुयायियों की बहुत-सी दलीलों के ऊपर पहुंचकर उन्हें सरल, शीतल बनाता है। गुप्तजी की संवेदनशील आदर्शवादिता कितनी प्रभावशालिनी है यह *भारत-भारती* का प्रचार देखकर समझा जा सकता है।

गुप्तजी की इन दोनों वृत्तियों का संकलन उनकी रचनाओं में आदि से अंत तक देखा जा सकता है। *भारत-भारती* और *हिंदू, गुरुकुल* आदर्श विशिष्ट काव्य हैं *जयद्रथवध, पंचवटी, त्रिपथगा* आदि में जीवनव्यापी रूप में आदर्श चित्र आए हैं। गुप्तजी का शृंगार अत्यंत संयमित, उनकी नायिकाएं प्रायः करुण मुख-सी समन्वित हुई हैं। भारत ने सदा से ऐकांतिक प्रेम को कर्तव्य के भार में दबा दिया है, विशेषतः इस युग में ही पारिवारिक मधुर संबंध भी विशेष शुष्क-से हो गए दीखते हैं। गुप्तजी की रचनाएं युगधर्म के अनुकूल हुई हैं। उनकी 'सीता' (*पंचवटी*) मानो वर्तमान नागरिक जीवन की कर्कशता से खिन्न होकर काननवासिनी हुई हैं, उनके 'लक्ष्मण' भी एकांत जीवन के प्रशंसक और अनुयायी हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि गुप्तजी के आदर्शवाद का उद्‌गम सत्य और यथार्थ से ही हुआ है। जब कभी इस समन्वय में बाधा पड़ी है तब गुप्तजी ने एक तीसरी प्रणाली का आश्रय लिया है। वह तीसरी प्रणाली अनुवादों की है। इसे और स्पष्ट किया जा सकता है।

हम यह कह चुके हैं कि *जयद्रथवध, पंचवटी* आदि रचनाओं में गुप्तजी का आदर्शवाद जीवन-प्रवाह के भीतर की वस्तु है, वहां यह अतिशय सरल दीख पड़ता है। *गुरुकुल, हिंदू* आदि में उतनी सरसता नहीं क्योंकि उनमें भावना की विशेष तीक्ष्ण गति नहीं मिलती। वहां कवि-जीवन की संपूर्ण ज्योति काव्य-जीवन को नहीं मिलती। गुप्तजी के कवि-हृदय में इसकी प्रतिक्रिया होती है और वे अनुवादों की शरण लेते हैं। *विरहिणी ब्रजांगना, वीरांगना, मेघनादवध* आदि उनके अनुवाद ग्रंथ इस सत्य के साक्षी हैं कि उन्हें आडंबर और कृत्रिमता पसंद नहीं। एक स्वच्छ, सरल निष्कपट भाव ही उनका संबंध है। परंतु गुप्तजी की काव्य-साधना से यथार्थतः परिचित होने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि एक ओर *भारत-भारती, हिंदू* आदि और दूसरी ओर *वीरांगना, ब्रजांगना* आदि उनकी सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं। *पंचवटी, जयद्रथवध* आदि का मध्यमार्ग ही उनकी काव्य-साधना का यथार्थ पथ है। *मेघनादवध* का प्रायश्चित वे *साकेत* लिखकर कर रहे हैं।

(शुक्रवार, 8 मई 1931)

स्वदेशी

हमारे लिए स्वदेशी शब्द कुछ भी नया नहीं है। पिछली कुछ शताब्दियों में हम इसे भूल अवश्य गए थे पर शीघ्र ही हमारी स्मृति सचेत हुई और हमने इसे अपनाया। वर्तमान राजनीतिक जीवन में स्वदेशी का प्रमुख स्थान है। स्वदेशी ही स्वदेशी की सबसे बड़ी विभूति है। स्वदेशी की भावना जितनी ही तीव्र होगी, देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था उतनी ही जल्दी सुधरेगी। अपने शुद्ध रूप में स्वदेशी आत्मरक्षा का बलशाली साधन है। स्वदेशी का किसी से कोई बैर नहीं। यह तो निर्विकल्प रीति से अपना ही उद्धार, अपना ही कल्याण करती है। हमारे देश में स्वदेशी का आंदोलन लगभग पिछले 40-50 वर्षों से हो रहा है। समय-समय पर यह विशेष तीव्र हो उठा पर इसका विकास तो बराबर होता ही रहा। महाराष्ट्र और बंगाल में इस आंदोलन का श्री गणेश हुआ था। पर यह सारे देश में समभाव से फैल गया है। सन् 1920-21 के असहयोग आंदोलन में महात्मा गांधी ने स्वदेशी का अर्थ खद्दर रख दिया और तब से उसका प्रचार अत्यधिक बढ़ा। महात्मा गांधी ही नहीं, अन्य कितने ही अर्थशास्त्रियों का मत है कि खद्दर ही सबसे श्रेष्ठ स्वेदशी है क्योंकि इससे स्वदेश की सबसे अधिक पीड़ित जनता का सबसे अधिक हित होता है। पिछले 1930 के विकट सत्याग्रह आंदोलन में स्वदेशी ने जो करामात दिखलाई उसका हाल सबको मालूम है। एक तो सामूहिक आंदोलन का प्रवाह दूसरे सरकार की कठोर दमननीति और लाठी-डंडों ने स्वदेशी को और भी दृढ़ कर दिया। स्वदेशी का उपयोग आत्मरक्षा के लिए तो किया ही गया, ब्रिटेन को आर्थिक धक्का पहुंचाकर उसे सचेत करने के लिए भी किया गया और अद्भुत सफलता के साथ किया गया। अब देहली के समझौते के बाद स्वदेशी ब्रिटेन के प्रति प्रतिक्रिया का अस्त्र नहीं रह गया, वह केवल

दरिद्र देश के अर्थकष्ट को दूर करने का अवलंब बन रहा है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कुछ देश अपनी स्वदेशी का तो गर्व करते हैं पर दूसरों की स्वदेशी को सहन नहीं कर सकते। अंग्रेजी राज्य के प्रारंभ में ही नहीं अब से कुछ समय पहले तक देशी कपड़े, देशी जूते, देशी टोपियां काफी घृणा की दृष्टि से देखी जाती थीं और सरकारी विभागों में एक प्रकार से उनका प्रवेश निषेध था। इसके बहुत से कारण थे पर सबसे बड़ा कारण हमारी आत्मविस्मृति थी। विदेशी की माया हमारे चारों ओर छा गई थी। परंतु अब तो स्वदेशी का फैशन चल गया है और सभी भले आदमी उसका व्यवहार करते हैं। इससे हमारी नैतिक और आर्थिक अवस्था विशेष सुधर रही है। विवाह, शादियों, उत्सवों, त्यौहारों आदि में अज्ञान वश ही नहीं, संकोच वश भी स्वदेशी की अवहेलना और विदेशी का व्यवहार किया जाता था, अब वैसा कोई संकोच नहीं रह गया। मध्यम श्रेणी के लोगों को यह बहुत बड़ा नैतिक लाभ हुआ है। दरिद्र देश के लिए तो यह वरदान की भांति अभीष्ट सिद्ध हुआ है। स्वदेशी की जड़ अब जम चुकी है और वह स्थिर होकर भारत भूमि में जमी रहेगी।

परंतु लंकाशायर और मैनचेस्टर के मिल मालिकों को इससे बड़ी चिढ़ हो रही है। मिस्टर मोदी नाम के एक अर्थशास्त्री ने अभी उस दिन एक निबंध में खबर दी है कि लंकाशायर अपना व्यापार तो पीछे खोवेगा पहले तो उसने अपना दिमाग खो दिया है। वहां भारत के स्वदेशी आंदोलन के विरुद्ध जो अंधड़ आया हुआ है उससे वहां वालों की बुद्धि चकरा गई है। डेपूटेशन पर डेपूटशन, प्रस्ताव पर प्रस्ताव पास किए जाते हैं। जान पड़ता है, उनसे ही विलायती मिलों के ताले खुल जाएंगे और व्यापार ज्यों का त्यों चलने लगेगा। पार्लियामेंट में सवाल पूछ-पूछ कर परेशानी मिटाने की चेष्टा की जाती है। पिछले सैकड़ों वर्षों के अभ्यास के बाद तृष्णा अब तक मिट नहीं रही। भारत और ब्रिटेन के बीच संधि का मतलब हो गया है—लंकाशायर की अर्थशोषण नीति की वृद्धि। पिछले वर्ष भर जब विलायती का बायकाट किया गया तब वहां से बराबर खबरें आती थीं कि भारत से लंकाशायर प्रतिदिन नाराज होता जा रहा है। पर भारत तो अपना घर देखता या दूसरों की नाराजी की वह कहां तक चिंता करता। अब जब संधि हो गई है और सुलह की आशा की जा रही है तब भी लंकाशायर महोदय नाराज ही बने हैं। मिस्टर बेन ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए बतला दिया है कि भारत में विलायती वस्तुओं का राजनीतिक दृष्टि से बायकाट बंद कर दिया गया है, और इस कुछ समय के अंदर ही व्यापार की अवस्था सुधरती दीख पड़ती है। उन्होंने कांग्रेस का पक्ष समर्थन करते हुए कहा है कि कांग्रेस की ओर से समझौते की शर्तें ठीक-ठीक मानी गई हैं और पालन की गई हैं। मिस्टर मोदी ने हिसाब लगाकर यह बतलाया है कि संधि के बाद विलायत का व्यापार भारत में काफी बढ़ रहा है और जो जापान पिछले महीनों में विलायत से बाजी मार रहा था उसको अब हार खानी पड़ रही है। इन तथ्यों से यह प्रकट होता है कि देश ने देहली के समझौते को कल्पना में ही नहीं, व्यवहार में भी स्वीकार किया है। पर इसका जवाब लंकाशायर के व्यापारी किन शब्दों में दे रहे हैं? आजतक उनमें से एक के मुंह से भी यह आवाज नहीं निकली कि समझौते की नीति उदारता के साथ बरती जाए और भारत को स्वशासन का अधिकार दिया जाए।

उनमें इतना भी मैत्री-भाव नहीं कि भारतीय जनता से सहानुभूति का आग्रह करें। उन्हें राज्य सत्ता का मद है और वे सरकारी कार्रवाई ही करना चाहते हैं। भारत सरकार से यह सिफारिश करने का आदेश दिया गया है कि वह भारत में विलायती व्यापार का बाजार खोलने और बढ़ाने के उपाय सोंचे। यह बिलकुल गलत रास्ता है। भारत सरकार जब तक विदेशी सरकार की एजेंट बनकर यहां मौजूद है तब तक उससे किसी प्रकार की सिफारिश करने का कोई शुभ प्रभाव जनता पर नहीं पड़ सकता। इस प्रकार की कार्रवाई से भारत में विलायती व्यापार का बढ़ना संभव नहीं।

भारत की स्वदेशी और विलायत की स्वदेशी चाहें तो एक साथ मिलकर भी रह सकती हैं अथवा झगड़ा भी कर सकती हैं। हम चाहते हैं कि वे झगड़ा न कर मिलकर रहें। स्वदेशी की सच्ची सार्थकता इसी में है कि वे भिन्न-भिन्न देशों की स्वदेशी के साथ मिलकर रहें। इसी से विश्वजनीन शांति और समता संभव है। ब्रिटेन के व्यापारी इस सत्य को समझें। सुना जाता है कि ब्रिटेन आगामी निरस्त्रीकरण सम्मेलन में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेने वाला है। इसका अर्थ यह है कि वह चाहता है कि संसार के सभी देश एक होकर रहें। यह बड़ा ऊंचा आदर्श है। यदि इसका अल्पांश भी व्यवहार में लाया जा सके तो इससे संसार का अपार हित हो। परंतु लंकाशायर के व्यापारी भारत के स्वदेशी आंदोलन को ही नहीं सहन कर सकते, उनसे और बड़ी-बड़ी आशाएं कैसे की जा सकती हैं। स्वार्थ त्याग तो दूर की बात है। हम तो उनमें शुद्ध न्याय-भाव भी नहीं देख रहे हैं। अब तक विलायत के व्यापारी अपने स्वदेशी को संसार की स्वदेशी बना डालने की लालसा के लिए कटिबद्ध हो गए हैं और भारत भी बहुत दिनों तक पिछड़ा नहीं रह सकता।

रास्ता बिलकुल सीधा है। लंकाशायर और मैनचेस्टर के व्यापारियों का वास्तविक हित इस बात में है कि भारत स्वराज्य प्राप्त करके अपनी आर्थिक अवस्था सुधारे। राजनीतिक अधिकार से ब्रिटिश साम्राज्य को चाहे जो लाभ हो पर ब्रिटेन के व्यापारियों का उससे अब कोई लाभ नहीं रहा। अब राजनीतिक दासत्व के कारण भारत विलायती वस्तुओं को खरीदने को बाध्य नहीं किया जा सकता। उसकी राष्ट्रीय चेतना जाग उठी है। वह राजनीतिक पराधीनता भी अब अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। पिछले वर्ष उसने अपनी राष्ट्रीय शक्ति अच्छी तरह दिखा दी है। अब केवल एक उपाय यह है कि ब्रिटेन भारत के स्वराज्य अधिकार को स्वीकार कर ले और भारत भी मैत्री भाव से प्रेरित होकर अपनी स्वेदशी के साथ-साथ ब्रिटेन की स्वदेशी को भी अपनावे। स्वराज्यशाली, संपन्न और संतुष्ट भारत से विलायती व्यापार को सदैव लाभ ही होगा। यह सत्य प्रत्येक विलायती व्यापारी को हृदयंगम कर लेना चाहिए।

मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना—2

दयानंद एंग्लो-वैदिक कॉलेज, लाहौर के हिंदी अध्यापक श्री सूर्यकांत शास्त्री एम.ए. अपनी

हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास नाम की पुस्तक में गुप्तजी के संबंध में काफी लंबी चर्चा करते हैं। पर हिंदी की सनातन प्रथा के अनुसार वे भी उनकी दो-चार भिन्न-भिन्न कृतियों का अलग-अलग उल्लेख कर चुप ही रहते हैं। इस तरीके से कवि के मस्तिष्क और कला के क्रम विकास का कुछ भी पता नहीं लग सकता। शास्त्रीजी ने *भारत-भारती, जयद्रथवध, मेघनादवध* और *विरहिणी ब्रजांगना* के अध्ययन से ही काम निकाला है और वह अध्ययन भी किसी संश्लिष्ट रूप से नहीं किया गया। यद्यपि शास्त्रीजी की मुद्रा गंभीर लगती है पर उनका विवेचन अत्यंत साधारण कोटि का है। उदाहरण के लिए शास्त्रीजी *भारत-भारती* के संबंध में एक स्थान पर लिखते हैं—

> इसमें वर्णन की गई भारत की प्राचीन दशा को पढ़ पाठक औज्वल्य और अभिमान के कलधौत शिखर पर चढ़ जाता है। परंतु वहां पहुंच जब वह अपनी वर्तमान पतित दशा पर दृष्टिपात करता है तब शोक तथा विस्मय से विस्मित हो नैराश्य के गंभीर गर्त में गिर पड़ता है।

फिर उसके बाद कहते हैं—

> विश्वजनीन और विश्वयुगीन कविताओं के साथ *भारत-भारती* की तुलना करना अदूरदर्शिता है। वह तो युग विशेष के लिए निर्मित हुई थी, उस युग का काम उसने पूरा कर दिया। अब वह युग नहीं रहा है। इसलिए उसका व्याख्यान करने वाली कविता भी अनावश्यक हो गई है।

जयद्रथवध के संबंध में आप केवल यह कहकर चुप हो रहते हैं—'काव्यकला की दृष्टि से *भारत-भारती* की अपेक्षा इसे अच्छा बताया गया है।'

इसी सिलसिले में *मेघनादवध* पर लिखते हुए आपने महाकवि रवींद्रनाथ का नीचे लिखा बड़ा लंबा उदाहरण दिया है—

> *मेघनादवध* काव्य की केवल छंद-रचना और रचना-प्रणाली में ही नहीं किंतु उसके आंतरिक भाव के अंदर भी एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। यह परिवर्तन अपने को भूला हुआ नहीं है। इसमें एक प्रकार का विद्रोह है। यहां कवि ने तुकबंदी की बेड़ी को तोड़ डाला है और बहुत दिनों से *रामायण* के विषय में जो हमारे दिल के अंदर एक भावशृंखला चली आ रही थी, कवि ने उसके बंधन को भी उद्दंडता के साथ तोड़ डाला है। इस काव्य में राम और लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और इंद्रजित का महत्व प्रदर्शित किया गया है। जो धर्म-भीरुता हमेशा कौन-सी वस्तु कितनी अच्छी और कितनी बुरी है, इसी का एक मात्र सूक्ष्मतया विचार किया करती है, उसका त्याग, दीनता और आत्मसंयम इस कवि के हृदय को आकृष्ट नहीं कर सके हैं।

इसके आगे भी बहुत कुछ कह चुकने के बाद इसकी कोई सार्थकता नहीं प्रकट की जा सकी।

जो ईसाई कवि पश्चिमीय संस्कृति के रंग में सराबोर था, उसका विश्लेषण करते हुए पाश्चात्य सभ्यता के विशेषज्ञ रवि बाबू जो कुछ कहते हैं वह सब हिंदू-उत्कर्ष के हामी *भारत-भारती* के रचयिता मैथिलीशरणजी के संबंध में कही जा सकती है या नहीं, इस पर शास्त्रीजी ने क्षणमात्र भी विचार नहीं किया। हिंदी साहित्य और हिंदीभाषी जनता के किस भावप्रवाह की लहरी *मेघनादवध* में तरंगित हो उठी है, इसकी कोई खोज नहीं की गई। अंत में *विरहिणी ब्रजांगना* के अनुवादक की भाषा की प्रशंसा करके शास्त्रीजी ने गुप्तजी की चर्चा समाप्त कर दी है। यह साहित्यिक बेगार की प्रथा अब तक उठी नहीं।

वास्तविक बात यह है कि *भारत-भारती* की रचना पूर्ण आर्यसमाजी प्रभाव के अंदर हुई है। स्वामी दयानंद ने ईसाई पादरियों और मुस्लिम मौलवियों का मुंह बंद करने के लिए जिस दलीलपसंद वेदवाद की सृष्टि की थी, उसने व्यापक हिंदुत्व को भी बहुत कुछ घेर और जकड़ दिया। *सत्यार्थ प्रकाश* में अपाठ्य ग्रंथों की जो सूची दी है उसमें महात्मा तुलसीदास का *रामचरितमानस* भी सम्मिलित है। जैसी काव्य भावना इस तर्क प्रधान वातावरण में विकसित हो सकती थी, वैसी ही गुप्तजी में भी विकसित हुई। आर्यसमाज ने अद्वैतवाद का भी विरोध किया जिसका स्पष्ट अर्थ आत्म-विकास के आदर्श को कुंठित कर देना था। *भारत-भारती* में राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है, जितनी सांप्रदायिक भावना। मैथिलीशरणजी के हिंदू संस्कार आर्यसमाज के दायरे में ही दृढ़ हो रहे थे तथापि कवि की उज्ज्वल, अभेदकारी ज्योति भी दबी न रह सकी। *जयद्रथवध* में उसकी आभा अच्छी निखरी है। वीरपूजा की निर्विकल्प भावना जो 'अभिमन्यु' के चरित्र में खिल पड़ी है। *जयद्रथवध* के मूल में राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष *भारत-भारती* से किसी कदर कम नहीं है, अधिक ही है। नवयुवक वीर अभिमन्यु राष्ट्रीय यज्ञ में अपने प्राणों की आहुति चढ़ा देता है। माता और पत्नी का अनुराग उसके मार्ग में बाधक नहीं होता। वह दृढ़ता से, किंतु संयम से उसकी अवहेलना करता है। सप्तरथियों के दुर्भेद्य चक्र की परवाह उसे नहीं और शस्त्रों के कट जाने पर भी निःशस्त्र होकर भी वह बहादुरी के साथ उनका सामना करता है। परंतु आततायियों का जमघट शस्त्रबल से और (द्रोणाचार्य) के शस्त्रबल से भी, न्याययुद्ध की परिपाटी को तोड़कर उस वीर का संहार कर डालता है। जान पड़ता है *भारत-भारती* का तेजोदीप्त हिंदू मूर्ति क्षीणप्रभ होकर महारथियों की असुर शक्ति से निहित हो गई। *भारत-भारती* की आदर्श भावना कच्ची होने के कारण अभिमन्यु वध के कठोर यथार्थ के सामने परास्त हो जाती है।

मेघनादवध के अनुवाद की प्रेरणा गुप्तजी को यूरोप से नहीं मिली। वह भारतीय वात्याचक्र से ही उठी है। मधुसूदन दत्त की तरह गुप्तजी असुर भावना के भाट नहीं हैं, वे उसके प्रशंसक भी नहीं हैं। गुप्तजी उद्दामशक्ति की तांडव लीला देखने के इच्छुक नहीं है, देखने को विवश हैं। वे भारत के एक रामभक्त ग्रामीण हैं, विराट असुर चित्रों में उनकी वृत्ति नहीं रमती। वे अपनी सीता को आश्रमवासिनी बनाते हैं जो पंचवटी की छाया में पशुपक्षियों को आश्रय देती हैं, आहार देती हैं। लक्ष्मण भी संस्कृति के धीरोदात्त नायकों की परवाह न कर सरल, संयमशील जीवन को ही अपनाते हैं! उनकी एक अभिलाषा देखिए—

इच्छा होती है स्वजनों को
एक बार बन में लाऊं
और यहां की अनुपम महिमा
उन्हें घुमा कर दिखलाऊं

दूसरे स्थान पर कहते हैं—

नहीं जानतीं हाय हमारी
माताएं आमोद-प्रमोद
मिली हमें है कितनी कोमल
कितनी बड़ी प्रकृति की गोद!
इसी खेल को कहते हैं यदि
विद्वज्जन जीवन-संग्राम
तो इसमें सुनाम कर लेना
है कितना साधारण काम?

यही उस सरल, तीक्ष्ण और भावना का उद्यम है जिससे यूरोप के रोमांटिक आंदोलन (Romantic Movement) का प्रवाह उमड़ा था। युगों की ऐश्वर्येषणा समन्वित महत चित्रों से विरक्ति होने लगी है, राजाओं-महाराजाओं के युद्ध विग्रह अच्छे नहीं लग रहे। वड्सर्वर्थ का Alice Fell, High land Reaper आदि अत्यंत सामान्य और (सामाजिक अर्थ में) हीन पात्रों की ओर तीव्र आकर्षण, सरल अकृत्रिम भाषा और भाव की गति हमारे कवियों को भी रुच रही है। गुप्तजी के पात्र संस्कृत परिपाटी के भले ही हों पर उनके क्रियाकलाप सर्वथा मानवीय धरातल पर होते हैं। संस्कृत के *वेणीसंहार* जैसे नाटकों की रूढ़िबद्ध अभिव्यक्ति गुप्तजी में कहीं नहीं दीख पड़ती।

यूरोप में जैसे-जैसे तर्क वर्षा बढ़ रही है वैसे-वैसे ही नैतिक नियम उदार होते जा रहे हैं। इन्हें उदार (Liberal) ही कहना ठीक जान पड़ता है क्योंकि युग की यही गति है। सच्चरित्र और दुश्चरित्र नाम के शब्द, जान पड़ता है, यूरोप के शब्द कोष से उठे जा रहे हैं। अब तो हिंदुस्तान में भी इन्हीं उदार भावनाओं का प्रसार होने लगा है। कहा जाता है कि (Morality) (सदाचार) का निर्णय बंधी हुई सामाजिक परंपराओं के द्वारा नहीं किया जा सकता है। काव्य में (Moral tone) एक प्रकार की अनावश्यक वस्तु बनी जा रही है। कहा जाता है कि व्यक्ति का इतना विकास हो गया है कि वह समाज की शृंखला को, उसकी रीति-नीति को जब चाहे तोड़ सकता है, कोई कुछ कर नहीं सकता। यह व्यक्तिवाद की प्रखरधारा सामाजिक उपकूलों को डुबोकर, उमड़कर बहाना चाहती है। भारत में उसकी बाढ़ आ रही है। अंग्रेजी शिक्षा की यह भी एक उदारता है। यह हमारे समस्त प्राचीन संस्कारों को उखाड़ फेंकने की फिक्र कर रही है। *मेघनादवध* को इसी का काव्यात्मक उपक्रम समझिए। परंतु हमारी यह शंका अब तक

दूर नहीं हुई कि क्या व्यक्ति ने इतनी उन्नति कर ली है कि वह शुद्ध चित्त द्वारा सत और असत का निर्णय कर सकता है? क्या वह इतना ऊंचा उठ गया है कि जातिगत और समाजगत भावनाएं तथा संस्कार उसे छू तक नहीं सकते? यह कहते हुए हमारी आंखों के सामने कवियों के 30 इंच के सीने, पिचके गाल, धंसी हुई आंखें नाचने लगती हैं। इसके लिए कविगण हमें क्षमा करें। वह तेज भी नहीं, वह दीप्ति भी नहीं, केवल नैतिक-शक्ति का एकांगी विकास कैसे हो गया है?

(सोमवार, 11 मई 1931)

शिमला-सम्मेलन

शिमले में महात्मा गांधी और लार्ड विलिंग्डन का बड़ा ही महत्वपूर्ण सम्मेलन होने वाला है। यह सम्मेलन केवल इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि महात्मा गांधी बड़े भारी तपस्वी और लोक नेता हैं और लार्ड विलिंग्डन स्वयं सम्राट के प्रतिनिधि हैं पर इसलिए कि भारत की स्थिति अब तक की शिथिल सरकारी नीति के कारण बहुत अधिक शोचनीय हो गई है और उसे शीघ्र से शीघ्र सुधारने की आवश्यकता है। यह सम्मेलन अब तक हो गया होता तो बहुत सी गलतफहमी दूर हो गई होती और आगे का पथ स्पष्ट हो गया होता। यू.पी. के प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन ने आगामी गोलमेज के संबंध में जो शंकाएं प्रकट की हैं, भिन्न-भिन्न प्रांतों में गांधी-इर्विन समझौते के पूरा न किए जाने की जो शिकायतें की गई हैं, विलायत में लंकाशायर के व्यापार को लेकर जो हल्ला मचाया गया है, पंजाब के गवर्नर महोदय के द्वारा कांग्रेस की उग्रनीति के सबूत पेश करने का जो कष्ट किया गया है, हिंदुस्तान के किसानों के भीषण अर्थकष्ट के संबंध में जो सुनी-अनसुनी की जा रही है, ये सब प्रसंग अब तक इस तरह अनिश्चित और अनिर्णीत न रहते और कुछ न कुछ फैसला हो गया होता। पिछले गोलमेज के बाद जो थोड़ी-बहुत आशाएं उठीं और प्रधानमंत्री के प्रसिद्ध वक्तव्य से जो विश्वास बढ़ा उसकी शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई है। मजदूर सरकार की नीति बिलकुल दृढ़ नहीं है, उसकी गतिविधि आवश्यकता से अधिक शिथिल है। गोलमेज सम्मेलन के बाद ही भारत के शासन विधान में परिवर्तन की झलक दीख पड़ने लगनी चाहिए थी पर वह अब तक नहीं दीख पड़ी। कुछ लोगों का आसरा लार्ड विलिंग्डन पर लगा हुआ था और वे आशा करते थे कि उनके आते ही यहां की स्थिति बदलकर कुछ की कुछ हो जाएगी पर अब तक वैसा नहीं हुआ। यह ठीक है कि व्यावहारिक समस्याओं को समझने और हल करने में समय लगता है पर वाइसराय की ओर से आगामी नीति के संबंध में एक सामयिक और उदार घोषणा तो आसानी से की जा सकती थी। वाइसराय महोदय ने यहां आकर भाषण तो कई एक दिए पर आगामी कार्यक्रम के अत्यंत आवश्यक विषय पर वे मौन ही बने रहे।

अब भी कोई हर्ज नहीं है। हमें यह जानकर संतोष हुआ है कि लार्ड विलिंग्डन महोदय

महात्माजी से मिलकर आगामी गोलमेज के संबंध में तस्फिहा करेंगे। यह खबर पाकर और भी प्रसन्नता हुई कि महात्माजी के साथ पूज्य मालवीयजी और सर अली इमाम नवाब भूपाल जैसे मुसलमान नेता भी शिमला पहुंचेंगे और आपस में सलाह-मशविरा करेंगे। देशी नरेशों का भी एक मंडल शायद उपस्थित रहेगा। हम चाहते हैं कि वाइसराय के उद्योग और तत्परता से इस अवसर पर बहुत-सी आवश्यक बातें तय हों और देहली समझौते के अनुसार आगामी गोलमेज का कार्य अधिक से अधिक स्पष्टता और शीघ्रता के साथ शुरू कर दिया जाए।

हम उन गुमराहों की कोई परवाह नहीं करते जो महात्मा गांधी के सत्यपथ में रोड़े अटका कर उन्हें विलायत जाने से रोकना चाहते हैं और भारत तथा ब्रिटेन के संबंध को हद से अधिक कटु बनाना चाहते हैं। परंतु यह अच्छा ही होगा कि लार्ड विलिंग्डन महोदय सरकारी तौर पर महात्माजी के प्रति संकेत किए गए इस दुराचरण को दूर कर दें। इस समय वाइसराय के ऊपर दोहरी जिम्मेदारी है। एक ओर तो उन्हें भारत का असंतोष कम करना है और दूसरी ओर उन्हें विलायत को साथ रखना है। भारत के शासन की बागडोर उन्हें भारतीयों को सुपुर्द करनी है। इस धारणा को ही केंद्र मानकर काम करने से लाभ हो सकता है। लार्ड विलिंग्डन को चाहिए कि वे विलायत के झूठे साम्राज्य हितैषियों द्वारा उठाए गए आंदोलन का सरकारी तौर पर खंडन करें और सरकारी नीति की घोषणा भी करें। कहा जाता है कि वाइसराय महोदय मजदूर सरकार की नीति से अच्छी तरह परिचित हो गए हैं और उसकी अंदरूनी जानकारी रखते हैं। यह भी कहा जाता है कि वे लंदन में निश्चित की गई पॉलिसी के अनुसार कार्य करेंगे। हमें देखना है कि इतने दिनों की चुप्पी और उपेक्षा के बाद ब्रिटेन अपने भारतीय प्रतिनिधि के मुख से क्या कहलाता है।

गोरे पत्र

जहां एक ओर विलायत के भारत से अपरिचित व्यक्ति, व्यवसायी और जनता एड़ी-चोटी का पसीना एक कर, किसी काल्पनिक ब्रिटिश साम्राज्य का हित कर डालने पर तुल गए हैं, वहां भारत में रहने वाले यहां के गोरे पत्र-पत्रिकाएं भी जी-तोड़ परिश्रम करके गांधी, कांग्रेस, समझौता आदि को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रीति से खूब कोस रहे हैं। वे हिंदू-मुस्लिम एकता को फूटी नजरों भी नहीं देखना चाहते और हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य के तिल का ताड़ बनाते रहते हैं। मुसलमानों की अग्रगामी, नवयुगीन राष्ट्रीय शक्ति सम्मिलित चुनाव के पक्ष में है। पर भारत- जीवी गोरों के पत्र सदैव पृथक चुनाव के ही समाचार प्रकाशित करते हैं। मौलाना शौकत अली के फितूर से भरी हुई एक-एक बात को सौ-सौ बार छापने में इन्हें न तो संकोच होता है और न ग्लानि। ये भेद नीति के हिमायती हमारे आपस के मतभेद से फूले नहीं समाते, उसे तरह-तरह रंग-बिरंगे शीर्षकों से प्रकाशित करते रहते हैं। आशा है इस बार शिमला-सम्मेलन अवश्य ही इस समस्या को इतना शोचनीय बना रहने नहीं देगा।

यह बड़े अफसोस की बात है कि समय और स्थिति की जरा भी ख़बर न रखने वाले गोरे पत्र-पत्रिकाएं पुराने मुर्दे उखाड़ने में लगी हुई हैं। कलकत्ते का *स्टेट्समैन* अपने अग्रलेख में महात्माजी की सहयोग नीति की निंदा करता हुआ लिखता है कि यदि 1920 में मिस्टर गांधी का आंदोलन न उठता और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों पर अमल किया गया होता तो भारत को 1930 तक अवश्य स्वराज्य मिल गया होता। जिन्होंने मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की योजना का मुलाहिजा फरमाया है और जो यह जानते हैं कि कांग्रेस की शक्तिशाली स्वराज्य पार्टी ने कौंसिल में प्रवेश कर उन सुधारों को व्यवहार में लाने की चेष्टा की और असफल हुई उन्हें *स्टेट्समैन* की दलील का अर्थ समझने में देर नहीं लगेगी। परंतु *स्टेट्समैन* की बहस मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार आदि से कोई विशेष संबंध नहीं रखती। ये सब तो प्रासंगिक बातें हैं। *स्टेट्समैन* जैसे पत्र महात्माजी को अपरिणामदर्शी बतलाकर और 1930 में स्वराज्य मिल जाने की आशा-मरीचिका दिखलाकर अपने पाठकों को फंसाया करते हैं। परंतु भारत को यह स्पष्ट कह देना है कि उसे ऐसे-ऐसे हितैषियों की आवश्यकता नहीं है।

मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना–3

यूरोप की बात यूरोप जाने, हम कभी भी समाज शक्ति की अवहेलना नहीं कर सकते। समाज की शक्ति की समष्टि की शक्ति है जिसे ही परम कहते हैं। सामाजिक रीति-नीति, संस्कार, सदाचार सब इसी के अंदर आते हैं। इस विषय में यूरोप की विचारधारा हमारे यहां से मेल नहीं खा सकती। यूरोप का विकासवाद व्यष्टि को आसमान पर चढ़ा सकता है। परंतु हमारी प्रगति और हमारा विकास हमें नित्यप्रति नतशिर ही करते हैं। यूरोप का अतीत जंगली और असभ्य निवासियों का इतिहास है, इसलिए स्वभावतः वह उस आधार को ग्रहण नहीं करना चाहता। हमारी बात दूसरी है। हमारे यहां तो ज्ञान से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है, हमारे वेद दिव्यज्ञान का लिखित प्रतिकृत है, हमारा सभाज आदि से ही ऋषियों और ज्ञानियों का समाज रहा है। हमारे कवि सदा से इस दिव्य भावना का साक्षात्कार करते आए हैं और तन्मय होते आए हैं। महात्मा तुलसीदास ने आर्य सभ्यता और आर्य संस्कृति के तमाम परमाणु आत्मसात किए थे, चरम अद्वैत की निर्विकल्प सत्ता से लेकर बहुदेववाद की पौराणिक प्रक्रियाएं ही नहीं भूत-पिशाच-बेताल आदि सबका सब स्वीकार कर लिया था। उनकी विशाल भाव धारा में आर्य सभ्यता की भिन्न-भिन्न तरंग नाचती-कूदती-किलकारी भरती चली जाती हैं। कहीं से विरोध नहीं, कहीं से अवरोध नहीं। राम, शिव और शक्ति, गणेश, अनेक देवी देवता, सब मानस की प्रसन्न व्रीथियों में किलोल करते हैं। कवि की यही आस्तिकता है, यही उसकी साधना ही सिद्धि है। प्रसन्नता की बात है कि मैथिलीशरणजी भी इस साधना का मूल्य समझते हैं। हमारे आधुनिक कवियों में भारतीय जीवन की झलक सबसे अधिक मैथिलीशरणजी में ही दीख पड़ती है। अनेक मुहावरों, कहावतों और उक्तियों के भीतर कवि ने बड़ी ही खूबी

से प्राचीन चित्र दिखा दिए हैं। कहीं-कहीं तो पुनरुक्ति मात्र कर देने में भी कवि ने संतोष मान लिया है, जैसा *साकेत* के कुछ अध्यायों में।

एक दफे काशी विश्वविद्यालय के सुकवि समाज में भाषण देते हुए 'निरालाजी' ने दैवी और आसुरी साधनाओं का बड़ा ही मनोरम विश्लेषण किया था। तुलसीदास की साधना संपूर्णतः दैवी है। उनकी भावना का स्तर पूर्ण सात्विक है और असुर भाव का वहां कहीं नाम भी नहीं है। सीताजी के शृंगार वर्णन से लेकर उत्तर कांड के ज्ञानदीपक तक सर्वत्र सत्व ज्योति ही दीख पड़ती है। रावण, मेघनाद आदि राक्षसों की सार्थकता उस ज्योति को प्रखर करने में ही है—

मनियत सबै राम के नाते सुहृद सुसेव्य जहांलौ।

* * *

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

रावण, मेघनाद आदि के तमाम प्रसंगों की परिणति तो मोक्ष में, ब्रह्म में, राम में ही है। परंतु आजकल के कवि वैसी किसी साधना का दावा नहीं कर सकते। समाज में आसुरभावों का ही प्रसार है। कविगण उसी का अवलंब लेकर खड़े हो सकते हैं। कच्चों-बच्चों के साथ रहकर गृहस्थी चलाना और धर्मोपदेश देना दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। एक को छोड़कर तब दूसरे की बात करनी होगी। 'निरालाजी' ने इस विश्लेषण में एक दार्शनिक की भांति दैवी और राक्षसी दो ही धरातलों को स्वीकार किया है। पर मनुष्य तो मनुष्य होता है। वह न तो निरा राक्षस ही हो सकता है और न कोरा देवता ही। महात्मा तुलसीदास की भी यही गति है, आधुनिक किसी भी कवि की यही गति है। तुलसीदास सर्वत्र देवता ही नहीं रहे और न हम सब चिरकाल के लिए राक्षस भावों के तमसावृत चक्र में डाल दिए गए हैं। और यदि डाल भी दिए गए हों तो निस्तार का प्रयास भी तो मानवधर्म है।

न दैवी संपदा सत्य है, न आसुरी संपदा। सत्य है साधना। कोटि-कोटि मनुष्य अपने-अपने नीचे-ऊंचे स्थानों को पार करते एक समपथ की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यही मानव समाज की गति, यही नियति है, इसे ही साधना भी कहिए। भिन्न-भिन्न पथिकों के गिरोह रेगिस्तान में भूलते-भटकते पार लगने की धुन में हैं। सबकी मुखाकृति भिन्न है, वेशभूषा, साधन-संबल अलग-अलग हैं। यह अनंत विभिन्नताओं का बहुरंगी चित्र हमें बड़ा ही मनोरम लगता है। इसी के द्वारा मरुस्थली भी सलिलवती बनती है। इन्हें ही देखते-देखते जिंदगी कट जाए तो परमलाभ समझिए।

तुलसीदास और मैथिलीशरण की तुलना मानवीय परिधि के घेरे में बड़े मजे में की जा सकती है। पंचवटी-प्रसंग को लेकर देखें। शूर्पणखा रुचिर रूप धारण कर राम-लक्ष्मण को मोहने आई है। तुलसीदास की तीव्र प्रतिक्रिया देखिए—

अधम निशाचरि कुटिल अति चली करन उपहास।
सुनु खगेश भावी प्रबल भा चह निशिचर नाश।

और इसके बाद शीघ्र ही—

लछिमन अति लाँघव सो नाक कान बिनु कीन्हि

परंतु मैथिलीशरणजी इस प्रसंग में शूर्पणखा के प्रति अधिक सहानुभूति दिखाते हैं, लक्ष्मण और राम को उससे अधिक देर बातें करने का मौका देते हैं। उसकी सुंदरता का अधिक बखान किया गया है। सीताजी तो उसे अपनी देवरानी बनाने को तैयार हो जाती हैं। पारिवारिक मनोविनोद की बड़ी ही सात्विक आभा बीच-बीच में फूट निकली है। मैथिलीशरणजी का वह विवरण कुछ काव्य-प्रेमियों को अधिक रुचिकर भी हो सकता है, परंतु अंत में यह कहना ही पड़ेगा कि महात्मा तुलसी की साधना गुप्तजी से कहीं ऊंची उठी हुई है।

तुलसीदास राम वनवास में लक्ष्मण को निरंतर मौन रखते हैं, मौन के भीतर ही उनके चरित्र का विकास होता है और वह विकास बहुत ऊंचे दर्जे का है। मैथिलीशरणजी के लक्ष्मण कहने को तो मौन हैं, पर आप से आप काफी बातचीत करते हैं। इस बातचीत के फलस्वरूप उनका चरित्र जैसा निखरा है उसे पाठक अधिक रुचिकर कह सकते हैं पर अधिक उदात्त तो नहीं कह सकते।

तुलसीदास के राम और सीता कभी भी लक्ष्मण से उपहास नहीं करते पर मैथिलीशरणजी की *पंचवटी* में बराबर मनोविनोद और हास्य आदि के स्थल आए हैं। इससे और कुछ नहीं सिद्ध होता, केवल इतना ही सिद्ध होता है कि गुप्तजी की काव्यधारा मानवीय उपकूलों के अधिक पास से बह रही है।

रावण और मेघनाद की तामसी शक्ति ही नहीं, हनुमान भी तुलसीदास की निगाह में प्रभु-प्रताप का ही परिणाम हैं। सबका उद्गम एक है। तुलसीदास की यह अद्वैत भावना लोगों की समझ में कम आती है क्योंकि काव्य-प्रवाह के बीच उसका अप्रत्यक्ष रूप ही देखा जा सकता है। मैथिलीशरणजी के अनेक पात्र अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। जिसे द्विजेंद्रलाल अंतर्द्वंद्व और बाह्यद्वंद्व कहते हैं, मैथिलीशरणजी में उसकी झलक तुलसीदास की अपेक्षा अधिक मिलती है। इसका कारण यह है कि तुलसीदास की वृत्तियां जितनी संयमित और अंतर्मुखीन हैं मैथिलीशरणजी की उतनी नहीं। हम तो काव्य-साधना को ही काव्य-सौंदर्य समझते हैं। इसलिए देखते हैं कि गुप्तजी बड़ी ही मनोरम गति से तुलसी के पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। संयोग यह कि मैथिलीशरण (राम) के ही प्रति तुलसी ने कहा है—

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु-छिनु चरन सरोज निहारी॥

(शुक्रवार, 15 मई 1931)

हिंदू-मत

हिंदू-मुस्लिम प्रश्न को हल करने में हिंदू-मत का कितना शक्तिशाली हाथ हो सकता है, यह

किसी के बतलाने की बात नहीं है। महात्मा गांधी ने कांग्रेस की ओर से शर्त पेश की कि मुसलमान एकमत होकर जो कुछ मांगेंगे सब स्वीकार कर लिया जाएगा। महात्माजी के इस प्रस्ताव से हिंदू जाति का मस्तक ऊंचा हुआ है क्योंकि इससे हिंदुओं की परंपरागत उदार वृत्ति की रक्षा हुई है और संसार ने देख लिया है कि इस प्राचीन जर्जर जाति की जीवनी शक्ति किस रहस्यमय कारण से इतनी अक्षय हो गई है। पिछले खिलाफत आंदोलन में हिंदुओं ने जिस तत्परता के साथ धन, जन और मन से अपने मुसलमान भाइयों का साथ दिया, वह आधुनिक इतिहास में एक मार्के का प्रसंग है। असहयोग आंदोलन के प्रवाह में हिंदू जाति ने अपनी चिरकालीन रीति-नीति का मोह छोड़कर, मुसलमानों और अछूतों को अपनाया और जिस प्रसन्न भाव का परिचय दिया, वह सभ्य संसार को चकित कर देने के लिए काफी से अधिक था। 1930 का विकट सत्याग्रह आंदोलन हिंदुओं का आंदोलन कहा जाता है। बहुत अंशों में यह बात सत्य भी है। वृद्ध हिंदू-शक्ति का इतना प्रखर और प्रचंड उन्मेष हमारे नवीन अरुणोदय की ही सूचना देता है। सृष्टि का यह मंगल प्रभात हमारे लिए शाश्वत सत्य था। कुछ दिनों तक भूले रहने के बाद हमने इसे फिर से पहचान लिया है। जो जाति इतने हजार वर्षों की शत-सहस्र पगडंडियों में भटकती हुई भी चेतना के इतने दृढ़ परमाणु रक्षित और अंतर्निहित रख सकती है, जिसकी जीवनी-धारा घोर मरुस्थलों और आपत्कालों में भी सूखी नहीं, वह नस्ल संपूर्ण संसार के कल्याण के लिए अनंत अक्षय बनकर रहेगी। विश्व की सत्य ज्योति कभी बुझ नहीं सकती।

इस हिंदू मत का प्रतिनिधि कौन है? हम तो कहेंगे या तो इसका प्रतिनिधि देश के कोने-कोने में फैली हुई 25 करोड़ से अधिक हिंदू जनता है अथवा वे व्यक्ति हैं जिन्होंने उस जनता के चिरंतन आदर्शों को समझा है, उनका व्यवहार किया है और सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। आज यह कायदा भले ही बन गया हो कि कुछ नेता लोग हिंदू-हितों के हामी और संरक्षक समझे जाने लगे हों। पर जब एक बार जाग्रत हिंदू जाति सचेत होकर पुरस्तात और पृष्ठतः आत्मान्वेषण में लगेगी, अपने अनादि तत्वों की खोज करेगी, तब ऐसे बहुत से नेता अपना अस्तित्व भी साबित कर सकेंगे या नहीं, यह कोई कह नहीं सकता। जो जाति आदर्शों से ही जीवन की प्रेरणा पाती है, जीती है, वह यदि छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए लड़ने लगे तो क्या कहा जाएगा? जो 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याः सर्व मानवाः' पर विश्वास रखती है वह यदि छोटे से दायरे में बंद कर दी जाए तो बंद नहीं रहेगी या बंद रहकर जीवित नहीं रहेगी। जाति के नेता जाति के प्राण, वे नहीं हो सकते जो जातीय जीवन के प्रवाह की रोकथाम करते हैं, वे होंगे जो उस प्रवाह का संस्कार करते और निरंतर उसी में तन्मय रहते हैं। यहां वर्णभेद जातिभेद, अथवा संस्था-भेद का कोई सवाल नहीं है, सवाल है कृति शक्ति का। कांग्रेस यदि हिंदू-मुसलमानों में कोई भेद नहीं देखना चाहती तो वह भी हिंदू-आदर्श के सर्वथा अनुकूल है और इस कारण महात्मा गांधी जैसे तपस्वी नेता को पाकर समस्त हिंदू जाति पूर्णतृप्ति प्राप्त करेगी और आत्म-लाभ मानेगी।

महात्मा गांधी की हिंदू-मुस्लिम एकता संबंधी योजना को सामान्यतः समस्त हिंदू जाति ने

स्वीकार किया है। उन्होंने मुसलमानों को एकमत होकर अपनी मांगें रखने का जो आमंत्रण किया, उससे देश की प्रायः समस्त हिंदू जनता सहमत ही थी क्योंकि उसका विरोध उस समय किसी ने नहीं किया। परंतु हाल में पंजाब और बंगाल के हिंदुओं के प्रतिनिधि कुछ चिंतित और उद्विग्न-से दीख पड़ने लगे हैं। यह तो सभी जानते हैं कि इन दोनों प्रांतों में हिंदू अल्प संख्या में हैं और स्वभावतः उन्हें इस संबंध में थोड़ी-बहुत शंका हो सकती है। मुसलमान जाति का रुख देखकर भी कुछ असंतोष, अविश्वास और संदेह बढ़ा होगा। फिर भी हमें क्षणिक स्थितियों का मूल्य समझना चाहिए। भाई परमानंद जैसे नेता हिंदू जाति की जीवन-रक्षा के लिए उत्सुक हैं पर जीवन संबंधी उनकी धारणा कुछ स्थूल ही जान पड़ती है। मृत्यु में भी जीवन की झांकी देखने वाली, अस्तित्व गवां कर भी परम लाभ पाने वाली हिंदू जाति इस स्थूल धारणा को कितने दिन बर्दास्त कर सकेगी? हमें इस प्रश्न पर बहस नहीं करनी है कि हम कैसे जीवित रह सकेंगे। जीवित तो हम रहे ही थे। हमारे सामने प्रश्न यह है कि जीवन की सार्थकता क्या है—जीवन का लक्ष्यभेद कैसे होगा? इस प्रश्न के सामने आते ही भाई परमानंद भी महात्मा गांधी के इस कथन से पूर्ण सहमत हो जाएंगे कि छोटे-मोटे संरक्षणों के लिए पुकार मचाना कोई अर्थ नहीं रखता, कुछ सार नहीं रखता। भाई परमानंद बड़े ही विचारशील नेता है, पंजाब के हिंदुओं का उन पर बड़ा भरोसा है पर इस अवसर पर उन्नत आदर्शों के सहारे खड़े होने में ही लाभ है, कीर्ति है और कल्याण है। सीमा प्रांत और पंजाब के नवयुवक हिंदू दल के स्वागताध्यक्ष अध्यापक दीवान चंद्र शर्मा ने अपने भाषण में कुछ बड़ी ही मार्मिक बातें कहीं हैं—

> यदि जीवन दूसरे की सेवा में न लगा तो जीना कौड़ी काम का नहीं। हम हिंदू युवक एक महान सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं, हमारा यह कर्तव्य है कि हम उसका संदेश संसार के कोने-कोने में पहुंचा दें। हम अपने आदर्शों के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर संघर्ष करें। भगवान निस्संदेह हमारे साथ रहेंगे। जीवन के अज्ञेय रहस्य प्रकट करने वाले प्राचीन ऋषि-मुनि इस भारतवर्ष के निवासी थे और हम भी उन्हीं की भूमि में निवास करते हैं। हमारे समस्त समाज ने जो परंपरा बांध दी है हम भी जान से उसकी रक्षा करें।

इन उद्गारों के साथ बंगाल के प्रसिद्ध हिंदू-हित-चिंतक बाबू रामानंद चटर्जी की बातों को मिलाकर देखें तो अंतर छिप नहीं सकता। रामानंद बाबू अपने व्यावहारिक ज्ञान और तर्क शक्ति के लिए अच्छे प्रसिद्ध हैं। हाल में आपने महात्मा गांधी की हिंदू-मुस्लिम एकता की योजना के संबंध में जो दलीलें उपस्थित की हैं उनमें आपने मुसलमानों के अशिक्षित होने की बात कही है। आपका मत है कि उस अशिक्षित जाति के व्यक्तियों को यदि उच्च पद मिलेंगे तो उनसे राष्ट्रीय कार्य पूरे विवेक के साथ नहीं किया जा सकेगा। रामानंद बाबू ने केवल बंगाल की बात कही है जो उनके जैसे बंगाली के लिए उचित हो सकती है पर बंगाल ही तो भारतवर्ष नहीं है और न बंगाल का हित ही संपूर्ण राष्ट्रीय हित है। फिर आपने यह भी नहीं बतलाया कि बंगाल के मुसलमान क्या इतना अधिक अशिक्षित हैं कि थोड़े से सरकारी पदों और व्यवस्था-सभा आदि के थोड़े से स्थानों के लिए भी आदमी नहीं मिल सकते। बंगाल जैसे

पांच करोड़ की आबादी वाले बड़े मुल्क में, जहां अन्य प्रांतों की अपेक्षा शिक्षा का अधिक प्रचार है क्या इतने भी मुसलमान नहीं मिलेंगे जो राजनीतिक शासन चक्र चलाने में योग दे सकें। रामानंद बाबू को यह भी बतला देना चाहिए था कि आखिर बेचारे अशिक्षित मूर्ख मुसलमानों को कितने समय में शीघ्र से शीघ्र शिक्षित किया जा सकता है। आप तो राष्ट्रीय हित की बात कहते हैं। आपको तो इस प्रश्न पर सबसे पहले विचार करना चाहिए था। फिर रामानंद बाबू को कांग्रेस की यह नीति तो मालूम ही होगी कि वह सरकारी पदों के लिए कितना कम वेतन देने का विचार करती है। रामानंद बाबू की एक दलील यह भी होनी चाहिए थी कि बंगाली हिंदुओं में इतना त्याग है कि इतने कम वेतन स्वीकार कर लें अथवा निःशुल्क राष्ट्र सेवा कर सकें। परंतु उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं कही। यह प्रसंग बिलकुल सरल नहीं जान पड़ता।

हम देखते हैं कि राष्ट्रीय मुसलमानों का दल बराबर इस बात पर जोर दे रहा है कि अल्पसंख्यक जाति का सबसे बड़ा संरक्षण है आत्मत्याग और राष्ट्रसेवा। संपूर्ण राष्ट्रीय हित की वेदी पर चढ़कर ही मुक्ति मिल सकती है। बहुसंख्यक जाति से अलग रहकर नहीं, एकाकार होकर ही अपनी रक्षा की जा सकती है। जो बात अन्य प्रांतों के अल्पसंख्यक मुसलमानों के लिए सत्य है, वही बंगाल और पंजाब के अल्पसंख्यक हिंदुओं के लिए क्यों सत्य नहीं है, यह हमारी समझ में नहीं आता। कांग्रेस के झंडे के नीचे काम करने वाली अपार शक्तिशालिनी हिंदू जनता ने महात्मा गांधीजी की शर्त मान ली है और हिंदू जाति के प्राण पूज्य मालवीयजी सरीखे नेता भी उसी पथ पर अग्रसर हैं। यही वास्तविक हिंदू-मत होना चाहिए और बंगाल तथा पंजाब के कुछ असाधारण परिस्थितियों में पड़े हुए नेताओं के अतिरिक्त शेष समस्त जाति का यही मत है भी। भाई परमानंद और बाबू रामानंद चटर्जी की बातें न तो हमारा समाधान कर सकी हैं और न वास्तविक हिंदू-मत को प्रकट कर सकी हैं। हमें आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि यह आदर्शजीवी हिंदू जाति कभी भी अपने उदार पथ से डिग नहीं सकती। पिछली शताब्दियों के अज्ञानांधकार में जब नहीं डिगी तब अब नवीन जागरण के आलोक में क्या डिगेगी।

मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना—4

नवीनता और असामान्यता कविता के लिए उतनी आवश्यक नहीं हैं, जितनी समझी जाती है। संस्कृत में कवि प्रतिभा की व्याख्या 'क्षणे क्षणे यं नवतामुपैति' कहके की गई है। क्षण-क्षण में यह नवीनता को प्राप्त होती है। संभव है, इस नवीनता का अर्थ कवि की चिरजाग्रत चेतना और उसकी अविरत साधना से रहा हो पर कालचक्र में पड़कर उसका अर्थ हो गया क्लिष्ट कल्पना और उच्छृंखल व्यक्तित्व से। इसी प्रकार असामान्यता का अर्थ प्रारंभ में उच्च सदाचारपूर्ण धीरोदात्त आदि नायकों का चित्रण रहा होगा पर आगे चलकर उसने ऊंचे घरानों के और समाज

के संरक्षक समझे जाने वाले राजा-महाराजाओं के वर्णन का रूप धारण कर लिया जिसके कारण कविता में आदर्शवाद की मिथ्या रूढ़ियां और अनुमतिहीन शब्दाडंबर का काफी प्रचार हुआ। यूरोप में भी इसी असामान्यता की वृद्धि होती रही और अंत में वह प्राचीन (Classic) काव्य साहित्य के पतन का कारण हुई। यह असामान्यता रूढ़ियों के चक्र में पड़कर सामान्य मनुष्य जीवन से इतनी दूर जा पहुंची थी कि मनुष्य उसे बहुत दिनों तक सहन नहीं कर सका। उसी के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई उससे यूरोप के रोमांटिक (Romantic) आंदोलन का श्रीगणेश हुआ। इस आंदोलन ने काव्य की कृत्रिम असामान्यता दूर कर दी और उसके स्थान में लोक सामान्य भाषा और लोक सामान्य भावों की सृष्टि की। भारतीय काव्य साहित्य में भगवान कृष्ण के असामान्य व्यक्तित्व की आड़ में जितना कुछ अनर्गल कहा जा सकता था, कहा गया। हिंदी के शृंगार काल का हाल कौन नहीं जानता? मैथिलीशरणजी ने पहले-पहल इस असामान्य उच्च (!) स्तर से कविता को उतार लाने का उपक्रम किया। यही साधना उन्हें जन समाज का कवि बनाने में समर्थ हुई। गुप्तजी *हिंदू* की भूमिका में एक स्थान पर कुछ क्षुब्ध-से होकर कहते हैं, 'हाय! लेखक कहीं जनसाधारण का ही कवि हो सकता ! परंतु प्रतिभा देवी का वह प्रसाद भी प्राप्त न हो सका।' हम गुप्तजी को यह विश्वास दिलाते हैं कि जनसाधारण का कवि होना ही प्रतिभा का सबसे बड़ा प्रसाद है और उस प्रसाद की प्राप्ति के लिए आपने जो साधना की है, वह हिंदी के इतिहास में आपका नाम अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। नीचे के कुछ चित्र कितने सामान्य किंतु हमारे प्राण के कितने सन्निकट हैं—

बैठी बहन के स्कंध पर
रक्खे हुए निज बाम कर
कुछ उदास-सा बालक खड़ा था स्थिर वहां
थी तोतली वाणी अहा
उसने मधु-स्वर से कहा
'मालू अचुल को मैं अभी वह है कहां'
संचित किए रक्खे हुए
शुक वृंद के चक्खे हुए
कुछ बेर जो थे दीन शबरी के लिए
खाकर, जिन्होंने प्रीति से
शुभ मुक्ति दी भवभीति से
वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किए

(त्रिपथगा)

इसी पुस्तक में उस ब्राह्मण के घर का वर्णन आया है। जिसके यहां पांडव वनवासी अतिथि बनकर पहुंचे थे। ऐसा शांत, सरल, पवित्र वातावरण का घर हिंदी में तो शायद कोई दूसरा नहीं।

कुछ लोग हिंदी कविता में छायावाद के अवतरण से नवीन युग का श्रीगणेश मानते हैं। गीतकाव्य की छटा वास्तव में अभी-अभी दीख पड़ी है पर जहां तक नवीन भावनाओं का संबंध है हम कह सकते हैं कि गुप्तजी के अंतःकरण में उसकी आभा सबसे पहले जगी थी। अंग्रेजी में भी वड्र्सवर्थ और शेली आदि नवीन काव्यधारा के संचालक माने जाते थे। पर हाल के आलोचकों ने वह श्रेय उनके पूर्व के कुछ कवियों को दिया है। जिसे सामान्य प्रियता कहते हैं और जो यूरोप के रोमांटिक (Romantic) काव्य प्रवाह का उद्‌गम है उसे गुप्तजी ने ही इस युग को हिंदी में प्रतिष्ठित किया है—

यही होता है जगदाधार!
छोटा-सा घर आंगन होता
इतना ही परिवार।
कहीं न कोई शासक होता
और न उसका काम।
होता नहीं भले ही तू भी
रहता केवल नाम।
गाता हुआ गीत ऐसे ही
रहता मैं स्वच्छंद,
तू भी जिन्हें स्वर्ग में सुनकर
पाता परमानंद।
होते यंत्र न तंत्र और वे
आयुध यान अपार।
होता नहीं क्रांति कोलाहल
शांति खेलती आप
जैसा आता बल वैसे ही
जाता मैं चुपचाप।
स्वजनों में ही चर्चा छिड़ती,
सो भी दिन दो-चार।
यही होता है जगदाधार।

यहां हिंदी के नवयुग की भावना ठीक वैसी ही है, जैसी अंग्रेजी में फ्रांस की राज्य क्रांति और यांत्रिक सभ्यता के प्रवेश-काल में उठी थी।

असामान्य चित्रण की बात यहीं तक कहकर अब जरा 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' को देखिए। काव्य में नवीनता का संचार करने वाली इस प्रतिभा के साथ कविता-जगत में बड़े-बड़े दुर्व्यवहार किए गए हैं। कहीं-कहीं यह नवीनता क्लिष्ट कल्पना और कहीं-कहीं कोरी दिमागी कसरत का रूप धारण करती दीख पड़ती है। प्रतिहत काव्य प्रवाह के भीतर वैसी नवीनता

रोड़े की भांति अटकती है। हिंदी में कवि केशवदास इस प्रकार की नवीनता के बड़े भारी प्रतिनिधि हैं। उनके पद्यों के नए-नए अर्थ आज तीन सौ वर्षों के बाद अब भी लगते ही जाते हैं। एक-एक के तीन-तीन तो कोई बात नहीं है। परंतु जैसाकि हम पहले भी एक बार कह चुके हैं, सच्ची काव्य-साधना केवल इस प्रकार की नवीनता पर नहीं चलती, बल्कि इसे अंतराय ही समझती है। उपमाओं, रूपकों और अन्यान्य अलंकरणों के नित्य-नूतन आकार-प्रकार जिन्हें नहीं लुभाते वे ही सच्चे काव्य साधक हैं। जैसाकि हम गोस्वामीजी के उदाहरण में दिखा चुके हैं—लक्ष्मण की मूर्च्छा पर राम-विलाप का प्रसंग है—

अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥

कहीं किसी प्रकार की नवीनता नहीं है। इसीलिए हम काव्य-प्रवाह में खो जाते हैं। कवियों की यही साधना संतप्त संसार की सुख की तरंगिणी है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की नवीनता भी इस युग में अपनी कीर्ति फैला रही है। एक दिन बाबू जयशंकर प्रसाद के यहां श्री जैनेंद्र कुमारजी से बातचीत हो रही थी। आप अपना भ्रमण-विवरण बतला रहे थे। जंगली स्थानों में किस प्रकार की सभ्यता का प्रचार है, कौन-कौन-सी रीति-नीति प्रचलित हो रही है। इन बातों का आपने बड़ा ही मनोरंजक हवाला दिया। भाई-बहनों और निकट-संबंधियों के पारस्परिक नाच-गान और आमोद-प्रमोद के नए-नए प्रसंग सुनाए। वर्ष में एक दिन समस्त कृत्रिम (?) संबंध किस प्रकार टूट जाते हैं और दुनियादारी (?) को भूलकर शराब के नशे में किस प्रकार के कृत्य किए जाते हैं, वे सब बातें भी मालूम हुईं। जब सदाचार (Morality) की चर्चा चली तब जैनेंद्रजी ने कुछ ऐसा आभास दिया जैसे उनके लिए वही सदाचार है क्योंकि उस संबंध की कोई दूसरी भावना उनमें है ही नहीं। जैनेंद्रजी की उन बातों के विश्लेषण से उनकी वैचित्र्य-प्रियता की ही हमें प्रतीति हुई थी। निश्चय ही उसे हम कोई गंभीर वृत्ति नहीं कह सकते। कहानी लेखन-कला की बात हम पीछे करेंगे। यहां हम इतना ही कह रहे हैं कि यह नवीन सदाचार (Morality) संबंधी जैनेंद्रजी की भावना निहायत निर्जीव है। अधिक से अधिक यह देवता को देवता बनी रहने देगी, पर राक्षस के लिए इसके पास कोई दवा नहीं है। आजकल के कितने ही उदीयमान कहानी लेखक अखबारों की सनसनीखेज कटिंग लेकर कहानियां लिखते सुने जाते हैं। यह भी जासूसी उपन्यासों की-सी नवीनता ही हुई। जीवन प्रवाह की कोई लयकारी गति हमें नहीं मिलती।

(सोमवार, 18 मई 1931)

हिंदी का विरोध

भारत की राष्ट्रीयता के सबसे महान और शक्तिशाली उन्नायक और समर्थक महात्मा गांधी हैं, और कोई नहीं। यह प्रकाश की भांति सत्य और सत्य की भांति स्वयंसिद्ध है। महात्माजी ने भारत की राष्ट्रीय शक्ति की सृष्टि की है, उसका विकास किया है और अब उसके फूलने-फलने का समय आया है। जिस प्रकार अन्य अनेक क्षेत्रों में, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी महात्माजी की अचूक राष्ट्रीय भावना अपना प्रयोग कर रही है। समाज के हिंदू-मुसलमान, क्रिश्चियन, पारसी, सिख, छूत, अछूत, स्त्री, पुरुष सबकी संघटित शक्ति से राष्ट्रीयता की दृढ़ नींव डालने की महात्माजी की योजना किसी से छिपी नहीं है। उसी प्रकार एक राष्ट्रीय भाषा के सार्वदेशिक प्रचार के संबंध में महात्माजी के विचार अतिशय स्पष्ट और निश्चित हैं। वे इस बात पर काफी से अधिक विचार कर चुके हैं, बहस कर चुके हैं और जो कुछ तय करना था, तय कर चुके हैं। महात्माजी ने जो कुछ तय कर लिया उसे टालने की शक्ति किसी में भी नहीं। प्रयाग विश्वविद्यालय के एक दक्षिणी छात्र को फटकार बतलाते हुए गांधीजी ने जो खरी बातें कही थीं, वह अभी कल की बात है। देहली के पिछले व्यापारी-संघ के अधिवेशन में आपने हिंदी की पूरी हिमायत की थी पर पिछली कराची कांग्रेस में तो महात्माजी ने बड़े-बड़े नेताओं तक को इसकी याद दिलाई और इसके लिए सुचिंत्य किया कि हिंदी न जानने का कितना बड़ा नतीजा हो सकता है। उन्होंने अपने स्वभाव सिद्ध खुले शब्दों में आगाही कर दी कि आगामी कांग्रेस में सबको हिंदी से परिचित रहना होगा और हिंदी में ही कांग्रेस की कार्यवाही भी की जाएगी। राष्ट्रीय कांग्रेस के ही लिए नहीं, अन्य संस्थाओं के लिए भी महात्माजी का यह संदेश नवीन नहीं और न आश्चर्यजनक है। स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने काशी विश्वविद्यालय के वार्षिकोत्सव पर एक बार बड़ा क्षोभ प्रकट किया था कि इसकी कार्यवाही विदेशीय भाषा में होती है। हिंदीभाषी प्रांतों की तो बात ही क्या, बंगाल के आचार्य राय और सुभाष बाबू और सुदूर मद्रास तथा दक्षिण के अनेक प्रसिद्ध नेता राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता स्वीकार तो करते ही हैं। उसके लिए विशेष उद्योग भी करते रहते हैं। कराची कांग्रेस में जब महात्माजी ने हिंदी के लिए आग्रह किया तब प्रायः समस्त देश के प्रतिनिधियों ने बिना विरोध किए ही उसे मान लिया।

पर बुद्धिमान तार्किकों की कमी तो हमारे यहां कभी रही ही नहीं। हाल के *माडर्न रिव्यू* नामक अंग्रेजी मासिक पत्र के प्रसिद्ध संपादक श्री रामानंद चटर्जी ने हाल के अंक में महात्माजी की हिंदी-योजना का विरोध किया है। रामानंद बाबू का पहला आक्षेप व्यक्तिगत है क्योंकि कहते हैं कि स्वयं महात्माजी *यंग-इंडिया* पत्र अंग्रेजी में निकालते हैं और लिखते हैं। ध्वनि यह निकलती है कि या तो महात्माजी हिंदी के प्रति मौखिक सहानुभूति ही रखते हैं अथवा वे अपने विचार हिंदी में प्रकट नहीं कर सकते। इनमें से पहले की तो कल्पना रामानंद बाबू ही करने का साहस कर सकते हैं। दूसरे के दो खंड किए जा सकते हैं। एक तो यह कि महात्माजी की हिंदी की योग्यता बहुत थोड़ी है और दूसरी यह कि हिंदी में इतनी योग्यता नहीं कि वह महात्माजी

के विचारों को प्रकाशित कर सकें। इनमें पहले खंड के लिए हमारे उत्तर की आवश्यकता नहीं।

हिंदी के संबंध में बहुतों की यह धारणा बंधी हुई है कि उसमें इतनी क्षमता नहीं कि वह आधुनिक व्यापक और सूक्ष्म विचारों को प्रकट कर सके। रामानंद बाबू को तो यह भी शंका है और उन्होंने इसे प्रकट भी किया है कि कांग्रेस के वार्षिक प्रस्ताव अंग्रेजी में ही लिखे जा सकते हैं। हिंदी में लिखे ही नहीं जा सकते। रामानंद बाबू ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि देश के कोने-कोने में और झोंपड़ी-झोंपड़ी में कांग्रेस के प्रस्तावों की गूंज पहुंचती है और वह अंग्रेजी के द्वारा नहीं पहुंचती। चूंकि उन्हें बहस करनी है इसलिए वे भाषाशास्त्री बन गए हैं पर ऐसा करके उन्होंने कांग्रेस जैसी लोक संस्था के साथ न्याय नहीं किया। कांग्रेस शब्दों का चमत्कार दिखाने अथवा बारीक खयाली जाहिर करने का लक्ष्य नहीं रखती। वह जितने ही सीधे-सादे शब्दों में अपना मंतव्य प्रकट कर सके और अधिक से अधिक फैला सके, उसके उद्देश्य की उतनी ही अधिक सफलता है। रामानंद बाबू अंग्रेजी शब्द-चातुरी के उस माया-जल में पड़े दीख पड़ते हैं जो ब्रिटिश राजनीति की आधारशिला है पर कांग्रेस ने पिछले वर्ष भर में सहस्रावधि सच्चरित्र और सदाचारी व्यक्तियों को जेलखानों में भेजकर मोह-भंग का उपक्रम कर दिया है।

रामानंद बाबू स्वयं बहुत बड़े साहित्यकार नहीं हैं, पर बड़े-बड़े साहित्यकारों के बीच में अवश्य रहते हैं। वे महाकवि रवींद्रनाथ के मित्र और उन्नायक हैं। उनकी रुचि उस वातावरण में बनी हुई जान पड़ती है जिसमें पश्चिम के प्रति आकर्षण ही नहीं श्रद्धा का उद्रेक-सा आया हुआ था। बंगाल की अंग्रेजियत प्रसिद्ध ही है। सभ्यता और शिष्टता के जो संस्कार जम जाते हैं, वे छूटते नहीं। कलकत्ते का उच्चकोटि का नागरिक जीवन, आधुनिक भारत की एक दर्शनीय और उल्लेखनीय वस्तु है। उस जीवन में काफी अधिक समय बिता देने के बाद गांधीजी के सामूहिक, ऊबड़-खाबड़, अभद्र और सुरुचि रहित संस्कारों को ग्रहण कर सकना सबका काम नहीं है। आगामी पूरी कांग्रेस के भाषण की भाषा-वैचित्र्य की कल्पना करके रामानंद बाबू की सुरुचि को अवश्य ही धक्का पहुंचा है। मालवीयजी की हिंदी, डॉक्टर अंसारी की उर्दू, जवाहरलालजी की उर्दू-हिंदी, गांधीजी और सरदार पटेल की गुजराती-हिंदी और सेनगुप्त तथा सुभाष बाबू की बंगाली-हिंदी की खिचड़ी उन्हें पसंद नहीं आती तो इसमें हमें आश्चर्य नहीं होता। हम उनके ऊंचे धरातल को समझ सकते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि वे भी हमारे नीचे धरातल को समझें। कलकत्ते की प्रासाद-सभ्यता सारे देश की उजाड़ कुटीर-सभ्यता का कितने दिन व्यंग्य कर सकेगी, यह भी समझने योग्य बात है।

महाकवि रवींद्रनाथ की तरह रामानंद बाबू की भावना यदि विश्व प्रेम के स्तर तक नहीं पहुंचती तो कम से कम लीग ऑफ नेशंस के अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक तो निश्चय ही पहुंचती है। महाकवि कुछ अधिक अलौकिक हैं, उनका भाव-जगत कुछ अधिक सूक्ष्म है, रामानंद बाबू थोड़ी-सी लौकिकता लिये हुए हैं। लीग ऑफ नेशंस में कितने ही राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं, पर उन सबको अंग्रेजी अथवा फ्रेंच भाषाओं का ही व्यवहार करना पड़ता है। रामानंद बाबू ने यह ठीक ही बतलाया है कि अंग्रेजी इस समय संसार की भाषा बन रही है। विश्व प्रेम

की तरह कभी विश्व भाषा भी बन सकेगी, यह कल्पना अनुरूप ही है। परंतु लीग ऑफ नेशंस की बैठक तो देर-देर में हुआ करती है और उसके प्रतिनिधि भी थोड़े ही हुआ करते हैं। यदि किसी तरह ऐसा प्रबंध किया जा सके कि लीग में संसार भर की जनता शामिल हो और तब तक शामिल रहे, जब तक एक भाषा की जानकारी न प्राप्त कर ले तो विश्व भाषा के विकास में संभव है, कुछ अधिक सरलता मिले। लेकिन फिर भी हमारे देश के उन करोड़ों मूर्खों, असभ्यों की क्या दवा की जाएगी जो किसी तरह टूटी-फूटी हिंदी तो बोल लेते हैं पर अंग्रेजी सात जन्म में भी नहीं बोल सकते। विश्व भाषा की वेदी पर क्या इन निरक्षरों की बलि चढ़ाई जा सकेगी?

महात्माजी ने कांग्रेस की ओर से हिंदी की जो हिमायत की है वह एक मात्र राष्ट्रीय है। न तो वह प्रांतीय है और न अंतर्राष्ट्रीय। इस तत्व को समझना चाहिए। इसके साथ संकीर्ण प्रांतीय अथवा अतिव्याप्त अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न खड़ा करना न्यायोचित नहीं है। यह भाषाशास्त्र अथवा साहित्योत्कर्ष का प्रश्न भी नहीं बनाया जा सकता। इसका वास्तविक अर्थ न समझना महात्माजी और उनके संपूर्ण राष्ट्रीय उद्योगों के प्रति अपनी नासमझी साबित करना है। *इंडियन सोशल रिफार्मर* के संपादक श्री के. नटराजन महोदय ने भी तकरीर पेश की है और धमकी-सी दी है कि यदि गांधीजी हिंदी के लिए इतना आग्रह करेंगे तो समस्त दक्षिण भारत कांग्रेस से अलग हो जाएगा। मिस्टर नटराजन समझते हैं कि एक भाषा के ही धागे में समस्त देश कांग्रेस से संग्रथित है। यह बड़ी ओछी धारणा है। जिन विकट आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न को लेकर कांग्रेस की आस्था है, मिस्टर नटराजन उस ओर ध्यान ही नहीं देते। आज समस्त देश के कोटिशः निवासी कांग्रेस को अपनी मुक्ति का साधन समझते हैं, उससे एकाकार होकर परम लाभ मानते हैं। पर नटराजन महोदय उस अटूट संबंध को भाषा का छोटा-सा झगड़ा खड़ाकर तोड़ डालना चाहते हैं। यह कैसे टूट सकता है? कांग्रेस के अधिवेशनों की भाषा चाहे जो हो, हम कहते हैं कांग्रेस के अधिवेशन हों या न भी हों, जब तक वह लक्ष्य जीवित है, जब तक वह कार्यक्रम व्यवहार में लाया जा रहा है, जिसके लिए कांग्रेस का अस्तित्व है, तब तक भाषा का सवाल निहायत साधारण सवाल है। हिंदी की हिमायत में महात्मा गांधी राष्ट्रीय शक्ति का विकास देखते हैं पर मिस्टर नटराजन ठीक उसके विपरीत उससे उत्तर और दक्षिण भारत के संबंध विच्छेद की कल्पना करते हैं। महात्माजी के राष्ट्रीय उद्योग का यह कितना नग्न व्यंग्य है।

हमने यहां जो थोड़ा-सा विचार किया है, पाठक देखेंगे वह केवल राष्ट्रीय और राजनीतिक दृष्टि से किया है। हम जानबूझकर साहित्यिक और भाषा संबंधी विवाद में नहीं पड़े हैं, पर आवश्यकता पड़ने पर हिंदी इस दृष्टि से भी अपनी वकालत कर सकेगी।

मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना–5

हमारा मतलब समझने में भ्रम नहीं किया जा सकता। हम यह नहीं कहते कि असामान्यता और नवीनता काव्य-साधना की वस्तुएं नहीं हैं। जो नित्य नवीन है, जो असाधारण है, जो विराट

है, कवि की नित्य नवीन, असाधारण एवं विराट भावनाएं उसकी ओर तो खिंचेंगी ही। यह साम्य की प्रेरणा मनुष्य में स्वभाव सिद्ध है, इसी में उसकी अक्षय तृप्ति निहित है। अनुरूप अनुरूप की ओर आकर्षित होते हैं, भिन्नताएं भी यथासंभव एकता के लिए लालायित रहती हैं। यह नितांत मानवीय धरातल है। यहां कोई आतंकपूर्ण अलोक-सामान्य बात नहीं कही जा रही। जो 'कविमनीषी' विश्व दृष्टि बनने के लिए कल्पना के पर लगाकर आकाश में उड़ते हैं अथवा जो धीमान 'काव्यशास्त्र विनोदेन' कालयापन किया करते हैं, यहां उनका प्रसंग नहीं आया हुआ है। उन सबके लिए तो अलग से गुंजाइश करनी पड़ेगी। इस अवसर पर हम बिलकुल हमारी-आपकी सी बातें कर रहे हैं। वे ऋषि-मुनि भी रहे होंगे पर मनुष्य तो वे निश्चय ही थे जो आदिम अनादि युग में जल राशि का तरंगित प्रसार देखकर, वाणी का अशेष वैभव देखकर, उषा की चिर नवीन ज्योति देखकर मोहित हो गए थे। जरा विश्लेषण करके देखिए इन तीनों निदर्शनों में सत्य, शिव और सुंदर का ही समन्वय मिलेगा। इसे आदि वैदिक काल का स्वभाव सिद्ध, पूर्ण मानवीय समन्वय समझिए। हमारे देवता थे वरुण, सरस्वती, उषा। इन्हीं की स्तुति, इन्हीं की अर्चना की गई थी। आदि सृष्टि के इस प्रथम जाग्रति गान में नवीन और असाधारण के प्रति अत्यंत लयकारी अभिरुचि देखकर आत्मा को तृप्ति मिलती है। इसलिए हम मनुष्यों के लिए वह युग अर्हणीय, अभ्यर्थनीय बन गया है। पर क्या जैनेंद्र कुमारजी के ऊपर के विवरण में भी ऐसी ही अभिरुचि है?

असल बात यह है कि आज-कल हम लोग मनुष्य की श्रेणी छोड़कर देवताओं की कक्षा में पहुंच रहे हैं और वहां भी आदरणीय स्थान के अधिकारी बन रहे हैं। नर-नारायण का जो संबंध *गीता* के अर्जुन और कृष्ण में प्रदर्शित हुआ है हम लोग उससे कहीं आगे बढ़ चुके हैं। सच तो यह है कि आए दिन प्रत्येक सभा-सोसाइटी में विश्वरूप और विराटरूप के द्रष्टा कितने ही सव्यसाची मौजूद रहते हैं जिन्हें देखकर अब ईर्ष्या उतनी नहीं होती, जितनी द्वापर के उस 'प्रव्यथित' 'धृतिहीन' महाभारत विजयी पर दया आती है। कभी-कभी तो *सुदुर्दर्श- मिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥ नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥*[1] आदि गीता काव्यों में भी गलतफहमी-सी जान पड़ते लगती है। सचमुच हम लोग द्वापर को कितना पीछे छोड़ आए हैं! आज जो विराट चित्र देखे-सुने जाते हैं उसमें

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं
ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्,

के दर्शन भले ही न मिलें पर ऊंच-नीच, रीति-नीति, सभ्यता की गणनातीत श्रेणियों और विभेदों के भीतर एक चिर (!) साम्य का साक्षात्कार अवश्य करते हैं। इस विचार से यह युग सचमुच बधाई और धन्यवाद का पात्र है।

1. *गीता*, 11/52.53।

दुर्भाग्य कहिए अथवा सौभाग्य कहिए हमारे कवि मैथिलीशरणजी को इस प्रकार का अलौकिक साक्षात्कार नहीं होता और शायद इसकी उन्हें विशेष आकांक्षा अथवा रुचि भी नहीं है। महाकवि रवींद्रनाथ ने कृपा करके पं. बनारसीदास चतुर्वेदजी को इंटरव्यू का थोड़ा-सा मौका अभी हाल में दिया था। महाकवि ने बड़ा अच्छा किया जो इस थोड़े समय के अंदर दो बहुत ही जरूरी बातें बतला दीं और *विशाल भारत* के पृष्ठों में उनका प्रकाशित होना तो और भी अच्छा हुआ। एक बात तो यह थी कि कबीर का कोई प्रभाव *गीतांजलि* में नहीं है क्योंकि *गीतांजलि* के लिखने के समय तक उन्होंने कबीर का अध्ययन नहीं किया था। इससे बहुत- सी गलत-फहमी दूर हो जाएगी। पर दूसरी बात और भी अधिक महत्वपूर्ण है। महाकवि की यह धारणा थी कि आधुनिक हिंदी कविता अलंकारों और शब्द चमत्कारों में फंसी हुई है पर पीछे से उन्हें यह सूचना दी गई कि अब हिंदी में भी महत्वपूर्ण रचनाएं होने लगी हैं और बांग्ला की, विशेषकर उन (रवि बाबू) की ही कृतियों का अच्छा अनुकरण किया जा रहा है। रवि बाबू का यह रिमार्क अत्यंत मार्मिक था कि उनकी (श्रेष्ठ) कविता बहुत-सी निकृष्ट कविता की उत्पत्ति का कारण हुई है। हम होते तो कहते कि आपकी कविता ने तो नहीं पर आपके विश्ववाद ने हिंदी के क्षेत्र में बड़ी कीर्ति फैला रखी है। यह भी कहते कि महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन ने खैरियत की, नहीं तो हमारे यहां का प्रत्येक साक्षर व्यक्ति आज देशकाल के अखंड बंधनों को तोड़कर विश्व प्रेमी नहीं तो अर्द्ध विश्व-प्रेमी तो अवश्य बन गया होता और संभव है कि मेहनत की बचत से संसार की उलझन भी कुछ अधिक सुलझ गई होती। दिन रात का चरखा न लगा रहता और पिछले वर्ष भर की जयजयकारों की हुल्लड़बाजी न सुन पड़ी होती। निश्चय ही यहां महाकवि रवींद्रनाथ के संबंध में कुछ नहीं कहा जा रहा। केवल भारत की आधुनिक स्थिति में उनके उदात्त आदर्शों के क्रियात्मक रूप की कल्पना की जा रही है, वह भी मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना का प्रसंग लिये हुए। पं. बनारसीदास चतुर्वेदीजी मैथिलीशरणजी का नाम लेकर उस अवसर पर हिंदी की स्वतंत्र गति की थोड़ी सी हिमायत कर सकते थे पर जैसाकि उन्होंने कहा है, महाकवि को अवकाश कम रहता है।

मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना बिलकुल स्वदेशी ढंग की है। उसका मेल महाकवि रवींद्रनाथ से नहीं मिलता। महात्मा गांधी से मिलता है। हमें यह पथ अच्छा भी लगता है। रवि बाबू का काव्य प्रवाह उन्मुक्त होकर दिग्दिगंत में प्रसारित होता है। उनका मस्तक अपनी साधना में उत्तम, अपने गौरव से दीप्तिमान हो रहा है। युगों के उपरांत भारत ने ऐसा दिग्विजयी कवि प्राप्त कर अपने को धन्य माना है। यूरोप में रवि बाबू का आतंक पूर्व के मध्याह्न सूर्य की भांति छाया हुआ है। उन्होंने समुद्र-समीर में गंभीर मंगल ध्वनि सुनी है, नीलांबर उनकी 'विश्वविजयिनी' कविता कामिनी का अंचल प्रांत बनकर कृत-कृत्य हुआ है। उन्होंने विश्व-प्रिया की उज्ज्वल आभा में समस्त क्षुद्रता तिरोहित कर दी है। दासत्व का संपूर्ण कलंक-तिलक धो डाला है।

बेचारे मैथिलीशरणजी इतनी स्पर्द्धा नहीं कर सकते। उनकी साधना ही वैसी नहीं। वे

दीन दरिद्र भारत के विनीत, विजयी और नतशिर कवि हैं। कल्पना की ऊंची उड़ान भरने की उनमें शक्ति नहीं है। किसी पर उनका कोई आभार नहीं, कोई आतंक नहीं। वे रवि बाबू की भांति विश्व की अद्वैत सत्ता को पहचान नहीं पाते, यही आधुनिक भारत की भी गति है। वे महापुरुष की भांति आज्ञा देकर नहीं भिक्षार्थी की भांति आंचल पसार कर तृप्ति चाहते हैं। उनकी करुण मूर्ति आधुनिक विपन्न और तृषित भारत को बड़ी ही शांतिदायिनी हुई है। सामूहिक आकांक्षा का यह मार्मिक चित्र वर्तमान भारत का एक संवेदन-शील कवि ही अंकित कर सकता था—

निकल रही है उर से आहः
ताक रहे सब तेरी राह
चातक खड़ा चोंच खोले है,
संपुट खोले सीप खड़ी
मैं अपना घट लिये खड़ा हूं
अपनी-अपनी हमें पड़ी
सबको है जीवन की चाह
ताक रहे सब तेरी राह

मैथिलीशरणजी की वास्तविक काव्य-साधना सामूहिक आकांक्षाओं के प्रदर्शन की ही है। इसमें हमें कोई संदेह नहीं। *भारत-भारती* के प्रथम पद में ही आर्य-जनों की आरती उतारने और भारती के गूंजने की जो कामनाएं हैं, वहीं से कवि की साधना समूह-मुखी हो चली है। ऐसे ही वह निरंतर बनी भी रही है। इस साधना का परिमित होना स्वाभाविक ही नहीं, अवश्यंभावी भी है। इसके लिए न मैथिलीशरणजी को कुछ पश्चात्ताप है और न होना चाहिए। जीवन की सफलता प्रयास में है, उद्योग में है। यही प्रयास नित्य है, यही उद्योग अनंत है। इसी की बदौलत जीवन भी अनंत माना गया है। हमें यह देखकर अत्यंत आनंद होता है कि मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना निश्चित गति से जिस पथ पर अग्रसर हुई है, उस पर बहुत कुछ व्यवसायात्मिका होकर चली जा रही है। हिंदी के भविष्य के लिए यह आशा ज्योति हमें बड़ी ही उज्ज्वल और मनोहारिणी लगी है।

(सोमवार, 18 मई 1931)

रवि बाबू का संदेश

अपनी सत्तरवीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में महाकवि रवींद्रनाथ ने अपने देशवासियों के नाम जो संदेश भेजा है, एसोसिएटेड प्रेस के साधन से वह दूर-दूर पहुंच गया है। देशवासियों के हृदय में उससे किस प्रकार की भावनाएं उठीं, यह अनुमान लगाना सरल काम नहीं है। यदि संख्या

पर विचार किया जाए तो थोड़े से तत्वज्ञ मनीषियों को छोड़कर करोड़ निरक्षर, अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों ने तो इतना ही समझा होगा कि महाकवि चरखा चलाना मना करते हैं, तिरंगा झंडा फहराने का निषेध करते हैं और 'वंदेमातरम्' का गान बंद कर देने का आदेश देते हैं। इन सबके बदले रचनात्मक कार्य करने और लोक-सेवा में लाने आदि का उपदेश महाकवि के संदेश में है पर यह इतना अनिश्चित कार्यक्रम है कि इसका अर्थ सामान्य जनता की निगाह में कुछ समझ में नहीं आ सकता। जो समूह चिरकालीन प्रेरणाओं की शक्ति से किसी तरह चरखा चलाकर जीवनयापन करने और पताका फहराकर सजीवता बनाए रखने को तैयार किया गया है, उसके लिए महाकवि का संदेश अवश्य ही धक्का पहुंचाने का कार्य करेगा, अनिष्ट करेगा। कुछ अपनी विकट आर्थिक और राजनीतिक अवस्था से छुटकारा पाने के लिए, कुछ महात्मा गांधी जैसे तपस्वी लोकनेता के आज्ञापालन के लिए और कुछ हृदय की आशावृत्ति की तृप्ति के लिए देशवासी चरखा चलाकर दरिद्रनारायण का आह्वान करते थे और झंडा लेकर चैतन्य सत्ता बनाए रखते थे। महाकवि के संदेश ने उनकी वृत्ति छीन-सी ली है। 'वंदेमातरम्' का जो गायन आए दिन बालकों के, महिलाओं के और नवयुवकों के हृदय के इतने समीप था, वह दूर कर दिया गया है। जो तत्वज्ञानी नहीं हैं, भावनाजीवी हैं, उन्हें महाकवि के संदेश से शिथिल और निराश होना पड़ेगा।

आश्चर्य तो यह है कि महाकवि ने इसी अवसर पर 'मैं क्या हूं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह बतलाया है कि मैं न तो तत्वज्ञानी हूं, न दार्शनिक, मैं हूं केवल कवि। कवि भावनाओं का भक्त होता है। सौंदर्य की निवृत्ति उसकी विशेषता होती है। वह शब्दों, ध्वनियों, आदर्शों और कल्पनाओं के रुचिर स्वप्नलोक में निवास करता है, व्यावहारिक जगत की कठोरता उसे अधिक स्पर्श नहीं करती। महाकवि ने इतने दिनों तक काव्य-साधना की है और वे विश्वविजयी कवि स्वीकार किए गए हैं। यद्यपि महाकवि के अंग्रेज आलोचक डॉक्टर थामसन साहब ने समीक्षा की है कि रविबाबू में रंगों की बारीकी पर पुलकित होने और मग्न होने की प्रवृत्ति उत्कृष्ट अंग्रेज कवियों की-सी तो नहीं है फिर भी यह तो निस्संशय स्वीकार करना पड़ेगा कि वे रंगों के संयोग और समन्वय को उतने सचेतन भाव से अवश्य देखते हैं जितना साधारण व्यक्ति कभी देख नहीं सकता। परंतु रविबाबू को भारत के तिरंगे झंडे ने विशेष आकर्षित नहीं किया। ध्वनियों के तो रवि बाबू आचार्य हैं। शब्द-संगीत के उनके जैसा मार्मिक स्रष्टा संसार में बहुत थोड़े हुए हैं। थामसन साहब ने भी रवि बाबू की इस कवि वृत्ति की प्रशंसा भूरि भूरि की है। चरखे की गति से जिस अत्यंत एकांत, घरेलू संगीत की सृष्टि होती है, महाकवि को वह अवश्य रुचता होगा। पर सत्तरवें वर्ष का संदेश देते हुए जान पड़ता है, उनके कानों में कलकत्ते का कोलाहल ही अधिक व्याप्त हो रहा था। 'वंदेमातरम्' को बदलकर 'वंदेभारतम्' का गायन करने में अवश्य ही महाकवि राष्ट्र के पौरुष का प्रवाह उमड़ता देखते हैं और पिछले वर्ष के विकट संघर्ष के बाद वैसी भावना स्वभावतः उत्पन्न भी होती है। पर चिरकाल से हमारे देश ने शक्ति की मातृ-मूर्ति को ही अपनी भावनाओं की पुष्प राशि चढ़ाई है और वे संस्कार हममें अच्छी तरह व्याप्त हो गए हैं। हम महाकवि का आशय समझते हैं, पर हमारा निवेदन

है कि वे भी हमारी परंपरा की ओर ध्यान दें। पिछले संग्राम की मातृशक्ति के विकट उन्मेष का स्मरण कर 'वंदेमातरम्' का मेरा ध्यान हमें तो आसानी से भूल नहीं सकता। 'वंदेभारतम्' के स्थान में 'वंदेभारतम्' का आविष्कार करने से महाकवि की विश्व भावना को लाभ नहीं पहुंचता, हम समझते हैं, क्षति ही पहुंचती है।

यह तो काव्यभावना और कवि-कल्पना की दृष्टि से कहा गया। यद्यपि रविबाबू पहले कवि हैं, पीछे और कुछ हैं, फिर भी कवि सत्ता के बाहर भी उनकी एक सत्ता है, यह भी हम मानते हैं। मनुष्य प्रतिक्षण कवि ही नहीं रहता। वह विचारक, आलोचक और तत्वदर्शी भी होता है। जीवन के वर्ष ज्यों-ज्यों व्यतीत होते हैं त्यों-त्यों मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि ही उस पर अधिकार जमाती जाती है। यौवन की तरंग प्रौढ़ावस्था के प्रशांत-महासागर में पहुंचकर विलीन हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। महाकवि के सत्तर वर्ष पूरे हो गए हैं। पिछले वर्ष भर उन्हें विदेशों में रहना पड़ा और भाषण आदि की तैयारी करनी पड़ी। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहा। ऐसी अवस्था में रविबाबू की निसर्ग सिद्ध, प्रसन्न काव्य भावना की धारा कुछ मंद पड़ गई हो तो यह कुछ अस्वाभाविक नहीं। हम स्वीकार करते हैं कि हम उनके संदेश में इसकी स्पष्ट झलक देखते हैं।

उनके संदेश में यह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि वे आधुनिक राष्ट्रों की कठोर प्रतिद्वंद्विता और प्रतियोगिता से अत्यंत क्षुब्ध हुए हैं। संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के संपर्क में आ रहे हैं, परंतु इसका फल अब तक अच्छा नहीं हो रहा। वैज्ञानिक आविष्कारों की शक्ति से बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों पर अधिकार जमाना चाहते हैं। बड़े राष्ट्रों की साम्राज्य तृष्णा से अवश्य ही महाकवि की विश्व सहयोग की भावना को कष्ट पहुंचा है, परंतु फिर भी उनका अपार आशावाद उन्हें धृतिहीन नहीं होने देता। वे चाहते हैं कि संसार के सब राष्ट्र एक-दूसरे का सहयोग करें, एक-दूसरे के गले मिलें। उनका संदेश है कि भारत भी इस बात को भूले नहीं। भारत इस समय अपनी भाग्य की लिपि ठीक कर रहा है, उसकी मुक्ति के साथ मानव-समाज की मुक्ति का घनिष्ठ संबंध है। रविबाबू यहां आग्रह करते हैं कि भिन्न-भिन्न जातियों और संस्कृतियों के समीकरण का आदर्श भारत को सदा-सर्वदा याद रखना चाहिए। महाकवि के इस उदात्त आदर्श को उनके देशवासी जितना ही अधिक ग्रहण कर सकें, लोक-कल्याण की दृष्टि से उतना ही शुभ होगा। पर यहां भी व्यावहारिक प्रश्न बड़ा जटिल है। साम्राज्यलोभी शासक सत्ता के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते। शक्तिहीन, साधनहीन शासित देशों को विवश होकर राष्ट्रीय संघटन करने पड़ते हैं और मनुष्यता का घेरा संकीर्ण कर देना पड़ता है। यह कोई शौक नहीं है और न कम से कम भारत की यह कोई स्थायी मनोवृत्ति है। यह परिस्थिति का परिणाम है जिसका उत्तरदायित्व शासकवर्ग पर ही सबसे अधिक है। परंतु रवि बाबू ने अपना यह संदेश अपने देशवासी के प्रति दिया है। इसलिए इसमें उन्होंने उन्हीं के वक्तव्य का संकेत किया है। समस्त संसार की निरस्त्रीकरण परिषद् आदि के जो आशाप्रद विधान सुन पड़ रहे हैं और ब्रिटेन तथा भारत के संबंध का जो न्यायोचित, मानवोचित निर्णय होने के लक्षण दीख पड़ रहे हैं, उनका प्रभाव महाकवि की महान आशावादिता पर अवश्य

पड़ा होगा और उन्होंने सच्चे 'कविर्भगवो' की भांति आर्य जाति के भविष्य पथ का निर्देश किया है। आज नहीं तो निकट भविष्य में हम महाकवि के संदेश के इस अंश का महत्व अवश्य समझेंगे क्योंकि इसमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति का चरम आदर्श अंतर्निहित है, जिसे हम अपने कल्याणार्थ कभी भूल नहीं सकते।

सदाचार संबंधी सजीव और निर्जीव भावना

'मैथिलीशरणजी की काव्य-साधना' शीर्षक *भारत* के उन्हीं स्तंभों में निकली हुई पिछली लेखमाला के चौथे और पांचवें अंकों में सदाचार संबंधी निर्जीव भावना का उल्लेख किया गया है और संयोगवश हमारे मित्र श्री जैनेंद्र कुमारजी का नाम भी उसके साथ जुड़ गया है। हम यह स्वीकार करते हैं कि जैनेंद्रजी का नाम जोड़े बिना भी हमारा काम चल सकता था क्योंकि उस निर्जीव भावना का संबंध जैनेंद्रजी से ही नहीं है और न वे उसके आविष्कारक हैं। जैसाकि बहुतों को मालूम है यूरोप की वर्तमान वाक् बाहुल्यप्रिय बहिर्मुखी सभ्यता की देवोत्थापनी एकादशी ने हमारे तैंतीस करोड़ देवताओं में (इतनी ही यहां की आबादी है) नई हलचल पैदा कर दी है, जिसके कारण जैनेंद्रजी के ही शब्दों में पर्याप्त से अधिक सजीवता का दौरदौरा दीख पड़ने लगा है। जैनेंद्रजी ही नहीं, उनसे बहुत बड़े-बड़े लोग इस संजीवन के साखी हो रहे हैं। अभी उस दिन की बात है प्रसिद्ध अंग्रेज साहित्यकार और 'मनीषी' मिस्टर एच.जी. वेल्स ने एक पत्र प्रतिनिधि से बातचीत करते हुए ठीक वही घोषणा की है जो जैनेंद्रजी चाहते हैं। कोई क्या करे सदाचार संबंधी नियमों को अधिक उदार (?) बनाकर ही, जो अपनी दिव्यदृष्टि और विश्व भावना का परिचय देना चाहते हैं वे यदि सदाचार को जैनेंद्रजी की तरह सत्य न मानकर, समझौता, लेन-देन और व्यवहार बट्टे की किस्म की चीज समझें तो इसमें हमें तो कुछ भी आश्चर्य नहीं होता। परंतु जहां सब-कुछ समझौते पर ही आकर टिका रहता है सजीवता कितनी है, यह समझने में ज्यादा आगा-पीछा करना बेकार है। जैनेंद्र कुमारजी ने हमारी उपर्युक्त लेखमाला का अंतिम खंड पढ़ने के पहले ही अपना 'सदाचार विवाद' *भारत* से 'निकल जाने देने' के लिए भेज दिया है। हम अपने मित्र के आग्रह को टाल नहीं सकते, पर हमारा निवेदन है कि आद्योपांत पढ़कर भी यदि वे हमारे साथ न्याय न कर सकें तो कम से कम अपने समझौते पर तो अन्याय न करें।

सदाचार-व्रत का आचरण, सत का व्यवहार, स्पष्टतः गतिशील कृतिशील अर्थ का द्योतक है। सदाचार सत्य की साधना, सतत, अप्रतिहत साधना है। असत के साथ इसका चिरकालीन, अनंत संघर्ष चल रहा है। इसे समझौता करने की फुर्सत कहां हैं जो यह समझौता करे। यह असत से तो समझौता क्या करेगा, सत से भी कभी नहीं करता है। विराम का कहीं नाम भी नहीं है—कल्पना तक नहीं है। यदि इसकी कुछ भी व्याख्या की जा सकती है तो वह याद की जाएगी कि सदाचार प्रतिक्षण सत्य है, पूर्ण निर्विकल्प सत्य। यहां पूर्ण निर्विकल्प आदि शास्त्रीय

शब्द नहीं हैं। यहां ये संपूर्ण मानवीय अर्थ रखते हैं। परंतु जैनेंद्रजी की सदाचार संबंधी भावना समझौता करके ही संतोष कर लेती है। वे देशकाल के घेरे में सदाचार को डालकर स्वयं बड़े बनने और उसे छोटा बनाने का उपक्रम करते हैं, यह भी उनकी समझौता नीति के अनुकूल ही समझ पड़ता है। परंतु न सत्य और न सत्य का आचरण कभी देश-काल के घेरे में बांधा जा सकता है। महात्मा बुद्ध से गांधी तक के उदाहरण लेकर देखें, देशकाल के बंधेज सर्वत्र टूटे हुए दीख पड़ेंगे। बुद्ध का धर्म केवल सदाचार की शिक्षा है, फिर भी आज उस पर आधी दुनिया की आस्था है और सारे संसार की सहमति है। जैनेंद्र कुमारजी ने एक अनोखे ढंग से गांधीजी का उदाहरण लिया है। उन्होंने उनके उस आदेश की आवृत्ति की है जिसमें राक्षस को नितांत राक्षस न समझने की बात है। इतने से तो काम नहीं चलेगा। स्वर्गीय भगत सिंह और सुखदेव जैसों के आचरण को गांधीजी ने आततायी और अपरिणामदर्शी का आचरण बतलाया है। यहां गांधीजी किसके साथ समझौता कर रहे हैं? राक्षस के साथ या देवता के साथ? समझौता कैसे कर सकते हैं?

एक मित्र की हैसियत से जैनेंद्रजी सलाह देते हैं कि हम खुले दिल और खुले दिमाग से इस प्रश्न पर विचार करें और उस समझौते तक पहुंचें जहां तक वे पहुंचना चाहते हैं। भय और मोह का त्याग कर देने की भी उनकी सलाह है। यह पिछली बात कितनी मधुर परंतु कितनी कठिन है, इसे हम ही नहीं, जैनेंद्रजी भी समझते होंगे। यदि मनुष्य इस तरह जब जी चाहता त्याग सकता तो अब तक दुनिया पार लग गई होती। एक दिन सोकर उठें और मोह, भय से रहित, दंभ से दूर पूर्ण चेतन बन जाएं तो फिर क्या कहना है। जैनेंद्रजी यदि किसी तरह इस प्रकार का समझौता करा सके तो हम उनका-सा मित्र पाकर कृतकृत्य हो जाएं। महात्मा खीष्ट ने अपने अनुयायियों को कुछ इसी प्रकार का विश्वास दिला रखा है पर अभी तो वह दिन आया नहीं। जब दुनिया का अंत हो जाएगा, तब वह दिन आएगा। वह प्रलय के दिन के बाद की बात होगी। उसे हममें से कोई देख-सुन नहीं सकेगा। ईश्वर का पुत्र सब ईसाई भाइयों के लिए अपने पिता से क्षमा मांगेगा और उन सबको मुक्ति मिलेगी। पर उस मुक्ति की इंतिजारी में अभी से सब काम-धाम कैसे बंद कर दिए जाएं। जिस मोह, भय, दंभ आदि से संयुक्त हमारा अस्तित्व है उसे सहसा कहां छोड़ सकेंगे। जैनेंद्रजी हमारा हाथ पकड़कर उबार लें तो दूसरी बात है, नहीं तो अभी हमें बहुत दिनों तक इसी समझौता विहीन प्रदेश में रहना लिखा है। मित्रता जैनेंद्रजी को बुरी न लगे तो हमें भी अपनी वह स्थिति बुरी नहीं लगती।

यह तो ठीक ही है कि जहां समझौता होगा, वहां विवाद स्थित होंगे, समझौते की मियाद देश-काल के भेद रहेंगे और साथ ही मिस मेयो भी आ धमकेगी। इसमें जैनेंद्रजी का कोई दोष नहीं है। वे तो उनकी परिभाषा से स्वतः उद्भूत होकर आवेंगे ही। संतोष इतना ही है कि समष्टि की सदाचरण शक्ति इतनी क्षीण नहीं हो गई है कि यह मिस मेयो जैसी अबलाओं का भार भी सहन न कर सके। परंतु यदि सदाचार का युग-युगांतरों में हिस्सा-बांट जैनेंद्रजी

की स्कीम के मुताबिक होता रहा और प्रत्येक समझौते में बंटवारे की नीति ही काम करती रही तो आगे चलकर आपदा की आशंका हो सकती है। पर अभी तो कलियुग का प्रथम चरण ही चल रहा है और इसी बीच में सतयुग के स्वागत की वीणावाणी सुन पड़ रही है। इस संदेश को सुनकर हमें तो सांत्वना ही मिलती है।

साहित्य में सदाचरण का एक परिमित स्थान ही हमें स्वीकार है। जिन मानसिक और शारीरिक साधनाओं की आधारशिला पर सदाचार की दिव्य मूर्ति निरंतर रची जा रही है, साहित्य में उसकी संपूर्ण प्रतिकृति तो मिल नहीं सकती। सदाचरण अंततोगत्वा अत्यंत अंतर्मुखी साधना है, साहित्य में अभिव्यक्ति की प्रधानता है। बड़े-बड़े मनीषियों ने मौन रहकर जिस शक्ति का संग्रह किया है, साहित्य उसे पूरा-पूरा तो कभी व्यंजित कर ही नहीं सकता। आधुनिक साहित्य तो और अधिक जीवन-निरपेक्ष अतः आचार-निरपेक्ष ही रहा है। तर्क की साधना के सामने आचरण की साधना कोई मूल्य नहीं रखती। अनेक महापुरुषों ने इसीलिए साधना की ऊंची-सी सीढ़ी में साहित्य का पल्ला छोड़ दिया है। ऐसी अवस्था में जैनेंद्रजी यदि सचमुच साहित्य के भीतर से उच्चतम निर्लिप्त आचार की झलक दिखाना चाहते हैं तो उनकी यह सदभिलाषा सर्वथा प्रशंसनीय है। वैसी सदाचरण की साधना भगवान सबको दे। अभी तक तो समाज का 'सु' और 'कु' रूप सदाचार-विधान की जो दवा तजवीज करता है वह जैनेंद्रजी बिलकुल ठीक कहते हैं—राक्षस को अभियुक्त और कैदी बना देता है, उसे फांसी और नरक तक भेज देता है। वैयक्तिक सदाचरण और सामाजिक सदाचार-विधान में जो अवश्यंभावी विभेदँ पड़ जाता है, जैनेंद्रजी उसे मिटा देना चाहते हैं। यह एक जटिल व्यावहारिक प्रश्न है जिसका निर्णय करने में आज सभ्य संसार की शक्ति लग रही है। यदि जैनेंद्रजी भी इस निर्णय में किसी तरह सहायक हो सकें तो यह उनके लिए बड़े गौरव की बात होगी। यह अवश्य सामाजिक सदाचार संबंधी सजीव भावना है।

राक्षस का राक्षसत्व छुड़ाकर उसे आदमी बनाने के लिए सदाचारी साहित्य क्या दवा तजवीज करता है? इसका उत्तर जैनेंद्रजी व्यंग्य भरे शब्दों में इस तरह देते हैं—'चोर को चोर कहना, झूठ को झूठ और पाप को पाप कहना और जहां मौका मिले उन्हें इन विशेषणों और लांछनों से दाग देना और उन्हें उपदेश देना और इससे कभी न चूकना 'सदाचार' की निर्मित और नियमित ओषधि यही है।' जान पड़ता है, यहां जैनेंद्रजी का आक्षेप केवल अभिव्यंजना शैली से है। नाक तो पकड़नी ही है, वे एक नए तरीके से पकड़ना चाहते हैं। दुनिया नवीनता पसंद करती है और हम भी उसका स्वागत करते हैं। हमारे साहित्य के पिछले जमाने में जो रूढ़ियां बंध गई थीं, जैनेंद्रजी उन्हें तोड़ने में योग दें। यह हम हृदय से कामना करते हैं। हमें विश्वास है कि जैनेंद्रजी ने 'सदाचारी-साहित्य' का उत्तरकालीन प्रकाशन प्रणाली पर ही आक्षेप किया है, अपनी समझौता नीति के द्वारा झूठ को सत्य, पाप को पुण्य आदि सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की।

(सोमवार, 25 मई 1931)

बहिष्कार और ब्रिटेन

जब से भारतवर्ष में विदेशी माल के बहिष्कार का आंदोलन हुआ है, तब से यूरोप के अनेक राष्ट्रों के व्यापार—खासकर कपड़े के व्यापार—को धक्का लगा है। अमेरिका, फ्रांस, जापान, जर्मनी, चीन आदि भी इस विदेशी वस्त्र बहिष्कार के आंदोलन में किसी दर्जे तक हानि उठा चुके हैं। कहना न होगा कि भारतवर्ष में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार से ब्रिटेन को सबसे अधिक हानि उठानी पड़ी है। यद्यपि यह आंदोलन सन् 1920 में भी हुआ था, विदेशी वस्त्रों का बायकाट किया गया था। परंतु इस सन् 1930 के आंदोलन से विदेशियों—खासकर ब्रिटेन—के व्यापार को जैसी हानि पहुंची है वैसी पहले नहीं पहुंची थी। इस आंदोलन में यह स्पष्ट रूप से देखा गया है कि स्वदेशी के प्रचार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के लिए भारत के अनेक दलों ने एकमत होकर इसका समर्थन किया। विदेशों में अनेक मिलें बंद हो गईं, कितने ही मजदूर बेकार हो गए और भारत में वस्त्र व्यापार की खास उन्नति हुई और देशी मिलों के बने हुए कपड़ों की अच्छी खपत हुई।

इसका परिणाम ब्रिटेन के व्यापारी समाज पर बहुत बुरा पड़ा। लंकाशायर और मैनचेस्टर जैसे ब्रिटेन के व्यापारिक केंद्रों की स्थिति डावांडोल हो गई। सैकड़ों मिलें बंद हो गईं और बेकारी इतनी बढ़ गई कि स्थिति को काबू में लाने के लिए ब्रिटेन के राजनीतिक दलों में काफी वाद-विवाद हुआ। हाउस ऑफ कामंस में इस प्रश्न पर काफी बहस हुई। हमें तो यहां तक पता चलता है कि शायद लार्ड इर्विन और महात्मा गांधी के बीच जो समझौता हुआ उसमें भी मूल कारण यही बहिष्कार ही है।

परंतु कभी-कभी ब्रिटेन के अनुदार दल के लोग आवेश में आकर भारत के इस बहिष्कार आंदोलन को एकदम कुचल देने की राय दिया करते हैं। उसमें संदेह नहीं है कि ब्रिटेन में मजदूर दल की कम से कम इतनी सहानुभूति भारत से अवश्य है कि भारत के व्यापार की उन्नति हो, खासकर लार्ड इर्विन ने भारत से विदा होते समय भारतीय व्यापार के संबंध में जो उदार विचार प्रकट किए थे उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि ब्रिटेन का उदार दल प्रांतीय व्यापार की उन्नति का समर्थन करता है और वह कम से कम अनुदार दल के सुझाए हुए मार्ग को ग्रहण करके बहिष्कार आंदोलन को कुचलने या नष्ट कर देने का प्रयत्न करने की इच्छा नहीं रखता। मालूम होता है, अनुदार दल वाले वे पिछले दिन भूल गए। उन्हें मालूम होना चाहिए कि यदि उनकी उसी प्रवृत्ति द्वारा भारत में लाठी कांड न होता, और तरह से दमन की प्रेरणा न की जाती तो उन्हें इस प्रकार से बहिष्कार आंदोलन को कुचलने की सलाह भारत सरकार को देनी ही न पड़ती। अनुदार दल की इस प्रकार की अनुमति का कोई मूल्य नहीं है और न ही कोई महत्व। हमारी जहां तक धारणा है मजदूर सरकार उनकी इस इच्छा को पूरी भी कर सकती है।

अभी कुछ दिन हुए लंकाशायर में भारतीय वस्त्र व्यवसाय के संबंध में विचार करने के लिए अनुदार दल के अस्सी सदस्यों की एक सभा हुई थी। उसमें मिस्टर बाल्डविन उपस्थित

नहीं हो सके थे। परंतु उन्होंने जो संदेश सभा में भेजा था उसमें कहा था कि भारत का जो भावी शासन विधान बने उसमें ब्रिटिश व्यापार के संबंध में अनुचित भेद रखने की रुकावट की व्यवस्था की जाए। इस संबंध में हमारा कहना यही है कि मिस्टर बाल्डविन की यह नीति अच्छी नहीं है कि ब्रिटेन के व्यापार की रक्षा के लिए भारतीय व्यापार का कोई मूल्य न समझा जाए और उसे नष्ट होने दिया जाए। कम से कम भारत के लिए जो शासन विधान बनेगा, उसमें हम यह चाहेंगे कि भारत के व्यापार के लिए द्वार खुला रहे। यदि मिस्टर बाल्डविन को या अनुदार दल के किसी भी सदस्य को अपने मुल्क में बेकारी बढ़ जाने का भय है और मजदूरों की रोजी का प्रश्न है तो उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि भारत में भी इस प्रश्न का ही अधिक जोर है। यहां आज भी सहस्रों मजदूर हाथ पर हाथ रखे हुए बैठे हैं और कितने ही निर्धन बिना पेट भर भोजन पाए ही अपना जीवन बिताते हैं। भारत में बेकारी का मसला इस दर्जे तक पहुंच गया है कि जब तक व्यापार को उन्नत न बनाया जाएगा, बेकारों को काम में न लगाया जाएगा, तब तक यह प्रश्न आसानी से हल नहीं हो सकता। इसी सभा में मिस्टर डेमेट्रायडी ने कहा था कि ब्रिटेन के व्यापारियों को भारत में व्यापार करने का अधिकार है। इसलिए जो शासन विधान बने उसमें उनके इस सत्य के संरक्षण की पूर्ण रूप से व्यवस्था होनी चाहिए। इस संबंध में हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। परंतु यह स्पष्ट है कि भारत का जो शासन विधान बनेगा उसमें भारतीय व्यापार के संरक्षण के बाद ब्रिटेन के व्यापार को संरक्षण दिया जाए। इसका अन्य कोई कारण नहीं है। हमें किसी के व्यापार के पतन पर अथवा उसके कुचलने की नीति का समर्थन नहीं करना है क्योंकि यह भारत की प्राचीन पद्धति ही नहीं है, परंतु कम से कम यहां की वर्तमान दरिद्रता, गरीबी और बेकारी को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय व्यापार की उन्नति में पूर्ण रूप से सहयोग दिया जाए। भारत में कितने ही पढ़े-लिखे लोग बेकार हैं। उन्हें कहीं काम नहीं मिलता, आखिर उनके लिए कोई न कोई व्यवस्था तो करनी ही पड़ेगी। लंकाशायर और मैनचेस्टर के व्यापारी यह समझ रहे हैं कि उनके व्यापार को जो हानि पहुंची है उसका मूल कारण भारत का बहिष्कार आंदोलन है। यह ठीक है क्योंकि इस आंदोलन में विदेशी वस्त्र के बहिष्कार पर खास तौर से जोर दिया गया था। इसलिए उनका ऐसा समझना अनुचित नहीं है। परंतु भारतीय वस्त्र बहिष्कार आंदोलन अब जनता का आंदोलन हो गया है। वह अब किसी खास व्यक्ति का आंदोलन नहीं है। इसलिए अनुदार दल समय-समय पर जो सम्मतियां भारतीय व्यापार को नष्ट करने को दिया करता है, यदि वह ऐसा न किया करे और सहयोग और समझौते से काम ले तो उसके लिए अधिक अच्छा हो। भारत में विदेशी-वस्त्र बहिष्कार आंदोलन की जड़ अब मजबूत हो गई है, स्वदेशी प्रचार को अपनी उन्नति का मूल साधन लोगों ने समझ लिया है। इसलिए यदि ब्रिटेन के व्यापारी चाहते हैं कि भारत से उनका संबंध रहे और आपस में व्यापार होता रहे और दोनों मुल्कों के व्यापारियों में सहयोग और सहानुभूति पैदा हो तो अनुदार दल अपनी उग्रनीति का त्यागकर शांति, सहयोग और प्रेम-भाव की नीति का अवलंबन करे। इसमें भारत और ब्रिटेन दोनों के व्यापार की रक्षा होगी और आपस का भेदभाव दूर होगा।

हिंदी साहित्य सम्मेलन–3

वर्तमान प्रगति किधर जा रही है
साहित्य सम्मेलन या चुनाव सम्मेलन
प्रेम, सहानुभूति और सहयोग की विशेष आवश्यकता

हिंदी साहित्य सम्मेलन हिंदी की एक सार्वजनिक और प्रतिष्ठित संस्था है। इसका जन्म राष्ट्र भाषा की सेवा के महान उद्देश्य से हुआ है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने यदि हिंदी की ठोस सेवा उत्तमोत्तम ग्रंथ प्रकाशित करके की है तो सम्मेलन ने प्रचार का कार्य करके हिंदी भाषा-भाषी जनता का काफी उपकार किया है। महात्मा गांधी, पूज्य मालवीय जी, रायबहादुर स्वर्गीय पं. विष्णुदत्त शुक्ल, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ऐसे देशभक्त और रायसाहब बाबू श्यामसुंदर दास, स्वर्गीय पं. श्रीधर पाठक, महामहोपाध्याय पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, स्वर्गीय पं. गोविंद नारायण मिश्र आदि साहित्यिक और विद्वान इसके भिन्न-भिन्न अधिवेशनों का सभापतित्व स्वीकार करके इसका गौरव बढ़ा चुके हैं। सुदूर दक्षिण प्रांत में जो आज हिंदी का प्रचार दिखाई दे रहा है उसका श्रेय भी इसी सम्मेलन को प्राप्त है। इस प्रकार जब सम्मेलन की स्थापना हुई है तब से प्रतिदिन इसकी उन्नति होती गई और हिंदी प्रचार उन्नतावस्था को प्राप्त होता गया। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने उसकी प्रारंभ से जैसी सेवा की और इसकी सफलता के लिए जो स्तुत्य प्रयत्न किया, वह किसी भी हिंदी प्रेमी से छिपा नहीं है। अस्तु।

परंतु आज लगभग 6-7 वर्ष से इसकी अवस्था में कुछ परिवर्तन-सा दीख पड़ने लगा। साहित्य प्रेमी भी इसके प्रति कुछ आपस में कानाफूसी करने लगे। आपस में घरेलू कलह उत्पन्न हो गई। हिंदी विद्यापीठ और मद्रास में हिंदी प्रचार के व्यर्थ के विवाद ने आपस में मतभेद उत्पन्न कर दिया। यों तो कानपुर के सम्मेलन के अवसर पर ही साहित्यिकों में फूट पैदा हो गई थी। परंतु दिन-दिन उसकी जड़ मजबूत होती गई और उसके परिणामस्वरूप आज हिंदी साहित्य सम्मेलन पारस्परिक मतभेद का केंद्र बन गया है। इसमें भी राजनीति संस्थाओं की भांति कूटनीति का साम्राज्य है, साहित्यिक सुरुचि, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग की कमी बेतरह खटकती है। सम्मेलन ने सबसे बड़ा काम मद्रास में हिंदी प्रचार का किया। परंतु महात्माजी ने जबसे उससे संबंध अलग कर लिया तब से सम्मेलन का प्रचार कार्य इस प्रकार से शिथिल हो गया। जिस समय पं. रामनरेश त्रिपाठी प्रचार मंत्री थे उस समय प्रचार का जो कार्य हुआ था, उसका आधा भी आज नहीं हो रहा है।

हिंदी साहित्य सम्मेलन में साहित्य, प्रबंध प्रचार, परीक्षा और अर्थ विभाग को यदि वास्तविक रूप से देखा जाए तो पिछले वर्षों में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। हां परीक्षा विभाग का काम अवश्य जारी रहा। सम्मेलन का साहित्य विभाग इतना शिथिल है और इतनी थर्ड-रेट की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं कि यदि उन्हें देखकर सम्मेलन की साहित्यिक उन्नति पर संदेह हो तो आश्चर्य नहीं। सम्मेलन पत्रिका की यह अवस्था है कि अनेक संपादक तबदील हुए।

यहां तक कि मासिक से त्रैमासिक निकलने लगी। परंतु तो भी उसका प्रकाशन ईद के चांद की भांति ही है। सबसे कठिन समस्या है रुपए की। यहां रुपए का एकदम अभाव है ' परीक्षा विभाग में अवश्य कुछ आमदनी होती है और उसी के सहारे इधर अन्य विभागों का भी खर्च चलाया जा रहा है। सम्मेलन में दो ही विभाग ऐसे हैं जिनसे आमदनी होती है। एक परीक्षा विभाग और दूसरा साहित्य विभाग। साहित्य-विभाग की पुस्तकों की बिक्री भी साधारण है, हां, परीक्षा विभाग की आमदनी प्रति वर्ष एक निश्चित रूप में अवश्य होती है।

सम्मेलन के मंत्रिमंडल के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक है। यहां प्रत्येक विभाग के मंत्री भी अवैतनिक रूप से होते हैं। वे जब चाहते हैं, आते हैं; जब चाहते हैं, नहीं आते। भिन्न-भिन्न विचार वाले भी होते हैं, इससे आपस के विचारों में मतभेद भी रहता है। इससे भी सम्मेलन के काम में अड़चन पैदा होती है। सबसे बड़ी बात, जिससे सम्मेलन के संबंध में लोगों में भ्रांत धारणा उत्पन्न होती है वह है बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन का स्पष्ट नीति को प्रकट न करना। टंडनजी सम्मेलन के सर्वस्व हैं, वे उसके ब्रह्मा और विष्णु हैं। यदि वे अपनी नीति स्पष्ट प्रकट कर दें तो सम्मेलन की अड़चन दूर हो जाए और मार्ग एकदम साफ हो जाए। परंतु यहां देखा गया है कि मंत्रियों में स्वयं मतभेद रहता है। जरा-जरा सी व्यक्तिगत बातों को लेकर विवाद और झगड़ा होता है कि यदि अमुक सज्जन मंत्री रहेंगे तो हम काम नहीं कर सकते आदि। लोग जबान से तो कहते फिरते हैं कि जो सबकी राय होगी। वही हमारी राय होगी। परंतु पेट में वे अपनी अलग ही धारणा बनाए रखते हैं। इससे लोगों को मंत्रिमंडल की वास्तविक नीति का पता नहीं चलता और वार्षिक अधिवेशनों पर स्टेज पर साहित्य के नाम पर दिल के फफोले फोड़े जाते हैं। यह बात मानी जा सकती है कि किसी भी संस्था पर एक दल विशेष का जोर रहता है और जो भी सार्वजनिक संस्था होगी उसमें दलबंदी रहेगी ही परंतु यहां जिस घृणित कुचक्र से काम किया जाता है यदि वह साहित्य के नाम पर न हो तो बड़ा अच्छा हो। साहित्य का काम आपस में ईर्ष्या, द्वेष, कलह का बीज बोना नहीं है वरन् प्रेम औदार्य और सहानुभूति का प्रचार उसका लक्ष्य है।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन होने को होता है तब खासकर ऐसे लोगों में जो उसके संपर्क में रहते हैं उनमें विशेष जाग्रति पैदा हो जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि चुनाव उनमें विशेष रूप से जीवन संचार कर देता है और इधर-उधर कान्वेसिंग भी करने लगते हैं। प्रत्येक चाहता है कि हमारा मंत्रिमंडल स्थायी रहे। यदि कोई मंत्री होता है तो वह चाहता है कि हम ज्यों के त्यों जमे रहें। परंतु इधर सम्मेलन के पास रुपए का टोटा है इसलिए मंत्री होने में भी लोग हिचकने लगे हैं। क्लर्कों की दुर्दशा का हाल न पूछिए। ज्यों-ज्यों वर्ष नजदीक आता जाता है त्यों-त्यों उनके मन में यह भावना उत्पन्न होने लगती है कि पता नहीं कौन मंत्री हो और वह हमको नौकर रखे या निकाल दे। इसी प्रकार की अनेक विवादास्पद बातें सम्मेलन में पैदा हो गई हैं जिससे हिंदी साहित्य सम्मेलन वालों को हिंदी साहित्य की सेवा करने का समय नहीं मिलता। क्योंकि उन्हें अपने मतभेदों और अपने पक्ष की रक्षा करने में काफी समय लग जाता है, इसी कारण से अनेक विद्वान और साहित्यसेवी

एक प्रकार से इसकी ओर से असंतुष्ट हैं और अपना संबंध विच्छेद कर रहे हैं।

जिस समय यह लेख पाठकों के सम्मुख आवेगा उस समय सम्मेलन का बीसवां अधिवेशन कलकत्ता में हो रहा होगा। हम कुछ सुधार सम्मेलन में चाहते हैं। यदि यह सुधार कर दिए जाएं तो सम्मेलन के अधिक कल्याण की आशा की जा सकती है।

(1) चार-पांच अच्छे निष्पक्ष विद्वानों और साहित्य सेवियों की कमेटी बनाई जाए जो इस बात की जांच करे कि सम्मेलन की जड़ खोखली क्यों हो रही है?

(2) परीक्षा विभाग का रुपया अन्य किसी विभाग पर खर्च किया जाए तथा परीक्षकों को उनके प्रश्नपत्रों के लिए कुछ किया जाया करे। नहीं तो वे बेगारों का काम करते हैं और मुफ्त के काम होते भी ऐसे ही हैं। 'साहित्यरत्न' परीक्षा में जैसा पहले यह नियम था कि 100 पृष्ठ के निबंध लिखने पर परीक्षार्थी को परीक्षा में शामिल होने की इजाजत मिल सकती है। वही नियम फिर लागू हो ज़ाए क्योंकि दर्जनों 'साहित्यरत्न' बनाने की अपेक्षा इने-गिने 'साहित्यरत्न' अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

(3) सम्मेलन का दरवाजा साहित्य सेवा मात्र के लिए खोल दिया जाए। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय का प्रश्न जरा भी न उत्पन्न किया जाए क्योंकि सम्मेलन की इस दुर्दशा को पहुंचाने वाला यही प्रधान प्रश्न है।

(4) क्लर्कों की नियुक्ति स्थायी कर दी जाए जैसाकि सरकारी दफ्तरों में होता है। कोई भी मंत्री आवे दफ्तर का काम बराबर चलता जाए।

(5) प्रकाशन विभाग का काम और उन्नत किया जाए। पुरानी और प्राचीन पुस्तकों का संपादन कराया जाए क्योंकि वर्तमान काल में चवन्नी वाली दर्जनों पुस्तकों के प्रकाशन से एक स्थायी चीज का प्रकाशित होना सम्मेलन के गौरव के अनुरूप है।

(6) परीक्षा विभाग में एक वेतन भोगी सरकारी परीक्षा मंत्री रखा जाए।

(7) मंत्रिमंडल में ऐसे मंत्रियों को चुना जाए जो प्रतिदिन सम्मेलन कार्यालय में आकर अपने काम का निरीक्षण करें। घर पर ही बैठे-बैठे हुक्म न चलाएं। लिखा-पढ़ी की फाइल पर केवल हस्ताक्षर ही न करें क्योंकि पिछले वर्ष अर्थ विभाग में 500 रुपए एक क्लर्क द्वारा गायब किया जाना ही इसका प्रमाण है।

(8) प्रचार कार्य करने के लिए अच्छे प्रचारक रखे जाएं।

(9) सहायक मंत्री भी रखा जाए। वह परिश्रमी और ऑफिस के काम का जानने वाला हो। उसका वेतन 100 रुपए से कम न हो।

यदि ये सुधार सम्मेलन में कर दिए जाएं तो आशा है कि इसका उद्धार होगा। यदि इसके सर्वस्व आदि इसको दलबंदी से बचाए रखना चाहते हैं तो अपनी नीति स्पष्ट कर दें। ताकि लोग अपना-अपना कार्य देखें क्योंकि किसी सार्वजनिक जीवन वाले के अनेक कार्य हैं और साहित्य सेवा के अनेक मार्ग हैं।

(शुक्रवार, 29 मई 1931)

शिमला, नैनीताल

शिमला और नैनीताल के पिछले कुछ दिनों के क्रियाकलाप को पाठकों ने बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा होगा। वहां क्या हुआ, इस सवाल का जवाब तरह-तरह के लोग तरह-तरह से दे रहे हैं। एक ओर तो विलायत के कट्टर गुमराह दल के लोग हैं, जिन्होंने एक इसी बात पर जमीन-आसमान एक कर रखा है कि शिमले की 'रिज' नाम की पवित्र सड़क पर महात्मा गांधी को मोटर पर चलने का अधिकार मिल गया और जहां देवताओं को भी मुंह खोलने की मजाल नहीं थी वहां गांधीजी का भाषण हुआ। यह सब अनर्थ कैसे संभव हो सका, कैसे दुनिया में अचानक यकबयक अचिंत्यपूर्ण दृश्य देखा गया। यह उनके समझ में नहीं आ रहा है। वे बेहद बेचैन और हैरान हो रहे हैं। इस जले पर नमक छिड़कने के लिए पत्रों ने यह खबर भी छाप दी है कि सम्राट के भारतीय प्रतिनिधित्व वाइसराय महोदय की पत्नी खद्दर पर मोहित हो गई हैं और उसके लिए आर्डर भी दे दिया है। यह सब क्या हो रहा है। सत्य हो रहा है या स्वप्न है, बेचारों में इतना भी निर्णय करने की शक्ति नहीं रह गई। लेडी विलिंग्डन महोदया 'फकीर गांधी' की स्वास्थ्य कामना करें और उनके भोजन-पान के संबंध में इतने मनोयोग के साथ विचार करें और सलाह दें, यह सब इसी जिंदगी में देखना था। यह सब भाग्य दोष है या क्या है। कुछ पता नहीं चलता। सचमुच आफत आई हुई है, विपत्तियों का पर्वत टूटा पड़ रहा है। यह सब केवल अनुमान के आधार पर नहीं कहा जा रहा है, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। महान ब्रिटिश साम्राज्य की महती कॉमन सभा तक में इन बातों को लेकर काफी ऊधम मचाया गया है और बड़े-बड़े जवाब-तलब किए गए हैं। भारत-सचिव मिस्टर बेन ने यह अभूतपूर्व (!) सूचना दी कि 'रिज' सड़कों पर मोटर चलाने का विशेषाधिकार महात्मा गांधी को ही नहीं, एक स्थानीय बारात-पार्टी को भी मिला है और अकसर ऐसे ही मिला करता है। मिस्टर बेन ने इस सूचना द्वारा उपर्युक्त क्रांतिकारी (!) समझ पड़ने वाली घटना को अत्यंत साधारण और व्यक्तिगत तक होने का संकेत किया है। पर इससे उनका समाधान होने में संदेह ही है जिन्होंने दुनिया का नक्शा अपने विकारयुक्त आंखों के रंग का ही देखने का अभ्यास कर लिया है। क्या किया जाए, कोई दवा हो तब तो।

हमें शिमला-नैनीताल यात्रा को महात्माजी की दिग्विजय यात्रा समझने की कल्पना करने की फुर्सत नहीं है। कुछ पत्रों ने बड़े ही उत्साह के साथ बड़े ही उत्कर्षपूर्ण शीर्षक देकर इस यात्रा का अतिरंजित चित्र दिखाने की चेष्टा की है। यह मार्ग भी हमें पसंद नहीं है। जैसाकि महात्माजी स्वयं बतला चुके हैं उनका शिमला जाने का उद्देश्य दिग्विजय नहीं था, अखिल भारतीय समस्या नहीं, स्थानीय प्रश्न मात्र था। बोरसद के मामले को निपटाने वे वहां गए थे और वाइसराय से बातचीत करने के बाद उन्होंने संतोष प्रकट किया। शिमले से वे नैनीताल गए और वहां युक्त प्रांत के किसानों की लगान माफी के प्रश्न पर बातचीत की। इस बातचीत की पूरी तफसील प्रकाशित नहीं की गई है पर महात्माजी की विज्ञप्ति से प्रकट होता है कि किसानों की दखलकार और गैर दखलकार श्रेणियों को क्रमशः रुपए में बारह आने और आठ

आने लगान अदा करने की जो बात उन्होंने कही वह गवर्नर साहब को पसंद नहीं आई। न पसंद आने का कारण यह बतलाया गया है कि यू.पी. सरकार ने जितनी छूट देनी तय की है उतनी वह काफी समझती है और उसके ऐलान के मुताबिक लगान वसूली शुरू भी हो गई बतलाई जाती है। गवर्नर महोदय अभी विलायत से लौटे हैं इसलिए यहां के किसानों की हालत को ठीक-ठीक न जान सके हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अपने मातहतों की रिपोर्ट के आधार पर ही फैसला सुनाने में वे न्याय न कर सके हों तो कोई ताज्जुब नहीं है। यदि कहीं-कहीं लगान वसूली शुरू हो गई है तो इससे आशा का संचार होना भी वर्तमान हालत में अस्वाभाविक नहीं है, पर जैसाकि प्रेस से और प्लेटफार्म से, सभाओं से और बाकायदा तफसीलों से जाहिर किया जा चुका है इतनी थोड़ी छूट से किसानों का कष्ट कम नहीं हो सकता और जमींदारों को बिना बेजा सख्ती किए पूरा लगान नहीं मिल सकता। सरकार का सीधा संबंध किसानों से नहीं, जमींदार से ही है, इसलिए जमींदारों को उचित है कि वे अपनी और किसानों की स्थिति को और अधिक शक्ति और उद्योग के साथ जाहिर करें ताकि ऐसी स्थिति न उठ खड़ी हो जिससे प्रांत की शांति भंग हो और एक विपत्ति के बाद दूसरी विपत्ति आ पड़े।

शिमला और नैनीताल की यात्रा में महात्मा गांधीजी को सफलता मिली या नहीं मिली, और यदि मिली तो कितनी मिली यह आवश्यक प्रश्न अवश्य है पर क्या देहली समझौते के बराबर आवश्यक नहीं है। इसी को समझने में भ्रम किया जा रहा है। शिमला और नैनीताल के ऊंचे शिखरों की कल्पना करने से और वाइसराय गवर्नर आदि की उपस्थिति का खयाल करने से आतंकपूर्ण धारणा बंध सकती है पर वर्तमान स्थिति में ऐसा करना अनिष्टकर होगा। देहली का समझौता भारत के इस युग के इतिहास में बहुत बड़ी घटना है। उसके अनुसार काम करने में दोनों दलों ने अपना लाभ स्वीकार किया है। महात्माजी ने यह स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया है कि उनके सामने इस समय दो प्रधान प्रश्न हैं। एक तो हिंदू-मुस्लिम प्रश्न और दूसरा देहली समझौते के अनुसार कांग्रेस और सरकार के काम करने का प्रश्न। इन्हीं अत्यंत आवश्यक समस्याओं के सुलझाने में गांधीजी की संपूर्ण शक्ति लग रही है। जून में होने वाली विलायती फैडरल कमेटी में शरीक होने में गांधीजी ने अपनी असमर्थता प्रकट की है और हाल की एक विज्ञप्ति में यह कहा है कि वे कांग्रेस के प्रतिनिधित्व बनकर गोलमेज सम्मेलन में नहीं जा सकेंगे पर आवश्यकता पड़ने पर कांग्रेस की नीति को और उसकी मांगों को स्पष्ट करने के लिए वे विलायत जाएंगे। इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि वे कांग्रेस को हिंदू-मुस्लिम-ईसाई आदि के भेदभावों से उठाकर पूर्ण राष्ट्रीय संस्था के रूप में देखना चाहते हैं। वे कांग्रेस के प्रतिनिधि को देशभर के 35 करोड़ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व और उसकी वाणी बनाना चाहते हैं। इसलिए स्वयं कांग्रेस प्रतिनिधि के रूप में विलायत जाने की इच्छा नहीं रखते। देशवासी इसे समझ सकेंगे या नहीं और अनेक नेता नामधारी महाशय गण अपनी गंदी गलियों को छोड़कर इस राष्ट्रीय पथ पर चल सकेंगे या नहीं यह कुछ कहा नहीं जा सकता। परंतु महात्माजी इस ऊंचे आदर्श से उतरकर व्यवहार पक्ष पर भी ध्यान देते हैं। वास्तव में वे दोनों का समन्वय करना चाहते हैं। वे कांग्रेस के प्रतिनिधि बनकर सम्मेलन में शरीक होने और उस संस्था की ओर से

बहस-मुबाहिसा करने को तैयार नहीं हैं। यह उनका आदर्शवाद है। परंतु वे जरूरत पड़ने पर कांग्रेस का लक्ष्य और उसकी मांगें प्रकट करने के लिए विलायत जाने को हर घड़ी तैयार हैं। यह उनका व्यवहार मार्ग है। हमें ये बहुत ही स्पष्ट रीति से मालूम हो रहा है कि महात्माजी के इस वक्तव्य में कहीं भी असंगति नहीं है, बड़ा ही सुंदर सामंजस्य है।

पर इनके साथ ही शिमला और नैनीताल के यात्रा प्रसंग को मिलाकर कुछ दिमागी उलझन भी पैदा की जा रही है। यह ठीक नहीं जान पड़ता। यदि शिमले में गांधीजी के स्वागत को देखकर विलायती असहिष्णु बिगड़ खड़े हुए हैं तो इसके लिए वे बेचारे क्षमा के पात्र हैं। उनकी तमाम जिंदगी ही एक कृत्रिम वायुमंडल, एक बंधे घेरे के भीतर बीती है। शिमले में बोरसद संबंधी बातचीत से महात्माजी को संतोष हुआ है। नैनीताल में उनकी मांग स्वीकार नहीं की गई, पर यही उस समस्या का आखिरी निपटारा नहीं हो गया। भूपाल के नवाब साहब ने हिंदू-मुस्लिम समझौते के लिए जो योजना तैयार की है वह महत्वपूर्ण तो अवश्य है पर उसके फलाफल का कुछ निश्चय नहीं। सुना जाता है कि महात्माजी उससे विशेष आशा नहीं रखते। इधर कुछ प्रांतीय हिंदू-सभाओं की बैठक हुई है जिनमें राष्ट्रीयता के भीतर सांप्रदायिकता की आवाज भी सुन पड़ती है। यह स्थिति चिंताजनक है। परंतु महात्माजी के अत्यंत महत्वपूर्ण वक्तव्य को देखने से जान पड़ता है कि संपूर्ण परिस्थिति का विश्लेषण करके उसके आपेक्षिक महत्व को उन्होंने समझ लिया है और वे उसके अनुरूप काम भी करने को तैयार हैं।

हिंदी में स्त्रियों का काव्य-साहित्य

हमारे मित्र पं. ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मलजी' ने अभी हाल में *स्त्री-कवि-कौमुदी* नामक एक संग्रह-ग्रंथ तैयार किया है जिससे हिंदी की स्त्री कवियों के काव्य साहित्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। चालीस से ऊपर कवयित्रियों का ऐतिहासिक परिचय देने, जीवनी लिखने और उनकी श्रेष्ठ रचनाओं का अनुसंधान, चयन और संग्रह करने में 'निर्मलजी' ने असाधारण उद्योग, लगन और काव्य विवेक का परिचय दिया है। मीराबाई से लेकर अब तक की महिला कवयित्रियों के एक दर्जन से ऊपर चित्र भी प्रकाशित किए गए हैं, जिनमें एक काल्पनिक है, शेष सब सच्चे। पुस्तक के गेट-अप में विशेष सादगी से काम लिया गया है, जो आजकल का समय देखते हुए उचित भी है और जिसे ही देखकर शायद डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठीजी को 'इयमधिक-मनोज्ञा बल्कलेनापितन्वी' का स्मरण हो आया। छपाई की गलतियां तो हिंदी में सनातन से चली आ रही हैं, पर प्रस्तुत पुस्तक में उसकी मात्रा उचित से और आशा से अधिक है। निर्मलजी की इस पुस्तक के प्रारंभ में उनका एक वक्तव्य है और उसके बाद श्रीमती चंद्रावती त्रिपाठी एम. ए. का परिचयात्मक और पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' एम.ए. का ऐतिहासिक विवेचनात्मक लेख है जिनमें पिछला 50-60 पृष्ठों का काफी बड़ा लेख है और परिश्रम के साथ लिखा गया है। हमने पुस्तक की एक प्रति आदि से लेकर अंत तक पढ़ी। हमें निर्मलजी के इस उद्योग

पर प्रसन्नता ही नहीं, गर्व भी हुआ। आशा है, इस *कौमुदी* के आलोक से हिंदी का एक तिमिराच्छन्न अंग प्रकाश में आवेगा और स्त्रियों की समस्या पर नए ढंग से विचार करने का रास्ता खुलेगा। कालाकांकर (अवध) की रानी साहिबा श्री लक्ष्मी कुमारी देवी को पुस्तक समर्पित कर निर्मलजी ने प्रशंसनीय राजनीतिक सुरुचि दिखलाई है।

आर्थर बेंसन नाम के अंग्रेज आलोचक का मत है कि स्त्री जाति का शारीरिक और मानसिक संघटन ऐसा नहीं होता कि वह साहित्य और कला के क्षेत्र में पुरुषों की भांति प्रशस्ति पा सके। दुनिया के इतिहास में देखा भी यही जाता है कि स्त्रियों की प्रतिभा अनेक ललित-कलाओं की ओर समय-समय पर आकर्षित तो अवश्य हुई, पर उनमें से बहुत थोड़ी ऐसी हैं जो अपने पुरुष सहयोगियों की बराबरी कर सकी हों। संसार के इन श्रेष्ठ साहित्यकारों में स्त्री का नाम नहीं लिया सकता, शायद सौ श्रेष्ठ साहित्यकारों में भी नहीं। इसका एक कारण निर्मलजी ने भी बतलाया है। आप लिखते हैं, 'परदा प्रथा के प्रबल प्रचार और प्रभुत्व से स्त्रियों को सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक आदि कई प्रकार की हानियां उठानी पड़ीं। यही कारण है कि उनकी साहित्यिक उन्नति भी चहारदीवारियों के भीतर ही सीमित रही। बाहर जनता में उसका प्रचार नहीं हो सका।' निर्मलजी का मत है कि यदि स्त्रियों को पुरुषों-से सुयोग मिले होते तो पुरुष कवियों की भांति स्त्री कवियों का भी विकास होता। सहसा यह कहा नहीं जा सकता कि आर्थर बेंसन महोदय का कथन संपूर्ण सत्य है अथवा नहीं पर 'निर्मलजी' के कथन के तो ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।

कहा जाता है कि स्त्रियां स्वभाव से कोमल और भावुक होती हैं। उनकी अनुभूतियां अतिशय तीव्र किंतु पवित्र बतलाई गई हैं। स्त्रियों के काव्य साहित्य में भी उनके स्वभाव की छाप मिलती है। हिंदी का आदि युग वीरगाथा युग था, जिसे 'निर्मलजी' की पुस्तक में 'जयकाव्य' काल कहा गया है। यहां जय-पराजय का विवेवन हम नहीं कर रहे हैं। यहां हम केवल यह देख रहे हैं कि इस संपूर्ण-युग में स्त्री कवियों की रचनाएं नहीं मिलतीं। इसी तरह हम यह भी देखते हैं कि भक्ति-काल में तो कितनी ही महिलाओं ने पुरुषों के साथ योग दिया पर उसके विकृत होकर रीतिकाल में परिवर्तित होते ही हमारी स्त्री कवियों ने उससे अपना हाथ खींच लिया। इन दोनों ही बातों का क्या कारण? वीर गाथा काल और रीतिकाल दोनों ही कवयित्रियों की काव्य प्रतिभा से नितांत रिक्त रहे। निर्मलजी की पुस्तक में इसका कारण रसालजी ने अपने ढंग से बतलाया है। आप लिखते हैं, 'वीर राजपूत स्वयं देश जाति की रक्षा के लिए अपना रक्त बहा रहे थे। वीर कवि अपने ओजपूर्ण काव्य से उन्हें प्रोत्साहित करते, उत्तेजित करते हुए रणांगन में वीर जीवन के उपदेश दे रहे थे। अतः स्त्रियों के लिए यह आवश्यक न था कि वे वीरगाथा गाते हुए रणांगन में जावें।' रसाल के इस भावुक चित्र में कितनी यथार्थता है, यह इतिहास मर्मज्ञ बतला सकते हैं। जिनकी वीरता राष्ट्रीय हित को भूलकर आपस में ही लड़ते-मरते रहने में परिमित थी, जिन्हें रूढ़ि और अंधविश्वासों ने कसकर जकड़ रखा था। वे यदि वीर कहकर पुकारे जाएं तो आजकल के कट्टर, किंतु झूठे मजहबपरस्त मुसलमान और अनेक नेता भी वीर शब्द के सर्वथा अधिकारी होंगे। स्त्रियों को वासना की कठपुतली बनाकर

अनेक स्वयंवरों में नचाते फिरना उस समय की राजपूत वीरता (?) की कलंकपूर्ण कहानी है। यह तो हम आज अपनी आंखों से देख रहे हैं कि देश के राष्ट्रीय संग्राम में पुरुष-वर्ग शक्तिपूर्ण भाग ले रहे हैं। भाषणकर्ता और नेता अपने कर्तव्यपथ पर अटल हैं और राष्ट्र में स्फूर्ति का संचार तथा जीवन उत्पन्न कर रहे हैं। 'रसालजी' ने राजपूतों की जिस आदर्श वीरता का काल्पनिक चित्र खींचा है आज उसी आदर्श वीरता का सत्य चित्र हम नित्य प्रति देखते हैं। रसालजी के चित्र में महिलाएं नहीं दीख पड़ीं, पर आधुनिक सत्य चित्र में महिलाओं की छवि दर्शनीय एवं वंदनीय हो रही है।

यही हाल 'रीतिकाल' का भी है। निर्मलजी की पुस्तक में उसे 'कला-काल' कहा गया है। यहां 'कला' शब्द साहित्यशास्त्र और पिंगल आदि की पद्धतियों के अर्थ में आया है। सचमुच इस अर्थ में यह 'कला काल' था। इस काल में स्त्रियों ने फिर असहयोग किया। यहां 'रसालजी' ठीक लिखते हैं कि 'कला-काल' का उदय होते ही लक्षण ग्रंथों की रचना परंपरा अबाध रूप से चलने लगी। स्त्रियां पुरुषों के साथ न चल सकीं और अपना रचनाकार्य स्थगित करने को बाध्य हुईं। शिक्षा के अभाव में लक्षण-ग्रंथों की रचना करने में वे असमर्थ रहीं। इसके अतिरिक्त एक दूसरे कारण की ओर निर्मलजी ने अपने वक्तव्य में संकेत किया है। आप लिखते हैं कि शृंगारकाल में यह बात अवश्य है कि पुरुष कवियों से स्त्री कवियों की संख्या कम है। इसका कारण स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा और मर्यादा की सीमा का संरक्षण भी हो सकता है। निर्मलजी के इस कथन का सभी काव्य-विवेचक समर्थन करेंगे। रसालजी ने बतलाया है कि इसी काल में दो एक स्त्रियों ने सती धर्म, पतिव्रत-धर्म, गृहिणी-धर्म पर रचनाएं कीं। जान पड़ता है, यह तत्कालीन प्रचलित काव्य परंपरा के प्रति स्त्री जाति की प्रतिक्रिया थी। शृंगारकाल के इतिहास में यह स्त्रीसत्याग्रह का प्रसंग विशेष उल्लेखनीय है।

स्त्री-काव्य कौमुदी में संगृहीत स्त्रियों का काव्य-साहित्य हमारी इस धारणा को दृढ़ करता है कि कविता का मार्ग मध्य-मार्ग है। भावना की जो अप्रतिहत लहर पद्मिनी जैसी नारियों के अंतःकरण में उद्वेलित हुई और जिसके प्रकट करने में उन्होंने अपना आपा डुबोकर आत्मबलि दी, यह एक अलौकिक अंतर्मुखी शक्ति है। उतनी बड़ी शक्ति कविता की प्रणाली से नहीं निकल सकती, निकलना स्वाभाविक भी नहीं। पद्मिनी ने कोई कविता नहीं रची, फिर भी वह वीरगाथा-युग की दीप्तिमान महिला-शिरोमणि, उस काल की सर्वश्रेष्ठ रचना है। उसकी रचना में राष्ट्रीय शक्ति मूर्तिमान होकर, अटल होकर खड़ी हुई। कोई कितना ही कहे, कविता फिर भी शक्ति को समेटने वाली नहीं है, बिखरने वाली है। यह कविताकार की दृष्टि से कहा जा रहा है। काव्य-कला स्वभावतः बहिर्मुखी वस्तु है। कविता अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति स्वयं बाहर निकलने का अर्थ रखती है। अंतर की शक्ति बाहर आकर अवश्य क्षीण पड़ेगी। यही एक प्रधान कारण है कि वीरगाथा काल के विपथगामी राजपूतों की आदर्श पत्नियों ने काव्य रचना नहीं की। अधिकार पाने वाली उन स्मरणीया ... संगीत सुना था, अंत ... की

[...] पांडुलिपि अपठनीय।

थी, कीट्स ... के पर अश्रुत ध्वनियों ... से अधिक मीठी बतलाया है। यह आत्मा की ही अश्रुत ध्वनि है। कबीर का 'अनहदनाद' भी ऐसी ही ध्वनि का संकेत करता है। चित्रकूट में भरत और राम के मिलन के अवसर पर महाकवि तुलसीदास ने संपूर्ण काव्य-साहित्य की सीमा और असमर्थता बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यजित की है ...

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी॥
परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरिहर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

हिंदी के वीरगाथा काल और शृंगार काल का नारी समाज अवश्य ही आजीवन शक्ति को समेटकर उसका संग्रह करता रहा होगा, अन्यथा पुरुषजाति की कामलिप्सा में लिप्त होकर यदि स्त्रियां भी उन्हीं की भांति कविता करने लगतीं तो आज राजपूत रमणियों की वह गौरव गाथा इतिहास के पृष्ठों को अलंकृत न करती और हिंदूराष्ट्र उस एकमात्र आशीर्वाद से वंचित रहकर, संभव है, कालग्रस्त हो गया होता। आत्मसंयम और आत्मरक्षण की वह दीप्तिमती कविता निर्मलजी की *स्त्री-कवि-कौमुदी* में अपने अभाव द्वारा चमक रही है! उसके अनस्तित्व में ही उसका अस्तित्व है!

'निर्मलजी' ने अनुसंधान करके लिखा है कि हिंदी की स्त्री-कवियों में अधिकांश अमीर घराने की स्त्रियां थीं। इससे कविता और आरामतलबी का संबंध जुड़ता है। परंतु निर्मलजी की पुस्तक में संगृहीत कवयित्रियां चाहे जितने ऊंचे घराने की हों, उनकी रचनाएं अवश्य ही लोक-सामान्य भावों को लिये हुए हैं। यह हमारी महिला-कवियों के लिए गौरव की बात है कि यद्यपि वे समर्थ और संपन्न थीं, फिर भी उनकी कृतियों में 'गुलगुली गिल में गलीचा हों गुनी जन हों' आदि के प्रसंग नहीं आए। इस दृष्टि से सबसे अधिक प्रतिष्ठा भगवान् श्रीकृष्ण की अद्वितीय प्रेमिका भक्त-शिरोमणि मीराबाई को प्राप्त होगी जिन्होंने विष का प्याला पीकर प्रेम के पद लिखे थे और राजपाट छोड़कर अकिंचन बन गई थीं। नारीजाति का आत्म-त्याग उज्ज्वल होकर उनके मुख-मंडल पर झलक रहा है।

आशा है, निर्मलजी की इस उपादेय पुस्तक से सबका हित तो होगा ही, साथ ही, हमारे संपादक महोदयों को भी कम लाभ नहीं होगा। वे महानुभाव बेचारी नारीजाति पर बड़ा रहम करते हैं और अपनी सौ-सवा सौ पृष्ठों की मूल्यवान पत्रिका में चार-छह पृष्ठ स्त्रियों के लिए भी नष्ट करना स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने 'आधी-दुनिया', 'महिला-मंडल' और इसी नाम के विशेष स्तंभ खोलने की उदारता दिखाई है, उन्हीं के अंधाधुंध अनुकरण में कुछ साप्ताहिक

[...] पांडुलिपि अपठनीय।

पत्र भी चलते देखे जाते हैं। वास्तव में यह साहित्यिक प्रथा वैसी ही है, जैसी राजनीति में पृथक निर्वाचन की प्रथा। अभी हिंदी के शैशव-काल के बूढ़े संपादक चाहे इस सत्य को न समझें पर आगे चलकर यह हमारे लिए बड़े अनिष्ट की बात होगी। स्त्रियों के प्रति सहानुभूति दिखलाने का यह कोई तरीका नहीं। जो समझता है, वह इसे अपमान समझता है। महिलाओं को 'आधी दुनिया' का चार पृष्ठों में समाप्त कर शेष आधी दुनिया के लिए सौ पृष्ठ रखे जाते हैं, यह प्रत्यक्ष में ही अन्याय है। हम विशेषाधिकारों की इस नीति को राजतंत्र में ही रहने दें, काव्य-साहित्य में न घुलने दें। *स्त्री कवि-कौमुदी* में संगृहीत सभी कवयित्रियां एक स्वर से पुकारकर कहती हैं कि वे जातीय-जीवन की अविच्छिन्न और अविच्छेद अंग हैं। और उससे पृथक होकर रहना, उन्हें स्वप्न में भी पसंद नहीं। वे नहीं चाहतीं कि उन पर रहम खाकर उनकी तस्वीरें निकाली जाएं और उनके साथ दूसरी रियायतें की जाएं। वे कृत्रिम भेदभाव चाहती ही नहीं। परंतु अपनी पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या का विचार करके हमारे संपादकों की बहुत कुछ बे-मन भी करना पड़ता है। जो अज्ञानी हैं, उनकी तो कोई बात ही नहीं, पर जो समझदार हैं, वे भी बहुत सी बातों का विचार कर अपने आदर्शवाद के लिए कलम, दावात, स्याही और वाक्पटुता की ही आवश्यकता समझते हैं। यदि निर्मलजी का यह संग्रह उन्हें कुछ सचेत कर सका तो उससे हिंदी का हित ही होगा। सचेत करने की सामग्री तो इसमें काफी है।

(सोमवार, 1 जून 1931)

किसानों की दुर्दशा

युक्त प्रांत के किसानों की दुर्दशा प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। जिस समय सत्याग्रह आंदोलन जोरों के साथ चल रहा था उस समय लगानबंदी के आंदोलन को राजनीति का जामा पहना दिया गया था और सरकार तथा कांग्रेस की निगाह में आंदोलन का आर्थिक रूप स्पष्ट नहीं हो रहा था। वह समय ही ऐसा था। कांग्रेस को अपने प्रचार कार्य के लिए और सरकार को अपने प्रति सहानुभूति बटोरने के लिए उस समय यह आवश्यक समझ पड़ता था कि दोनों ही करबंदी आंदोलन को राजनीतिक आंदोलन कहकर पुकारें। गांव-गांव में कांग्रेस के कार्यकर्ता और स्वयंसेवक पहुंचते थे और किसानों को जोशीले शब्दों में लगान की एक-एक पाई रोक रखने का आदेश देते थे। स्वराज्य मिल जाने की हड़बड़ी में साधारण स्वयंसेवकों में इतना संयम नहीं रह गया था कि वे किसानों को करबंदी के भिन्न-भिन्न पहलुओं को समझाते और अंतिम फैसला उन्हें ही करने देते। गांठ का रुपया निकालना किसे अच्छा लगता है विशेषकर वैसी हालत में जब गांठ में बंधे रहने से स्वराज्य भी मिल रहा हो? किसानों ने कठोर दमन नीति, भेद नीति आदि के खतरों को ठीक-ठीक समझे बिना ही लगान देने से इनकार कर दिया। यह गुजरात की बात नहीं कही जा रही। यहां बड़े ही स्पष्ट रूप से करबंदी के समस्त परिणामों

की आगाही खुले शब्दों में स्वयं महात्मा गांधी और सरदार पटेल ने की थी। यू.पी. में किसान बहुत कुछ अंधेरे में रहे उन्होंने आंदोलन का पूर्वापर तरीके से विचार नहीं किया। यही कारण है कि प्रांत में करबंदी के शुरू होते ही कई स्थानों में जमींदारों और रैयतों के बीच तथा किसानों और सरकार के बीच काफी भयानक दंगे हुए। यह प्रारंभ की बात थी और आगे चलकर यह आंदोलन कैसा रूप धारण करता, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। देहली समझौते के बाद जब कांग्रेस की ओर से कार्यकर्ता देहातों में जाकर किसानों से लगान दे देने की सिफारिश करने लगे तब किसानों को यह बात अच्छी नहीं लगी। कई स्थानों में कांग्रेस कार्यकर्ताओं के प्रति उनके कटुभाव देखे गए। यह बहुत कुछ स्वाभाविक भी था क्योंकि किसानों का करबंदी आंदोलन राजनीतिक उत्साह, त्याग आदि के नहीं, कठोर अर्थ कष्ट के कारण उठ खड़ा हुआ था। कुछ इस कारण और कुछ पास का पैसा घर से निकलते देख अशिक्षित, दरिद्र किसानों में असंतोष फैलना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

दूसरी ओर सरकार भी अपनी भरसक कोशिश करती रही कि करबंदी आंदोलन चल न सके। उसके पास जितने अस्त्र साम, दाम, भय, भेद आदि के थे सबका एक-एक करके प्रयोग किया गया। इंस्टिगेशन आर्डिनेंस की कृपा से हजारों आदमी जेलों के हवाले किए गए। जमींदारों में जो कुछ राष्ट्रीय विचारों के थे उनके साथ कड़ाई की गई, उदाहरण के लिए काला कांकर और भदरी के जमींदार। दूसरे जमींदारों के साथ काफी रियायत, हमदर्दी आदि जाहिर करने के समाचार भी प्रांतीय व्यवस्था-सभा में पूछे गए प्रश्नों से प्रकाश में आ चुके हैं। इस प्रकार तमाम आंदोलन को राजनीतिक आंदोलन करार देकर व्यवस्था भंग की कड़ी सजाएं दी जाने लगीं, जिनके कारण उत्तेजना और भी बढ़ी। कई जगहों में जो दंगे हुए उनसे स्थिति की भयंकरता और भी अधिक जाहिर हो जाती है। सरकार ने पंजाब में तो देहली समझौते के पहले से ही छूट देना तय किया पर हमारे प्रांत में उसे अपनी दमन शक्ति का काफी से अधिक भरोसा था, वह किसी तरह स्थिति को निष्पक्ष और विवेक की दृष्टि से देखने को तैयार नहीं हुई। प्रांत के गवर्नर सर मालकम हेली के विलायत चले जाने से शासन कार्य और भी अधिक सख्त और अनुदार तरीके से किया जाने लगा।

ऊपर के विवरण से आज के किसान, जमींदार-सरकार के संबंध को समझने में सहायता मिलेगी। गांधी-इर्विन समझौते के बाद कांग्रेस तथा अन्य राष्ट्रीय दलों और नेताओं की ओर से किसानों के अर्थ कष्ट की पुकार उठाई गई। यह अर्थ कष्ट रैयत और जमींदार दोनों पर आया हुआ है पर हमारे प्रांत के भूमिविधान के अनुसार सरकार का सीधा संबंध जमींदारों से है, रियाया से नहीं है। जमींदारों का यह फर्ज है कि वे किसानों की दुर्दशा का ठीक-ठीक विवरण सरकार तक पहुंचाएं और उनकी अवस्था का विचार कर उनके प्रति सहानुभूति दिखावें। परंतु जान पड़ता है ऐसा नहीं किया जा रहा। सरकार ने अभी उस दिन लगान और मालगुजारी में जो छूट देने की घोषणा की है उसमें अवध के तालुकेदारों और आगरा के जमींदारों की बड़ी तारीफ की गई है। शायद इस तरीफ से प्रसन्न होकर जमींदारों की तृप्ति हो गई है और उन्होंने अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली है। परंतु इससे न उनके वर्ग की

(जमींदार वर्ग की) अवस्था सुधर सकती है और न किसान वर्ग की। यह बात दूसरी है कि कुछ बड़े-बड़े तालुकेदार सरकार की तारीफ से प्रसन्न होकर मालगुजारी अदा कर दें और रियाया पर सख्ती करके लगान वसूल कर लें पर छोटे-छोटे देहातों में फैले हुए छोटे-छोटे असंख्य जमींदार ऐसा नहीं कर सकते। बड़े जमींदारों को चाहिए कि वे और नहीं तो अपने वर्ग के छोटे जमींदारों की स्थिति का विचार कर इतनी छूट से ही असंतुष्ट होकर न बैठ रहें।

महात्मा गांधी ने नैनीताल में प्रांतीय गवर्नर से मिलकर किसानों की समस्या पर जो बातचीत की थी वह बहुत ही संयत और परिश्रमपूर्वक एकत्रित बयानों और रिपोर्टों के आधार पर की थी। प्रांतीय किसान समस्या के विशेषज्ञ उनके सलाहकार थे। *प्रताप* पत्र में इधर कई हफ्तों से कानपुर के किसानों की आर्थिक और माली हाल का तख्मीना निकल रहा है और उनके संपादक पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी नैनीताल में मौजूद थे। 'नवीनजी' के कागज पत्र देखकर महात्मा गांधी ने उनसे कहा था कि आपके हिसाब से तो किसानों को 100 प्रतिशत माफी मिलनी चाहिए पर अनुसंधान की संभावित त्रुटियों तथा सरकार की स्थिति का विचार कर गांधीजी ने 50 प्रतिशत (आधी माफी) का आग्रह किया था। यह बिलकुल नर्म और उचित मांग थी जो स्वीकार नहीं की गई। श्रीयुत पुरुषोत्तमदास टंडन प्रांत की आधुनिक कृषि-समस्या के शायद सबसे बड़े विशेषज्ञ हैं। वे भी महात्माजी को सलाह देने के लिए नैनीताल में उनके साथ थे। लाहौर के प्रसिद्ध *पीपुल* पत्र में आपने कुछ ब्यौरे देकर प्रांतीय किसानों की अवस्था पर एक टिप्पणी लिखी है जिससे प्रकट होता है कि 50 प्रतिशत छूट की मांग बिलकुल उचित और संयत है।

गांधीजी ने नैनीताल की बातचीत के बाद किसानों के नाम जो विज्ञप्ति निकाली है उसमें किसानों के प्रति उनकी स्वाभाविक, सिद्ध हमदर्दी प्रकट होती है। उस विज्ञप्ति में आपने किसानों से यह आग्रह किया है कि वे जमींदारों को अपनी सामर्थ्य भर लगान दे दें। महात्माजी का यह संदेश बिलकुल स्पष्ट और उचित है पर देहाती किसानों में पहुंचकर इसके अर्थ का अनर्थ किया जा सकता है। हमने देहात के छोटे-छोटे जमींदारों से शिकायतें सुनी हैं कि किसानों से लगान मिलने में बड़ी दिक्कतें हो रही हैं। सामर्थ्य रहते हुए भी यदि लगान नहीं दिया जाता तो इसकी जिम्मेदारी किसानों पर है। सामर्थ्य का अर्थ केवल संचित रुपया नहीं है। संभव है, किसी किसान के पास लगान वसूली के लिए रुपए न हों। पर वह मजदूरी तो कर सकता है, दूसरे धंधे भी तो कर सकता है। आज दिन मजदूरों की हालत खराब हो रही है पर उनकी दशा किसानों की अपेक्षा फिर भी अच्छी है। यदि किसानों को आलस्य ने नहीं घेर रखा है, यदि वे महात्माजी के 'सामर्थ्य' शब्द से अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहते हैं तो उन्हें चाहिए कि दूसरे-दूसरे धंधों से पैसा पैदा करें और आवश्यकता पड़ने पर खेती का काम छोड़ देने को भी तैयार हो जाएं। यदि उन्हें मजदूरी करने से अधिक आय होती है तो वही करना चाहिए। शक्ति का दुरुपयोग करना उचित नहीं है, हाथ-पैर ढीले कर बैठे रहने से कर्तव्य का पालन नहीं हो सकता।

जमींदार और किसान आपस में लड़कर कोई फायदा नहीं उठा सकते। दोनों को दरिद्रता

से लड़ना है। सरकार का रुख अच्छा नहीं दीख पड़ता। महात्माजी ने अपनी विज्ञप्ति में यह कहा है कि सरकार की ओर से इस समस्या पर विचार करने का वचन उन्हें दिया गया है पर यह काम बड़ी सुस्ती से किया जा रहा है। इससे काम नहीं चल सकता। सरकार के सामने किसानों की दशा की काफी फाइलें आ चुकी हैं, उनसे वह वास्तविक स्थिति अच्छी तरह समझी जा सकती है। हम समझ रहे हैं कि तालुकेदारों और जमींदारों के डेपूटेशन भी उसके पास काफी तादाद में पहुंच चुके हैं। और अधिक की आवश्यकता हो तो वे भी आसानी से पहुंच सकते हैं। संयोग से शांति और प्रीति का समय आया हुआ है। ऐसे समय में सरकार को स्वार्थ नीति अथवा भेद-नीति नहीं बल्कि उदारता से काम लेना चाहिए। ऐसा करने में यदि उसकी वर्तमान आर्थिक अवस्था को कुछ धक्का भी पहुंचे तो उसे बर्दास्त करने में हित है। सरकार की ओर से कहा गया है कि छूट की घोषणा कर देने के बाद मालगुजारी और लगान वसूली होने लगी है। परंतु जिन्हें किसानों की सच्ची अवस्था का परिचय है वे समझ सकते हैं कि यदि कर वसूली होती भी होगी तो किसानों को अत्यंत कष्ट का सामना करना पड़ रहा होगा। जमीन बेचकर, घर का असबाब बेचकर, जमींदार और सरकार के डर से यदि कर मिलता हो तो मिलता हो। प्रांत भर में वह इसी तरह मिल जाएगा, हमें इसमें संदेह ही नहीं अविश्वास भी है। सरकार इस समय इस समस्या पर उदारता के साथ विचार कर अपनी विवेक बुद्धि का परिचय दे सकती है। आशा है, वह इस अवसर पर ऐसा ही करेगी।

(शुक्रवार, 5 जून 1931)

साम्राज्य और सूत

हम लोगों ने बड़े-बड़े पुराने और नए साम्राज्यों का इतिहास पढ़कर यह परिचय प्राप्त किया है कि जब कभी किसी ने उन्नति की है तब उसकी उन्नति के मूल में कुछ विशेष आदर्श रहे हैं, उसके कुछ अपने लक्ष्य, कुछ उद्देश्य रहे हैं जिनकी ओर उसकी समस्त शक्ति खिंचती रही है। भारत, मिस्र, यूनान, रोम आदि का प्राचीन इतिहास इस सत्य का प्रमाण है। हम लोगों की यह धारणा भी बंध गई है कि जो राष्ट्र या जो साम्राज्य जितने ही उंचे आदर्शों को सामने रखकर चला है उसने उतनी ही अधिक उन्नति की है और संसार की सभ्य जातियों में उसका उतना ही अधिक मान और महत्व है। हमें यह शिक्षा मिली है कि भारत ने जीवन के अध्यात्म पक्ष पर सबसे अधिक जोर दिया था और धर्म की वह ज्योति जगाई जो काल के चिरंतन चक्र में पड़कर कभी बुझी नहीं। महाभारत काल भारतीय इतिहास का पतन काल था। फिर भी उस भीषण संग्राम ने सब कुछ नष्ट करके धर्म की उस समय भी रक्षा की, उसे ही विजयी बनाया। यूनान की जनसत्तात्मक सभ्यता बड़ी ही मानवीय अथच कोमल थी। कला संबंधी जितने सुंदर उद्योग उस छोटे से जगत्प्रसिद्ध मुल्क में किए गए, अन्यत्र कहीं नहीं। रोम ने

कानून और व्यवस्था के क्षेत्र में चरम उन्नति की और लोक की मर्यादा का सबसे अधिक ध्यान रखा। यह सब पढ़ लेने के बाद हमारी दृष्टि आदर्शों का अनुसंधान करने की ओर स्वभावतः प्रवृत्त होती है। महान ब्रिटिश साम्राज्य किस आदर्श पर खड़ा हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि वह विश्वव्यापी एकता और साम्य (!) का लक्ष्य रखता है। विज्ञान की आधुनिक आविष्कृतियों के सहारे वह दुनिया के दोनों छोरों को मिला देना चाहता है। एक भाषा, एक भाव की बुनियाद पर वह संसार को एक कर डालना चाहता है। सात समुद्र पार जाकर उपनिवेश स्थापित करके ब्रिटेन संसार को एक विश्वव्यापी सूत्र में गूंथ देना चाहता है। महान ब्रिटिश साम्राज्य में अभी से सूर्य कभी अस्त नहीं होता, आगे चलकर और भी बड़े-बड़े चमत्कार देखने को मिल सकते हैं। आज ब्रिटेन के वैज्ञानिक और साहसी पुरुष कभी माउंट एवरेस्ट पर चढ़ने का उपक्रम करते हैं, कभी उत्तर ध्रुव में जाकर जिंदगी जोखिम में डालते हैं और कभी ऐसे ही कुछ और आतंकपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। यह सब तो बड़ा ऊंचा आदर्श है।

पर इतिहास का अध्ययन हमें कभी-कभी धोखे में भी डाल देता है। संसार की गति अनोखी है। सब बातें सबकी समझ में नहीं आतीं। बहुत सी बातें तो कोई नहीं समझता। इतिहास में हमने यह भी पढ़ा है कि ब्रिटेन के पास साल में इक्यानबे दिन से अधिक के लिए भोजन का डौल नहीं है, इसके लिए उसे दूसरे देशों का मुंह देखना पड़ता है। दूसरे देशों की बात जाने दीजिए, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का इतिहास पढ़ने से पता लग जाएगा कि बड़े-बड़े साम्राज्य कभी-कभी निहायत छोटी चीजों पर अवलंबित रहते हैं। पुरानी गाथा गाने से कोई मतलब नहीं, आज हम अपनी आंखों देख रहे हैं कि दिग्दिगंतव्यापी ब्रिटिश साम्राज्य एकमात्र महीन सूत पर अटक रहा है। दिन-रात, सोते-जागते ब्रिटिश राजनीतिज्ञों, ब्रिटिश व्यापारियों और समस्त ब्रिटेन की जनता को पुकार मचाते, रोते-पीटते देख सकते हैं। साम्राज्य और सूत—अच्छा साम्य है, अच्छी संगत है।

एक सूत के बल पर ही महान ब्रिटिश साम्राज्य संचालित हो रहा है, सूत ही साम्राज्य का सर्वस्व है यह बात अब तक छिपाई जाती थी पर विलायत के मिस्टर चर्चिल जैसे स्पष्टभाषी आदमियों की कृपा से अब वह छिपी नहीं रही। आज आदर्शों की दुहाई नहीं दी जाती, ब्रिटेन की जनसभा में साफ-साफ कहा जाता है कि सूत हमारा आदर्श है, सूत ही सर्वस्व है। सूत की सुध कर आधी-आधी रात को ब्रिटिश साम्राज्य के महान संचालक चौंक उठते हैं। यह बड़ा अनोखा रहस्य है। अभी उस दिन पार्लियामेंट की बैठक में कई रात गुजरे अचानक मिस्टर ब्रेकन नाम के सदस्य तैश में आ गए और ब्रिटिश साम्राज्य की महती कीर्ति और प्रतिष्ठा को भूलकर अपने सूत पर बकबक करने लगे। इसी अवसर पर मिस्टर चर्चिल ने गला फाड़कर जमीन-आसमान एक कर डाला। उनके अनेक मुखोद्गारों का चाहे और कुछ भी अर्थ न निकलता हो पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्य की संपूर्ण संजीवनी शक्ति सूत है—एक मात्र सूत है।

यदि सचमुच सूत ही ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिला है तो भी कोई विशेष आश्चर्य

की बात नहीं। दुनिया में एक से एक, बड़ी से बड़ी अनोखी बात देखी जाती हैं। संसार आश्चर्य का समूह है। हम यह समझ सकते हैं कि ब्रिटेन के प्राण सूत पर टंगे हुए हैं। पर ब्रिटेन को यह समझना चाहिए कि सूत कोई बमगोला नहीं है। सूत से बमगोले का-सा काम नहीं लिया जा सकता। उसका नाम लेकर धमकी नहीं दी जा सकती, डरवाया नहीं जा सकता। सूत एक बिलकुल निरीह हल्की सी वस्तु है। उसके बल पर तकरार नहीं की जा सकती। सूत से ग्रंथि-बंधन होता है, सूत दो छोरों को मिलाता है। वह प्रीति की वस्तु है। ब्रिटेन को चाहिए कि वह सूत का वास्तविक अर्थ समझे परंतु मिस्टर चर्चिल सरीखे व्यक्ति इस तथ्य को अब तक समझ नहीं सके। उन्होंने सूत के लिए लड़ाई लड़ने का इरादा कर अपनी पोल आप खोल दी है और अब भी सचेत नहीं हुए। कभी गांधीजी का नाम लेकर, ब्राह्मण आंदोलन (वर्तमान राष्ट्रीय आंदोलन को मि. चर्चिल ब्राह्मण आंदोलन कहते हैं) पर लांछन लगाकर और कभी जापान की प्रतियोगिता को कोसकर वे विलायती सूत को फिर से पनपाना चाहते हैं। उन्हें इतना शऊर नहीं है कि वे ब्रिटेन के जीवन तंतु (सूत) को किस तरह क्षय होने से बचावें।

साम्राज्य की और सूत की राशि एक है। दोनों की गृहदशा इस समय बिगड़ी हुई है। मिस्टर चर्चिल जैसे अनाड़ी ज्योतिषियों से उसका सुधार स्वप्न में भी नहीं हो सकता। क्रूरग्रह का शमन करने के लिए तपस्वी और मनीषी ज्योतिर्विदों की आवश्यकता है। शांति के ठंडे छींटे सात्विक सरस हृदय ही डाल सकते हैं। उबल पड़ने से काम नहीं चल सकता। पूर्व कृत्यों का प्रायश्चित करने के लिए आत्म शुद्धि की आवश्यकता है। मोहमाया और लिप्सा से मुक्ति नहीं मिलती है। ब्रिटेन ने भारत में अपने सूत के प्रवेश के लिए पिछले सौ से अधिक वर्षों से तरह-तरह की तरकीब की है। वह भी एक समय था, संयोगवश अब वह समय नहीं रहा। अब भारत की सुप्त राष्ट्रीय शक्ति जाग्रत हो गई है और वह अपनी विधि लिपि का सुधार कर रहा है। ब्रिटेन के साम्राज्य और सूत के साथ भारत के स्वराज्य और सुव्यवस्था की राशि मिलती है। ब्रिटेन को ऐसा प्रयत्न करना होगा कि ये चारों ही एक साथ होकर रह सकें। इन चारों के संयोग से ही चारों फलों की प्राप्ति हो सकेगी। जो ब्रिटिश साम्राज्य के हिमायती समझे जाते हैं, जिन्हें ब्रिटेन का सूत अतिशय प्रिय है, वे ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ, व्यवसायी और जनता इस सत्य को जितना शीघ्र समझ जाएं उतना ही अधिक ब्रिटेन की भलाई है।

(सोमवार, 8 जून 1931)

कानपुर और सरकारी फैसला

भारत के अंग्रेजी राज्य के इतिहास में कानपुर का पिछला भयानक दंगा अपना विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हम भारतवासियों की तो औकात क्या है, विलायत के लार्ड रीडिंग जैसे व्यक्ति भी इस नृशंस दंगे का समाचार सुनकर स्तब्ध हो गए थे। 'जरइ नगर अनाथ कर जैसा'

तुलसीदास की इस पंक्ति की सत्यता कानपुर से बढ़कर आधुनिक युग में हमने कहीं नहीं देखी। महान् ब्रिटिश साम्राज्य की जगतविश्रुत व्यवस्था और शक्ति कुछ समय के लिए गदहे के सींगों की तरह गायब हो गई थी जिसे देखकर लार्ड रीडिंग ने बड़े ही बड़े शब्दों में आश्चर्य, उद्वेग और क्षोभ प्रकट किया था! हम अब तक दंगे के और उसके बाद की सरकारी जांच के समाचार देकर ही संतोष किए हुए थे क्योंकि यथार्थतः हमें अपने भाग्य के अतिरिक्त और किसी से कुछ कहने-सुनने का कोई अधिकार नहीं था। 'सुनि आठलैहें लोग सब बांटि न लैहें कोइ' इस प्रसंग में पूरा सोलह आना चरितार्थ होता है। हमें अपने मन की व्यथा, अपनी लाज की कहानी किसी से कहने का साहस नहीं होता, कानपुर के दंगे को देखकर इच्छा भी नहीं होती। सच पूछिए तो कानपुर का दंगा अभी शांत नहीं हुआ है। अभी हमारा क्रूर ग्रह ज्यों का त्यों चढ़ा हुआ है। पिछला विकट दंगा शक्ति का नितांत क्षय हो जाने के बाद रुका, ऐसी राय हमारे पहले बहुत से सज्जन प्रकट कर चुके हैं। जब लड़ने की ताकत नहीं रह गई तब लड़ाई रुकी। परंतु लड़ाई का रुकना एक विवशता है, एक लाचारी है, हम तो ऐसा ही समझते हैं। वैमनस्य और विद्वेष अब भी ज्यों के त्यों बने हुए हैं। प्रमाण के लिए पिछले मुहर्रमी जुलूस का प्रसंग अथवा और हाल का कलक्टरगंज का लंकाकांड पेश किया जा सकता है। कानपुर के भाग्य में क्या बदा है, कोई कह नहीं सकता। उस अत्यंत शीघ्रता से उन्नति करने वाले व्यापार केंद्र का उतनी ही शीघ्रता से पतन होता दीख पड़ता है। आज कानपुर का उजाड़ दृश्य देखकर हमें जो कष्ट मिलता है उसे कहकर कोई लाभ नहीं होगा।

कानपुर के नागरिकों ने सैकड़ों निरीह मनुष्यों की कठोर हत्याएं देखीं, लाखों की संपत्ति स्वाहा होती और माल लुटता देखा। इन सबसे भी अधिक उसने अपने श्रेष्ठ नागरिकों और नेता गणेशशंकर विद्यार्थी की हत्या का दृश्य देखा जिससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात दूसरी हो नहीं सकती। विद्यार्थीजी को खोकर अपना सर्वस्व और सारे देश ने अपना अत्यंत मूल्यवान रत्न खो दिया। गणेशशंकरजी के अभूतपूर्व बलिदान के बाद महात्मा गांधी और अनेक नेताओं ने आशा व्यक्त की है कि उनके रक्त से हिंदू-मुस्लिम एकता की इमारत सिंचित होकर दृढ़ होगी। हम तो दंगे की सरकारी जांच, पुलिस के नवीन संघटन और तरह-तरह की तसल्ली देने वाली बातों की अपेक्षा विद्यार्थीजी के बलिदान से कहीं अधिक आशान्वित हुए हैं इसलिए विद्यार्थीजी की वीरगति पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर मूल को ही सींच कर संतोष कर लिया है। कानपुर की बस्ती हरी-भरी हो इसका एकमात्र उपाय हमें यही जान पड़ा है और इसे ही ध्रुव समझकर हम शाखा-उपशाखाओं को सींचने के भ्रम में नहीं पड़े हैं। अब भी हमारी यह निश्चित धारणा है कि जब तक हम गणेशशंकरजी जैसे पुरुषों के पथ का अनुकरण नहीं करते तब तक सरकारी अथवा गैर सरकारी जांचों और फैसलों से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता।

फिर भी सरकार की ओर से दंगे की जांच का जो कमीशन बैठा था, उसने अपना फैसला सुना दिया। जो बात प्रकाश की भांति स्पष्ट और सत्य की भांति प्रत्यक्ष थी कमीशन अथवा कोई भी उस पर किसी तरह की लीपा-पोती नहीं कर सकता था। कमीशन ने अपने फैसले

में पुलिस और जिला अधिकारी की सुस्त और लापरवाह नीति की खरी आलोचना की है और यह बतलाया है कि दंगे के शुरू में मुस्तैदी से काम लिया जाता तो कानपुर इस भयावह जन-संहार से बच जाता। कानपुर के हिंदू, मुसलमान, यूरोपियन, प्रमुख नागरिकों और फौजी अफसरों ने एकमत होकर सरकारी शांति और व्यवस्था के रक्षकों पर जो दोषारोप किया उसे न स्वीकार करना कमीशन की हिमाकत होती। कमीशन के आई.सी.एस. अध्यक्ष के लिए यह प्रशंसा की बात है कि उन्होंने अपने ही समकक्ष अफसर मिस्टर सेल के आचरण को प्रकट करने में आगा-पीछा नहीं किया परंतु ध्यान देने की बात यह है कि कमीशन ने निस्संकोच रीति से यह विज्ञप्ति की है कि दंगे का तात्कालिक कारण कांग्रेस की ओर से हड़ताल का कराया जाना है। यद्यपि गवाहों के एक विश्वसनीय समूह ने दंगे के अन्य कितने ही तात्कालिक कारण बताए थे पर कमीशन की निगाह में वे ठीक नहीं ठहरे, शायद वे उल्लेख के योग्य भी नहीं समझे गए। हमें इस संबंध में कमीशन से कोई शिकायत नहीं क्योंकि उसने अपने फैसले में कांग्रेस नेताओं और विशेषकर गणेशशंकरजी के शांतिस्थापन उद्योग की प्रशंसा की है और यह कहा है कि कांग्रेस का लक्ष्य झगड़ा खड़ा करना नहीं था। परंतु कमीशन के फैसले के इस अंश को लेकर विलायत के पत्रों ने जो अनर्गल और मिथ्या प्रलाप किए हैं वे अवश्य चिंतनीय हैं। विलायती *डेली मेल* पत्र में—गांधी पर कानपुर की चार सौ हत्याओं की जिम्मेदारी है—मोटा शीर्षक देकर कमीशन की रिपोर्ट छापी गई है। इस प्रकार की विद्वेषपूर्ण कार्रवाई का जो अनिष्ट फल ब्रिटेन और भारत के भावी संबंध पर पड़ सकता है और पड़ेगा, ब्रिटेन के *डेली मेल* जैसे अंधे पत्र उसका ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर रहे और अपनी ठीक-ठीक जिम्मेदारी नहीं समझ रहे। महात्मा गांधी और कांग्रेस जिस हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतीक हैं उसका अर्थ यदि कांग्रेस और गांधी के विनीत अनुयायी गणेशशंकरजी के बलिदान के बाद भी *डेली मेल* वालों को समझ में नहीं आया तो यह उनके लिए घोर ग्लानि की बात है।

कमीशन की रिपोर्ट तो जैसी-तैसी निकली भी, पर उसके आधार पर यू.पी. सरकार ने जो प्रस्ताव पास किया वह बड़े मार्के का है। सर मालकम हेली की सरकार ने पहले तो सत्याग्रह आंदोलन के व्यवस्थाभंगकारी अनिष्ट को कोसा है, फिर कानपुर की पुलिस के काफी तादाद में न होने का ऐलान किया है और अंत में यह प्रस्ताव किया है कि कानपुर के जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर सेल कानपुर में न रखे जाएं। सत्याग्रह आंदोलन पर समय-समय पर तरह-तरह के इलजाम लगाए गए हैं उनमें अब एक यह भी हुआ कि कानपुर की पुलिस सरकार की सत्याग्रह संबंधी नर्मनीति के कारण बड़ी शिथिल और निरीह हो गई थी। पुलिस की आदत में इस अप्रत्याशित परिवर्तन—कायापलट—का हाल सुनकर कुछ लोगों का यह भी खयाल हो सकता है कि पुलिस पर भी अहिंसात्मक असहयोग का प्रभाव पड़ गया था और इस दंगे में उसने उस असहयोग में बड़ी सफलता दिखलाई, पर उन्हें यह विचार बदल देना चाहिए। वास्तविक पुलिस वाले शिथिल और निरीह नहीं थे क्योंकि नृशंस हत्याओं और भयानक लूट-पाट को आंखों के सामने होते देखकर मुंह फेर लेना, ताश खेलने लगना (गवाहों ने ताश खेलने का जिक्र किया है) न तो शिथिलता है और न निरीहता। पुलिस की संख्या कम होने की बात कहकर

यह चेष्टा की गई है कि उसका अपराध कम से कम उग्र रूप में प्रकट किया जाए और इन सब चेष्टाओं के बाद अंत में मिस्टर सैल को कानपुर में न रखने का प्रस्ताव किया गया। इस प्रस्ताव का अर्थ क्या है ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता। जहां तक हम समझते हैं मिस्टर सैल कानपुर से बदलकर किसी दूसरे जिले में कर दिए जाएंगे। इस तरह के तबादले तो साधारण सरकारी दस्तूर के मुताबिक हैं और अकसर होते ही रहते हैं। इसमें मिस्टर सैल को न तो अर्थहानि है, न मानहानि है। यू.पी. की सरकार यदि कानपुर के इस इतिहास प्रसिद्ध अभूतपूर्व दंगे के फलस्वरूप एक अंग्रेज जिला अफसर की एक जगह से बदलकर दूसरी जगह कर देने का आयोजन ही कर सकती है तो इससे यह समझ में आ जाता है कि वह हिंदुस्तानियों की कितनी अधिक हितचिंतना करती है। पर अभी सर मालकम हेली के प्रस्तावानुसार डिपार्टमेंटल इनक्वायरी बाकी ही है। उसे भी हो जाने दें। उसे भी देख लें।

(शुक्रवार, 12 जून 1931)

मिस्टर बाल्डविन

दुनिया के कायदे के मुताबिक एक चीज की कीमत, दूसरी चीज के मुकाबले लगाई जाती है। जब एक दूसरे से अच्छी होती है तब कहा जाता है कि यह उससे अच्छी है। 'टके सेर भाजी और टके सेर खाजा' की रस्म अंधेर नगरी में ही चलती है और कहीं नहीं। किसी उपन्यास में यह कथा आई है कि एक प्रदेश में स्त्रियां ही स्त्रियां थीं, पुरुष थे ही नहीं। गनीमत है कि वैसा प्रदेश हमारे देखने में अब तक नहीं आया। उस उपन्यास का वह प्रदेश शायद चौपट हो गया था। मिस्टर बाल्डविन के लिए यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि दुनिया में तुलनात्मक आलोचना का प्रचलन है। यहां अंधों में काना राजा कहलाता है और एरंडोपिद्रुमाय की मसल मशहूर है। ब्रिटिश अनुदार दल के मिस्टर चर्चिल, लार्ड पील, वीभरब्रुक के राथरमियर, मेस्टन आदि आदमी ही नहीं कहलाते, राजनीतिज्ञ भी कहलाते हैं। इसके लिए संसार के अंध अंश को धन्यवाद देना होगा और उसका कृतज्ञ भी होना पड़ेगा। वे न होते तो आज चर्चिल प्रभृति को कौन पूछता? और यदि चर्चिल न होते तो उन्हें समय-समय पर फटकार बतलाने वाले, डांट-डपट करने वाले मिस्टर बाल्डविन को हिंदुस्तानियों की सहानुभूति और प्रशंसा कैसे मिलती?

एक जमाना था जब हिंदुस्तान में ब्रिटेन के खिलाफ चूं तक करने की हिम्मत यहां के उग्र से उग्र व्यक्ति को भी नहीं होती थी। हिंदुस्तान का शिक्षित समाज अंग्रेजी सभ्यता के रंग में सराबोर हो रहा था और पश्चिम की नकल में ही कीर्ति समझी जाती थी। उस समय के जीहुजूर राजनीतिज्ञ बड़े ही मुलायम शब्दों में यदि सरकार से किसी बात की प्रार्थना करते थे तो वह भी एक हलचल पैदा करने वाली चीज समझी जाती थी। कांग्रेस के अधिवेशन

अकसर बड़े दिन की छुट्टियों में हुआ करते थे और सामूहिक राष्ट्रीयता से उसे कोई मतलब नहीं था। हमारे यहां के मनीषी कविगण किसी तहसीलदार अथवा जिला अफसर के स्वागत अथवा विदाई में कविता बनाकर उन्हें सुनाने को लालायित रहते थे, सौभाग्य समझते थे। उस स्थिति में जब पहले पहल 'होमरूल' शब्द की सृष्टि की गई तो तमाम देश एक कोने से दूसरे कोने तक आतंकित हो गया। गर्म दल और नर्म दल बने। परंतु आज से दस वर्ष पहले जो गर्म दल था आज का नर्म दल उससे कहीं अधिक उग्र है। पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग किसी जमाने में एक क्रांतिकारी मांग समझी जाती थी पर आज नर्म दल भी उससे कम कुछ भी स्वीकार करने को तैयार नहीं। पूर्ण स्वतंत्रता (Full Independence) के पं. जवाहरलाल नेहरू के लाहौर वाले प्रस्ताव को सुनकर भारत का लिबरल दल आतंकित हो गया था पर विलायत के गुमराह दल की चाल से क्षुब्ध होकर इसी लिबरल दल का प्रमुख सहयोगी पत्र *लीडर* अपने हाल के अग्रलेख में इस तरह लिखता है–

> भारत को निश्चयपूर्वक वह 'स्वराज्य का सार' मिलना चाहिए जिसकी व्याख्या महात्मा गांधी ने की है। पिछले गोलमेज सम्मेलन की एक सब-कमेटी ने जो स्कीम पेश की है उससे 'स्वराज्य का सार' नहीं मिलता। हमें साफ-साफ कहना चाहिए कि स्कीम में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। ब्रिटेन के लार्ड मेंटन (अनुदार दल के सदस्य) सरीखे लोग जो कुछ विचार प्रकट करते रहते हैं उन पर जरा सा भी खयाल नहीं किया जा सकता। परंतु यदि अभाग्यवश ऐसे लोगों के विचार ही व्यवहार में लाए गए तो आत्मसम्मान रखने वाला प्रत्येक भारतवासी भारतमाता के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए 'पूर्ण स्वतंत्रता' की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कर लेगा। तब ऐसा युद्ध छिड़ेगा जो भीषण होगा और बहुत दिनों तक चलेगा। हमारे देशवासियों को अवर्णनीय कष्ट सहने पड़ेंगे। विपत्तियां झेलनी पड़ेंगी परंतु वह सब सहन करना ही पड़ेगा क्योंकि आत्मसम्मान खोने की अपेक्षा तो मर जाना अच्छा है।

निश्चय ही इस प्रकार के तेजस्वी उद्गार गर्म से गर्म दल के हो सकते हैं। इससे यह पता चलता है कि क्रम विकास के अनुसार भारत की राजनीति कितनी प्रचंड गति से आगे बढ़ रही है। राजनीति में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति मची हुई है। भारत में ही नहीं, संपूर्ण एशिया महादेश और विशाल पूर्वी भूखंडों में क्रांति की यह भीषणता समान रूप से देखी जा सकती है।

ऐसी अवस्था में यह आशा नहीं की जा सकती कि मिस्टर बाल्डविन अपनी भारत संबंधी नीति के प्रति भारतीयों से कुछ भी सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे। मिस्टर बाल्डविन निश्चय ही चर्चिल आदि बिगड़े दिल और बिगड़े दिमाग लोगों से अच्छे हैं। उन्होंने अपने मित्र लार्ड इर्विन को भारत का वाइसराय बनाकर अपना तथा अपने अनुदार दल का गौरव बढ़ाया था। पिछले गोलमेज के आसपास उनकी भारतीय नीति की काफी प्रशंसा की जाती थी। समय-समय पर अपने दल के ला-इलाज आदमियों की देखभाल कर मिस्टर बाल्डविन ने भारत

और ब्रिटेन के आपस के संबंध को प्रीतिपूर्ण बनाने की चेष्टा की थी। इन सबके लिए सब लोग उनकी प्रशंसा करेंगे। पर इधर हाल में वे अपने दल के अधिक गुमराह व्यक्तियों के हाथ के पुतले बनते दीख पड़ते हैं। यह उनके लिए बड़ी चिंता की बात है। तब दुनिया इस तेजी से आगे बढ़ रही है और जब भारत में इस तीव्रगति से विचारक्रांति मच रही है तब मिस्टर बाल्डविन का मैदान से पीछे हटना और अपने विद्रोही अनुयायियों को आगे बढ़ने का मौका देना हमें बुरी तरह खटकता है।

मिस्टर बाल्डविन यों ही अनुदार दल के हैं। वे यदि मिस्टर चर्चिल के पंजे में पड़ जाएंगे तो एक तो करेला, दूसरे नीम चढ़ा की बात हो जाएगी। इससे भारत और ब्रिटेन का संबंध और अधिक कड़ुवा हो जाएगा। बाल्डविन महोदय ने जब पिछले गांधी-इर्विन समझौते का समर्थन किया था तब हमें यह आशा हुई थी कि चर्चिल की दाल नहीं गल पाएगी। उसके बाद पिछले प्रसिद्ध सेंट जॉर्ज चुनाव में राथरमियर, वीभरब्रुक आदि के प्रबल प्रचार-साधनों के होते हुए जब मिस्टर बाल्डविन द्वारा निर्वाचित सदस्य की जीत हुई थी तब हमें उनकी शक्ति को समझने का मौका मिला था। देहली समझौते के बाद जब गोलमेज की वैठक भारत में करने की बात की जा रही थी और ब्रिटेन के प्रतिनिधि मंडल के भारत आने की तिथि ठीक की जा रही थी तब मिस्टर बाल्डविन ने अपने दल को भारत आने में असमर्थ बतलाकर हमें एक बार संशय में डाल दिया था पर पीछे से असमर्थता के कारण बतलाकर उन्होंने किसी अंश में समाधान भी कर दिया था। परंतु हाल में उन्होंने प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड से आगामी गोलमेज के संबंध में अपने जो विचार प्रकट किए हैं वे अत्यंत निराशाजनक रीति से पिछड़े हुए हैं। एक पत्र में मिस्टर बाल्डविन ने गोलमेज की तिथि आगे बढ़ा देने की सलाह दी है, पिछले सम्मेलन के संरक्षणों को ज्यों का त्यों रखने की राय जाहिर की है, फैडरल कमेटी में ब्रिटेन के कुछ अन्य आदमियों (अनुमानतः सर जॉन साइमन जैसे भारत विरोधी आदमियों) को शरीक करने का आग्रह किया है और कानपुर आदि के हिंदू-मुस्लिम दंगों का प्रसंग खड़ा कर भारत की अयोग्यता का ढिंढोरा पीटने का उपक्रम किया है। पत्र का उत्तर देते हुए मजदूर प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने स्पष्ट शब्दों में यह बतलाया है कि भारत की समस्या इतनी भीषण होती जा रही है कि शीघ्र से शीघ्र उसे हल करना अनिवार्य हो गया है। मजदूर सरकार इसी विचार को सामने रखकर जल्द से जल्द गोलमेज सम्मेलन की बैठक का प्रबंध कर रही है। संरक्षणों के संबंध में मिस्टर मेकडानल्ड ने देहली के गांधी-इर्विन समझौते की ओर मिस्टर बाल्डविन का ध्यान आकर्षित किया है जिसके अनुसार जो कुछ संरक्षण परिवर्तनकाल के लिए रखे जाएंगे वे भारत के हित की रक्षा के लिए होंगे। सर साइमन जैसे व्यक्तियों का फैडरल कमेटी में रखा जाना मिस्टर मेकडानल्ड को स्वीकार हो या न हो, उनके रखे जाने में दूसरी व्यावहारिक कठिनाइयां ही काफी से अधिक हैं। सर जॉर्ज साइमन जिस उदार दल के सदस्य बने हुए हैं उस दल के नेता लार्ड जॉर्ज से उनकी नहीं पटती और वे एक प्रकार से दल से बहिष्कृत हैं। ऐसी अवस्था में वे उस दल की ओर से नहीं चुने जा सकते और किसी दल की ओर से उनका चुना जाना तो अवैध होने के कारण संभव नहीं। यदि किसी दैवसंयोग से वे चुन भी लिये जाएं

तो उससे मिस्टर बाल्डविन की व्यक्तिगत तृप्ति भले ही हो भारत और ब्रिटेन के हित की रक्षा कदापि नहीं होगी। कानपुर के दंगे की जिम्मेदारी भारत के ऊपर नहीं लादी जा सकती। पूरी जिम्मेदारी ब्रिटेन और ब्रिटिश सरकार की नीति पर है। जब तक वर्तमान शासन चक्र बदलकर भारत में स्वराज्य सरकार नहीं कायम हो जाती है तब तक इस प्रकार के दंगे होते रहेंगे और स्वराज्य होते ही उनका नाम भी सुन पड़ना कठिन हो जाएगा। शर्त यह है कि वह स्वराज्य राष्ट्रीय स्वराज्य हो और संयुक्त-निर्वाचन की प्रणाली का अनुकरण एकता हो।

मिस्टर बाल्डविन एक समझदार और जिम्मेदार व्यक्ति हैं। अनुदार दल के होते हुए भी उन्होंने उदार दल के कहलाने वाले सर जॉन साइमन सरीखे कितने ही महानुभाव से कहीं अधिक उदारता का परिचय दिया है। अब तक उन्होंने अपने दल के विपथगामी सदस्यों को ठीक रास्ते पर लाने की कोशिश की है, अब उन्हें यह शोभा नहीं देता कि वे हार मानकर बढ़ जाएं अथवा विद्रोहियों को आत्मसमर्पण कर दें। मिस्टर बाल्डविन को अपने मित्र और सहयोगी लार्ड इर्विन से शिक्षा लेनी चाहिए। उन्हें भारत की स्थिति की *डेली मेल* जैसे अंधे पत्रों द्वारा समझने की चेष्टा न करनी चाहिए। इस समय अत्यंत उदार और निर्मल दृष्टि की जितनी आवश्यकता है, इसके पहले कभी नहीं थी। समय बदल गया है। भारत अपना लक्ष्य तय कर चुका है। ब्रिटेन को यह तय करना बाकी है कि वह भारत के उस लक्ष्य को प्राप्त करने में योग देकर उसकी कृतज्ञता और संसार का यश प्राप्त करेगा अथवा उसके मार्ग में बाधक बनकर उसके और अपने कष्टों को बढ़ाएगा और संसार की शांति में बाधा बनेगा। मिस्टर बाल्डविन ने अपने जीवन काल में कितनी ही बार अपने दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने का परिचय दिया है। एक बार फिर उसी का परिचय देकर वे चाहें तो अपनी कीर्ति बढ़ा सकते हैं। परंतु यदि वे ऐसा न भी करें तो भी भारत तो अपने निश्चित लक्ष्य—स्वराज्य—तक किसी न किसी तरह पहुंचेगा ही क्योंकि एक सपूर्ण राष्ट्र की बलवती शक्ति जब जाग्रति हो जाती है तब बिना अपनी लक्ष्य सिद्धि किए बीच में विश्राम नहीं लेती—Freedom's battle on ebgonis ever won.

(सोमवार, 15 जून 1931)

देशी राज्य

हम लोग महान ब्रिटिश साम्राज्य के ब्रिटिश भारत में रहते हैं इसलिए अकसर देशी राज्य अपने ही देशवासियों के प्रति तिरस्कार अथवा कम से कम उदासीनता के भाव रखते हैं। साम्राज्य की कृपा से हम समझते हैं कि हम उन देशवासियों से काफी अधिक लंबे-चौड़े हैं, काफी अधिक भरे पूरे हैं और दिमागदारी, शिक्षा आदि में तो हममें-उनमें आकाश-पाताल का अंतर है। हमें यह शिक्षा दी गई है और समझाया गया है कि हम लोगों की राष्ट्रीय प्रगति बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई है और हममें राष्ट्रीयता की भावना तो नस-नस में समा चुकी है। देशी

राज्यों में यहां के-से नागरिक अधिकार नहीं हैं; वहां प्रजा पर पुराने तरीके से मनमानी की जाती है और चेतन न होने के कारण वहां के रहने वाले उसे सहने में अभ्यस्त भी हो गए हैं। कहा जाता है कि ब्रिटिश भारत की समस्याएं ही कुछ दूसरी हैं, देशी राज्यों का मामला बड़ा पेचीदगी लिये हुए है और जटिल है। वहां के राजा ने ब्रिटिश साम्राज्य की जिस प्रकार की साधना की है और जो शर्त स्वीकार की हैं उनके कारण उनकी संपूर्ण स्थिति ही कुछ ऐसी हो गई है जिसे ब्रिटिश भारत के रहने वाले या तो समझ ही नहीं सकते या समझने की चेष्टा में व्यर्थ समय और शक्ति का अपव्यय करते हैं। इस प्रकार की बात ब्रिटिश भारत में काफी बड़े पैमाने में फैली हुई है कि जिनके कारण हम अपने देशवासियों, अपने पड़ोसियों तक को बेगाना समझने लगे हैं। हमारी राष्ट्रीय भावना की जाग्रति का पता इतने से ही लग सकता है कि हम सुदूर अफ्रीका तथा अन्य भारतीय उपनिवेशों आदि की चर्चा तो काफी अधिक करते हैं पर पास-पड़ोस के सटे हुए देशी राज्यों के संबंध में बिलकुल अनजान बने हुए हैं। कृत्रिम भेदभाव बढ़ता जा रहा है और हम अब भी अचेत पड़े हैं।

सबसे पहले हमें यह सीधी-सी बात समझनी चाहिए कि हम सब भारतवासी हैं। देशी राज्य भी भारत के ही अंग हैं। भारतीय राष्ट्र से उसका संबंध अटूट है। एक ही सभ्यता का प्रवाह, एक ही प्रकार के संस्कार हम सबमें व्याप्त हो रहे हैं। जो कुछ भेदभाव है, वह बनावटी है। हम न तो देशी राज्यों की प्रजा की अपेक्षा अधिक सभ्य है, न अधिक संस्कृत। शायद कुछ कम ही हों तो कोई आश्चर्य नहीं। जिसे शिक्षा कहते हैं, वह हममें उनसे अधिक नहीं। राष्ट्रीय चेतना का हाल तो इतने से ही समझिए कि वे हमें अपना भाई कहकर पुकारते हैं पर हम उनकी आवाज तक नहीं सुनते। संधियों और शर्तों की बात बिलकुल व्यर्थ है। हमारे सामने पहला सवाल संधियों और शर्तों का नहीं है, पहला सवाल मनुष्यता का है। चाहे वे देशी नरेश हों, चाहे देशी रियासतों की प्रजा हो अथवा महान् ब्रिटिश साम्राज्य के महान् ब्रिटिश भारत के गौरवसंपन्न निवासी हों, सबसे पहली आवश्यकता मनुष्य बनने की है। शताब्दियों से अन्यायपूर्ण और अत्याचारपूर्ण शासन के चक्र में पड़कर हम टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं और यह बात भूल गए हैं कि हम सब टुकड़े एक ही प्रधान पिंड—एक ही महान राष्ट्र के हैं। चाहे किसी प्रकार की संधियां हों, चाहे किसी प्रकार के शर्तनामे हों हमारा यह प्राथमिक अधिकार उन सबसे बढ़कर है कि हम दायित्व की बेड़ी तोड़कर स्वतंत्र हों और पिछले कई सौ वर्षों के अंधकार से निकलकर प्रकाश में आवें। आर्य सभ्यता और आर्य जीवन का एक बार फिर से संघटन हो इसके लिए हमें अपनी संपूर्ण शक्ति लगा देनी होगी। हमें झूठे नकली और स्वार्थपूर्ण भेदभाव को ठुकराकर अलग कर देना होगा और जो सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है—भारत की मुक्ति का प्रश्न—उस पर ध्यान देना होगा।

कांग्रेस का आंदोलन अब तक ब्रिटिश भारत में ही चलता रहा। देशी राज्यों में नहीं फैलाया गया। यह व्यावहारिक दृष्टि से चाहे जैसा हो पर राष्ट्रीय एकता में इससे बाधा ही पड़ी। एक अंग आदि अधिक पुष्ट हो जाए और दूसरा अधिक निर्बल बना रहे तो यह राष्ट्र शरीर का अर्द्धांग रोग बड़ा ही भयानक हो जाएगा। आज नहीं तो कल अवश्य हमको इसके लिए चिंतित

होना पड़ेगा। हमें यह मालूम होना चाहिए कि जिस तरह हम वर्तमान शासन के कठोर भार में दबे हुए कष्ट पा रहे हैं, हमारे भाई देशी राज्य वाले भी वैसी ही स्थिति से होकर गुजर रहे हैं। हम झूठ-मूठ ही बड़े बनें लेकिन यह समझ लें कि हमारी हालत उनकी हालत से किसी तरह अच्छी नहीं। जिस तरह हिंदू और मुसलमानों में जातीय एकता स्थापित हुए बिना स्वराज्य का मिलना कठिन है और स्वराज्य मिलने पर उसका चलना और भी कठिन है, ठीक उसी तरह देशी राज्य और ब्रिटिश भारत की प्रादेशिक और राष्ट्रीय एकता के बिना संपूर्ण भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास कदापि नहीं हो सकता। यह संयोग की बात है कि पिछले गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर अचानक एक ऐसे विधान की कल्पना की गई जिसमें राज्य संयुक्त और संघवद्ध होकर रखे गए। इस कल्पना के लिए हमें किसी का कृतज्ञ नहीं होना है। केवल भाग्य को सदैव ही सराहना है। कभी-कभी अनायास ही बहुत बड़ा सत्य आविर्भूत हो जाता है। यह विधि का विधान है। संघ शासन की कल्पना में भी इसी विधि-विधान का हाथ रहा है, नहीं तो भारतीय राजनीतिज्ञों में अधिकांश ने भारत के दो टुकड़े मान लिये थे और उनके ऐसा मानते रहने में ही अधिकारी वर्ग का हित था और स्वार्थ था।

ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों का संघ भारत के राष्ट्रीय स्वराज्य शासन के लिए हमें अनिवार्य जान पड़ता है। यदि हम थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें (यद्यपि वस्तुतः हम ऐसा मानते नहीं हैं) ब्रिटेन ब्रिटिश भारत को स्वराज्य दे देगा और ब्रिटिश भारत की केंद्रीय व्यवस्था-सभा के हाथ में ही शासनाधिकार आ जाएगा, फिर भी आधे भारत का प्रश्न हल नहीं होता। प्रसिद्ध सर जॉन साइमन साहब का प्रसिद्ध कमीशन जब भारत भ्रमण कर रहा था उस समय तक देशी राज्य और ब्रिटिश भारत के संघबद्ध होने की कल्पना प्रगाढ़ होकर किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में नहीं थी। लार्ड इर्विन महोदय ने अपनी सरकार की ओर से जो खरीता विलायत भेजा था उसमें भी संघ शासन की स्कीम दृढ़ नहीं थी। अचानक देशी राज्यों के कुछ उदार नरेशों और भारतीय राजनीतिज्ञों के संभाषण से संघ शासन की कल्पना सारपूर्ण होकर सामने आई। गोलमेज सम्मेलन को जो थोड़ी-बहुत सफलता मिली और केंद्रीय उत्तरदायित्वपूर्ण शासन को भारतीयों के हाथ में देने की जो बात स्वीकार की गई उसका बहुत कुछ श्रेय इसी ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के संघशासन के मस्विदे को है। ब्रिटिश प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड के गोलमेज के अंतिम महत्वपूर्ण भाषण में यह कहा गया है कि देशी नरेशों की उदार वृत्ति के कारण संघशासन की कल्पना की जा सकी और उसी के फलस्वरूप भारत को केंद्रीय शासन का अधिकार देने का प्रस्ताव किया जा सका। हमें यहां यह विचार करने का अवसर नहीं है कि वास्तव में यह एक मात्र देशी नरेशों की उदारता थी अथवा जैसा कुछ लोगों का विचार है, इसमें कुछ ऐतिहासिक कारण थे और ब्रिटेन का स्वार्थ था। पर इतना तो निश्चय है कि संघशासन का मस्विदा स्वीकार कर लेने से भारतीय स्वराज्य के प्रश्न को हल करने में सहायता मिली और अधिक नहीं तो कम से कम भारत की प्रादेशिक और राष्ट्रीय एकता की समस्या सुलझ गई है।

राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी संघशासन की उपयोगिता मान ली है और इधर उसने देशी राज्यों की ओर कुछ ध्यान देना भी शुरू किया है। महात्मा गांधी ने कई बार प्रमुख देशी नरेशों से

मिलकर बातचीत की है। देशी राज्यों की पूजा के लिए कुछ प्राथमिक नागरिक अधिकारों की व्यवस्था करने की कोशिश कांग्रेस की ओर से की जा रही है। राष्ट्रीय नेता संघशासन की समस्या की ओर उचित ध्यान देकर यह प्रयत्न कर रहे हैं कि संघशासन विधि के सब दोष दूर कर दिए जाएं जिनसे जनसत्तात्मक स्वराज्य की मांग में बाधा पड़ती है और उसे राष्ट्रीय भारत की पूर्ण राष्ट्रीय शासन विधि बना दिया जाए। निकट भविष्य में यह संभव नहीं है कि सभी देशी नरेश अपने राज्यों में प्रतिनिधिशासन प्रारंभ कर दें और देशी राज्यों के जो प्रतिनिधि केंद्रीय व्यवस्था-सभा में जाएं वे राजाओं के द्वारा न चुने जाकर, प्रजा के द्वारा चुने जाएं पर ऐसी कोशिश अवश्य होनी चाहिए कि जहां तक संभव हो संघशासन वास्तव में राष्ट्रीय शासन हो और उसके द्वारा भारत का स्वराज्य का सार मिलता हो।

परंतु 'देखि न सकैं पराइ बिभूति' की मसाल मशहूर है। विलायत के *मार्निंग पोस्ट* जैसे घोर भारत विद्वेषी पत्र तथा भारत के एंग्लो-इंडियन पत्र में यह खबर विज्ञाप्ति की जा रही है कि देशी नरेशों की अधिक संख्या संघशासन का विरोध करती है और गोलमेज में जिन देशी नरेशों ने उसका समर्थन किया था वे भी अब उसके विपक्ष में हो गए हैं। *मार्निंग पोस्ट* ने पटियाला नरेश का उदाहरण दिया है और उनकी एक विज्ञप्ति भी प्रकाशित की है। पटियाला नरेश ने आज ही एक लंबा वक्तव्य निकालकर संघशासन को खतरनाक बतलाया है। इस वक्तव्य पर हम पीछे कभी विचार करेंगे। पर इतना तो हम निस्संकोच कह सकते हैं कि संघशासन का विरोध करके पटियाला नरेश ने गोलमेज में कही हुई अपनी बातों का खंडन किया है। पटियाला नरेश ने संघ शासन की जड़ काटकर कोई रचनात्मक प्रणाली नहीं पेश की। राष्ट्रीय कांग्रेस के गोलमेज में शरीक होने की खबर से बहुत से देशी नरेशों का असमंजस में पड़ना स्वाभाविक है। उनके स्वार्थ में बाधा पड़ेगी ही। परंतु थोड़े से व्यक्तियों के स्वार्थ की जिद पर राष्ट्रीय हित का बलिदान नहीं चढ़ाया जा सकता। राष्ट्रीय भारत संघशासन चाहता है और उसे पूर्ण राष्ट्रीय रीति से चलाना चाहता है। प्रसन्नता की बात है कि देशी नरेश परिषद (Chamber of Princes) के अध्यक्ष नवाब भूपाल ने विज्ञप्ति निकालकर यह सूचना दी है कि नरेंद्र मंडल संघशासन का हिमायती है। आशा है, देशी राज्यों के अधिपति अपने थोड़े से स्वार्थ के फेर में पड़कर उन कट्टर भारत-विरोधी प्रचारकों के चंगुल में नहीं फसेंगे जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य मतभेद फैलाकर भारतीय स्वराज्य की मांग में रोड़े अटकाने के अलावा और कुछ नहीं।

देशबंधु चित्तरंजन दास की स्मृति में—1

महात्मा गांधी और स्वर्गीय देशबंधु

आज से छह वर्ष हुए देशबंधु चित्तरंजन दास की अचानक और अकाल मृत्यु से सारे देश में सन्नाटा छा गया था। क्षोभ के कारण उस समय समस्त देश के आंसू सूख गए थे और किसी

के मुंह से बात तक नहीं निकलती थी। शत्रुओं तक ने उनका लोहा मानकर भक्ति से उस समय, आकर्षक और तेजस्वी व्यक्ति पर प्रशंसा के फूल बरसाए थे। उनके प्रशंसकों की तो बात ही क्या है, उनके विरोधी और छिद्रान्वेषी भी उनकी तन्मय होकर काम करने की मस्ती, शक्ति, आत्मत्याग के महान आदर्श, सर्वस्व निछावर करने की धुन आदि की मुक्तकंठ से स्वीकार करते थे। आज छह वर्षों के बाद भी वे देशवासियों के हृदय-सिंहासन पर विराजमान हैं।

बढ़ी-चढ़ी बैरिस्टरी

दास बाबू का सार्वजनिक जीवन कुछ अधिक अवस्था में प्रारंभ हुआ था पर लोकसेवा के क्षेत्र में आते ही अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व, असाधारण कार्य क्षमता और अनिंद्य आत्मत्याग के कारण वे शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गए। सन् 1908 के प्रख्यात अलीपुर षड्यंत्र के मुकदमे में देशबंधु ने श्री अरविंद बाबू की पैरवी की और इसी मुकदमे में उनकी उच्च प्रतिभा तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति सहानुभूति का पता लगा। उन्होंने जिस कवित्वपूर्ण उद्वेग और ओजस्विता के साथ बहस की इसके कारण देखते ही देखते उनका नाम बंगाल के घर-घर में फैल गया। स्मरण रखना चाहिए कि उस समय बंगाल में बड़े-बड़े व्यक्तियों और नेताओं की कमी नहीं थी पर उनके बीच में श्री दास की कीर्ति इतनी शीघ्रता से फैली कि देखकर आश्चर्य होता है।

आठ वर्ष बाद वे बंगाल प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति चुने गए। यहीं से वस्तुतः उनके सार्वजनिक जीवन का श्री गणेश हुआ। सन् 1917 की कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने श्री बीसेंट को सभापति बनाने में योग दिया था। यहीं उन्होंने स्वराज्य के प्रस्ताव का शक्तिपूर्ण और ओजस्वी रूप से समर्थन किया था और छिंदवाड़ा में कैद अली बंधुओं का पक्ष ग्रहण किया था।

पंजाब हत्या कांड

परंतु सारे देश को देशबंधु चित्तरंजन दास का पता पंजाब हत्याकांड के अवसर पर लगा। उसी समय स्वर्गीय पं. मोतीलाल नेहरू को भी देशवासियों ने पहचाना। जब चित्तरंजन दास कांग्रेस की ओर से हत्या कांड की जांच करने पंजाब गए तब उन्होंने अपना खर्चा खुद बर्दास्त किया, यही नहीं, उन्होंने लगभग 50 हजार रुपए और भी अपनी ओर से व्यय किए और बांटे। महात्माजी ने इसी मौके पर लिखा था कि प्रार्थियों के प्रति अपनी उदारता के कारण चित्तरंजन दास नवयुवक हृदयों के अद्वितीय सम्राट बन गए हैं। श्री जयकर ने इसी अवसर पर बतलाया था कि पंजाब हत्याकांड का कितना महान प्रभाव देशबंधु पर पड़ा। उन्होंने लिखा कि देश की दरिद्रता, असमर्थता और विवशता नंगी होकर दास महोदय की आंखों के सामने नाचने लगी थी। भारतवासियों का रहन-सहन और स्वास्थ्य कितने गिरे हुए हैं इनका अनुभव उन्हें यहीं हुआ और सरकारी शांति और व्यवस्था से उनका विश्वास यहां से उठ गया। उन्होंने यहां

समझा कि भारत पर अंग्रेजी राज्य एक प्रकार का गुप्त और प्रच्छन्न मार्शल लॉ है। मौका आते ही वह गुप्त मार्शल लॉ अपना भीषण नग्न रूप किस तरह दिखला सकता है। यह उन्होंने जलियांवाला में देख लिया।

महात्माजी से मुठभेड़

सन् 1919 की अमृतसर कांग्रेस मोतीलाल नेहरूजी के सभापतित्व में हुई थी। उसमें सबसे प्रभावशाली व्यक्ति गांधी, तिलक और दास थे। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति महारथी की भांति अपने-अपने पक्ष का संचालन करता था। सुनकर आश्चर्य होता है कि सरकारी सुधारों के संबंध में महात्माजी तो सरकार से सहयोग करने के पक्ष में थे और चित्तरंजन दास कौंसिलों से असहयोग करने अथवा अड़चन डालने के पक्ष में थे। कांग्रेस में दो दल हो जाने की आशंका हो रही थी पर लोकमान्य तिलक ने 'उत्तरदायी सहयोग' का मस्विदा तैयार कर समझौता कराया। उस 'उत्तरदायी सहयोग' पर महाराष्ट्र के राजनीतिक नेता आज भी अड़े हुए हैं।

कुछ ही महीनों के बाद खिलाफत की समस्या उठ खड़ी हुई और हंटर कमेटी की रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई। इन दोनों के कारण देश भर में हलचल मच गई और लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस की बैठक की गई। महात्मा गांधी उसी समय के लगभग हजारों भारतवासियों के अभूतपूर्व नेता बनने लगे थे। कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने असहयोग आंदोलन चलाने का विचार और कार्यक्रम प्रकट किया। परंतु श्री चित्तरंजन दास असहयोग के विरुद्ध अमृतसर कांग्रेस के उसी निर्णय पर दृढ़ थे। दास महोदय ने प्रस्ताव किया कि राष्ट्रीय दलवाले सरकार के मंत्रिपद अथवा अन्य किसी भी जिम्मेदारी का सरकारी स्थान नहीं स्वीकार करेंगे। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि यदि राष्ट्रीय दल अल्पसंख्या में हुआ तो वह अच्छे-बुरे सब तरह के सरकारी प्रस्तावों का विरोध करेगा और यदि अधिसंख्या में हुआ तो इस्तीफा देकर फिर से चुनाव में शामिल होगा और फिर इस्तीफा देगा। इसी तरह के अड़ंगे खड़े किए जाएंगे परंतु स्पेशल कांग्रेस में महात्मा गांधी के अध्यात्मोन्मुख पवित्र व्यक्तित्व ने विजय प्राप्त की और उनका असहयोग प्रस्ताव पास हो गया। फलस्वरूप श्री दास ने कांग्रेस की आज्ञा मान ली और अपने सहयोगियों के साथ स्वयं भी व्यवस्था-सभाओं से इस्तीफा देकर अलग हो गए। परंतु 1920 की नागपुर कांग्रेस में महात्माजी से उनकी फिर मुठभेड़ हुई।

(शुक्रवार, 19 जून 1931)

फिर मिस मेयो

जगतजाहिर अमेरिकन महिला शिरोमणि, कुमारी 'मिस मेयो' की *मदर इंडिया* का दूसरा भाग

भी, सुनते हैं, प्रकाशित हो गया है। सुनते ही हैं अब तक देखने की नौबत नहीं आई और भगवान से प्रार्थना है कि किसी भी भले आदमी को वैसी नौबत न आए। कुमारी मेयो देवी की *मदर इंडिया* की पहली किस्त देखकर लोगों को उनके संबंध में तरह-तरह की दिल्लगी उड़ाने का मौका मिला था और उनकी बदौलत सैकड़ों मनोरजंनप्रिय लेखकों और पाठकों के घर घी के दीये जलते थे। सैकड़ों पत्रकारों की किस्मत खुली थी। मिस महोदया की कहानियों, चित्रों-कार्टूनों तक से हमारे देश के पत्रों के पृष्ठ के पृष्ठ रंगे रहते थे। *मदर इंडिया* के लिए फादर इंडिया की सृष्टि भी की गई क्योंकि यह अमेरिकन प्रथा के अनुकूल भी था। स्वर्गीय लाला लाजपत राय जैसे महारथी भी मैदान में उतरने को विवश हुए क्योंकि भीष्म के द्वारा ही शिखंडी की पोल खुल सकती थी। भारत की विदुषी देवी सरोजिनी उसी अवसर पर अमेरिका गईं और हिंदू नारीत्व की प्रसन्न झलक से मिस मेयो के देशवासियों को मोहित कर आईं। महात्मा गांधी के पिछले सत्याग्रह संग्राम में भारतीय महिलाओं ने जो अश्रांत शौर्य और पराक्रम दिखाया वह सारे संसार के साथ-साथ अमेरिका के भावुक, सारग्राही हृदय को अपनी ओर खींच लेने में—अपना बना लेने में समर्थ हुआ। कहा जा सकता है कि आज भारतीय स्वतंत्रता से सहानुभूति रखने वाले राष्ट्रों में कुमारी मेयो का अमेरिका ही अग्रगण्य है।

पर कुमारी मेयो महोदया को इससे क्या? अमेरिका का क्या रुख है। संसार क्या समझकर किस ओर बढ़ रहा है। ये सब सवाल किसी सौभाग्यशाली 'सुहागिन' के विचार करने और समझने योग्य हैं। कुमारी मेयो यह सब पचड़ा लेकर क्या करेंगी, उनके आगे-पीछे है ही कौन जो दुनिया भर का बोझ अपने दुर्बल कंधे पर लादती फिरें? 'काहू की बेटी सों बेटो न ब्याहनो' तो तुलसीदास कह ही चुके हैं। कुमारी महोदया के लिए तो ही इतना ही काफी है कि वे अपनी ऐषणाओं को देखें और अपने स्वार्थ को देखें। विलायत के खर्चीले (उदार) प्रकाशकों को मिस मेयो और मिस मेयो का उनसे फायदा होता है तो दोनों के बीच में किसी को कुछ भी कहने का क्या अधिकार है।

सुना जाता है कि इस दूसरे भाग में कुमारी महोदया ने एकमात्र हिंदू-बाल-विवाह प्रथा के प्रदूषण दिखाने का कष्ट स्वीकार किया है। बाल-विवाह समाज के लिए अनिष्टकर है और आधुनिक हिंदू समाज में उसका प्रचलन भी उचित से अधिक है। पर कुमारी मेयो बाल विवाह का पाप एकमात्र हिंदू जाति के ऊपर ही मढ़ती हुई फर्माती हैं, 'बाल विवाह का सिद्धांत(!) एकमात्र हिंदू सिद्धांत है, इसकी तमाम जिम्मेदारी हिंदुओं पर है और यह हिंदुओं का ही फर्ज है कि वे इसके अनिष्ट की ओर ध्यान दें।' कुमारी की इन पंक्तियों में असत्य कूटकर भरा गया है। प्राचीन भारत में बाल विवाह की प्रथा का प्रचलन नहीं था, यह कितने ही बार सिद्ध किया जा चुका है। मध्यकाल में यह प्रथा यहां प्रचलित हुई। इतिहास के जानकार इस बात के साक्षी हैं कि प्राचीन ग्रीस और रोम के साम्राज्यों में बाल विवाह होता था और आज के सभ्य इंग्लैंड में भी उसका प्रचार है। कुछ दिन हुए अंग्रेजों के हिमायती पत्र *पायोनियर* ने अंदाज लगाकर बतलाया था कि अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन में आज भी लगभग पचास प्रतिशत विवाह नाबालिग वर-वधू के बीच होते हैं।

यदि सच पूछा जाए तो आधुनिक हिंदू समाज में बाल विवाह कुछ तो शिक्षा के अभाव के कारण फैले हुए अज्ञानवश किए जाते हैं और कुछ आर्थिक कारणों से भी किए जाते हैं। प्रसन्नता की बात है कि भारत उसे दूर करने का सामूहिक प्रयत्न कर रहा है। इस पतित अवस्था में भी हिंदुस्तान के बाल विवाह या किशोर विवाह का उद्गम यूरोप की भांति विलास-वासना में नहीं है। यह बात हमारे यहां की द्विरागमन (गोने की) प्रथा से सिद्ध हो जाता है। विवाह के बाद ही बालिका वधू बालक वर के समीप नहीं पहुंचाई जाती, वर्षों तक अलग रखी जाती है। पूज्य मालवीयजी ने शारदा बिल के संबंध में बहस करते हुए इस हिंदू-प्रथा की सराहना की थी। परंतु कुमारी मेयो यदि इन बातों पर ध्यान देतीं तो वे अपना राजनीतिक षड्यंत्र कैसे रच सकती थीं। सत्य को समझने का प्रयास और लांछन लगाने की दुष्ट चेष्टा 'दुई न होइ एके संग भुवालू'।

बालकों के प्रति विशेषकर भारतीय और हिंदू बालकों के प्रति आपकी ममता देखकर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है। अहा कितना महान आत्मोत्सर्ग है। आप लिखती हैं कि हिंदू बाल विवाह की कुप्रथा के फलस्वरूप भारत में बलहीन और निःशक्त संतान पैदा होती है। अतएव वहां बालकों की मृत्यु संख्या बहुत अधिक बढ़ी हुई है। कुमारी महोदया ने यह नहीं बतलाया कि इस भयानक मृत्यु संख्या के कारण आपको नींद आती है या नहीं। अबला कुमारी को कोई यह सलाह क्यों नहीं देता कि आप इस माया-ममता में पड़कर क्यों अपने मूल्यवान जीवन को इस तरह बरबाद कर रही हैं। कम से कम हमारा तो यह कर्तव्य है कि हम मिस साहिबा को यह विश्वास दिलावें कि बालकों का अधिक प्रतिशत मृत्यु का कारण बाल विवाह उतना नहीं है, जितना देश की दरिद्रता और विपन्नता है। शिशुओं का लालन-पालन करने के उचित साधन नहीं हैं, द्रव्य नहीं है। देहातों में शिशुओं की मृत्यु संख्या उतना नहीं है जितना शहरों में है यद्यपि बाल विवाह देहातियों में ही अधिक फैला हुआ है। गंदगी से भरे मकान, बेरोजगारी, अशिक्षा—पराधीनता की इस करुण कहानी को कुमारी मेयो ने नहीं देखा और सुना भी नहीं।

हम कह नहीं सकते कुमारी मेयो इस खबर को सुनकर प्रसन्न होंगी, चकित होंगी या दुःखित होंगी कि भारत की हिंदू महिलाएं अब जाग रही हैं और हिंदू समाज की मातृमूर्ति अब सचेतन हो रही है। बालविवाह ही नहीं, प्रत्येक प्रकार की सामाजिक हिंसा (हमें हिंसा ही इसके लिए उपयुक्त शब्द जान पड़ता है) का अंत करने की तैयारी की जा रही है और सबसे पहले राजनीतिक अहिंसात्मक अस्त्र द्वारा उस मूल पर कुठाराघात किया जा रहा है जिससे अनेक सामाजिक कुसंस्कारों की शाखा-प्रशाखाएं निकलकर फैली हुई हैं।

(शुक्रवार, 19 जून 1931)

लिबरल फेडरेशन

अखिल भारतीय लिबरल फैडरेशन का आगामी अधिवेशन बंबई में होने वाला है। प्रसन्नता

की बात है कि फैडरेशन ने इस अधिवेशन के लिए श्री चिंतामणि को अपना प्रधान बनाया है। भारतीय नर्म दल की इस प्रसिद्ध संस्था के जन्मदाता स्वर्गीय सर सुरेंद्र नाथ बनर्जी के जैसे महानुभाव थे और पिछले वर्षों में इसने अपने ढंग से संयमपूर्वक देशसेवा की है। यद्यपि नर्म दल को लोकमत की वाहवाही नहीं मिल सकी फिर भी इसने भारतीय राजनीति में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। भारत के अनेक विद्वान व्यवस्थाविद् और देशप्रेमी सज्जन इस दल के नेता रहे हैं और प्रसिद्ध साइमन कमीशन के भारत आने के समय से लेकर पिछले गोलमेज सम्मेलन तक इस दल ने भारत की व्यावहारिक राजनीति में भी अच्छा भाग लिया है। सर्वदल सम्मेलन, नेहरू रिपोर्ट आदि इस युग की जो प्रधान घटनाएं और रचनाएं है वे इस दल की सहायता से विशेष महत्वपूर्ण हुई हैं। आगामी अधिवेशन के लिए श्री चिंतामणि का सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुना जाना इस बात का प्रमाण है कि फैडरेशन के नर्म विचारों में काफी परिवर्तन हो चुका है और समय की गति के अनुसार वह भी आगे बढ़ रहा है। इस बार बंबई का अधिवेशन विशेष महत्वपूर्ण होगा क्योंकि इसमें वह नीति तय की जाएगी जिसके अनुसार आगामी गोलमेज में नर्म दल के प्रतिनिधि काम करेंगे। पिछले गोलमेज की कार्रवाई से श्री चिंतामणि संतुष्ट नहीं हैं और वे अनेक बार गांधीजी के 'स्वराज के सार' के लिए आग्रह कर चुके हैं। हमारा विश्वास है कि देशहित की दृष्टि से लिबरल फैडरेशन ने भी चिंतामणि को अध्यक्ष बनाकर बड़ी दूरदर्शिता दिखाई है। आगामी गोलमेज में राष्ट्रीय मांगों को एकमत होकर रखने की सबसे अधिक आवश्यकता है। कांग्रेस और लिबरल फैडरेशन की मांगों में ऐसे भी विशेष अंतर नहीं था पर श्री चिंतामणि के अध्यक्ष होने से तो वह अंतर प्रायः एक दम ही मिट गया। फैडरेशन की इस चुनाव के लिए हम हार्दिक बधाई देते हैं। इसमें हमें नर्म दल के ही नहीं, सारे देश के उज्ज्वल भविष्य की झलक दीख पड़ती है।

देशबंधु चित्तरंजन दास की स्मृति में–2

दास और गांधी

श्री जयकर ने इन दोनों (गांधी और दास) की महती शक्तियों का बड़े ही सुंदर शब्दों में उल्लेख किया है। आपने लिखा है–

> ओजस्वी, प्रभावशाली, व्यवस्थाविद, कानून के प्रमुख विशेषज्ञ सुगठित और लंबे शरीर के श्री चित्तरंजन दास की नम्र, विनीत, दुर्बल और क्षमायाचक गांधीजी से क्या तुलना हो सकती थी? नागपुर कांग्रेस के प्रत्येक विवाद में यह देखा जा सकता था कि ये दोनों ही एक ही लक्ष्य की ओर अपने-अपने मार्ग से किस तरह बढ़ रहे थे। चित्तरंजन दास एक मजबूत हथौड़े की तरह प्रत्येक वस्तु को ठोंक-पीटकर अपनी रुचि के अनुकूल बना

लेते थे परंतु गांधीजी एक हल्की रेती की तरह बिना आवाज किए अपना काम करते थे। प्रत्येक अवसर पर गांधीजी अपने सत्य और अपने तर्क से विजय पाते रहे।

अनुभव वृद्धि

फिर भी दास महोदय ने नागपुर कांग्रेस पर अपनी छाप अवश्य लगाई और व्यवस्था-सभा संबंधी प्रस्ताव में उनकी रुचि के अनुकूल काफी फेरफार किया गया।

देशबंधु दास और महात्माजी में विचार भेद और मतभेद बहुत अधिक थे फिर भी दास महोदय महात्माजी की आध्यात्मिक और संत प्रकृति के वश में हो गए। अपनी बढ़ी-चढ़ी बैरिस्टरी और उसकी सहगामिनी विलास प्रणाली के रहते हुए भी देशबंधु देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं पर सदैव ध्यान रखने लगे। धीरे-धीरे उन्हें यह बोध हुआ कि जनता का त्राण करने के लिए यह आवश्यक है कि सब धंधे छोड़कर लोक सेवा में तन्मय हुआ जाए। फलतः सन् 1921 में उन्होंने अपनी बेहद बढ़ी हुई बैरिस्टरी की बेशुमार आय को ठोकर मार अलग कर दिया और आत्मत्याग के उस महान कार्य से नौजवान बंगाल के आराध्यदेव सख्य देशबंधु बन गए।

देशबंधु के इस अद्‌भुत प्रभाव को देखकर बंगाल सरकार दंग रह गई और उसने क्रिमिनल-लॉ-अमेंडमेंट और राजद्रोही सभा संबंधी नए विधान बनाकर उन्हें दबाना चाहा। परंतु दास बाबू की शंखध्वनि सुनकर बंगाल का नवयुवक समूह इतने वेग से जेलों की ओर बढ़ा कि बंगाल सरकार को नाकों दम आ गया। दास बाबू के पकड़े जाते ही सारे देश में प्रचंड क्रोध उमड़ पड़ा। फरवरी 1922 में उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें छह महीने की सजा दी गई। संपूर्ण देशवासी देशबंधु को हंसते-हंसते जेल-जीवन की कठोरता स्वीकार करते देख श्रद्धा से उनके चरणों में नत हुए।

गया का विद्रोह

जेल से छूटने पर दास महोदय ने जो भाषण दिए और जो विज्ञप्तियां निकालीं उनसे उनकी बदली हुई मनोवृत्ति का परिचय मिला। वे कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तन कर कौंसिलों में घुसना और सरकारी काम पर कब्जा करना चाहते थे। जनता के संदेह की परवाह न कर उन्होंने अपने स्पष्ट विचार निर्भय होकर प्रकट किए। चोरीचौरा कांड में फलस्वरूप बारडौली सत्याग्रह को अचानक रोक देना, महात्माजी का पकड़ा जाना और उसके फलस्वरूप देशभर में शिथिलता का फैल जाना ये सब दास बाबू के नए कौंसिल कार्यक्रम के अनुकूल थे और इन्हीं की सहायता से उन्होंने अपनी ही अध्यक्षता में होने वाली गया कांग्रेस में विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इस कार्य में पं. मोतीलाल नेहरू उनके सहायक हुए पर गया में अपरिवर्तनवादी चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की विजय हुई और श्री दास का पक्ष गिर गया।

चित्तरंजन दास जैसे शक्तिशाली और आत्माभिमानी व्यक्ति के लिए यह असहनीय था। उन्होंने 1 फरवरी 1931 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया और अपनी स्वराज्य पार्टी खड़ी की। उन्होंने ओजस्वी शब्दों में घोषणा की कि उनका अल्पसंख्यक दल छह महीने के भीतर राष्ट्रीय कांग्रेस पर कब्जा कर लेगा। उस दिन से लेकर महात्माजी के जेल मुक्त होने के दिन तक देशबंधु चित्तरंजन दास के जीवन का तीव्र प्रवाह युद्ध और संघर्ष के वायुमंडल में बीता। न उन्होंने किसी से समझौते की याचना की और न किसी से समझौता किया। अपनी संपूर्ण महती शक्ति-बल, जन, साधन सबकुछ लगाकर अपना मार्ग निष्कंटक बनाने में जुट गए। उपहास की, लांछना की, तिरस्कार की उन्होंने परवाह नहीं की उन्हें दबाकर वे आगे बढ़े। अपने कार्यक्रम से, अपने भाषणों से और अपने विज्ञापनों से वे सारे देश में व्याप्त हो गए। स्वराज्य पार्टी दृढ़ होकर कभी अपरिवर्तनवादी दल की हंसी करती और कभी नौकरशाही को चोट पहुंचाती। नया जोश और उमंग लेकर खड़ा हुआ नवीन स्वराज्य दल देश का सबसे अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली दल बन गया।

समझौते

स्वराज्य पार्टी के क्षेत्र में आते ही कांग्रेस में दलबंदी और कलह भी प्रारंभ हुआ। इसी बीच हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ने लगा और असहयोग आंदोलन को जबर्दस्त धक्का लगा। इस सत्य रोष से बचने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन करने की आवश्यकता पड़ी। वह मौलाना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में देहली में किया गया। मौलाना मुहम्मद अली अपने साथ जेल के भीतर से महात्मा गांधी का संदेश लाए थे, उसे उन्होंने देहली कांग्रेस में सुनाया।

कांग्रेस की ओर से कौंसिल प्रवेश में योग देना निश्चित हुआ, अगले चुनाव में स्वराज्य पार्टी ने सर्वत्र अभूतपूर्व विजय पाई।

कौंसिल से अड़ंगे

कौंसिल में पहुंचकर उन्हें तोड़ने का कार्य देशबंधु दास ने अपने प्रांत में ही रहकर किया। बंगाल कौंसिल में स्वराज पार्टी ही सबसे अधिक संख्या में थी इसलिए तत्कालीन गवर्नर लार्ड लिट्टन ने पार्टी के नेता श्री दास को आमंत्रित किया कि आप मंत्रिमंडल बनाएं। पर उन्हें देशबंधु का कोरा जवाब मिला। इसके बाद कोकोनाडा कांग्रेस हुई जिसमें देहली के विशेष अधिवेशन के कार्यक्रम की पुष्टि की गई और दोनों दलों के विद्रोही नेता श्री दास तथा श्री राजगोपालाचारी मिलकर एक हुए।

(सोमवार, 22 जून 1931)

गुमराहों को छोड़ो

आज उस मुस्लिम सम्मेलन के भंग हो जाने का समाचार आ गया है जो शिमले में डॉ. अंसारी आदि राष्ट्रीय दल वालों और मौलाना शौकत अली आदि मजहबपरस्त लोगों के बीच हो रहा था। भूपाल के नवाब साहब ने इस सम्मेलन का आयोजन किया था इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। पर इसके असफल होकर भंग हो जाने की सूचना से देश के राष्ट्रीय नेताओं और जनता को निराश होना पड़ा। महात्मा गांधी ने कांग्रेस वर्किंग कमेटी की पिछली बैठक में अपनी ओर से यह प्रस्ताव रखा था कि जब तक हिंदू-मुस्लिम समस्या हल नहीं होती तब तक कांग्रेस को प्रतीक्षा करनी चाहिए क्योंकि बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के गोलमेज में जाकर कांग्रेस 'स्वराज्य के सार' की मांग सफलता के साथ नहीं पेश कर सकती। उसकी इस मांग की तह में सारे देश की सम्मिलित शक्ति होनी चाहिए नहीं तो ब्रिटेन उसे मानने को राजी नहीं होगा। गांधीजी ने अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर कांग्रेस की ओर से हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए उत्कट प्रयत्न किए हैं और अब भी उन्हें यह अटल विश्वास है कि जब तक इन दोनों जातियों में एकता नहीं हो जाती तब तक विलायत जाकर स्वराज्य मांगना बेकार है। कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया है और यह ऐलान किया है कि गांधीजी विलायत जाकर कांग्रेस की मांग पेश करेंगे—हिंदू-मुस्लिम समस्या हल हो या न हो।

जान पड़ता है, कांग्रेस ने भी इस बात को समझ लिया है कि मुसलमानों में नासमझ, हठी और जीहुजूर लोगों का एक ऐसा दल है जो हर तरह से स्वराज्य की मांगों में रोड़े अटकाने के लिए उतारू है और बराबर उतारू रहेगा। कांग्रेस यह भी समझती है कि इन जिद्दी और हठधर्मी लोगों का मुस्लिम जनता पर काफी प्रभाव भी है यद्यपि इस प्रभाव का कारण अशिक्षा और राष्ट्रीय चेतना का अभाव है। महात्मा गांधी बहुत बड़े आदर्शवादी नेता हैं, समूह को भेड़ की तरह अपने पीछे लगा लेने में उनकी शक्ति अपरिमित है, उनकी अंतरात्मा मेल, साम्य, एकता के लिए पूर्ण रूप से लालायित है। इन कारणों से इन्होंने कांग्रेस को गोलमेज में न जाने की सलाह दी थी, पर कांग्रेस के अन्य नेताओं ने अपनी व्यवहार बुद्धि के कारण इस सलाह को नामंजूर कर दिया है। जान पड़ता है, कांग्रेस की यह धारणा हो रही हो कि वर्तमान स्थिति को देखते हुए निकट भविष्य में हिंदू-मुस्लिम समझौता होना असंभव है। शिमले के मुस्लिम-सम्मेलन के भंग हो जाने से यह धारणा और दृढ़ हो जाती है। इस संबंध में कांग्रेस के मुस्लिम नेता डॉक्टर अंसारी ने कहा है कि राष्ट्रीय मुस्लिम दल और मजहबी मुस्लिम दल में समझौते की पूरी आशा थी पर शिमले के दूषित वातावरण के कारण समझौता न हो सका। कुछ ऐसी गुप्त समितियां काम कर रही हैं जो वर्तमान अंग्रेजी सल्तनत की मौजदूगी में बराबर बनी रहेंगी और हिंदू-मुस्लिम एकता के रास्ते में कांटे की तरह चुभती रहेंगी।

कांग्रेस को इस बात के प्रमाण भी कहीं ढूंढ़ने नहीं जाना है। अभी कल की बात है कि यह समाचार मिला है कि गोलमेज की आगामी बैठक में पंजाब के कुछ मुसलमान और भर्ती किए जाएंगे। ये मुसलमान डॉक्टर इकबाल और उनके हमराह, दकियानूसी आदमी हैं जो

राष्ट्रीय कांग्रेस की ही नहीं, सारे भारत की राष्ट्रीय मांगों का विरोध करने में अंतिम घड़ी तक तत्पर रहेंगे। कांग्रेस के नेता इस खतरे को समझते हैं। उनके सामने प्रश्न यह है कि देहली समझौते के अनुसार कांग्रेस के प्रतिनिधि विलायत जाकर अपनी मांगें रखें और इस प्रकार विदेशों की सहानुभूति प्राप्त करें अथवा अनिवार्य और लाइलाज हिंदू-मुस्लिम झगड़े को भारत में ही रहकर दूर करने की बेफायदा कोशिश करते रहें। यह हालत देखते ही कांग्रेस की इस बात की विशेष आशा नहीं है कि ब्रिटेन गोलमेज में स्वराज का सार दे देगा, पर वह विदेशों की निगाह में अपनी स्थिति स्पष्ट कर देने के लिए अपने प्रतिनिधि विलायत भेज रही है।

इस अंतिम घड़ी में उन भूले-भटके मुसलमान नेताओं को कुछ भी समझाना बेकार जान पड़ता है जो समझने को किसी तरह तैयार ही नहीं। शिमला सम्मेलन के असफल होकर भंग हो जाने के संबंध में दोनों ओर से जो विज्ञप्तियां प्रकाशित हुई हैं उनसे गुमराह मजहबपरस्त दल की हठवादिता साफ जाहिर हो जाती है। विज्ञप्तियों से प्रकट होता है कि जो कुछ देहली के नकली सर्वदल मुस्लिम सम्मेलन ने पास कर दिया था वह वेदवाक्य की तरह अटल मान लिया गया और उससे एक इंच भी आगे बढ़ना कुफ्र समझा गया। ऐसी हालत में समझौते का भंग हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था। प्रश्न तो यह है कि जब सर मुहम्मद शफी और मौलाना शौकत अली अथवा मिस्टर दाऊदी यह तय कर चुके थे कि देहली सम्मेलन के फतवे में बंधकर ही उन्हें बातचीत करनी है तो उन्होंने राष्ट्रदल के मूल्यवान समय को इस तरह नष्ट क्यों किया और जनता को इस तरह झूठी आशा में क्यों फंसा रखा? राष्ट्रीय मुस्लिम नेता इतने समय में जनता के बीच अच्छा प्रचार कार्य कर सकते थे पर वे वैसा नहीं कर पाए। इसकी जिम्मेदारी मौलाना शौकत अली आदि को छोड़कर और किसी पर नहीं।

महात्मा गांधी ने *यंग इंडिया* में लिखा है कि 'यदि कांग्रेस जैसा कहती है वैसा चाहती भी है तो दूसरी कौमों (मुसलमान, ईसाई, सिख आदि) को उसका समर्थक बनने में अधिक समय नहीं लग सकता।' हमारी ऐसी धारणा है कि कांग्रेस जैसा कहती है वैसा चाहती भी है और ऐसा वह आज से नहीं बहुत समय से करती आ रही है। फिर भी हिंदू-मुस्लिम प्रश्न हल नहीं हुआ। बीच में जब खिलाफत का आंदोलन उठा था तब एक बार हिंदू-मुस्लिम एकता के बड़े ही दिलचस्प नजारे देखे गए पर उसके पहले या बाद भी बराबर कुछ न कुछ वैमनस्य ही बना रहा। इसका कारण क्या है इसका विवेचन करना विशेष लाभप्रद नहीं होगा। हम नवीन विधान के सिंहद्वार पर आ गए हैं। हमारी यह बड़ी अभिलाषा थी कि हिंदू-मुसलमान एक साथ हाथ मिलाकर इसमें प्रवेश करते और नवीन युग के इस मंगल प्रभात में संसार भारतीय राष्ट्रीय एकता का एक रमणीक दृश्य देखकर प्रसन्न होता। पर संयोगवश वैसा नहीं हो सका इसका हमें दुख है, पर जो कुछ भी हो अब समय नहीं है कि हम इसका रोना रोने बैठें। हमें दृढ़ होकर अपने कर्तव्यपथ पर आगे बढ़ना होगा और दुनिया को अपनी ईमानदारी और सच्चाई का परिचय देना होगा। आगे जो होना होगा वह होगा।

क्या हो रहा है?

आजकल समाचारपत्रों में स्थान-स्थान पर डाका, चोरी और आपस में मारपीट के समाचार प्रायः प्रकाशित हो रहे हैं। हमारे पास इस आशय के भी समाचार आए हैं कि गांवों में आजकल किसानों को चोर-डाकू खूब तंग कर रहे हैं। घरों में चोरियां हो रही हैं, लोगों में भय प्रदर्शन किया जा रहा है। हमारा खयाल है कि पहले इस प्रकार के समाचार इतनी अधिकता से नहीं सुनाई पड़ते थे। पुलिस और सैनिकों की अधिक तायदाद होते हुए भी, साथ ही, सरकार जिसकी परवरिश के लिए आय का अधिकांश भाग खर्च करती है उसके रहते क्यों शांति भंग करने वाले कांड हो रहे हैं? बड़े-बड़े षड्यंत्रों के मामलों में पुलिस और अधिकारी सरगर्मी से क़ाम करने पर जब कामयाब हो जाते हैं तब क्या इन शांति भंग करने वाले चोर-डाकुओं का पता लगाकर उन्हें दंड नहीं दे सकते? स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी मुल्क के किसान ही वहां की सरकार के स्थायित्व के मूल कारण होते हैं। यदि किसानों में अर्थात् रियाया और प्रजा में अशांति फैलेगी और अधिकारी लोग उसको दूर करने का प्रयत्न न करेंगे तो इसका क्या परिणाम होगा, यह विचारणीय है। हमारी राय में गांधी-इर्विन समझौते का प्रश्न तभी भलीभांति हल होगा जब सरकार चारों ओर शांति का वातावरण बनाए रखने का प्रयत्न करेगी। हम देखते हैं कि इस वक्त जब कि किसान स्वयं तकलीफ में हैं, पैसे बिना तंग हैं, एक ओर यदि उन्हें जमींदार तंग कर रहे हैं तो दूसरी ओर चोर, डाकू और बदमाश। इसलिए हमारा विश्वास है कि किसानों को शांत रख उन्हें समझाया जाए, उनके जान-माल की भलीभांति रक्षा की जाए तभी जमींदार और सरकार अपनी स्थिति की रक्षा कर सकेंगे। हम आशा करते हैं कि अधिकारी लोग इस प्रकार उत्तेजना तथा अशांति पैदा करने वाले वातावरण को शांत करने का खूब प्रयत्न करेंगे।

हिंदी साहित्य सम्मेलन का उपहास

व्यंग्य बहिष्कार और मानहानि

अखिल भारतवर्षीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन सकुशल समाप्त हो गया। सकुशल ही कहना चाहिए क्योंकि सुनने में आया है कि सभापति महोदय कलकत्ते के सुभाष सेनगुप्त दलबंदी के चक्कर में पड़ गए थे। राम राम करके बाल-बाल बच गए। सम्मेलन के जो समाचार प्राप्त हुए हैं उनसे बिना मीन-मेष के यह साबित हो जाता है कि अखिल भारतवर्षीय संस्था के नाम से पुकारे जाने वाले इस सम्मेलन में बेहद शैथिल्य और निर्जीवता रही।

प्रतिनिधि की अत्यंत अल्पसंख्या का हाल सुनकर अखिल भारतवर्षीय मुस्लिम लीग के पिछले प्रयाग वाले अधिवेशन का स्मरण हो आता है जिसमें कोरम पूरा होने में भी कसर रह

गई थी और कच्चे-बच्चे समेत चार-पांच सौ आदमी मुश्किल से शरीक हुए थे। सम्मेलन के अधिवेशन के पहले हमने इन्हीं स्तंभों में उसकी असलियत प्रकट की थी और उसे स्वरूप परिवर्तन की सलाह दी थी। सभापति के संबंध में हमने जो मत प्रकट किया था वह किसी व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं, कलकत्ता अधिवेशन की शान के मुताबिक और समय की प्रगति के अनुकूल था। साहित्य सम्मेलन का सभापति अंतर्दृष्टि संपन्न, बहुज्ञ समीक्षक होना चाहिए जो उच्चकोटि के साहित्य का पारखी, सामयिक जीवन प्रवाह और साहित्य प्रवाह से अभिज्ञ उदार और अप-टू-डेट व्यक्ति हो। रत्नाकरजी पुराने काव्य के रसिक साहित्यकार हैं और उन्होंने प्राचीन साहित्य का अधिक अध्ययन किया है। उनकी रुचि और उनके संस्कार सब उसी ओर उन्मुख हैं। वे अंग्रेजी के ग्रेजुएट तो अवश्य हैं पर उनमें अंग्रेजीयत की बू बिलकुल नहीं है और अंग्रेजी के अध्ययन से भी संभवतः अपने को बरी कर चुके हैं। कवि रत्नाकर की कल्पनालोक विशेष सरस, कोमल और सुकुमार है जिसे आधुनिक बड़े-बड़े सभा-समाजों के नियंत्रण की परवाह नहीं, इसलिए क्षमता भी नहीं। रत्नाकरजी का संपूर्ण विकास ही इस ढंग से हुआ है कि वे वर्तमान की ओर आकर्षित ही नहीं हो सकते। वे खड़ी बोली के प्रति उदासीन हैं, आधुनिक आंदोलन से उनका कुछ भी संपर्क नहीं। यह एक अत्यंत रुचिर मानसिक स्थिति है जिस पर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति मुग्ध हो जाता है। यह रत्नाकरजी के लिए बडे ही सौभाग्य की बात है कि उनके शांत कल्पनाकुंज में बीसवीं सदी का कर्कश कोलाहल नहीं पहुंच पाया और युग की उबड़-खबड़ सभ्यता की हवा उनके पास नहीं फटक पाई।

परंतु रत्नाकरजी की ये विशेषताएं अखिल भारतवर्षीय साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व के लिए कहां तक अनुकूल थीं, यह सम्मेलन से लौटे हुए प्रतिनिधि बता सकते हैं। सुना जाता है कि रत्नाकरजी जब अपने स्वाभाविक कीमती वेश में ट्रेन से उतरे तो अनेक असभ्य(!) दर्शनार्थी और बैंड वाले यह शिकायत करने लगे कि ये तो खद्दरधारी नहीं हैं, हम इनका स्वागत नहीं करेंगे, इनके उपलक्ष्य में बैंड नहीं बजाएंगे। इस तरह की बात बिलकुल अनुपयुक्त थी, उसकी तमाम जिम्मेदारी कलकत्ता की स्वागतकारिणी समिति पर है। हमने यह भी सुना है कि बैंडवालों और नवयुवकों का अशिष्ट दल भाग खड़ा हुआ जिन्हें समझा-बुझाकर लौटाने में बहुत से लोगों को बड़ी दौड़धूप करनी पड़ी। यह बड़ा ही विलक्षण दृश्य रहा होगा। बैंडवाले भागे जा रहे हैं, स्वागतकारिणी वाले उनके पीछे दौड़ रहे हैं, सभापति महोदय की मोटर सबसे पीछे चल रही है। क्या इसी भगदड़ के कारण ही तो सभापति का स्वागत जुलूस एक मील लंबा नहीं हो गया था?

स्वागतकारिणी का कार्य निहायत बेतरतीब होने के कारण सम्मेलन को तरह-तरह के उपहास सुनने और सहने पड़े। कितने ही हुल्लड़बाज मंच पर आगे बैठे हुए थे और प्रसिद्ध साहित्यसेवियों को कोई पहचानता ही नहीं था, पूछता कौन? स्वागताध्यक्ष महोदय सम्मेलन की समाप्ति के पूर्व ही बिहार प्रांत (वहीं आपका घर है) के लिए रवाना हो गए! कवि सम्मेलन में ऐसा भद्दा प्रबंध किया गया कि जिसका हाल सुनकर ग्लानि होती है। पुरस्कार के बहाने

अखिल भारतवर्षीय साहित्य सम्मेलन का घोर व्यंग्य किया गया—ऐरे-गैरे सबको स्वर्णपदक प्राप्त हो गए और सम्मेलन टके सेर खाजा वाला अंधेर नगर बन गया। साहित्य जगत में इस अंधाधुंध पुरस्कार वितरण—वितरण नहीं, विज्ञापन कहना चाहिए, क्योंकि वहां देने-लेने का सवाल नहीं था, घोषणाओं की ही धूम थी—कितनी भयानक प्रतिक्रिया हो सकती है इस पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया।

परंतु ये सब बात तो किसी तरह माननीय भी हो सकती है, सम्मेलन के लिए सबसे अधिक लज्जा और ग्लानि की बात यह हुई कि उसमें हिंदी के एक भी विद्वान का एक भी अच्छा निबंध नहीं पढ़ा गया। यह कलकत्ता के साहित्यसेवियों के लिए कलंक की बात है कि उन्होंने साहित्य सम्मेलन को अपने यहां बुलाकर उसकी त्रुटियों का इस बुरी तरह प्रदर्शन किया। डॉक्टर सुनीति कुमार चटर्जी, एक बंगाली महोदय ने एकमात्र अच्छा निबंध सुनाया। बंगाल में हिंदी के प्रति जो घृणा अथवा कम से कम उदासीनता फैली हुई थी—कलकत्ते अधिवेशन ने उसे दूना-चौगना बढ़ाने का उपक्रम कर दिया है।

श्री सेनगुप्त बहुत बड़े राजनीतिक नेता और विद्वान होंगे पर उन्हें हिंदी साहित्य के क, ख, ग, घ, से भी भेंट नहीं है। हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्लेटफार्म से उन्होंने यह ऐलान किया कि हम हिंदी के साहित्यिक उत्कर्ष के कारण उसे राष्ट्र भाषा नहीं स्वीकार करते, उस लिहाज से तो हमारी बंग साहित्य विशेष गौरव संपन्न है। किसी ने सेनगुप्त महाशय से यह नहीं पूछा कि आपका हिंदी साहित्य संबंधी ज्ञान कितना गंभीर है जो आपने इस तरह की तुलनात्मक आलोचना की है। साहित्य के उत्कर्ष की आपकी कौन सी कसौटी है जो इतने निर्विकल्प भाव से इस प्रकार की निस्संशय विज्ञप्ति कर सकती है। पर यह सब पूछने का साहस कौन कर सकता था। शायद श्री सेनगुप्त ने हिंदी की कलकत्ते वाली मजलिस देखकर ही हिंदी साहित्य के संबंध में अपनी राय कायम कर ली थी और उन्हें ऐसा करने का अधिकार भी था। हिंदी साहित्य सम्मेलन ने तो इसी में अपना अहोभाग्य समझा होगा कि बंगाल के इतने महान नेता हमें कृतार्थ करने आए हैं। देवताओं की वाणी नहीं सुनी जाती। उनकी उपस्थिति का आतंक ही ऐसा होता है। सुना गया है कि बंगीय साहित्य-परिषद ने हिंदी साहित्य सम्मेलन के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को एक प्रीतिभोज दे डाला था। इसे अहोभाग्य ही समझना चाहिए। परंतु साहित्य-परिषद वालों के पास इतना समय नहीं था और न वे इतने मूर्ख थे कि हिंदी वालों की खातिरदारी करते। न जाने किस दैवयोग से श्री अमृतलाल चक्रवर्ती महाशय अतिथि सेवा के लिए मौजूद थे और किसी के तो दर्शन भी दुर्लभ थे। और तो और श्री नलिनीमोहन सान्याल और श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय भी उपस्थित नहीं थे। हम तो इसे खैरियत ही समझते हैं क्योंकि अगर खुदा न खास्ता बंगाल के कुछ उत्कृष्ट साहित्यकार वहां मौजूद होते और वे हिंदी वालों से कोई साहित्यिक चर्चा करते अथवा अधिक नहीं हिंदी के श्रेष्ठ लेखकों का परिचय ही प्राप्त करना चाहते तो वहां की हिंदी जमात को बगलें झांकने की नौबत आ पहुंचती।

(शुक्रवार, 26 जून 1931)

जमींदारों के प्रति

हमारे प्रांत में किसान समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। वह प्रतिदिन अधिकाधिक भयानक होती जा रही है। सरकार ने थोड़ी सी छूट देकर अपने को किसानों का हमदर्द समझ लिया है और अब उपद्रवकारियों को पकड़-पकड़ कर जेल भेज देने के रूप में वह अपने कर्तव्य का पालन कर रही है! अकेले बाराबंकी जिले के डेढ़ सौ से ऊपर कार्यकर्ता गिरफ्तार किए जा चुके हैं! प्रांत के कोने-कोने से किसानों की त्राहि-त्राहि की पुकार पहुंचती है और समाचारपत्रों के पृष्ठ के पृष्ठ उसको प्रकाशित करते हैं, पर सरकार समझती है कि यह भी पत्रों का प्रोपेगेंडा है। जिस प्रांत की अस्सी प्रतिशत से अधिक जनता कृषिजीवी होने के कारण दुर्दशा ग्रस्त हो रही हो उस प्रांत के समाचारपत्र किसानों को प्रतिदिन होने वाली अनेक बड़ी-बड़ी सभाओं, उनमें पास होने वाले प्रस्तावों, उनके प्रति होने वाले अत्याचारों के संवाद न छापें और अधिकारियों के कानों तक उनकी आवाज न पहुंचाएं तो वे अपने कर्तव्यपथ से भ्रष्ट, लोकसेवा के आदर्श से पतित, निरर्थक और बेकार समझे जाएंगे पर सरकार की समझ में यह सब कुछ नहीं आता। किसान समस्या के संबंध में पूरी जांच के बाद तफसील पेश की गई, प्रतिष्ठित और जानकार व्यक्तियों ने अत्यंत विश्वर य विज्ञप्तियां प्रकाशित कीं, स्वयं महात्मा गांधी प्रांतीय गवर्नर महोदय से मिले। पर कोई नतीजा न निकला। सरकार यह झूठी आशा लगाए बैठी है कि इतनी छूट दे देने पर लगान वसूली हो जाएगी। यदि जमींदार किसानों पर अत्याचार करते हैं अथवा दोनों ही आपस में लड़ते हैं तो इससे सरकार कोई सबक नहीं लेती। वह तो आंदोलन करने वाले कार्यकर्ताओं को जेल भेजकर ही संतोष कर लेती है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने सरकार की यह नीति देखकर अभी उस दिन देहली में भाषण करते हुए कहा है कि कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को किसानों के झगड़े में फांसकर वह हमारी शक्ति क्षीण करना चाहती है। आगे चलकर यदि सत्याग्रह की लड़ाई लड़ने की आवश्यकता हुई तो कांग्रेस को अपने कार्यकर्ताओं के अभाव में कठिनाई का अनुभव करना पड़ेगा। जनता का संघटन और आंदोलन का संचालन करने वाले मुख्य-मुख्य व्यक्ति जेलों में पहुंचाए जाने लगे हैं, फिर भी सरकार अपनी निगाह में देहली के गांधी-इर्विन समझौते का पालन कर रही है। पं. जवाहरलाल ने सरकार के इस रुख की कड़ी आलोचना की है।

परंतु यदि सरकार हमारी पुकार को नहीं सुन रही, यदि वह अपनी बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था अपने झूठे विश्वास अथवा अन्य किसी कारण से किसानों के प्रति उदारता दिखाने को तैयार नहीं है तो वैसी अवस्था में हमें यू.पी. के जमींदारों से दो शब्द कहने हैं। शासन चक्र तो ऐसा ही है। पर जमींदार वर्ग तो इसी देश के, इन्हीं गांवों में रहने वाले हैं, यहीं की जलवायु में पले हैं। वे खुद किसानी करते हैं और किसानों की हालत नित्यप्रति अपनी आंखों देखते हैं। ऐसी अवस्था में उनका कर्तव्य स्पष्ट है। वे किसानों के अर्थ कष्ट को देखें और उनकी जाग्रत शक्ति का परिचय प्राप्त करें। हजारों की तादाद में इकट्ठे होकर जो इतनी सभाएं नित्यप्रति की जा रही हैं, जमींदार उन्हें देखते होंगे। उन्हें समझना चाहिए कि यह

किसानों के संघटन हैं। उन्हें समय की गति पहचाननी चाहिए।

अब तक जमींदार अशिक्षित और मूर्ख थे। सरकार ने उनके हाथों में जो थोड़े-बहुत अधिकार दे रखे हैं, उन्हीं के कारण वे खंडहरों में रहकर सतमहली का स्वप्न देखते थे। सरकार ने भी उन्हें जमींदार कहकर और किसानों को उनकी रैय्यत और प्रजा ठहराकर जो नकली वातावरण तैयार कर दिया था उससे जमींदार अपनी असलियत न समझकर सातवें आसमान पर चढ़ गए थे। इससे किसानों को उतना नुकसान नहीं हुआ, जितना खुद जमींदारों को। आज गांवों के प्रायः सब जमींदार कर्ज में डूबे हुए हैं और अपने आचरण के कारण किसानों की सहानुभूति खो चुके हैं। उन्हें सरकार का बड़ा आसरा रहता है पर सरकार को तो अपनी मालगुजारी से मतलब है।

किसानों की प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने का इस समय बड़ा ही उपयुक्त अवसर आया हुआ है। जमींदारों को इससे लाभ उठाना चाहिए। यह उनका धर्म है और इसमें उनका स्वार्थ भी है। प्रसन्नता की बात है कि कुछ दूरदर्शी और शिक्षित जमींदारों ने किसानों के साथ खास़ तौर पर हमदर्दी जाहिर की है। कुछ बड़े-बड़े जमींदारों ने प्रजा़ की प्रतिनिधि-सभाएं कायम की हैं और उनके सलाह-मशविरे से काम करते हैं। कुछ जमींदारों ने अपनी ओर से लगान माफी की खास रियायत करने के ऐलान किए हैं। यदि जमींदारों को समय की गति के अनुसार चलना है और यदि वे दकियानूसी झूठे विचारों क़ी परंपरा चलाते जाने के धोखे में नहीं पड़ते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे किसानों की सत्य-सत्य हालत का पता लगावें और उसी के अनुसार उन पर दया दिखावें। यह कोई कानूनी मामला नहीं है और न इसमें किसी प्रकार की जोर-जबर्दस्ती है। पर यह भारतवर्ष की प्राचीन रीति है। दया-दाक्षिण्य यहां का सनातन धर्म है। इस समय जमींदार वर्ग जो कुछ भी दया दिखाएंगे वह दूनी-चौगनी होकर उन्हें आगामी वर्षों में प्राप्त होगी। जो समर्थ हैं वे ही असमर्थों को, दीन-दुखियों को सहायता पहुंचाते हैं। किसानों की हालत निहायत दर्दनाक है। इस समय किए गए उपकार वे भूल नहीं सकते, इसके लिए वे जन्मभर कृतज्ञ रहेंगे। यह बड़ा ही पुण्य योग है। जमींदारों को इससे लाभ उठाना चाहिए।

बड़े मौलाना बोले

'बड़े मौलाना शौकत अली को कौन नहीं जानता। पिछले तीन वर्षों से आपने जिस प्रकार का स्वरूप धारण किया था वह किसी से छिपा नहीं है। आपको बराबर देश का कल्याण हिंदू-मुसलमानों के असहयोग में ही दिखाई पड़ता था। धार्मिक स्कूलों को प्राप्त करने के लिए आपने जी जान से प्रयत्न किया। समय-समय पर देश में बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेताओं को उन्होंने खरी-खरी सुनाई। उन्हें मुल्क खासकर राष्ट्रीय मुस्लिम नेताओं को इस्लाम का दुश्मन ही सिद्ध किया था। महात्मा गांधी ऐसे व्यक्ति को देशद्रोही बतलाया। आपने कई बार सारे संसार में मुस्लिम राज्य स्थापित करने का स्वप्न भी देखा था। परंतु अभी हाल ही में मौलाना ने एक पत्र प्रतिनिधि से बातचीत

करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि देश की भलाई हिंदू-मुसलमानों की एकता ही में है। इंग्लैंड और भारत की एकता और विचार-विनिमय में ही शांति का वातावरण उपस्थित होगा। समझ में नहीं आता कि मौलाना की इस प्रकार की दो ढंग की बातें क्यों समय-समय पर हुआ करती हैं? बिना पेंदी के लोटे की भांति कभी इधर लुढ़क जाते हैं, कभी उधर। कोई एक निश्चय नहीं, कोई एक सिद्धांत नहीं, कोई एक उसूल नहीं। हमारा विचार है कि वह दिन शीघ्र ही ईश्वर चाहेगा तो आएगा जब कि मौलाना को अपने पत्र का ज्ञान होगा और वास्तविक मार्ग भारतवर्ष की उन्नति का क्या है, यह उन्हें स्पष्ट रूप से प्रकट होगा। यद्यपि वे हृदय में भलीभांति जानते होंगे कि हिंदू-मुसलमानों का कल्याण किस नीति पर कार्य करने पर होगा, परंतु अभी उनकी दृष्टि पर शायद स्वार्थ और पक्षपात का परदा चढ़ा हुआ है। इसी से उन्हें वास्तविक मार्ग नहीं सूझ रहा है। परंतु वह दिन दूर नहीं है जब मौलाना साहब को वास्तविकता का समर्थन करना पड़ेगा और अपनी कमजोरी दूर करनी पड़ेगी।

(सोमवार, 29 जून 1931)

बर्मा की हालत

आज छह महीने से ऊपर हुए जब पिछले दिसंबर महीने में बर्मा का विद्रोह शुरू हुआ था। आरंभ में बलवा छोटे पैमाने पर था इसलिए सरकार की ओर से कहा गया कि वह केवल एक छोटी सी स्थानीय घटना है। पर आग धीरे-धीरे सुलग रही थी। दूसरे-दूसरे और दूर-दूर स्थानों में भी वैसी ही छोटी-छोटी घटनाएं होने लगीं। कहा गया कि आर्थिक कष्ट के कारण लूटमार हो रही है। सरकार की ओर से उन्हें दबाने का प्रयत्न किया गया पर दंगे फिर भी होते रहे। सरकार को भारत से भारतीय सेना को बुलाने की आवश्यकता समझ पड़ी। बलवे का रूप बढ़ रहा था। बलवाइयों ने सरकारी पर्यटकों तक पर आक्रमण किए, बहुतों को घायल किया, कितनों को मार भी डाला। पिछले मार्च से बर्मानिवासी बलवाइयों की क्रोधाग्नि बर्मा के प्रवासी भारतीयों पर भमक उठी और वे सामूहिक रूप से अपने सहवासी भारतीयों पर हमले करने लगे। फलस्वरूप बेचारे हिंदुस्तानियों को बहुत थोड़ी कीमत पर अपनी स्थावर, जंगम संपत्ति बेचकर बर्मा से भागकर हिंदुस्तान में शरण लेनी पड़ी। पत्रों में लौटे हुए विभिन्न भारतीयों की संख्या एक लाख से लेकर डेढ़ लाख तक बतलाई है। सरकार की ओर से बलवाइयों के प्रति अब तक कड़ाई के साथ व्यवहार किया जाता रहा। पत्रों की एक सूचना के अनुसार सरकार ने अभी हाल में सोलह बलवाइयों के सिर काटकर उनका असभ्य तरीके से प्रदर्शन किया है। इसकी बड़ी निंदा की गई है। और हाल की खबरें कुछ संतोषप्रद जान पड़ रही हैं। सरकार की ओर से बलवाइयों की आम माफी का ऐलान कर दिया गया है और बर्मा के प्रतिनिधियों की एक अमन सभा शिमले में वाइसराय से मिलने गई है। उस सभा की

वाइसराय से अब तक बातचीत नहीं हुई है, पर वह शीघ्र ही होगी। इतने दिनों के बाद बर्मा के भीषण दंगे के अब शांत होने की उम्मीद हो रही है पर भविष्य अब भी बहुत कुछ सरकार की दूरदर्शिता पर अवलंबित है।

सरकार की ओर से इस दीर्घकाल व्यापी भयानक बलवे का विस्तृत विवरण अब तक प्रकाशित नहीं किया गया है जिसे पढ़कर यह पता लगाया जा सके कि इसके वास्तविक कारण क्या थे और महान ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत इस प्रकार की भीषण अशांति और नरसंहार कितने दिनों तक कैसे होता रहा। इसलिए इस संबंध में लिखने वालों को विशेषतः गैरसरकारी साधनों का ही सहारा लेना पड़ता है। बाह्य और अभ्यंतर कितनी ही घटनाओं और सूचनाओं के आधार पर ही बर्मा की हालत का पता लगाया जाता है। इस बीच में भारतवासी बर्मा की दशा जानने के लिए विशेष उत्सुक रहे हैं और वहां के समाचारों को बड़ी उद्विग्नता से सुन रहे हैं। कुछ भारतीयों ने वहां जाकर हालत जानने का प्रयत्न किया है यद्यपि बलवे की भयंकरता और विस्तार के कारण सच्ची स्थिति जानने में पूरी सफलता मिलना संभव नहीं। यदि निकट भविष्य में शांति स्थापित की जा सकी तो केवल बर्मा प्रवासी भारतीयों को ही नहीं, सारे भारतवर्ष को संतोष और प्रसन्नता होगी।

पिछले गोलमेज सम्मेलन में बर्मा को भारत से पृथक करने का सवाल पेश हुआ था और तभी से भारतीय पत्रों और जनता ने वहां की स्थिति की जानकारी प्राप्त करने में विशेष दिलचस्पी दिखलाई। सरकार की ओर से बर्मा के जो प्रतिनिधि गोलमेज के लिए चुने गए थे वे सबके सब पृथक्करण के पक्ष में थे और दूसरे पक्ष की वकालत करने वाला बर्मा का कोई प्रतिनिधि नहीं था। इसका रहस्य बहुत कम लोगों ने समझा था। पर गोलमेज सम्मेलन की जो बर्मा की जांच सब-कमेटी बनी थी उसमें मुख्यतः श्री चिंतामणि ने बर्मा की वास्तविक स्थिति की परीक्षा की थी और उन्होंने सरकार के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की बातें ज्यों की त्यों नहीं मान ली थीं। यद्यपि बर्मा के पृथक्करण की सिफारिश कमेटी ने की पर वहीं उस एकपक्षीय मामले का अंत नहीं हो गया। सम्मेलन से लौटने पर बर्मा का मसला नए सिरे से उठाया गया। कांग्रेस के कराची अधिवेशन में पृथक्करण के विरोधी बर्मी नेता श्री मांगमांगजी ने यह घोषणा की कि बर्मा की निन्यानबे प्रतिशत जनता पृथक्करण के विपक्ष में है। भारत के राष्ट्रीय नेताओं का सिद्धांततः यह मत है कि यदि वास्तव में बर्मा भारत से पृथक होने में ही अपना स्वार्थ समझता है तो भारत को इसमें कुछ भी ऐतराज नहीं है। पर वास्तव में बर्मा का लोकमत क्या चाहता है इसका पता लगाया जाना चाहिए। यदि सरकार बर्मा को प्रतिनिधि शासन का अधिकार न देकर उससे आर्थिक और राजनीतिक फायदे उठाना चाहती है तो बर्मा को अपने हित के लिए भारत के साथ रहकर स्वतंत्रता की लड़ाई लड़नी होगी। यदि नवीन विधान में भारत को संघशासन का अधिकार मिला और उस संघ में बर्मा भी शरीक हुआ तो निश्चय ही उस समय के संघबद्ध बर्मा की अवस्था आज के परतंत्र बर्मा की अवस्था से अच्छी होगी। यह प्रसन्नता की बात है कि सरकार अब इस बात पर तैयार हुई है कि आगामी गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर बर्मा की हालत की फिर से जांच की जाए और वाइसराय लार्ड विलिंग्डन महोदय

ने यह विज्ञप्ति की है कि आगामी गोलमेज में प्रत्येक महत्वपूर्ण दल के प्रतिनिधि रहेंगे। आशा की जाती है कि बर्मा की अशांति इन विज्ञप्तियों से बहुत कुछ कम होगी।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि बर्मा के विद्रोहियों में अपने ही मुल्क में बसे हुए भारतीयों के प्रति विद्वेष के भाव बढ़े हुए थे जिससे भारतीयों को जान-माल के बड़े-बड़े खतरे उठाने पड़े। कुछ दिनों पहले इस प्रकार का भाव बर्मा निवासियों में नहीं था। अचानक ऐसी स्थिति किस तरह हो गई, इसके कितने ही कारण बतलाए जाते हैं। यह तो किसी हद तक सच है कि बर्मा के कुछ बड़े-बड़े कारखाने भारतीयों के हाथ में हैं और कुछ धन बर्मा से खिंचकर भारत आता है। पर यह तो कोई नई बात नहीं है, बहुत दिनों से भारतीय कारोबारी वहां मौजूद हैं। इसका एक दूसरा कारण अर्थकष्ट भी बतलाया जाता है। पर अर्थकष्ट के कारण बर्मा निवासियों को प्रवासी भारतीयों पर ही हमला करने की कैसे सूझती? बलवाइयों की एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति होती है। उन्हें थोड़ा सा झिड़का देने पर वे आगा-पीछा नहीं सोचते। संवादपत्रों में यह सूचना कसदन से प्रकाशित हुई है कि बर्मा में भारतीयों के प्रति असद्‌भाव फैलाने की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से चेष्टा की गई है। विद्रोह को शांत करने के लिए भारत से भारतीय फौज बुलाई गई। इससे भी भारत-विद्वेषी भावों का फैलना स्वाभाविक था। प्रत्येक सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिए केवल फौजी शक्ति का ही प्रयोग न करे बल्कि संपूर्ण स्थिति का प्रत्येक पहलू से अध्ययन करे।

भारतीयों को कितनी भयंकर हानि उठानी पड़ी इसका पता सैकड़ों हताहतों और लाखों घर-बार छोड़कर, जान लेकर भागने वाले बर्मा निवासी भारतवासियों की हालत का अंदाज करके लगाया जा सकता है।

सर जॉन साइमन

सर जॉन साइमन के नाम को भारतीय कभी भूल नहीं सकते। उनकी अध्यक्षता में पिछले वर्ष जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी उसकी निस्सारता का प्रभाव भारत के प्रायः सभी राष्ट्रीय दलों पर पड़ा था। सर जॉन साइमन अब तक विलायत के लिबरल दल के सदस्य हैं परंतु एक विलायती पत्र के संवाददाता का कहना है कि आप उस दल से अपना संबंध तोड़ने वाले हैं। इसी विषय पर मजदूर दल का प्रसिद्ध पत्र *डेली हेरल्ड* टिप्पणी करते हुए लिखता है कि 'यदि सर जॉन साइमन लिबरल दल से अलग हो जाएंगे तो वे अपने को एक स्वतंत्र दल का व्यक्ति घोषित करेंगे परंतु यह निस्संदेह है कि उन्हें अनुदार दल (कंजरवेटिव) में शामिल होते देर न लगेगी।' यह समाचार सुनकर किसी भी भारतीय को कोई आश्चर्य नहीं होगा। हमारी राय में यद्यपि सर जॉन साइमन अब तक उदार दल के सदस्य रहे परंतु भारत के संबंध में उनकी अध्यक्षता में जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी उससे स्पष्ट रूप से उनकी अनुदारता प्रकट हो चुकी है। यदि वह समाचार सत्य है तो हमें प्रसन्नता है कि सर जॉन साइमन का असली स्वरूप अब शीघ्र ही प्रकट होने वाला है।

बड़े लाट की आशा

अभी उस दिन शिमला के चेम्सफोर्ड क्लब में भाषण देते हुए भारत के वर्तमान वाइसराय लार्ड विलिंग्डन ने कहा, 'हम भारत में पूर्ण रूप से शांति स्थापना करना चाहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि सरकार और गांधीजी में जो समझौता हुआ है वह क्षणिक है परंतु हमारी समझ में वह स्थायी है। महात्मा गांधी भी समझौते की शर्तों का पालन करने का भरसक प्रयत्न करते हैं, हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है। हमें आशा है कि लोग इस बात में हमारी मदद करेंगे कि देश में शांति स्थापित हो, भारत का हक उसे प्राप्त हो।' वास्तव में लार्ड विलिंग्डन के यह विचार आदर्शवादी हैं। यह भी ठीक है कि महात्माजी समझौते की शर्तों का पालन करने और लोगों से कराने का खूब प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु इस समझौते के बाद भी कहीं-कहीं अशांति के अनेक समाचार सुनाई पड़ रहे हैं, खासकर किसानों और ग्रामीण जनता में एक प्रकार का असंतोष जाहिर हो रहा है। सरकार को किसानों की समस्या पर विशेष रूप से विचार करने की इस समय आवश्यकता है। यदि यह समस्या हल हो गई तो सचमुच जैसा कि लार्ड विलिंग्डन ने फरमाया है समझौता एक बड़ी हद तक स्थायी बन सकेगा। वास्तव में लार्ड विलिंग्डन की इस आशा को पूर्ण करने के लिए अधिकारियों को नेकनीयती से काम करना चाहिए जिससे गांधी-इर्विन समझौते की जड़ खूब मजबूत हो जाए।

महात्माजी से चिढ़

विलायती समाचारपत्रों में प्रायः इस प्रकार की खबरें पढ़ने को मिलती हैं कि अमुक व्यक्ति ने महात्माजी को या उनके आंदोलन को खूब खरी-खोटी सुनाई। लार्ड लायड, लायड जॉर्ज, मिस्टर चर्चिल आदि इस प्रकार के विष उगलने में काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। अभी हाल में लंदन में अर्ल विंटर्टन ने लंदन की एक सभा में कहा है, 'अगर इंग्लैंड ने यह पवित्र प्रतिज्ञा की है कि भारत में उसका लक्ष्य स्वराज स्थापित करना है तो उस प्रतिज्ञा में यह भी तो स्पष्ट कर दिया गया है कि उस लक्ष्य की प्राप्ति होने के अधिकारी होने का फतवा पार्लियामेंट देगी। इंग्लैंड और भारत में बहुत से राजनीतिज्ञ हैं जो इस समस्या के इस पहलू को बिलकुल ही भूल-सा जाते हैं और केवल यही सोचने लगते हैं कि उनका काम सिर्फ मि. गांधी को संतुष्ट करना है। यदि ये राजनीतिज्ञ मित्र गांधी को सर्वेसर्वा या देवता मानते रहने की हठधर्मी न छोड़ेंगे तो हिंदू-मुस्लिम समस्या का निबटारा और भी कठिन हो जाएगा।' अर्ल विंटर्टन की इन बातों को पढ़कर हमें हंसी भी आती है और आश्चर्य भी होता है। क्या आज भी अर्ल महोदय की आंखें नहीं खुलीं? इंग्लैंड की व्यापारिक क्षति का क्या ध्यान नहीं है? इसी प्रकार की उभाड़ने वाली और भड़काने वाली बातों से ही तो इंग्लैंड और भारत में

आज असंतोष दिखाई पड़ रहा है। समझ में नहीं आता कि हिंदू-मुस्लिम समस्या के हल करने की फिक्र अर्ल महोदय को क्यों अधिक हो गई है। अर्ल विंटर्टन ऐसे साम्राज्यवादी महात्मा गांधी के विरुद्ध एक ओर भारतीय सरकारी अधिकारियों और दूसरी ओर मुसलमानों को उभाड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं परंतु इसके असली तत्व को प्रत्येक राष्ट्रीयता का समर्थक समझता है। हमारी समझ में अनुदार दल के लोग इस प्रकार की गैरजिम्मेदारी की बातें करना यदि छोड़ दें तो भारत और इंग्लैंड का अधिक हित हो सकता है। परंतु इस प्रकार के लोगों को उपदेश देना वैसा ही है जैसे भैंस के आगे बीन बजाना।

किफ़ायतशिआरी

भारत सरकार अब किफायतशिआरी की ओर उग्र रूप से अग्रसर हो रही है। मसलन उसने युक्त प्रांत के ऑडिट और अकाउंट्स विभाग को तोड़ देने का विचार किया है। भविष्य में यह विभाग पहले की भांति अकाउंटेंट जनरल के दफ्तर में शामिल हो जाएगा। कहा गया है कि इस प्रकार की व्यवस्था करने से करीब 3 लाख रुपए की बचत होगी। इस विभाग में 200 क्लर्क काम करते हैं। वास्तव में यह बात विचारणीय है कि सरकार 3 लाख की बचत के लिए उक्त विभाग तो तोड़ देगी परंतु वहां काम करने वाले क्लर्कों और छोटे-मोटे कार्यकर्ताओं के प्रबंध के लिए वह क्या करेगी? एक समय वह था जब लोकमत की अवहेलना करके सरकार ने अनावश्यक विभागों की सृष्टि की थी और लंबी-लंबी तनख्वाहों वाले गोरे कर्मचारियों की भर्ती की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि खर्च काफी बढ़ गया और आमदनी रही नहीं। और आज सरकार वही काम करने को मजबूर हो रही है जिसके करने के लिए भारतीय-प्रतिनिधि पहले जोर दे रहे थे। अब सवाल यह है कि इन 200 क्लर्कों का क्या प्रबंध होगा? यदि इनकी नौकरी छूट गई तो ये क्या करेंगे। जहां 10-20 बड़ी-बड़ी तनख्वाह पाने वालों की कमी से 3 लाख की बचत हो सकती थी वहां एकदम 200 आदमियों के निराश्रित किए जाने की चेष्टा की जा रही है। हमारा आग्रह है कि सरकार इस प्रश्न पर खूब विचार करे। भारत में दरिद्रता और बेकारी ज्यों-ज्यों बढ़ेगी त्यों-त्यों असंतोष और अशांति बढ़ेगी। इसलिए शांति कायम रखने का पहला उपाय है लोगों को बेकारी से बचाना। सरकार का यह फर्ज है कि वह बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाने वाले अफसरों की तलब कम करे। हजारों रुपए प्रति मास का खर्च बढ़ाने वाले ऊंचे पद वालों को बनाए रखने और छोटी-मोटी तनख्वाहों पर दिन-दिनभर खटकर रोटी कमाने वालों को खारिज कर देने की किफायतशिआरी राष्ट्रीय दृष्टि से बड़ी खतरनाक है। सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(शुक्रवार, 3 जुलाई 1931)

आपस का झगड़ा

हमारे प्रांत के किसानों और जमींदारों में झगड़ा शुरू होने के लक्षण दीख पड़ते हैं। झगड़ा तो हर हालत में खतरनाक है पर हिंदुस्तान इस समय घरेलू झगड़ों को बर्दाश्त करने को बिलकुल तैयार नहीं है। राष्ट्रीय कांग्रेस ने शुरू से ही इस खतरे को समझ रखा है और बराबर इससे बचने की कोशिश करती आई है। हिंदू और मुसलमानों के झगड़े को दूर करने की इसने कोशिश की और दूर न कर सकने पर उसे यथासंभव नर्म रूप में दिखाने का प्रयत्न किया। महात्मा गांधी तो इस झगड़े को भारत की स्वराज्य प्राप्ति का विकट क्रूरग्रह समझते हैं और इसका सबसे ताजा सबूत यह है कि उन्होंने कांग्रेस वर्किंग कमेटी की पिछली बैठक में हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना गोलमेज में न जाने तक का इरादा जाहिर किया था। देशी राज्यों के संबंध में भी कांग्रेस का रुख आपसी मेल का ही है। देशी नरेशों और उनकी प्रजा के पारस्परिक झगड़ों से कांग्रेस अब तक उदासीन रही है जिसके कारण उस पर कई बार आक्षेप भी किए गए हैं परंतु कांग्रेस का कहना है कि ब्रिटिश राजसत्ता से लड़ते हुए उसे अपनी संपूर्ण शक्ति केंद्रीभूत कर देनी होगी, पूरी ताकत से उसे लड़ना होगा। देशी नरेशों और उनकी प्रजा का कलह फिर भी गृह कलह ही है जो उनता अधिक अनिष्ट नहीं कर सकता जितना ब्रिटिश शासन कर रहा है। इतना ही नहीं कांग्रेस पूंजीपतियों और मजदूरों के मामले में भी दखलंदाजी नहीं करती और जहां तक बन पड़ता है, दोनों को अपनी ओर मिलाए रखने की फिक्र में रहती हैं। कांग्रेस की इस नीति के खिलाफ मजदूरों की ओर से जोर-शोर की आवाज उठाई गई है और श्री जमनादास तथा श्री सुभाषचंद्र जैसे नेताओं ने कांग्रेस के प्लेटफार्म से ही उसकी इस पालिसी की निंदा की है। कराची कांग्रेस के अवसर पर नौजवान भारत सभा के अधिवेशन में कहा गया था कि कांग्रेस का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है, वह मध्यम वर्ग के शिक्षितों की संस्था है और स्वभावतः देश की कोटि-कोटि दरिद्र और निस्सहाय जनता के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने में शिथिल हैं। यह (चिमगादड़ की भांति!) मजदूरों और पूंजीपतियों, जमींदारों और किसानों सबसे मिलकर रहना चाहती है। वह अत्याचार को दूर करने की उतनी चेष्टा नहीं करती जितनी विपक्षी और विरोधी दलों का मेल मिलाने और सब को राजी रखने की कोशिश करती है।

परंतु इस अतिशय उग्र और दंभपूर्ण दल की परवाह न कर कांग्रेस का शक्तिशाली विचारशील दल और उसके नेता महात्मा गांधी सदैव झगड़ों से बचते रहने और पारस्परिक मेल बनाए रखने की कोशिश करते आए हैं। सुभाष बाबू जैसे तेज-तर्रार व्यक्तियों को अपने गर्म खून के जोश के सामने जनता की असंगठित, दरिद्र और निर्जीव स्थिति का खयाल ही नहीं होता और वे ठंडे दिल से यह विचार ही नहीं कर सकते कि राष्ट्रीय प्रगति के लिए भिन्न-भिन्न हितों का संरक्षण कितना आवश्यक होता है। महात्मा गांधी ने इस उपयोगी सत्य को कितने ही बार प्रकट किया है कि राष्ट्रीय कांग्रेस आपसी मतभेदों में पड़कर अपना मूल उद्देश्य नहीं खो सकती और जहां तक बन पड़ेगा वह ऐसे झगड़ों से तटस्थ रहेगी। कराची

कांग्रेस के अधिवेशन में जवाहरलालजी और महात्माजी के संयुक्त उद्योग से जिन महत्वपूर्ण मूल अधिकारों की घोषणाएं की गई हैं उसमें यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि देश के सभी फिरकों, मतों और हितों का एक-सा ध्यान रखा जाएगा यहां तक कि यूरोपियन निवासियों को भी उचित सुभीते दिए जाएंगे।

इसलिए हम यह कहेंगे कि कांग्रेस सिद्धांततः सब दलों का एका चाहती है और वही सिद्धांत हमारे प्रांत के किसान-जमींदार प्रश्न पर भी लागू होना चाहिए। शुरू में इस प्रश्न पर इसी दृष्टि से विचार भी किया गया था। जब महात्मा गांधी प्रांतीय गवर्नर मालकम हेली महोदय से मिले थे तब उन्होंने किसानों और जमींदारों दोनों की अर्थकष्ट की दवा करने की सिफारिश की थी। जब उनकी सिफारिश नामंजूर कर दी गई तब भी उन्होंने किसानों के नाम जो विज्ञप्ति निकाली थी, उसमें स्पष्टतः यह लक्ष्य रखा गया था कि आपस का मनोमालिन्य न बढ़ पाए। यही नहीं, गांधी ने इस प्रांत के संबंध में हाल में जो अनेक लेख लिखे और वक्तव्य दिए उनमें वे सरकार को ही संबोधित करते रहे। रायबरेली में धारा 144 जारी किए जाने की सूचना पाकर उन्होंने जो अंतिम लेख *यंग इंडिया* में लिखा है उसमें सरकार की ही शिकायत की है और यह आरोप किया है कि वह देहली समझौते का खुले तौर पर तिरस्कार कर रही है।

परंतु अभाग्यवश यहां का सरकार-जमींदार-किसान संबंध ही कुछ ऐसा है और पुराने जमाने से उसे ऐसा रूप दे दिया है कि किसान और जमींदारों की मुठभेड़ आए दिन होती ही रहती है। सरकार की कृपा से अब तक जीहुजूरी का भाव फैल रहा है और हाल में ही कुछ शिक्षित जमींदार अपना नैतिक सुधार करने लगे हैं। यद्यपि यह सच है कि जमींदार वर्ग किसानों के साथ रियायतें भी करता रहा है और कुल मिलाकर यहां के जमींदार यूरोप के मध्यकालीन जमींदारों से अच्छे हैं, फिर भी उन्होंने किसानों पर रौब-दाब भी काफी रखा है, अपना रुतबा जमाने की लगातार कोशिश की है और इस नाते उन्हें बराबर दबाते भी रहे हैं। आज भी एक प्रकार का आतंक किसानों में देखा जा सकता है यद्यपि समय के प्रवाह और सामूहिक जाग्रति के कारण यह बहुत कुछ कम हो गया है। कहा जा सकता है कि प्रांत के किसान जाग गए हैं और संगठित हो रहे हैं और प्रांत के जमींदार अधिकांश में अभी पुराने खयालातों को ही लिये पड़े हैं और ऐसा करने में उन्हें बाहरी शक्तियों से सहायता ही नहीं, प्रेरणा भी मिल रही है।

कांग्रेस का सिद्धांततः यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्रीय चेतना प्राप्त हिंदू और पिछड़ी हुई मुसलमान जाति के साथ जिस तरह एकता बढ़ाने की कोशिश करती है और दोनों को समगति से स्वराज्य के मार्ग में चलाने का यत्न करती है उसी तरह जाग्रत किसानों और पिछड़े हुए जमींदारों के बीच की खाई को पाटने का उद्योग करें। सिद्धांत की दृष्टि से दोनों एक ही श्रेणी के उद्योग हैं। परंतु हमारे प्रांत की कांग्रेस और उसके कुछ नेता इस सिद्धांत को नहीं समझ रहे हैं। यद्यपि कानपुर के हिंदू-मुसलमान झगड़े के संबंध में राय देते हुए कांग्रेस नेताओं का यह कहना था कि बलवे के संबंध के सब मुकदमे उठा लिये जाएं क्योंकि उनसे दोनों जातियों का वैमनस्य घटने के बदले बढ़ेगा, पर बाराबंकी की स्थिति पर रिपोर्ट देते हुए कांग्रेस नेता श्री मोहनलाल सक्सेना ने जमींदारों की ज्यादती दिखाई है। हम यह नहीं कहते है कि सक्सेनाजी की

रिपोर्ट एकपक्षीय है, परंतु यह अवश्य कहेंगे कि उससे कोई शुभ परिणाम नहीं निकलेगा। पं. जवाहरलाल नेहरूजी रायबरेली और बाराबंकी की स्थिति देखकर काफी से अधिक उत्तेजित हो गए हैं और उन्होंने कह दिया है कि स्वराज मिलने पर ऐसे जमींदारों को देशनिकाला का दंड मिलेगा अथवा उन्हें एक खास अदालत के सामने अपनी पैरवी करनी पड़ेगी। प्रत्यक्षतः इस तरह की बात कांग्रेस के मत के अनुकूल नहीं है और न वह कराची कांग्रेस में घोषित मूल अधिकारों के भाव की रक्षा करती है। हम कांग्रेस का ध्यान उसके सिद्धांत पक्ष की ओर अग्रसर करते हैं और आग्रह करते हैं कि उसकी तरफ से कोई ऐसा काम नहीं किया जाएगा जिससे आपस का झगड़ा बढ़े और देश की वह राष्ट्रीयता भंग हो जिसके लिए कांग्रेस का अस्तित्व है।

डॉक्टर अंसारी की चेतावनी

फरीदपुर, बंगाल में होने वाली राष्ट्रीय मुस्लिम-कॉन्फ्रेंस के सभापति की हैसियत से डॉक्टर अंसारी ने बड़ा महत्वपूर्ण भाषण दिया है। आपने अपने भाषण में भारतीय राष्ट्रीयता का समर्थन बड़े जोरदार शब्दों में किया है। आपने ऐसे मुसलमानों तथा उनके गिरोहों को ऐसी खरी और स्पष्ट फटकार बताई है जो आए दिन हिंदुओं का विरोध कर रहे हैं और जो संसार में मुस्लिम राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे हैं। आपने भारत में राष्ट्रीय मुसलमानों को संगठित होने का आदेश देते हुए कहा है, 'मुट्ठीभर गुलामी के हामीदार अराष्ट्रीय मुसलमानों की नाकिस तहरीक को दबाने के लिए प्रायः प्रत्येक प्रांतों में राष्ट्रीय मुसलमानों का संगठन हो गया है। यदि हमारा राष्ट्रीय दल प्रयत्न करेगा तो 'नौकरशाही के इशारे पर नाचने वाले जीहुजूर मुसलमानों की सब कलई खुल जाएगी और उनकी फिरकापरस्ती वास्तव में जिसकी आड़ में जेब गरम करने वाली नीति है, का भंडाफोड़ हो जाएगा।' डॉक्टर अंसारी की इन बातों से स्पष्ट सिद्ध है कि इस वक्त भारत में ऐसे मुसलमानों का एक समुदाय है जो इस्लाम खतरे में है, का ढोंग रचकर अशिक्षित मुसलमानों को बरगला रहा है और जेब गरम करने वाली नीति का अवलंबन करके फिरकापरस्ती का चारोंओर प्रचार करता फिरता है। परंतु इन फिरकापरस्त मुसलमानों की थोथी बातें अब लोगों को अच्छी तरह प्रकट हो गई हैं। संयुक्त निर्वाचन, हिंदू-मुस्लिम एकता पर आपने खूब जोर दिया। अंत में आपने मुसलमानों को चेतावनी देते हुए कहा है–'मुसलमानो! इस्लाम में तुम्हें विदेशी शासन के अधीन रहना नहीं सिखाया है। गुलामी की बेड़ियां तोड़ दो और इतिहास में आजादी के बानी-मुबानी बनो। यदि तुम लोग राष्ट्रीयता की रक्षा न कर सकोगे, हिंदुओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर न चलोगे और इस संघर्ष में देश का साथ न दोगे तो तुम किसी ओर के न होगे। इस्लाम को सुरक्षित बनाने की नीति बेकार जाएगी।' वास्तव में डॉक्टरं अंसारी की यह सलाह बिलकुल ठीक है। ऐसा ही करने से ही मुसलमान अपने सत्व की रक्षा कर सकते हैं और आपस की पारस्परिक कलह बचा सकते हैं।

स्वराज्य शीघ्र मिलेगा

पूज्य मालवीयजी इस समय बंबई प्रांत में हैं। आपने कई स्थानों पर अनेक महत्वपूर्ण भाषण भी दिए हैं। एक भाषण में आपने कहा है—'इस समय देश में स्वतंत्रता का जो अहिंसात्मक युद्ध छिड़ा हुआ है, उसका साथ हम लोगों को देना चाहिए। आज भारत में जो जागृति दिखाई देती है इसका पूर्ण श्रेय महात्मा गांधी को प्राप्त है। वह दिन बहुत नजदीक है जब भारत को स्वराज्य मिलेगा।' विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार पर जोर देते हुए पूज्य मालवीयजी ने कहा है—'विदेशी वस्त्र बहिष्कार और शराब के व्यापार को बंद करने के लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।' पूज्य मालवीयजी का उपदेश गरीबों के लिए वास्तव में बड़े काम का है। पिछले वर्ष भारत में चर्खा के प्रचार और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार से विदेशी व्यापारियों की क्या दशा हो गई यह किसी भी विचारशील व्यक्ति से छिपा हुआ नहीं है। शराब का बहिष्कार भी पिछले वर्ष काफी तायदाद में हुआ था और अब भी हो रहा है। यदि इसी प्रकार से अपने देश के व्यापार की उन्नति तथा विदेशी माल के बहिष्कार करने में जितना ही प्रयत्न किया जाएगा, पूज्य मालवीयजी के कथनानुसार भारत को उतना ही शीघ्र स्वराज्य मिलेगा।

देशी नरेशों का रुख

आज कल नरेंद्र मंडल की बैठक बंबई में हो रही है। उसके भूतपूर्व सभापति महाराजा पटियाला ने पिछले गोलमेज परिषद में संयुक्त शासन विधान का समर्थन किया था। परंतु अभी हाल में महाराजा ने संयुक्त शासन विधान के संबंध में नया वक्तव्य प्रकाशित कराकर जो नीति स्थिर की है उससे राजनीतिक संसार में आश्चर्य-सा उत्पन्न हो गया है। इसी कारण से नरेंद्र मंडल की बैठक में भी अल्पसंख्यक नरेश महाराजा का समर्थन कर रहे हैं, साथ ही, महाराज बीकानेर ने महाराजा पटियाला के विरुद्ध जो वक्तव्य प्रकाशित कराया है उससे एक गंभीर विवाद भी उत्पन्न हो गया है। हमें इस विवाद पर विशेष कुछ नहीं कहना है। हां इतना अवश्य है कि महाराजा पटियाला, बीकानेर, काश्मीर, अलवर आदि ने संयुक्त शासन विधान के समर्थन में जो भाषण दिए थे उससे भारत का भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ता था और अब भी है। महाराजा पटियाला ने राष्ट्रीय और सार्वजनिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का विरोधी वक्तव्य देकर हमारी राय में अच्छा कार्य नहीं किया। इसी प्रकार की फूट उत्पन्न करने वाली नीति ने ही भारत की राष्ट्रीयता अपहरण की है। इसलिए देशी नरेशों का हित संयुक्त शासन विधान के समर्थन करने में अधिक है। हमें आशा है कि नरेंद्र मंडल के सदस्यों ने गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर जिस नीति का समर्थन किया था, उस पर दृढ़ रहेंगे।

बानर

बालक-बालिकाओं का नया मासिक पत्र *बानर* प्रकाशित हो गया। उसकी जुलाई की संख्या हमारे सामने है। आजकल बाल साहित्य की उन्नति की कितनी आवश्यकता है यह किसी से छिपा नहीं है। पंडित रामनरेश त्रिपाठीजी बाल साहित्य के विशेषज्ञ हैं और आपने इस दिशा में कार्य भी अच्छा किया है। आपने ऐसे उपयोगी पत्र का प्रकाशन तथा इसका *बानर* नामकरण करके जो सुरुचि दिखाई है, वह प्रशंसनीय है। इस समय जितने पत्र बच्चों के निकलते हैं उनमें *बानर* बहुत ही चित्ताकर्षक और सुंदर है। इसमें बाल-बालिकाओं के उपयोगी, मनोरंजक सचित्र कहानियां, कविताएं, खेल कूद और यात्रा संबंधी लेख तथा पहेलियां प्रकाशित की गई हैं। लेखों की भाषा सरल और रुचिकर है। पृष्ठ तथा रंगीन और सादे चित्रों की भी संख्या काफी है। इसके संपादक कुंअर सुरेश सिंहजी को उनकी इस सफलता पर बधाई है। *बानर* का वार्षिक मूल्य 3 रुपए। हिंदी मंदिर प्रयाग के पते पर प्राप्त हो सकता है।

'टोरी' दल की टांए-टांए

विलायत का 'टोरी' अनुदार दल भारतीयों की मांगों पर जरा भी उदारता दिखाने के लिए तैयार नहीं है। मिस्टर चर्चिल जैसे व्यक्तियों ने इस दल को खूब प्रसिद्ध कर दिया है। अभी हाल में अनुदार दल की एक सभा लंदन में हुई थी। 30 जून को श्यूटर ने संवाद भेजा है, उसका सार यह है, 'वर्तमान घटनाओं को देखते हुए मजदूर सरकार भारत की मांगों को पूरी तरह पूरा करने में ही अपना हित समझती है, और विलायती व्यापार के संरक्षण के लिए विशेष उद्योग नहीं कर रही है। यदि यही दशा रही और विशेष रूप से विचार नहीं किया गया तो शायद हमारा दल आगामी गोलमेज सम्मेलन में शरीक न हो सकेगा।' यह समाचार कितना अनुत्तरदायित्वपूर्ण है। किसी भी मुल्क को हमेशा गुलाम बनाए रखने की विलायती टोरी दल की नीति को कहां तक कोई उचित कह सकता है। अब वह समय आ गया है कि अनुदार दल के अंग्रेजों को उदार बनने का प्रयत्न करना चाहिए। कोई भी मुल्क हमेशा परतंत्र नहीं रह सकता। भारत को अब वह सौभाग्य शीघ्र ही प्राप्त होने की आशा है जिसके खो देने से आज उसकी दुर्दशा हो रही है। अब उसे साम्राज्यवादियों की उतनी चिंता नहीं है जितनी चिंता उसे स्वाधीनता प्राप्त करने की है।

(सोमवार, 6 जुलाई 1931)

किफायतशिआरी या बेकारी

भारतवर्ष में व्यापार, उद्योग-धंधों की कमी के कारण काफी तायदाद में बेकारी बढ़ी हुई है और

दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। विद्यार्थी वर्ग और शिक्षित समाज को ही लीजिए। प्रतिवर्ष सहस्रों की संख्या में विद्यार्थी परीक्षा पास करके यूनिवर्सिटियों, कॉलेजों और स्कूलों से निकलते हैं परंतु उनमें से कम से कम पचास प्रति सैकड़ा वरन् इससे अधिक को नौकरियां मिलती भी हैं। उन्हें बाल-बच्चों का पालन पोषण करना भी दुस्तर हो जाता है। वकीलों और डॉक्टरों की संख्या भी, जो सार्वजनिक सेवा करके अपना खर्च चलाना चाहते हैं, काफी बढ़ गई है और उनकी भी दशा आजकल शोचनीय है। क्योंकि एक तो जनता स्वयं निर्धन है, दूसरे इन पेशों में भी इन लोगों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि आमदनी का हिस्सा अनेक टुकड़ों में विभाजित हो गया है। अतएव जब शिक्षित समाज ही इस दुर्दशा को प्राप्त है तब अर्धशिक्षित और अशिक्षित लोगों के ठिकाने का प्रश्न ही क्या हो सकता है? इस प्रकार बेकारी की समस्या दिन पर दिन जटिल होती जा रही है परंतु इसके रोकने का कोई भी उपाय नहीं किया जा रहा है। किसी भी मुल्क में जब बेकारी बढ़ती है या सार्वजनिक हित खतरे में पड़ता है तब वहां की गवर्नमेंट का यह फर्ज हो जाता है कि वह उस समस्या को शीघ्र ही हल करने की चेष्टा करे। परंतु भारत में बढ़ती हुई इस बेकारी को दूर करने के लिए गवर्नमेंट ने अब तक क्या उपाय किए हैं, यह विचारणीय है?

एक तो बेकारी की समस्या यों ही जटिल हो रही थी दूसरे देश की आर्थिक दशा और भी शोचनीय हो गई। यही नहीं वरन् अन्य मुल्क भी अर्थ संकट में पड़ गए हैं। अनाज सस्ता होने के कारण भारत की जनता को आर्थिक कष्ट सहना पड़ा जिससे सरकार को जमीन के कर वसूल होने में बड़ी कठिनाई पड़ी और पड़ रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार की आय में करोड़ों रुपए की घटी हुई। उसने अंत में व्यय में कमी करने के लिए सरकारी विभागों में काम करने वालों की छंटनी करने का निश्चय किया। पहले रेलवे विभाग में यह काम प्रारंभ किया गया और 35 हजार काम करने वाले रेलवे-विभाग से अलग कर दिए गए और 35 हजार आदमियों को अलग करने के लिए विचार किया जा रहा था। अन्य महकमों से भी कुछ लोग अलग किए गए। हम किफायतशिआरी के सिद्धांत के विरोधी नहीं हैं परंतु सरकार इस समय किफायत के नाम पर जिस ढंग से काम कर रही है, वह निंदनीय है। किफायत के नाम पर रोजी वालों को बेरोजी बनाना उचित नहीं है। एक तो करेला यों ही तिक्त दूसरे नीम चढ़ी वाली कहावत इस संबंध में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रही है। एक तो बेकारी यों ही बढ़ी हुई है। दूसरे सहस्रों आदमियों को रोजगार से अलग किया जा रहा है। यह किफायतशिआरी नहीं बल्कि बेकारों की संख्या में और भी वृद्धि करना है। इसके साथ ही हमें दुख के साथ यह भी लिखना पड़ता है कि जहां हम साधारण कर्मचारियों के निकाले जाने का समाचार पाते हैं वहां इस संबंध की ऐसी कोई खबर नहीं पाते कि बहुवेतन भोगी ऊंचे कर्मचारियों में भी छंटनी होगी या नहीं? हमारा तात्पर्य यह है कि सरकार को एक दृष्टि से काम करना चाहिए। सरकार को अब यह भी स्पष्ट पता चल गया है कि यदि रेलवे के कर्मचारियों की मांगों को वह स्वीकार नहीं करेगी तो रेलवे कर्मचारी हड़ताल की शरण लेंगे। जिस समय हड़ताल होगी उस समय गवर्नमेंट को कितनी हानि होगी इसका अनुमान साधारण रूप से ही किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि गवर्नमेंट किफायतशिआरी के करने के लिए जो उपाय कर रही है क्या उससे बेकारी बढ़ने की आशा नहीं है? जब इतने आदमी बेरोजगार हो जाएंगे तब वे क्या करेंगे? इस पर भी सरकार ने ठंडे दिल से कभी विचार किया है? क्योंकि ये पढ़े-लिखे लोग ऐसे भी तो नहीं हैं जो कलम चलाने के सिवा कुछ और भी कर सकें। फिर क्या इस प्रकार बेकारों की संख्या की वृद्धि करके अपने आप अराजकता का बीज नहीं बोया जा रहा है? यदि खुदा न खास्ता किसी प्रकार की अशांति उत्पन्न हो जाएगी तो इसकी जिम्मेदारी किस पर होगी?

देर आयद, दुरुस्त आयद के अनुसार शिमला के संवाददाता का समाचार पढ़कर हमें संतोष हुआ है कि रेलवे के एजेंटों ने अपनी एक मीटिंग में यह तय किया है कि रेलवे के जो कर्मचारी अस्थायी रूप से नियुक्त किए गए थे उनके सिवा आगामी अक्तूबर मास तक कोई भी रेलवे कर्मचारी नौकरी से बरखास्त नहीं किए जाएंगे। रेलवे विभाग की इस दूरदर्शिता की हम प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार अन्य विभागों में जहां गवर्नमेंट ने छंटनी की है उसमें भी न्याय से काम लिया जाना चाहिए। यदि छंटनी करनी ही सरकार को मंजूर हो तो इस ढंग से उस कार्य को करना चाहिए जिससे भेदभाव की जरा भी गुंजाइश न रहे, गोरे और काले के भेदभाव को छोड़कर काम लिया जाना चाहिए। अभी हाल में हिटले कमीशन की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसमें भी मजदूरों और रेलवे कर्मचारियों की समस्या पर विचार करने की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया है। इसीलिए इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। किसी भी मुल्क में बेकारी की बढ़ना वहां अराजकता की जड़ जमाना है। ऐसी दशा में सरकार को चाहिए कि कम से कम मजदूरों की समस्या को हल करने का भरसक प्रयत्न करे और किफायतशिआरी के साथ-साथ बढ़ती हुई बेकारी को रोकने की चेष्टा करे।

फिरकापरस्ती और पृथक निर्वाचन

मार्ले-मिंटो स्कीम के अनुसार जब से पृथक निर्वाचन का प्रश्न उपस्थित हुआ तब से फिरकापरस्ती की जड़ मजबूत हुई है। खासकर मुसलमानों के एक खास गिरोह पर इसका जबर्दस्त असर पड़ा। मौलाना शौकत अली जैसे मजहबी व्यक्तियों ने फिरकापरस्ती की जड़ मजबूत बनाने में काफी उद्योग किया। खासकर साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने भी पृथक निर्वाचन का समर्थन करके इन फिरकापरस्तों को और भी उत्तेजित किया है। परंतु भारत के प्रत्येक दल ने एक स्वर से संयुक्त निर्वाचन का समर्थन करके इन फिरकापरस्तों की दलीलों का खंडन कर दिया। डॉक्टर अंसारी ऐसे मुसलमान नेता ने भी राष्ट्रीय मुस्लिम दल की स्थापना करके इन पृथक निर्वाचन वाले फिरकापरस्तों का घोर विरोध किया। साइमन कमीशन की कुटिल नीति सबको मालूम हो गई कि पृथक निर्वाचन का समर्थन करके कमीशन की वास्तविक मंशा क्या थी? इसलिए इन फिरकापरस्तों की इच्छा की पूर्ति किसकी छत्रछाया में हुई और हो रही है, यह समझने की बात है। हम पूज्य मालवीयजी के शब्दों का पूर्णरूपेण समर्थन करते हैं कि 'पृथक

निर्वाचन का जहर सरकार ने पैदा किया और उसे चाहिए कि वही इसका अंत भी करे।' पूज्य मालवीयजी के कथनानुसार पृथक निर्वाचन का जहर सरकार ने बोया और यदि हम यह कहें कि इसी निर्वाचन की छत्रछाया में फिरकापरस्ती स्थिर रही और है तो शायद अनुचित न होगा। हमें विश्वास है कि शीघ्र ही राष्ट्र का कल्याण चाहने वाले फिरकापरस्ती से दूर रहकर संयुक्त निर्वाचन का समर्थन करते जाएंगे और पृथक निर्वाचन चाहने वाले, स्वार्थी अपने आप असली रास्ते पर आवेंगे वह समय दूर नहीं है।

ट्रेड यूनियन कांग्रेस

कलकत्ता में होने वाले ट्रेड यूनियन कांग्रेस के ग्यारहवें अधिवेशन के सभापति श्री सुभाष चंद्र बोस ने जो भाषण दिया है उससे कई ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं। सुभाष बाबू के भाषण से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कांग्रेस कार्यकर्ताओं में आपस में फूट है। कुछ लोग कांग्रेस में ऐसे हैं जो विदेशों से संबंध रखने के पक्ष में हैं और कुछ ऐसे हैं जो इस मत के विरुद्ध हैं। यही फूट के मुख्य कारण हैं। ट्रेड यूनियन कांग्रेस श्रमजीवियों की संस्था है और वह ग्यारह वर्ष से श्रमजीवियों के हितों के लिए कार्य कर रही है। ऐसी दशा में आपस की फूट संस्था और श्रमजीवी समाज दोनों के लिए खतरनाक हैं। जो लोग विदेशों से संबंध रखने के पक्ष में हैं उनसे हमें यही कहना है कि भारतीय श्रमजीवियों की समस्या का स्पष्टीकरण भारतीय दृष्टि से होना चाहिए, न कि रूस आदि देशों से श्रमजीवियों की दृष्टि से! भारतीय श्रमजीवियों को किसी भी मुल्क के इशारे पर कठपुतली बनकर रहने से हानि के सिवा लाभ नहीं होगा। दूसरे विचार वालों से हमारा कहना यही है कि जब तक वे लोग केंद्रीय शासन के अधीन होकर काम नहीं करेंगे तब तक हित की अधिक आशा नहीं है। ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिकारियों और कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे संगठित होकर श्रमजीवी समाज के लाभ का मार्ग सोचें और उनके हितों की रक्षा करने के लिए उपाय करें क्योंकि यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'आपस के फूटे कहो कान को भलो भयो।'

(सोमवार, 13 जुलाई 1931)

विलायती विवाद

पिछले सप्ताह हाउस ऑफ कॉमंस में चर्चिल पार्टी ने फिर अपना स्वरूप दिखलाया था। पार्टी के एक सदस्य अर्ल विंटर्टन ने भाषण देते हुए भारत की वर्तमान समस्या पर अपनी वक्र दृष्टि डाली। आपने भारत सचिव मिस्टर बेन से पूछा, 'मैं जानना चाहता हूं कि भारत की प्रांतीय सरकार को पुलिस के संबंध में क्या सलाह दी गई है क्योंकि गांधी-इर्विन समझौते के

अनुसार पुलिस अपना कर्तव्य पालन नहीं कर सकती।' यही नहीं, आपने मिस्टर बेन को उनका कर्तव्य बतलाते हुए यह भी आदेश दिया कि 'मि. बेन भविष्य में भारतीयों की इच्छा पूर्ति से भले ही सहानुभूति रखते हों किंतु उन्हें सरकार की बड़ी मशीन के समर्थन की नीति भर को न भूलना चाहिए जो वर्षों से शान से शासन कर रही है।' किसी भी विचारवान की बुद्धि में अर्ल विंटर्टन की इन बातों का क्या मूल्य हो सकता है? इस बात से जान पड़ता है कि गांधी-इर्विन संधि का समर्थन करने वाली मजदूर सरकार की नीति से उन्हें सख्त नफरत है। परंतु मजदूर सरकार अपने सिद्धांत पर अड़ी हुई है। क्योंकि मिस्टर बेन ने अर्ल विंटर्टन की बातों का जवाब देते हुए कहा, 'मैं जानता हूं कि भारत सरकार का अमन और कानून की रक्षा करना प्रथम कर्तव्य है और गांधी-इर्विन समझौते की शर्तों का पालन करना दूसरा। परंतु ब्रिटिश भारत और प्रांतीय सरकारें उन शर्तों के पालने करने के लिए बाध्य हैं। मुझे अफसरों तथा गुप्त रीति से जो खबरें मिली हैं उनसे स्पष्ट है कि महात्मा गांधी कहीं भी विश्वासघात नहीं कर रहे हैं।' मिस्टर बेन की बातें वास्तविक रूप से तथ्य पूर्ण हैं परंतु इतना सुनने पर भी सर जॉन साइमन और चर्चिल आदि की शंका नहीं गई। सर जॉन साइमन ऐसे व्यक्ति हैं जो साइमन कमीशन की रिपोर्ट द्वारा भारतीयों की आंखों से गिर गए हैं। वे भला कैसे चुप रह सकते थे। तुरंत बोल उठे, 'भारत के सिर्फ गरम दल वालों तथा कांग्रेसी नेताओं को मिला लेने से काम नहीं चलेगा।' सरकार को ऐसी नीति से काम लेना चाहिए जिससे प्रत्येक दल को संतोष हो। उसे अपनी रीति स्पष्ट कर देनी चाहिए। इसके बाद ही उदार दल के कर्नल लेन फाक्स ने कानपुर के दंगों का जिक्र करते हुए कहा कि 'हमारी सफलता भारत में तभी हो सकती है जब हम वहां की समस्या पर सहानुभूति के साथ विचार करें।' परंतु मिस्टर चर्चिल भला भारत के साथ सहानुभूति रखने के कैसे पक्ष में हो सकते हैं। उन्होंने कर्नल लेन फाक्स की शर्तों का उत्तर देते हुए कहा, 'ब्रिटिश सरकार कानपुर में अल्पसंख्यकों की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हुई है और उसके लिए यह बड़ी शर्म की बात है। मिस्टर लेन ने अपने दो वर्ष के मंत्रिमंडल में स्थिति में सुधार नहीं किया वरन् बिगाड़ किया है।' परंतु मिस्टर चर्चिल का मुंह-तोड़ उत्तर देते हुए मिस्टर ऐजांक फुट ने जो कुछ कहा वह उनके लिए खासा जवाब था। आपने कहा, 'मिस्टर चर्चिल की यह बातें बिलकुल निराधार हैं। जिस समय भारत में 'भूपाल कांड' हुआ था उस समय मिस्टर चर्चिल भी सरकार के मंत्रिमंडल में मौजूद थे।'

इस प्रकार भारत के विरोध में अनुदार, उदार और मजदूर दल में एक संघर्ष चल रहा है। अनुदार दल मजदूर सरकार पर इस बात का खूब जोर डाल रहा है कि वह भारत के साथ उदारता से पेश न आए। परंतु मजदूर सरकार भी अच्छी तरह अपने सिद्धांत पर अटल है। अनुदार दल इस प्रकार की विरोधी बातों का जहर फैलाकर वायुमंडल गंदा करने का जो अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य कर रहा है वह संसार ने राजनीतिज्ञों की नजरों में खटक रहा है। अनुदार दल की इस विषैली नीति के कारण ही आज इंग्लैंड की आर्थिक दशा बुरी हो रही है। भारतवर्ष में महात्मा गांधी का आंदोलन बढ़ा, विदेशी खासकर विलायती कपड़े का बायकाट हुआ, कितने ही मजदूर बेकार हो गए हैं। सारे इंग्लैंड के ही श्रमजीवियों में त्राहि-त्राहि मच

गई। इस प्रकार की कटुता और असहानुभूतिसूचक विचारों की विभिन्नता के कारण ही भारत के इतिहास में एक ऐसा समय आ गया है कि वह अपना स्वत्वपूर्ण रूप से स्वयं प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो रहा है। मिस्टर चर्चिल एंड कंपनी को इस बात का पूर्ण रूप से विश्वास रखना चाहिए कि महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन में जो समझौता हुआ है उसका पालन करते हुए जो वायुमंडल तैयार हो रहा है उसका संसार की राजनीति पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ रहा है। मजदूर सरकार, भारत सरकार और महात्मा गांधी बराबर अपने काम की ओर अग्रसर हो रहे हैं। समझ में नहीं आता कि मिस्टर चर्चिल को अल्पसंख्यकों की रक्षा की इतनी फिक्र क्यों है? डॉक्टर अंसारी, महात्मा गांधी, पूज्य मालवीयजी, मौलाना अबुल कलाम आजाद स्वयं इस बात के लिए खास प्रयत्न कर रहे हैं कि अल्पसंख्यक जातियों की रक्षा हो। महात्मा गांधी तो यहां तक कहते हैं कि कॉन्फ्रेंस में जाने के पहले जातीय समझौता अवश्य हो जाना चाहिए। जान पड़ता है कि भारत में मुसलमानों की रक्षा करने के ठेकेदार मौलाना शौकत अली और विलायत में अंग्रेज जाति की रक्षा का ठेका मिस्टर चर्चिल ने ही ले रखा है। अब वह समय दूर चला गया है और सीमित विचारों के लोगों की बातों की संसार की निगाह में कोई वकत नहीं है। महात्मा गांधी के कथानुसार, 'भारत जितना ही सत्य और अहिंसा के पालन करने में अग्रसर होता जाएगा उतना ही स्वराज्य उसके नजदीक आता जाएगा।' अब वह दिन दूर नहीं है कि मिस्टर चर्चिल ऐसे व्यक्ति स्वयं अपने आप रास्ते पर आएंगे और उन्हें भारत की मांगों का समर्थन करना पड़ेगा। हमको यह विश्वास है कि मजदूर सरकार पर जिसने गोलमेज कॉन्फ्रेंस की नींव डाली है, और जो सब दलों के नेताओं के विचार विनिमय द्वारा भारतीय मांगों के पूरा करने में लगी है, अनुदार दल की इन विरोधी बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और भारत और इंग्लैंड को एक सूत्र में बांधने का श्रेय उसे प्राप्त होगा।

विरोधी नीति

संडे ग्राफिक नामक एक विलायती पत्र में मिस्टर पाउडर नाम के एक जज महोदय का पत्र प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है, 'अब हिंदुस्तान की दशा किसी के काबू में नहीं है। हम लोग हिंदुस्तान को स्वराज्य देने का वायदा कर चुके हैं परंतु अभी 20 साल तक हम और भारत में जमे रहेंगे। यह तो अब गैरमुमकिन है कि हम मनमाने ढंग से राज करें क्योंकि न तो हमारे पास इतने नौकर हैं और न उनके बुलाने का जरिया ही। इसके सिवा हम भारत में अपना खास काम कर चुके हैं। लेकिन जब तक हिंदुस्तान हमारे कब्जे में है तब तक बायकाट जरूर बंद करा देना चाहिए। हिंदुस्तान को दो भागों में विभाजित कर दिया जाए। एक हिस्सा कराची से दिल्ली तक मुसलमानों को दे दिया जाए, बाकी हिंदुओं को। कराची हिंदुस्तान के मुसलमानों का बड़ा अच्छा बंदरगाह है। वहां से ईरान, सीरिया, फारस और अरब से वे सीधा संबंध बनाए रह सकते हैं। ऐसा करने से यदि हिंदू लोग हमारे माल का बायकाट कर

देंगे तो मुसलमानों के हाथ हम कराची से अपना माल बेचा करेंगे।' इन वाक्यों को पढ़कर हमें आश्चर्य होता है। साथ ही, हंसी भी आती है। अनुदार दल के अन्य सदस्य भी इसी प्रकार की विरोधी बातें समयानुसार कहकर अपने दिल के फफोले फोड़ा करते हैं। परंतु इस प्रकार का आपस का विरोध तथा 'डिवाइड एंड रूल' स्पष्ट रूप में प्रकट करने वाली नीति से हानि के सिवा लाभ की आशा नहीं है। जहां हम देखते हैं कि एक ओर इंग्लैंड के कितने ही उदार व्यक्ति भारतीय प्रश्न को सुलझाने में लगे हैं वहां ऐसे दकियानूसी विचारकों के उलझे हुए विचारों को पढ़कर दुख होता है। अनुदार दल के लोगों को अब भली भांति समझ लेना चाहिए कि आयरलैंड में अलस्टर की, टर्की में आर्मी नियमों की और अमेरिका में कनाडा वालों की समस्याएं उत्पन्न होने से जब कोई फल नहीं निकला तब भारत में इस समस्या के उत्पन्न होने से भी कोई लाभ की आशा नहीं है। इस समय देश उन्नति के पथ पर ऐसा अग्रसर हो रहा है कि मिस्टर पाउडर ऐसे व्यक्तियों की बातों को कोई महत्व ही नहीं दिया जा सकता।

(सोमवार, 17 जुलाई 1931)

एक सामाजिक प्रश्न

खबर आ गई है कि आगामी गोलमेज सम्मेलन में शरीक होने के लिए पूज्य मालवीयजी विलायत जाएंगे। यदि कोई विशेष उलट-फेर न हुआ तो उनकी विलायत-यात्रा की तारीख 15 अगस्त तय हो चुकी है। कहा जाता है कि वे महात्मा गांधी के साथ ही 'मुल्तान' नाम के जहाज पर बैठकर समुद्र-यात्रा करेंगे। पूज्य मालवीयजी हिंदू जाति के सबसे बड़े सनातन धर्मावलंबी नेता है। यद्यपि महात्मा गांधी भी वर्णाश्रम धर्म के हामी हैं और संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों में ऊंचे स्थान के अधिकारी होकर हिंदू जाति का मस्तक ऊंचा करने में समर्थ हुए हैं, तथापि देश की प्रचलित परंपरा कुछ ऐसी है कि वह महात्मा गांधीजी के विलायत जाने की खबर से उतना आकर्षित नहीं हो रही है जितना पूज्य मालवीयजी के जाने की खबर से हो रही है। यहां केवल सामाजिक पहलू पर विचार किया जा रहा है। पिछले वर्ष के सत्याग्रह आंदोलन में जब मालवीयजी को पहली बार जेल जाना पड़ा तब भी हिंदू समाज में एक प्रकार का आतंक छा गया था। उस बार जब किसी ने जुर्माने के रुपए देकर मालवीयजी को जेल जाने से रोक लिया तब संदेहवादियों को पूज्य मालवीयजी की सनातन धर्म संबंधी धारणा पर बहुत कुछ अनर्गल बकने का अवसर मिला था। पर दूसरी बार देहली में सरकारी निषेध को भंग कर मालवीयजी ने अपने दृढ़व्रत का परिचय तो दिया ही, संसार को विशेषकर, अपने देशवासियों को सनातन धर्म संबंधी अपने अटल, निर्विकल्प विचारों को समझने का अवसर भी दिया। मालवीयजी निरंतर यह संदेश सुनाते रहे हैं कि स्वराज्य प्राप्त करना परम धर्म है, गुलामी में दिन बिताना अधर्म और पाप है। परंतु जिस दिन वे देश के स्वातंत्र्य-धर्म की सिद्धि

के लिए जेल गए उस दिन संसार ने अच्छी तरह समझा कि हिंदू धर्म झूठे आचार विचार का ढकोसला कर जीवन के सच्चे धर्म में बाधा नहीं डालता बल्कि अपने पूज्य से पूज्य, ज्ञान वृद्ध और वयोवृद्ध नेता को जेल की चहारदीवारी के अंदर डालकर शक्ति के साथ धर्म की ज्योति जगाता है। पूज्य मालवीयजी ने काशी विश्वविद्यालय में अछूतों का प्रवेश कराया, उन्होंने काशी की माननीय पंडित मंडली के सामने अस्पृश्यों को 'मंत्र' दिया, वे लोकधर्म का पालन करते हुए जेल तक गए और आज देश सेवा के व्रत में व्रती होकर वे समुद्र यात्रा कर रहे हैं। ईश्वर हमें शक्ति दे कि हम उन पूज्य नेता की इस आचारपद्धति के अंतर्गत सच्चे सनातन धर्म का आलोक देखें।

अभाग्यवश अब तक हमारे यहां के रूढ़िग्रस्त ब्राह्मण वर्ग ने समुद्र-यात्रा का निषेध कर रखा है और शिक्षा के अभाव में समाज अंधेन नीयमान यथांधाः' के अनुसार किंकर्तव्यविमूढ़ होकर इन्हीं के फतवों को मानता चलता जा रहा है। देहातों के संकीर्ण घेरे में तमाम जिंदगी गुजार देने वाले विशालकाय ब्राह्मण समाज का यह धंधा-सा हो रहा है कि वह अपनी बीघों-बिस्वों की नकली मान-मर्यादा को रोज-ब-रोज दोहराता रहे ताकि उन्हीं के अज्ञानांधकार में वह लुप्त हो जाए। जिन्हें कोई काम नहीं है उनके लिए यह बड़ा काम नहीं है और न विशेष आश्चर्यजनक ही है। फल यह हुआ कि आज थोड़े से धर्मगुरु ही नहीं, संपूर्ण समाज को समाज एक बंधी लीक से होकर निश्चित भाव शून्य, चेतनाशून्य गति से गुजर रहा है जैसे वर्षांत की अंधेरी रात में कोई शराबी गिरता-पड़ता चला जाता हो। इस संपूर्ण समाज ने जीवन से तटस्थ होकर एक जीवनशून्य, अनुभवशून्य, काल्पनिक हठवादी विचार पद्धति स्वीकार कर ली है जिसमें वह नित्यप्रति जकड़ता जा रहा है। यह कहना फिजूल है कि काशी जैसे धर्मकेंद्र के कुछ धर्मगुरु और उनकी कुछ पत्र-पत्रिकाएं इस देहाती महान ब्राह्मण समाज की नकेल थामे हुए हैं। वास्तव में किसी का कुछ भी प्रभाव इस संपूर्ण महाकाय समाज पर नहीं है। उसपर केवल उसी के अज्ञान और दुर्भाग्य का प्रभाव है। उसी प्रभाव में वह अपने नाश को अपना जीवन समझ रहा है।

हिंदुओं की बड़ी-बड़ी आतंकपूर्ण नामों की सभाएं और महासभाएं हैं जो वर्षों से समाज सुधार का काम करती चली आ रही हैं। ब्राह्मण वर्ग में ही कान्यकुब्ज, सनाढ्य, सरयूपारी, सारस्वत आदि आदि न जाने कितने वर्गों की कितनी ही महासभाएं है। एक कान्यकुब्ज समाज की ही महती सभाओं की संख्या का अंदाज लगाना हंसी-खेल नहीं है। परंतु हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि सारी सभाओं और महासभाओं ने तर्क, विवाद और वैमनस्य बढ़ाने के अतिरिक्त कोई भी हितकर कार्य नहीं किया। समाज सुधार जहां दंभ का दूसरा नाम हो, जो सामाजिक सभाएं व्याख्यान वाचस्पतियों और वाणी भूषणों की बोली सुनाने की रंगशालाएं हों उनके कलंक की कहानी कहने के लिए वे ही पर्याप्त हैं।

आज तक इन महती सभाओं वाले ब्राह्मण समाज में एक ऐसा महच्चरित्र व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ जो अपनी वाक्पटुता से नहीं, अपनी कृतशक्ति से; अपने दंभ से नहीं, अपने दृढ़ व्रत से समाज को चेतना का एक घूंट भी पिला सकता। अब तक ऐसे सत्पुरुष से भेंट नहीं जो

शाब्दिक संदेशों द्वारा नहीं, सत्याग्रह द्वारा सुप्त समाज को जाग्रति की एक किरण दिखा सकता। ऐसे अवसर पर पूज्य मालवीयजी जैसे कर्मनिष्ठ तपस्वियों को देखकर आंखें शीतल होती हैं, आत्मा तृप्त होती है। उन्होंने जो आदर्श कार्यशैली ग्रहण की है और धर्म की जैसी निर्मल आभा उनकी उस कार्यशैली के भीतर से निखरकर प्रकाश में आई है उससे लाखों-करोड़ों का कल्याण का मार्ग देख पड़ेगा। पूज्य मालवीयजी देश के हित के लिए विलायत जाएंगे, बिना किसी असमंजस के, बिना संकोच के। उनका साध्य देशसेवा है जो सत है और धर्म है। अतः उसके साधन असत, अधर्म हो नहीं सकते। यही वह सनातन धर्म है जिसके परित्राण के लिए युग-युग में महापुरुषों का आविर्भाव होता रहा है। हिंदू समाज, विशेषतः ब्राह्मण समाज को मालवीयजी के इस आदर्श से निश्चय ही उतना लाभ पहुंचेगा जितना सैकड़ों-हजारों विवादिनी सभाओं और महती-सभाओं से इतने वर्षों में नहीं पहुंच सका और न आगे कभी पहुंच सकता है।

नवयुवक समाज को पूज्य मालवीयजी के उदाहरण से सबसे अधिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जीवन के भीतर से धर्म का कैसा विकास होता है यह वे मालवीयजी के चरित्र में देखें। वाग्जाल के द्वारा दंभ को आश्रय देना सरल काम है। बात-बात में क्रांति की पुकार मचाना और भी सरल है, और भी अच्छा लगता है। परंतु काम पड़ने पर किनारा न कसना, दृढ़ होकर सत्पथ पर खड़े रहना यह सब उतना सरल नहीं है और न उतना अच्छा ही लगता है। इसके लिए जीवन-व्यापिनी साधना की आवश्यकता है। यही साधना धर्म है। सनातन धर्म यही है। इसे ही कोई पूज्य मालवीयजी से सीखे।

हिंदू-मुस्लिम समस्या

अभी हाल में बंगलौर के एक व्याख्यान में मौलाना शौकत अली ने एकाएक यह फरमाया कि मैं शांति का उपासक हूं। परंतु यदि मुझे लड़ाई के लिए कोई ऐलान करेगा तो अंत तक लड़ता भी रहूंगा। साथ ही, आपने यह भी कहा है कि हिंदू-मुस्लिम एकता की भी आवश्यकता है। हम पहले भी कई बार लिख चुके हैं कि मौलाना साहब ने हिंदू-मुस्लिम समस्या पर इधर जो विचार प्रकट किए है वे प्राय एक-दूसरे से टकराते हुए हैं। समझ में नहीं आता कि एक ओर वे शांति के उपासक बनने का दावा करते हैं और दूसरी ओर, अंत तक लड़ते रहने का भी ऐलान करते हैं। इन विचारों का मतलब क्या है? जमायतुल उलमा हिंद ने भी अभी हाल में वर्किंग कमेटी के हिंदू-मुस्लिम समस्या वाले प्रस्ताव पर विचार प्रकट करते हुए असंतोष जाहिर किया है। इस प्रकार जब हम जातिगत विद्वेष फैलाने वाले इन मुसलमानों और साथ ही, पूज्य मालवीयजी तथा 22 करोड़ हिंदुओं के समझौते और शांति के विचारों पर दृष्टि डालते हैं तब इन विरोधी मुसलमानों के प्रति बड़ा असंतोष उत्पन्न होता है। समझ में नहीं आता कि ये चंद मुसलमान जबर्दस्ती मुस्लिम जमात की उन्नति का ठेका लिये क्यों फिरते हैं? इनको क्या कोई भी समझदार मुसलमान अपना प्रतिनिधि समझता है? क्या वह दिन शीघ्र आवेगा जब

कि राष्ट्रीयता की जड़ पर कुठाराघात करने वाले इन मुसलमानों की बुद्धि ठिकाने होगी?

ऋण से मुक्ति

भारतीय सार्वजनिक ऋण जांच कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। रिपोर्ट के अंत में एक न्याय युक्त और उचित सिफारिश भी की गई है। सिफारिश यह है कि ब्रिटेन 729 करोड़ रुपए से भारत को मुक्त कर दे। प्रत्येक समझदार आदमी की समझ में आसानी से आ सकता है कि रिपोर्ट में यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया गया है कि 1,100 करोड़ रुपए में 729 करोड़ रुपया ब्रिटेन ने अपने खर्च में व्यय किया है इसलिए वही इस खर्च के देने का जिम्मेदार है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि या तो ब्रिटेन यह सिद्ध करे कि उसने 729 करोड़ रुपया भारत के लिए खर्च किया है और यदि यह सिद्ध नहीं किया जाता तो स्पष्ट हो जाता है कि यह रुपया ब्रिटेन ने अपने काम में खर्च किया है। इसलिए उस कर्जे से भारत को मुक्त कर देना चाहिए। परंतु इन दोनों में से कोई काम करने के लिए वह तैयार नहीं है। कांग्रेस ने कई बार इस अनौचित्य पर विचार करने के लिए स्वतंत्र निर्णयालय की मांग पेश की। पिछली गोलमेज कॉन्फ्रेंस के अवसर पर भी भारतीय प्रतिनिधि इसी संबंध की मांग पेश कर चुके हैं। श्री भूपेंद्र नाथ मित्र भी स्वतंत्र निर्णयालय की आवश्यकता का अनुभव करके उसका समर्थन कर चुके हैं, परंतु तो भी ब्रिटेन को अभी इस संबंध में निर्णय करने का अवकाश नहीं मिला। भारतीय और ब्रिटेन की सरकार अब यह निर्णय कर रही हैं कि भारत को सुधार दिए जाएं। इसलिए ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि इस कर्ज का निपटारा पहले हो जाना चाहिए। हमारी राय में यदि भारत को सुधार दिए गए और उसके साथ ही 729 करोड़ का कर्ज भी उसके सिर पर लादा गया तो अच्छा न होगा। आयरलैंड को 'फ्री-स्टेट' बनाते समय ब्रिटेन ने उसे राष्ट्रीय ऋण से मुक्त कर दिया था। इसी प्रकार उसे भारत के साथ भी करना उचित होगा। दो ही बातें विचारणीय हैं : या तो ब्रिटेन भारत को 729 करोड़ के कर्ज से मुक्त कर दे या स्वतंत्र निर्णयालय की मांग को स्वीकार करे। हमारा विचार है कि इस समय जब कि गोलमेज कॉन्फ्रेंस होने जा रही है और उसके कुछ सुधार मिलने की आशा है, वहां 729 करोड़ के कर्ज से भारत को मुक्त करने का भी प्रश्न अवश्य हल हो जाना चाहिए।

श्रद्धांजलि

स्वर्गीय पं. लज्जाराम मेहता

हिंदी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक मेहता पं. लज्जाराम मेहता का पिछले सप्ताह बूंदी में देहांत

हो गया। मेहताजी हिंदी के प्राचीन सेवक तथा संपादक थे। आपने *वेंकटेश्वर समाचार* आदि पत्रों का ऐसे समय में संपादन किया था जब वर्तमान हिंदी का प्रारंभिक विकास हो रहा था। आपने अनेक पुस्तकों की रचना भी की है। मेहताजी के कथनानुसार *विपत्ति की कसौटी* आपका सर्वोत्तम उपन्यास-ग्रंथ था। आप सनातन धर्मावलंबी पुराने ढंग के व्यक्ति थे। आप सरकारी विभाग में भी अनेक वर्ष तक काम कर चुके थे। आप गुजराती होते हुए भी हिंदी के कट्टर पक्षपाती और लेखक थे। यह आपके लिए विशेष गौरव की बात थी। आपकी अवस्था इस समय लगभग 80 वर्ष की थी। ईश्वर आपकी आत्मा को शांति तथा कुटुंबियों को धैर्य प्रदान करें।

अब भी सही

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने जातीय समस्याओं पर जो मसविदा तैयार किया है वह यद्यपि पूर्णरूप से निर्दोष नहीं है तो भी देश के अल्पसंख्यक संप्रदायों की मनोवृत्ति देखते हुए अच्छा ही है। इस योजना में संयुक्त निर्वाचन के सिद्धांत का समर्थन करते हुए अल्पसंख्यक जातियों के लिए कुछ निश्चित स्थान के संरक्षण का विधान किया गया है। हमारी राय में कांग्रेस कमेटी का यह मसविदा शुद्ध राजनीतिक और सांप्रदायिक प्रश्न के बीच का है। परंतु क्या मौलाना शौकत अली और उनके दलवालों को भी यह मसविदा मंजूर होगा। अभी हाल में ढाका की मुस्लिम कॉन्फ्रेंस में भाषण देते हुए डॉक्टर शफात अहमद खां ने जो विचार प्रकट किए हैं उनमें भी यह प्रकट होता है कि ये खिलाफती अपनी टांग अड़ाए ही रहेंगे। डॉक्टर अंसारी ने बंबई की एक मीटिंग में यह ठीक ही कहा है कि ये लोग स्वार्थी हैं। इनकी कोई परवाह न करनी चाहिए। अगर वर्किंग कमेटी के इस विधान से हिंदू-मुस्लिम प्रश्न हल हो जाए तो बड़ी प्रसन्नता की बात है।

द्विवेदीजी का सम्मान

सहयोगी *लीडर* पत्र के पिछले अंकों में कई पत्र छपे थे जिनमें काशी, प्रयाग आदि के विश्वविद्यालयों से यह सिफारिश की गई है कि वे हिंदी के आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदीजी को उच्चतम साहित्यिक उपाधि प्रदान कर उनकी साहित्यिक सेवाओं के प्रति अपना सम्मान और कृतज्ञता प्रकट करें। संसार के अन्य विश्वविद्यालय अपने देशों के साहित्यिकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के प्रति इस प्रकार का सम्मान-प्रदर्शन करने में तत्पर रहते हैं और योग्य पुरुषों को उपाधियां देने में अपना गौरव समझते हैं। विश्वविद्यालयों की यह उदारता और सारग्रहण की प्रवृत्ति देश की ज्ञान वृद्धि में विशेष रूप से सहायक होती है और इसके अन्य अनेक

शुभ फल भी होते हैं। अभी हाल में विलायत के एक विश्वविद्यालय ने एक साम्यवादी सज्जन को अपनी उपाधि से विभूषित करने का प्रस्ताव किया था जिसे उक्त सज्जन ने साम्यवाद के सिद्धांत के अनुकूल न होने के कारण अस्वीकार कर दिया। तथापि विश्वविद्यालय का प्रस्ताव पूर्ण रीति से प्रशंसनीय था, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। ऐसी उदार-नीति का प्रभाव विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। विचार स्वातंत्र्य और सार्वभौमिक प्रेम की ऐसी नींव जिन विश्वविद्यालयों में पड़ती है उनका महत्व अपार है। भारतीय विश्वविद्यालयों में भी इसी प्रकार की सारग्राहिणी उदार नीति को प्रश्रय मिलना चाहिए। हम जानते हैं कि प्रयाग विश्वविद्यालय सरकारी प्रभाव से उतना मुक्त नहीं है जितना काशी विश्वविद्यालय है। इसलिए हम प्रयाग की अपेक्षा काशी विश्वविद्यालय से अधिक आशा रखते हैं कि वह आचार्य द्विवेदीजी का सत्कार करने का श्रेय प्राप्त करेगा। पिछले वर्षों में काशी विश्वविद्यालय ने डॉक्टर बीसेंट और बाबू भगवानदास जैसे विद्वानों को अपनी उपाधि प्रदान की हैं। आचार्य द्विवेदीजी को साहित्याचार्य (डी.लिट.) की उपाधि प्रदान कर वह समस्त हिंदीभाषी जनता की कृतज्ञता तो प्राप्त करेगा ही, एक योग्यतम सज्जन को सम्मानित कर अपने विवेक और कर्तव्य ज्ञान का भी पूरा परिचय देगा। काशी विश्वविद्यालय से इसकी हमें पूरी आशा है।

(सोमवार, 20 जुलाई 1931)

प्रांतीय गवर्नर का भाषण

लखनऊ में प्रांतीय कौंसिल का अधिवेशन प्रारंभ होने के अवसर पर पिछली 20 जुलाई को यू.पी. के गवर्नर महोदय का जो भाषण पढ़ा गया उसमें प्रांत की किसान समस्या पर ही प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। अब तक गैर सरकारी तौर पर प्रांत की किसान समस्या को लेकर बहुत-कुछ कहा-सुनी हो चुकी थी, अब मानो सरकार की ओर से भी यह स्वीकार किया गया कि आश्रयहीन, विपन्न और दरिद्र किसान ही प्रांत के सबसे अधिक विचारणीय और उल्लेखनीय विषय हो गए हैं। यह स्वीकृति भी एक प्रकार का अपना महत्व रखती है। इससे आगे चलकर इस संबंध की बातचीत और सलाह-मशविरे का रास्ता खुलता है, नहीं तो अब तक तो हालत यह थी कि छूट की एक किस्त का ऐलान कर सरकार चुप तो हो रही थी, उसने यह भी समझ लिया था कि उतनी छूट दे देने के बाद लगान वसूली का मसला हल हो गया और मालगुजारी मिलने का पूरा विश्वास हो गया। निश्चय ही इस प्रकार की धारणा गलत थी जैसाकि पिछले दिनों के दंगों, उपद्रवों और अत्याचारों से स्पष्ट हो चुका है। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने ही नहीं, हमारे यहां के प्रायः प्रत्येक समझदार व्यक्ति ने स्पष्ट रीति से यह विचार प्रकट किया था कि सरकार द्वारा दी गई छूट काफी नहीं है और वह किसानों की विकट स्थिति को सुधारने में

समर्थ नहीं हो सकती। उस समय तो सरकार ने अपने अनुमान के सामने उनकी बातों का खयाल नहीं किया पर जान पड़ता है, विचार करने के बाद गवर्नर महोदय ने अब यह समझा है कि छूट की पिछली किस्त से किसानों को संतोष नहीं हुआ है और न सरकार के अनुमान के अनुसार आसानी से लगान वसूली ही हो रही है। गवर्नर महोदय ने सरकारी विभागों में खर्च की काट-छांट करने के संबंध में जो मत प्रकट किया है उससे जान पड़ता है कि वे सरकारी खर्च में अधिक से अधिक किफायतशिआरी से काम लेकर मालगुजारी की कमी को पूरा करना चाहते हैं। आज ही श्री चिंतामणि का यह प्रस्ताव प्रांतीय कौंसिल में पेश किया जाएगा कि सरकारी विभाग में खर्च की कमी करने के लिए एक कमेटी बनाई जाए जो किफायतशिआरी का उचित प्रबंध करे और उसके तरीके बतलाए। इस प्रस्ताव के पास हो जाने से संभव है, सरकारी बजट कुछ अधिक संतोषपूर्ण हो सके तो फलस्वरूप सरकार किसानों के प्रति कुछ अधिक उदारता दिखाने में समर्थ हो।

प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मिर्जापुर वाले पिछले वार्षिक अधिवेशन में भी और उसकी कार्यसमिति के हाल के बनारस के अधिवेशन में भी प्रांतीय सरकार के ऊपर कड़े आक्षेप किए गए हैं और अखिल भारतीय कांग्रेस वर्किंग कमेटी से यह आग्रह किया गया है कि वह इस मामले को अपने हाथ में ले अथवा प्रांतीय कमेटी को ही अनुमति दे कि वह उचित कार्रवाई करे। मिर्जापुर में तो कांग्रेस के गोलमेज में शरीक न होने की सिफारिश भी की गई थी। प्रांतीय सरकार पर किसानों के प्रति निरपेक्ष और विरोधी ही नहीं, अत्याचारपूर्ण नीति का व्यवहार करने के आरोप किए गए थे और स्वयं महात्मा गांधी ने 'टूक टूक हो रही है' शीर्षक देकर लिखे गए *यंग इंडिया* के एक लेख में यू.पी. के अनेक जिलों में देहली के गांधी-इर्विन समझौते के सरकार द्वारा उल्लंघन और भंग करने के प्रमाण दिए थे। किसानों के पक्ष में कांग्रेस की ओर से सहानुभूतिपूर्ण एक आंदोलन ही उठ खड़ा हुआ है जिसका अर्थ भिन्न-भिन्न जिलों के सरकारी अफसरों ने अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न तरीके से लगाया है। आज प्रांत के भिन्न-भिन्न जिलों की स्थिति में जो अंतर दीख पड़ता है उसका एक बड़ा कारण इन अफसरों की मनमानी अभिरुचि भी है।

प्रांत के गवर्नर सर मालकम हेली ने अपने भाषण में यह कहा कि सरकार देहली के समझौते का पालन करना अपने लिए सम्मान की बात समझती है। उनके इस कथन से सरकार की नैतिक स्थिति की रक्षा हो जाती है। वास्तव में प्रांतीय सरकार ही नहीं, केंद्रीय सरकार और उसके प्रधान वाइसराय विलिंग्डन महोदय भी देहली समझौते के अनुसार बरतने की घोषणा करने में विशेष सतर्क रहे जैसाकि एक से अधिक बार की गांधी-विलिंग्डन बातचीत से स्पष्ट हो गया है। पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे कांग्रेस के लेफ्ट-विंग के नेता भी इस बार शिमले के सरकारी अफसरों की बातचीत से असंतुष्ट नहीं हुए, यह एक मार्के की बात है। यह इस बात का प्रमाण है कि शिमला-सरकार देहली समझौते का पालन करने की नैतिक जिम्मेदारी को प्रत्येक बार निर्विकल्प भाव से स्वीकार करती है। यही बात हमारे गवर्नर महोदय ने भी दोहराई है।

यह तो हम पहले भी लिख चुके हैं कि हिंदुस्तान इस समय आपस के झगड़े (class struggle) को बर्दाश्त नहीं कर सकता। किसान और जमींदार आपस में लड़कर कोई फायदा नहीं उठा सकते। गवर्नर महोदय ने भी अपने भाषण में एक स्थान पर यह कहा है कि प्रचारकों का एक दल देहातों में फैल रहा है जो जमींदार वर्ग की अनावश्यकता बतलाता है और उनके परंपरागत अत्याचारों को बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित करता है। गवर्नर महोदय ने यह स्वीकार किया है कि इसमें कांग्रेस के जिम्मेदार नेताओं का हाथ नहीं है पर उन्होंने यह उचित ही कहा है कि कांग्रेस इन एजेंटों की रोकथाम करने का प्रयत्न कर सकती है। कांग्रेस एक हद तक ऐसा कर सकती है और उसे ऐसा अवश्य करना भी चाहिए पर सरकार भी इस कार्य में कांग्रेस का हाथ बंटा सकती है। यह किसानों की दुर्दशा का समय है। इस समय किसान अपने सच्चे और झूठे हितैषियों को पहचानने में असमर्थ हैं। उन्हें जो कोई आर्थिक कष्टों से छुटकारा पाने के सच्चे-झूठे जैसे भी उपाय बतलाता है, वे उन्हें ही मान लेते हैं। वे अशिक्षित हैं और पीड़ित हैं। उनकी अशिक्षा तो समय पाकर शायद कभी दूर हो पर उनकी वर्तमान पीड़ा का निवारण करने में मदद की जा सकती है। यदि इस मौके पर सरकार ने उनकी मदद की तो वह केवल किसानों की कृतज्ञता ही नहीं प्राप्त करेगी, भारत के लिए खतरनाक जमींदार-किसान संघर्ष को दूर करने का श्रेय भी प्राप्त करेगी और इससे उसका गौरव भी बढ़ेगा। गवर्नर महोदय का भाषण आशाप्रद है। यदि कार्यरूप में भी वैसा ही भाव दीख पड़े तो प्रांत की जटिल किसान समस्या बहुत कुछ हल हो जाए।

जिम्मेदार कौन है?

पिछले दिनों युक्त प्रांतीय किसानों की विकट समस्या के संबंध में पूज्य मालवीयजी ने एक पत्र-प्रतिनिधि से कहा है, 'इस प्रांत के किसानों पर पिछले महीने जो दुर्व्यवहार हुए हैं उसे सुनकर मुझे हार्दिक दुःख हुआ है। मैं तालुकेदारों, जमींदारों और सरकारी अफसरों से यह पूछता हूं कि किसानों में असंतोष फैलाने की जिम्मेदारी किस पर है?' पूज्य मालवीयजी के कथनानुसार वास्तव में युक्त प्रांतीय किसानों में असंतोष की मात्रा काफी ज्यादा हो गई है और गांधी-इर्विन संधि के नियम भी तोड़े गए हैं। परिणामस्वरूप किसान भी कहीं-कहीं आपे से बाहर हो गए हैं जैसाकि पूज्य मालवीयजी ने कहा है परंतु उनके आपे से बाहर होने की जिम्मेदारी किस पर है। जब एक ओर से जमींदार, ताल्लुकेदार सख्ती से पेश आ रहे हैं और दूसरी ओर, पुलिस भी अपनी कारगुजारी दिखा रही है तब ऐसी दुर्दशा में किसानों में उत्तेजना फैल जाना कौन सी असंभव बात है? दुःख तो इस बात का है कि गांधी-इर्विन संधि की कोई परवाह अधिकारियों की ओर से नहीं की गई। हमारे प्रांत के गवर्नर महोदय ने अपने पिछले भाषण में कहा कि कांग्रेस के कुछ गैरजिम्मेदार प्रचारकों की अपेक्षा हमारी जिम्मेदार सरकार को अपनी जिम्मेदारी का अधिक ज्ञान होना चाहिए।

बेहयाई की हद

पिछले सप्ताह बंबई में भाषण देते हुए बड़े भाई मौलाना शौकत अली साहब ने अपने पुराने उद्‌गारों को फिर दोहराया। आपने महात्मा गांधी, कांग्रेस वर्किंग कमेटी तथा पं. जवाहरलाल नेहरू के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं वे बड़े ही खतरनाक हैं और दुःखपूर्ण हैं। आप कहते हैं, 'कांग्रेस केवल ब्रिटिश सरकार से ही नहीं लड़ती है बल्कि वह देशी राज्यों के कामों में भी अड़ंगा लगा रही है। मुसलमानों और अछूतों को गिरा रही है और मजदूरों को पूंजीपतियों के विरुद्ध लड़ने की उत्तेजना दे रही है। पं. जवाहरलाल नेहरू किसानों को जमींदारों के खिलाफ भड़का रहे हैं। हिंदू-मुसलमान और मुसलमान-सिखों को भी लड़ाने का प्रयत्न हो रहा है।' यह बातें कितनी ओछी और नीच प्रवृत्ति की हैं। कौन सा ऐसा देशभक्त होगा—हिंदुओं को जाने दीजिए, मुसलमानों को ही लीजिए—जो बड़े मियां की इन बातों को सुनकर असंतुष्ट न होगा। डॉक्टर अंसारी ऐसे राष्ट्रीय मुस्लिम नेता ने अनेक बार भरी सभा में बड़े मियां को खरी-खोटी सुनाईं, उनके मुस्लिम जगत के ठेकेदार बनने की कहानी सुनाई, तिसपर बड़े मियां की बुद्धि ठिकाने न आई। बेहयाई की हद इसी का नाम है। परंतु मौलाना को अब यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उनकी नीति से हिंदू-मुसलमान तथा अंग्रेज सब दिल से वाकिफ हैं, फिर कहने की किसी को फुरसत कहां है? मौलाना साहब अपने स्वार्थ में ही दिलचस्पी ले रहे हैं तथा उनकी आंखों में पक्षपात का चश्मा लगा हुआ है।

साहित्य सम्मेलन राजनीतिज्ञों के हाथ में क्यों है और कब तक रहेगा?

यदि थोड़ी सी तीखी किंतु बेलाग बातें कही जाएं तो आशा है कोई हर्ज नहीं होगा। वह साहित्य सात जन्म में भी राष्ट्रीय नहीं कहला सकता जिसकी हिंदी की-सी अवस्था हो। चेतन के समस्त द्वारों को बंद कर सोए हुए जन समूह को जोर से धक्का देकर जगाने में हमारा साहित्य जब तक समर्थ नहीं है तब तक उसे राष्ट्रीय कहना साधारण से साधारण शिष्टता का तिरस्कार करना है। अचेत, सुप्त जनसमाज की निद्रा भंग कुछ सरल काम नहीं है। ऐसा उपाय करना होगा कि समाज (बैल ही सही) उचकने के बदले लपकने लग जाए। अब तक इस तरह का कोई प्रयत्न हमारे यहां नहीं किया गया, इसके प्रमाण मौजूद हैं। जो सबसे अधिक जिम्मेदार, शक्तिशाली और साधन संपन्न आदमी हैं वे भी इस ओर से विरक्त बने हुए हैं। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी इस युग के हिंदीभाषी समाज से सर्वश्रेष्ठ महापुरुष हैं पर उनके एक से अधिक जीवनी लेखकों ने लिखा है कि वे *प्रताप* में साहित्य संबंधी लेखों को प्रकाशित करने के पक्ष में नहीं थे। वे कहा करते कि साहित्यिक लेख पढ़ते ही कितने

हैं? अर्थात् बैल सानी नहीं खाता, मरे तो अपने भाग्य से, बचे तो अपने भाग्य से।

हम जब किसी उपन्यास, नाटक अथवा काव्य पुस्तक में 'क्रांतिकारी उपन्यास', 'युगप्रवर्तक नाटक' अथवा इसी प्रकार की और कोई बात लिखी देखते हैं तो हमें हंसी आती है। हम मान सकते हैं और मानते हैं कि आधुनिक कितने ग्रंथ बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और वे युग प्रवर्तक भी हो सकते हैं पर अब तक उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं की, अपनी ओर समूह को आकर्षित नहीं किया। कहा जाता है कि प्रेमचंदजी हिंदी के सबसे अधिक लोकप्रिय लेखक हैं पर उनकी कोई भी पुस्तक 10 हजार पाठकों तक शायद ही पहुंची हो। प्रेमचंदजी केवल लेखक ही नहीं, वक्ता भी हैं और राष्ट्रीय कार्यों में काफी दिलचस्पी भी रखते हैं पर पिछले वर्ष लखनऊ कांग्रेस कमेटी के सैकड़ों बड़े (?) आदमियों के जेल चले जाने पर भी प्रेमचंदजी का नंबर उसके सम्मानीय पदाधिकारी के रूप में नहीं ही आया। हम देखने को तरस गए। राष्ट्र भाषा के लोकप्रिय लेखक का ऐसा सत्कार देखकर हम चकित हो रहते हैं।

टाल्सटाय, ट्राटस्की आदि रूसी नेता ही नहीं, बर्नार्ड शा जैसे अंग्रेज भी जेल गए हैं। उनका कोई दूसरा पेशा, कोई दूसरा रोजगार नहीं रहा है। उनकी कलम से कोई चीज निकली कि सारे यूरोप में शोर मच गया। धीरे-धीरे ऐसा हो जाता है कि जनता जिस तरह अपने राजनीतिक नेताओं के कार्यकलाप की ओर आकर्षित रहती है इसी तरह वह अपने साहित्यकारों से भी दिलचस्पी रखने लगती है। वह अपने साहित्यकारों को अपनी आंखों के सामने रखती है और उनका लोक सम्मान किसी अन्य क्षेत्र के व्यक्ति से कम नहीं होता। साहित्यकार भी जनसमूह में आकर लोकनेता बन जाता है। इस प्रकार पारस्परिक संपर्क बढ़ने से एक ओर जनता के लोक शिक्षण के कार्य को सहायता मिलती है और दूसरी ओर साहित्यकारों की विचारधारा अधिकाधिक व्यावहारिक होती है। परंतु इस तरह की कोई सुविधा हिंदी के साहित्यकारों को प्राप्त नहीं है। बाबू जयशंकर प्रसाद का *कंकाल* उपन्यास पिछले वर्ष के शुरू में ही प्रकाशित हो गया था। यह उपन्यास इतने तीक्ष्ण व्यंग्यों से भरा है, इसकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में इतनी मर्मभेदनी कटूक्तियां भरी हैं कि रुग्ण समाज इस ओषधि को पाकर एक बार तिलमिला उठता। जयशंकरजी ने इस अद्भुत उपन्यांस में केवल समाज के कंकाल का चित्र ही नहीं खींचा, उन्होंने उसके पुनर्संघटन की नई आयोजनाएं भी बतलाई हैं। सबसे अधिक मार्के की बात यह है कि संघटन और निर्माण की आधारशिला पश्चिम से नहीं आई। *महाभारत* के प्रवचनों की ईंटें जमाई गई हैं। हम लोगों को सहसा विश्वास नहीं होता पर *कंकाल* जैसे घोर व्यंग्यपूर्ण ग्रंथ में भी प्रसादजी ने आशावादिता की एक अंतःसलिला-सी बहाई है जो समाज के लिए कल्याणकर अथच प्रीतिकर हो सकती है। प्रेमचंदजी ने *कंकाल* की आलोचना करते हुए उसे आंसू का एक बड़ा सा बूंद बतलाया है। पर जयशंकरजी का *कंकाल* आंसू का बूंद पीछे है, पहले वह बम का गोला है। बाबू शिवप्रसादजी गुप्त ने पिछले वर्ष जेल में *कंकाल* उपन्यास पढ़कर जयशंकरजी को एक पत्र में लिखा था कि उन्होंने विक्टर ह्यूगो के जगत्प्रसिद्ध *ला मिजरेबल्स* के बाद दूसरा उपन्यास *कंकाल* ही देखा। इस तुलना से *कंकाल* का गौरव बढ़ता है फिर भी इस उपन्यास के साथ संपूर्ण न्याय नहीं किया गया। हमने जयशंकरजी से *कंकाल*

के संबंध में जब-जब बातें की हैं तब तब वे मुस्कराते ही रहे हैं, हंसते हुए ही अपनी राय दी है। अपनी अन्य कृतियों के संबंध में वार्तालाप करते हुए वे गंभीर भी बन जाते हैं। पर *कंकाल* के संबंध में ऐसा कभी नहीं हुआ। जयशंकरजी की इस प्रसन्न वृत्ति का प्रतिबिंब *कंकाल* के किसी भी आलोचक ने अब तक नहीं दिखाया, यह हिंदी का एक अमार्जनीय अपराध है। इस संबंध में हम अन्यत्र लिखेंगे। यहां प्रसंग केवल इतना ही है कि *कंकाल* जैसे क्रांतिकारी और युग-परिवर्तक उपन्यास की एक हजार प्रतियां भी दस करोड़ हिंदी पाठकों के बीच नहीं पहुंचीं। तथापि हिंदी के राष्ट्र भाषा होने में अब मीन-मेष किसी को नहीं रहा। विस्मय है।

व्यक्तियों को और उनकी विशिष्ट कृतियों को ही क्यों देखते हैं। हम हिंदी की अखिल भारतवर्षीय साहित्यिक संस्था हिंदी साहित्य सम्मेलन को ही क्यों न देखें। यह संपूर्ण रीति से साहित्यिक संस्था होते हुए भी संपूर्ण रीति से असाहित्यिकों के हाथों में पड़ी हुई है। जिस समय देश का राजनीतिक वायुमंडल राजनीतिज्ञों की संपूर्ण शक्ति और समय की अपनी ओर खींचकर अपने में ही लगा लेना चाहता हो उस समय भी हिंदी साहित्य सम्मेलन के मुखिया राजनीतिक क्षेत्र के व्यक्ति ही बने रहे। ऐसी विशृंखलता हिंदी को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं दीख पड़ेगी। परंतु साहित्यिक चेतना से नितांत रिक्त हिंदी समाज और कर ही क्या सकता है? जो शीर्ष पर बैठे हैं उन्हें वहां बैठा न रहने दें। उन्हें उनका उचित कार्य-क्षेत्र बतला दें, जो वोट लेने आते हैं उनसे बहस करें इसकी क्षमता हिंदीभाषी समाज में रत्ती भर भी, तिल भर भी नहीं। यही कारण है कि साहित्य-समाज को उसके कर्तव्य और उत्तरदायित्व से परिचित करानेवाले और इस प्रकार राष्ट्रीय विकास में समीकरण का प्रयास करने वाले विचारकों को *अभ्युदय* जैसे पत्र के कुत्सापूर्ण और हेय व्यक्तिगत आक्षेपों और गालियों का ही पुरस्कार प्राप्त होता है। संपूर्ण जनसमाज जहां इस प्रकार चेतनाहीन होकर पड़ा हुआ है और अपने पत्रों के ऊपर अपना प्रतिबंध भी रख सकने की शक्ति न रखता हो वहां ही इस प्रकार के पत्र प्रकाशित होकर बिक सकते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। परंतु जब ऐसी स्थिति है तब हिंदी साहित्य सम्मेलन को कोई भी विचारवान निष्पक्ष साहित्य-सेवी साहित्य सम्मेलन कहने में ग्लानि का अनुभव करेगा और हिंदी साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य का पद देने के पहले प्रसुप्त हिंदी समाज के बीच *अभ्युदय* के बहाने घोर अंधकार की छाया फैलाने वाले पत्रों को देखकर शर्म से सिर नीचा कर लेगा।

(शुक्रवार, 24 जुलाई 1931)

मजहब का हठ

कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने बंबई के अपने पिछले अधिवेशन में मजहबी समझौते का जो मसविदा मंजूर किया, वह प्रत्यक्ष में उसके राष्ट्रीय सिद्धांतों के खिलाफ था। पर शिवजी की तरह कांग्रेस वह विष का घूंट भी पी गई। इसके कई कारण थे जिनमें से कुछ का उल्लेख महात्माजी ने

अपने उस लेख में किया है जिसे हम *भारत* में प्रकाशित कर चुके हैं। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसे पूज्य मालवीयजी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। पचीस करोड़ हिंदू जनता के महान नेता मालवीयजी के स्वीकार करने का मूल्य कांग्रेस ने अच्छी तरह से समझा। इसके अतिरिक्त डॉक्टर अंसारी और सरदार शार्दूल सिंह के सहयोग से बना हुआ मसविदा एक बड़ी हद तक मुसलमान तथा सिख जनता को राजी करने में समर्थ होगा, कांग्रेस को इसका भी आसरा था। कांग्रेस के सभी प्रतिनिधियों की, पर सबसे अधिक महात्माजी की, यह अटल धारणा है कि ब्रिटेन के हाथ से राज्यशक्ति ले लेने में कांग्रेस तब तक समर्थ नहीं हो सकती जब तक देश की सब जातियां एक होकर कांग्रेस के साथ अपनी संपूर्ण शक्ति से जुट न जाएं। महात्मा जी लंदन में जाकर स्वराज के लिए बहस करने को तब तक व्यर्थ समझते हैं जब तक हिंदुस्तान में एका नहीं है और जब तक हिंदू-मुसलमान-सिख-पारसी-ईसाई सब कांग्रेस के झंडे के नीचे आ नहीं जाते। स्वराज्य का गोवर्धन पर्वत धारण करने के लिए वे इस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता मानते हैं कि देश का एक-एक व्यक्ति स्त्री-पुरुष-बाल-वृद्ध सब अपने-अपने सामर्थ्य भर योग देकर उसे उठाए न कि आपस में झगड़ा खड़ा कर अपनी ही शक्ति क्षीण करें और अपने ही अनर्थ के कारण बनें।

कांग्रेस ने कुछ अंश तक ठीक ही समझा था। मालवीयजी का आशीर्वाद तत्काल फलप्रद हुआ और देश भर के हिंदू नेताओं ने कांग्रेस स्कीम की प्रशंसा की, उसे स्वीकार भी किया। डॉक्टर मुंजे जैसे कट्टर हिंदू नेता ने भी खुले दिल से कांग्रेस को बधाई दी है। यह बड़े मार्के की बात है और हम समझते हैं इसके मूल में भी मालवीयजी का आशीर्वचन ही काम कर रहा है। अभी उस दिन बंगाल प्रांतीय हिंदू महासभा के अधिवेशन में कांग्रेस के इस मसविदे का अनुमोदन किया गया है और आशा की जाती है कि प्रसिद्ध नेता श्री विजय राघवाचारी के सभापतित्व में होनेवाली अखिल भारतीय हिंदू महासभा भी अपने अकोले के अधिवेशन में उसे स्वीकार करेगी। यह हिंदू जाति के लिए गौरव की बात है कि वह राष्ट्रीय हित के लिए अपने बहुत से प्राप्य अधिकारों की तिलांजली दे रही है और बहुत से खतरों का स्वागत करने को तैयार हो रही है। पूज्य मालवीयजी का यह आदर्शवाद स्तुत्य है और हमें आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि इससे हिंदुओं में दृढ़ता, सहनशक्ति और उदारता बढ़ेगी तथा भारतीय राष्ट्र का इन सद्गुणों से अपार हित होगा। जैसाकि महात्माजी ने कहा है, हिंदुओं को भयभीत नहीं होना चाहिए। शारीरिक बल में यदि वे मुसलमानों और सिखों से कम भी हों तो भी डरने की कोई बात नहीं है। यदि मानसिक बल का संग्रह करने में हिंदू जाति अब की ही भांति भविष्य में भी तत्पर रही तो उसे किसी से आतंकित होने या डरने का अवसर ही नहीं आएगा।

परंतु पूज्य मालवीयजी तथा अन्य हिंदू नेताओं की इस अतिशय उदारता से पंजाब और सिंध के हिंदू शंकित रहे हैं। पंजाब में हिंदू अल्पसंख्या में हैं और उन्हें अधिसंख्यक मुसलमानों के बीच रहना पड़ता है। इस सहवास से उन्हें जो व्यावहारिक अनुभव हुए हैं वे विशेष कटु जान पड़ते हैं। अभी हाल में पंजाब के हिंदू नेता भाई परमानंद ने एक लंबे वक्तव्य में यह सिद्ध किया है कि मुसलमानों में शुद्ध राष्ट्रीयतावादी एक भी नेता नहीं है और डॉक्टर अंसारी

जैसे व्यक्ति भी वास्तव में मजहबपरस्त ही हैं। उन्होंने तो यहां तक कहा है कि सर मुहम्मद शफी और डॉक्टर अंसारी में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। मिस्टर जिन्ना की चौदह शर्तों में तेरह तो बड़े से बड़े राष्ट्रवादी कहलाने वाले मुसलमान नेता भी स्वीकार करते हैं। केवल पृथक अथवा संयुक्त निर्वाचन के प्रश्न को लेकर ही मतभेद है। भाई परमानंद भुक्तभोगी हैं और वे पंजाब के कर्कश अनुभवों के कारण कल्पना और आदर्श का आनंद खो चुके हैं। इन सबको वे चिकनी-चुपड़ी बातों के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते। यही हाल सिंध के हिंदुओं का भी है। इनका एक प्रतिनिधि मंडल अभी उस दिन वाइसराय से मिला है और उनसे यह सिफारिश की है कि यहां के हिंदुओं के हित का ध्यान रखकर सिंध को अलग प्रांत न बनाया जाए और बाहरी आदमियों की बातों का खयाल न किया जाए। उन्होंने सिंध के कांग्रेस नेता जयराम दास दौलतराम के प्रति, जो वर्किंग कमेटी के सदस्य भी हैं, अविश्वास का प्रस्ताव भी पास किया है। इस निराशावादी हिंदू दल की क्या दवा है?

यदि यह किसी तरह मान भी लिया जाए कि कांग्रेस की इस समझौता स्कीम से देश भर के हिंदू सहमत हैं और जो सहमत नहीं हैं उनकी संख्या नगण्य है तो भी मुसलमानों का सवाल ज्यों का त्यों बना रहता है। कांग्रेस का मसविदा निकल जाने के बाद मुसलमान नेताओं की जो सम्मतियां उस पर निकली हैं वे अत्यंत शोचनीय हैं। हठधर्मी जरा भी टस से मस नहीं हुए बल्कि बलपूर्वक आंखें मूंदकर अपनी जिद से चिपटने लगे हैं। इधर मौलाना शौकत अली ने कांग्रेस और महात्माजी के प्रति जो आक्षेप किए हैं वे अत्यंत लज्जाजनक हैं पर इसकी उन्हें कोई ग्लानि नहीं है। मुसलमान जनता का संघटन ऐसा नहीं है कि वह शक्ति के साथ खड़ी होकर इन गुमराह मुल्लापंथियों का मुंह बंद कर सके। अब तक मुसलमानों की जितनी बड़ी-बड़ी संस्थाएं थीं सब इन्हीं मजहब का दम भरने वालों के द्वारा संघटित की गई थीं, इसलिए वे स्वभावतः उन्हीं के दिखाए अंधमार्ग पर चल रही हैं। मुसलमानों में जो थोड़ी-बहुत राष्ट्रीयता है, वह संघटित नहीं है। जमेशतुल उलेमा नाम की मुस्लिम संस्था गत वर्ष सत्याग्रह आंदोलन में अच्छा भाग ले रही थी, पर इस समय उसका रुख भी अच्छा नहीं दीख पड़ता। राष्ट्रवादी मुसलमानों का जो बृहद अधिवेशन पिछली बार लखनऊ में हुआ था वह अभी अपना संतोषजनक प्रचार नहीं कर सका है। बंगाल के किसी प्रांतीय मुस्लिम सम्मेलन में भाषण देते हुए उसके अध्यक्ष मौलाना शफात अहमद खां ने यहां तक कहने का साहस और धृष्टता की है कि कट्टरपंथी मुसलमानों का दल ही सच्चा राष्ट्रीय मुस्लिम दल है और उसे छोड़कर दूसरे किसी राष्ट्रीय मुस्लिम दल का अस्तित्व भी हिंदुस्तान में नहीं है।

यह बड़ी विकट स्थिति है। इस भयानक गृहकलह का कहीं अंत भी है? यह हमारी समझ में नहीं आ रहा। ऐसी अवस्था में जब हम वर्तमान शासन चक्र की नीति देखते हैं तब हमें और भी निराशा होती है। जो सरकारी और सरकार के हिमायती गोरे और अधगोरे पत्र हैं वे जान लड़ाकर राष्ट्रविद्वेषी मुस्लिम दल की हिमायत करते हैं, उसे ही मुसलमानों का सबसे प्रमुख, सर्वमत दल बतलाते हैं और इस तरह तिल का ताड़ बनाते हैं। जो अंग्रेज अपने देश में राजनीति स्वातंत्र्य के पथ में किसी भी प्रकार के मजहबी अड़ंगे को घटाने में सबसे आगे रहते हैं वे ही

हिंदुस्तान के मजहबी झगड़े को किस तरह पनपाने का अथवा कम से कम बढ़ने देने का उपक्रम करते हैं, यह राह चलते राजनीतिज्ञ भी समझ सकते हैं। यूरोप किसी तत्परता से राजनीति में शुद्धिवादी हो रहा है, रूस ने किस बेरहमी से राज्य से मजहबपरस्ती को उखाड़ फेंका है यह सब इतिहास के प्रत्येक जानकार को मालूम है। कहा जा सकता है, और कहना ठीक भी है, इन पश्चिमीय देशों ने मजहब के नाम पर होने वाले अनंत झगड़ा-फसाद और कलह-द्वेष से ऊबकर, व्याकुल होकर अंत में उसका नाश किया। इसका परिणाम क्या होगा यह तो भविष्य बतलाएगा पर हमें आशा हो रही है कि हिंदुस्तान में भी मजहब इस समय राष्ट्रीय विकास का बाधक हो रहा है। इसे झूठा मजहब कहिए अथवा सच्चा कहिए, यह वही है जो मौलाना शौकत अली जैसे आदमियों को सिंहासन पर बैठाए हुए है। यह वही है जिसकी आड़ में महात्मा गांधी जैसे संसार के सर्व श्रेष्ठ महापुरुष पर नीच से नीच लांछन लगाए जा रहे हैं। यह विकृत और घृण्य वस्तु यदि मजहब है तो हम इसे अपने देश से जितना शीघ्र निकाल सकें उतना ही शीघ्र हमारी व्याधि टले। आज मजहब के इस स्वरूप के भीतर कूटनीति को प्रश्रय मिल रहा है, हमारे झगड़े घटने के बदले बढ़ते जा रहे हैं। हम आर्थिक दृष्टि से कंगाल हो गए हैं तिस पर बेकारी की व्याधि बढ़े जा रही है। सामाजिक दृष्टि से हमारा कंकाल अब मरा तब मरा की स्थिति को पहुंच चुका है, राजनीतिक गुलामी का कुछ हाल मत पूछिए। ऐसी हालत में धर्म वह है जो हमें अन्न दे, त्राण दे और हममें प्राणों का संचार करे। धर्म वह है जिसके सहारे हम अपना अस्तित्व बना रख सकें, यदि और कुछ न कर सकें। पर आज धर्म यह सब कुछ भी नहीं कर रहा, उल्टा हमारी शक्ति क्षीण कर हमारा नाश करने पर तुल गया है।

ऐसे धर्म को लेकर नहीं, खोकर ही हम अपना हित करेंगे। यदि हिंदुस्तान में हमारे नेताओं के प्रयास से हमारा पल्ला इससे छूट सका तो अच्छा है, नहीं तो हम उनसे निवेदन करेंगे कि वे विलायत के गोलमेज सम्मेलन में एक निष्पक्ष न्यायालय द्वारा इस मजहबी समस्या का समाधान कराएं। गोलमेज की जो जातीय समस्या संबंधी माइनॉरिटी सब-कमेटी पिछली बार बैठी थी वह इस बार भी बैठगी। आशा है, वह इस बार अपना निर्यण करने में आगा-पीछा नहीं करेगी। हम आशा करते हैं कि किसी भी सभ्य, स्वतंत्र और उन्नत जाति के निष्पक्ष व्यक्ति इस संबंध में जो निर्णय कर देंगे वह उचित और मान्य होगा। उसे मान लेना हमारा धर्म है, हमारा मजहब है। यह मजहब कम से कम उस मजहब से तो लाख दर्जे अच्छा होगा जो आज हमारे देश में इस तरह कयामत बरपा कर रहा है और हमारी जीवनी शक्ति को तहस-नहस कर रहा है।

(सोमवार, 27 जुलाई 1931)

'मैं नौकरी चाहता हूं'

अभी उस दिन कलकत्ते के *लिबर्टी* पत्र में इसी आकर्षक शीर्षक की एक टिप्पणी छपी थी जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं–

> मैं नौकरी चाहता हूं। मैं आपके समाज का एक जीवधारी हूं, आपकी इतिहास परंपरा का प्रभाव मुझमें है, आपके आर्थिक संघटन की मैं उपज हूं, आपकी शिक्षा प्रणाली में मैं शिक्षित हुआ हूं। जीवन का जो ढांचा आपने खड़ा किया है, मैं भी उसी मिट्टी का पुतला हूं। आप मेरे लिए क्या प्रबंध कर रहे हैं?

इसके बाद पत्र लिखता है, 'किंकर्तव्यविमूढ़ समाज के पास इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं है। भूखों की कोई वह दवा नहीं कर सकता। वह असमर्थ की तरह इधर-उधर ताकता और सिर नीचा कर लेता है, चुप ही रहता है। भारत की उर्वर भूमि में आज करोड़ों भूखों रह जाते हैं। वे काम चाहते हैं पर उनके लिए कोई काम नहीं है। वे समाज में किसी भी तरह की एक स्थिति चाहते हैं, जिससे वे अपनी विद्याबुद्धि और कार्यशक्ति का उपयोग कर सकें। अनुचित तो वे कुछ भी नहीं चाहते। पर इतना सुभीता भी उन्हें नहीं दिया जा रहा। उनकी दवा क्या है? क्या क्षुधा और मृत्यु!'

प्रत्येक सभ्य समाज का यह पहला कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए भोजन-आच्छादन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करे। जो काम करने योग्य हैं और काम करना चाहते हैं उन्हें काम न देना समाज के लिए लज्जा की बात है। जो समाज राजनीतिक परतंत्रता के कारण अपने शिक्षित वर्ग की मूल्यवान शक्तियों को अपने काम में नहीं ला सकता उसकी इस विवशता पर दया आती है। हमारे समाज की भी ऐसी ही दयनीय दशा है। समाज में कोई रोजगार-धंधा, कोई व्यवसाय बड़े पैमाने पर नहीं चल रहा जिसमें वर्तमान बेकार समूह की विद्या-बुद्धि योग दे सके। एक निश्चित तायदाद में जो नौकरियां हैं वे एक बड़ी हद तक यहां के विदेशी शासकों के हाथों में हैं। जितनी राष्ट्रीय अथवा गैर सरकारी संस्थाएं हैं वे सब खचाखच भरी हुई हैं। नई संस्थाएं नहीं खुल रही हैं और पुरानी संस्थाओं में जगह नहीं है।

शिक्षितों की संख्या बढ़ती जा रही है। प्रति वर्ष पचासों हजार मेट्रीकुलेटस और हजारों ग्रेजुएट विश्वविद्यालयों से निकल रहे हैं। शिक्षा की इस बाढ़ के साथ के साथ बढ़ती हुई बेकारी को देखते हुए यह शंका स्वभावतः उत्पन्न होती है कि आखिर इस समस्या का ओर-छोर कहां है। क्या इसी तरह वर्ष पर वर्ष सरस्वती देवी के सिंहद्वार में प्रवेश करने वाले उसके लाखों उपासक आज की ही तरह वंचित और विपन्न बने रहेंगे, क्या सरस्वती और लक्ष्मी के पुराण-प्रसिद्ध विद्वेष के फलस्वरूप उन लक्षाधिक जीवधारियों के प्राणों के भी लाले पड़ जाएंगे, वे बेचारे लक्ष्मी नहीं चाहते, किसी तरह मर-खप कर केवल जीवन-यापन चाहते हैं। क्या उनका इतना सुख भी नहीं देखा जा सकता।

हमारे विदेशी शासक इसका उत्तर दें अथवा न दें, इसके लिए प्रबंध करें या न करें समाज को इसकी जिम्मेदारी उठानी ही पड़ेगी। यह प्रसन्नता की बात है कि राजनीतिक अधिकार प्राप्ति के लिए समाजव्यापी आंदोलन चल रहा है। इसके भीतर से वर्तमान बेकार समाज की आशा-किरण झांकती दीख पड़ती है। पर इतने से हीं काम नहीं चल सकता। राजनीतिक अधिकार जब मिलेंगे, तब मिलेंगे अभी हम क्या करें? बेकार शिक्षितों के इस प्रश्न का उत्तर हमें देना ही होगा। क्या हम किसी तरह कुछ उपाय सोच सकते हैं?

जो कुछ शक्य है और जहां तक संभव है वह सब उपाय काम में लाने ही होंगे तो इस

भयानक स्थिति से उबार नहीं मिल सकता। पहले तो अपने खर्च की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। एक नकली और सारहीन विदेशीय सभ्यता के प्रभाव से जीवन की सादगी को धक्का पहुंचा है और हमारे बहुत से खर्चे बढ़ गए हैं। इन्हें बिना किसी मीन-मेष के तोड़ देना होगा। जिन अनेक कामों को हम अपने हाथों कर सकते हैं पर एक कृत्रिम संकोच के कारण जिन्हें कुछ दिनों से दूसरे हमारे लिए करने लगे हैं, हम आज ही उन्हें अपने हाथों में लें। हम समाज की बंदगी बजाना चाहते हैं—नौकरी मांगते हैं—पहले हम अपनी नौकरी तो कर लें। नौकरी सब नौकरी हैं। सब एक-सी ही। उनमें आपस में कोई अंतर नहीं है। यदि सेवा करना श्रेष्ठ है और नौकरियों द्वारा सेवा करने का लक्ष्य है तो सब नौकरियां एक सी श्रेष्ठ हैं—सब कार्य एक ही धरातल के हैं। कुछ-कुछ अपनी पुरानी वर्णव्यवस्था के कारण और कुछ-कुछ वर्तमान ऐश-आराम की शिक्षा के कारण हम कुछ कामों को नीच और कुछ को उच्च समझते हैं। इस मरीचिका से बचना होगा। अभी उस दिन कलकत्ते का समाचार था कि एक शिक्षित ग्रेजुएट सड़क पर जूते गांठ रहा था, पुलिस उस पर क्रांतिकारी होने का संदेह कर पकड़ ले गई। यद्यपि पुलिस की जांच में पीछे से वह क्रांतिकारी नहीं निकला पर उसके विकट क्रांतिकारी होने में कुछ भी संदेह नहीं है। उतने बड़े ही उत्साह और शक्ति के साथ युगों के संकीर्ण संकोच और दब्बूपन का नाश कर एक नई ही रीति चला दी है। वह क्रांतिकारी नहीं तो और क्या है? उस क्रांतिकारी को हमारे अनेक साधुवाद प्राप्त हो।

विदेशीय शासन पद्धति के कारण यहां के शिक्षित वर्ग में एक प्रकार की अत्यंत हानिकर भावना दृढ़ हो गई है। वह वेतन के संबंध की भावना है। आज एक ग्रेजुएट रुपयों-पैसों की एक निश्चित तायदाद में अपना मूल्य लगाता है। उसे अपने बाजार भाव का परिचय है। वह उससे कम में बिकने को सहसा तैयार नहीं होता। यह सब प्रचलित शासन व्यवस्था की करामात है। मनुष्य की योग्यता उसे मिलने वाले रुपयों से तौली जाती है। आज यदि कोई ग्रेजुएट पचीस रुपए महीने की नौकरी कर ले तो समाज में उसकी लांछना करेगा और उसे अपने बीच रहने देना भी कठिन कर देगा। यह हमारे देश की प्राचीन पद्धपि कदापि नहीं थी। अंग्रेजी शासन चक्र ने वेतन संबंधी इतनी विषमता उत्पन्न कर दी है जिसका कोई हद हिसाब नहीं। अमीरी और गरीबी का यह द्वंद्व इतना तीखा और कहीं नहीं है। हमें चाहिए कि हम उसकी तरफ से निरपेक्ष होकर उसका त्याग कर दें। इस तरह की विषमता हमारे देश में पहले कभी नहीं रही। हमारा अर्थ हमारे धर्म का साधन था और कुछ नहीं। अब भी यही नियम दृढ़ करना होगा। इस कठोर व्यावहारिक युग में ऐसी ही बातें करना ठीक है जो व्यवहार में लाई जा सकें। पर आदर्शवादी नवयुवक वर्ग को भी हम भूल नहीं सकते। पिछले राजनीतिक आंदोलन में उसने अपनी शक्ति का अच्छा परिचय दिया था। इस समय यदि उस प्रकार के नवयुवक समाज का कोई व्यक्ति बेकार है तो वह अपनी बेकारी दूर कर सकता है। वह आज ही देहात में चला जाए, वहां उसके लिए अपार कार्य द्वार खुला हुआ है। ग्रामों की हरियाली उसका स्वागत करेगी, प्रकृति अपना पुष्पहार उसे अर्पण कर देगी। वह प्रत्येक वृद्ध के आशीर्वाद को, प्रत्येक युवक के सहयोग को और प्रत्येक बालक की श्रद्धा को प्राप्त करेगा। ग्राम संघटन के, शिक्षा

के, सफाई के, ग्रामीण धंधों के कितने ही विभाग खोलकर आज बेकार शिक्षित वर्ग अगणित संख्या में साकार हो सकता है—और समाज का कायापलट भी कर सकता है। यह ठीक है कि इससे विशेष द्रव्य की प्राप्ति नहीं होगी और नागरिक जीवन के अभ्यस्त अंग्रेजीदां लोगों के लिए पहले-पहल घृणा करने की और जी उचटाने की काफी सामग्री मिलेगी, पर जो लगन के पक्के हैं वे देश के दरिद्रनारायण की सेवा करने में हिचक नहीं सकते और फिर वे दरिद्रनारायण अधिक नहीं तो उनकी उदर पूर्ति का प्रबंध तो कर ही देंगे। प्रकृति की सुखदायिनी गोद में विहार करने, सरल निष्कपट समाज में विचरण करने के प्रलोभन भी कम नहीं हैं। उदारचित्त, प्रकृति प्रेमी, नवयुवक समाज के लिए क्या यह आकर्षण कम है?

धमकी

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के मंत्री शफी दाऊदी ने अभी हाल में इस बात पर सख्त नाराजगी प्रकट की है कि डॉक्टर अंसारी को गवर्नमेंट ने लंदन में होने वाली गोलमेज कॉन्फ्रेंस के अवसर पर अल्पमत कमेटी का सदस्य क्यों चुना है। यही नहीं बल्कि मौलाना साहब ने अपने दिल का सारा क्रोध गवर्नमेंट पर उतारते हुए वाइसराय को तार दिया है जिसमें कहा गया है कि 'डॉक्टर अंसारी को अल्प मत कमेटी का प्रतिनिधि चुनकर मुसलमानों का बड़ा अपमान किया जाएगा और ऐसा होने पर मुसलमान संप्रदाय इस बात पर पुनः विचार करेगा कि उसके प्रतिनिधि लंदन कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित हों अथवा नहीं।' हमें इन वाक्यों को पढ़कर प्रसन्नता होती है कि क्या वास्तव में मौलाना शफी दाऊदी के दल वाले लंदन कॉन्फ्रेंस में शामिल न होंगे क्योंकि अल्पसीमित कमेटी के सदस्यों में डॉक्टर अंसारी का चुना जाना प्रायः निश्चित-सा हो चुका है। यदि दाऊदी दल के लोग कॉन्फ्रेंस में शामिल न हों तो इससे बढ़कर अच्छी बात और क्या हो सकती है क्योंकि इन मुस्लिम ठेकेदारों के कारण ही आज देश की समस्या उलझी हुई है और राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े अटकाए जा रहे हैं। शफी दाऊदी की इस धमकी से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि यदि डॉक्टर अंसारी ऐसे राष्ट्रवादी मुसलमान गोलमेज कॉन्फ्रेंस में शामिल होंगे तब उनके दल के मौलाना शौकत अली साहब को वहां कौन सुनेगा। वे अपने को मुस्लिम जगत का ठेकेदार कैसे सिद्ध कर सकेंगे। परंतु इस प्रकार की धमकियों से अब किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है। मुसलमानों का बहुत बड़ा गिरोह इस बात को साफ कहता है कि शफी दाऊदी के दल वाले स्वार्थी और देश के लिए घातक हैं। इसलिए जनता की दृष्टि में इन लोगों की धमकियों का कोई मूल्य नहीं है।

कंकाल—1

छोटे टाइप के चार-पौने चार सौ पृष्ठों के इस उपन्यास के लेखक बाबू जयशंकर 'प्रसाद'

हैं। इसका प्रकाशन काशी के कला-पारखी राय कृष्णदासजी ने अपने *भारती भंडार* से किया है। जिल्द बंधी, सजी बनी पुस्तक की कीमत तीन रुपए रखी गई है। आजकल यह लीडर प्रेस प्रयाग को लिखने से मिलती है।

कंकाल सामाजिक उपन्यास है। समाज आधुनिक है, नागरिक है और मध्य श्रेणी का है। थोड़े से अपवादों को छोड़कर जहां क्षुधापीड़ित भिखारियों का जमघट छत पर से फेंकी गई पत्तल के लिए कुत्तों से छीना-झपटी करता है, अरझता है अथवा दूसरी ओर जहां कलाविद् विजय अपने चित्रों की कलात्मक चर्चा करता है अधिकांश में आजकल के सभ्य शिक्षित समाज के नित्यप्रति जीवन के चित्र छपाए गए हैं। इससे काशी, प्रयाग और हरिद्वार तक यात्रा करने वाले गृहस्थ और साधु-घुमंतू हैं, स्कूलों की सेवा समिति के विद्यार्थी हैं, चौक के वेश्यालय हैं, गिरजाघर और पादड़ी, कचहरी और मुसाफिरखाने भी हैं। इससे आर्यसमाज और सनातन धर्म की तकरीरें हैं, सूफियों की कौव्वाली, ईसाइयों की मिशनरी भी हैं। यह संपूर्ण समाज हमारा जाना-पहचाना नित्यप्रति हमारे संसर्ग में आने वाला है, इसलिए उपन्यास का समस्त वातावरण हमारे लिए परिचित ही नहीं, घरेलू भी बन गया है। हम उसकी हर एक हरकत से दिलचस्पी रखते, प्रत्येक प्रगति में उसके संग-संग रहते हैं।

कंकाल एक व्यंग्यपूर्ण उपन्यास है। यह समाज के दृढ़ आचरण, उसकी शिष्टता और सभ्यता के कवच को भेदकर ऐसा विकट प्रहार करता है कि इक बार हमारी संपूर्ण चेतना जाग उठती है, हमें छटी की याद आ जाती है। प्रेमचंदजी अपनी मीठी चुटकियों के लिए प्रसिद्ध हैं। यही मीठी चुटकियां समाज सुधार के लिए आवश्यक और उपयोगी होती हैं, पर इसे माडरेट नीति समझिए। इससे चेतनाहीन नृशंस समाज का बहुत कम बन-बिगड़ सकता है। अंग्रेजी के आधुनिक तीक्ष्ण लेखक मिस्टर एच.जी. वेल्स अपने उपन्यासों में जिस तरह की कठोर कटूक्तियों का प्रयोग करते हैं, *कंकाल* में उनकी मात्रा कम नहीं है। पर *कंकाल* की विशेषता यह है कि इसके व्यंग्य केवल वर्णन प्रसंग में ही नहीं आए हैं वे कथानक के शरीर की नसों में भी चुभे हुए हैं। चरित्रों की सृष्टि में ही व्यंग्य है—सबके सब वर्णसंकर हैं। शुद्ध प्रेम का उसमें कहीं नाम भी नहीं है। वैवाहिक जीवन में एकोन्मुख पवित्रता कहीं नहीं दीख पड़ती। धार्मिक बिशप साहब तक 'घंटी' के फिराक में पागल हैं। *कंकाल* के देव निरंजन कुंभ मेले के सर्वमान्य साधुशिरोमणि हैं, गूंगे के गुड़ की तरह स्वयं ब्रह्मानंद का मौन हल लेने वाले तथा अगणित भक्तों को देने वाले हैं पर श्रीचंद की पत्नी, अपनी बाल सहचरी किशोरी की पुत्र कामना पूरी करने का कर्तव्य (?) भी आप ही पालन कर लेते हैं। सेवा समिति के उत्साही और आदर्शवादी छात्र मंगलदेव वेश्यालय से एक युवती की रक्षा करते हैं. कई महीनों तक उसके संरक्षक, फिर एक दिन उसके पति (विवाहित नहीं), गंधर्व विवाहकृत (!) बन लेते हैं और अंत में उसे गर्भवती और निराश्रय छोड़ चंपत हो जाते हैं। इस तरह के एक नहीं, पचीसों उदाहरण मिलेंगे जिनके चित्रण के भीतर—चरित्र का कल्पना में ही—व्यंग्य और विडंबना है जिसके कारण *कंकाल* और भी मर्म-भेदी हो गया है।

इस प्रकार वर्णन और चित्रण के द्वारा भी *कंकाल* के लेखक एक जबर्दस्त प्रोपेगेंडा करते हैं, किसी वृक्ष को उखाड़ने से पहले उसकी जड़ें हिला कर फिर उसे दो-चार बार आगे खींचने और पीछे ढकेलने की जरूरत पड़ती है। *कंकाल* में भी यही किया गया है। समाज की एक भी मान्यता स्वीकार नहीं की गई, उसकी सब जड़ें हिला दी गई हैं। उसमें एक भी ईमानदार आदमी नहीं है, सबके कच्चे-चिट्ठे कह सुनाए गए हैं। जिसे समाज में ऊंच-नीच कहते हैं, उसकी खिल्ली तरह-तरह से उड़ाई गई है। कहीं शाही घराने की महिषियां गूजरों के घरों में पड़ी हुई है, कहीं संभ्रांत पादड़ी साहब को स्थितिहीना छोकड़ी से अनुराग हो उठा है। विलास के तीव्रवाही प्रवेश में हिंदू-मुसलमान-ईसाई सब बहे जा रहे हैं। धर्म की समस्त सामाजिक प्रक्रियाएं मटियामेट हो रही हैं और जाति-भेद की संभाल रखने की किसी को फुर्सत ही नहीं दीख पड़ती। प्रेम का जो प्रकृत (!) रूप विजय और घंटी के चरित्रों में फूट पड़ा है उससे समाज की शत-सहस्र वर्ष की क्रमागत विवाह-संस्था डावांडोल हो उठती है।

हम इसे *कंकाल* का प्रोपेगेंडा (नियताप्ति) कहते हैं। प्रोपेगेंडा शब्द से हिंदी वाले बहुत डरते हैं क्योंकि इसने प्रेमचंदजी को बहुत बदनाम किया है। पर वास्तव में यह डर मिथ्या है। प्रत्येक साहित्यकार जीवन और जगत संबंधी अपने अनुभव और अपनी धारणाएं रखता है जो उसकी साहित्यिक कृतियों में प्रतिफलित होती हैं। जिसके ये अनुभव और ये धारणाएं जितनी अधिक दृढ़ होंगी और जो जितने अधिक कौशलपूर्वक उनकी शक्ति समेटकर संकलित कर सकेगा उसकी कृति उतनी ही अधिक प्रभावशाली होगी। जब हम कहते हैं कि *ला मिजरेबल्स* संसार के शक्तिशाली (Powerful) उपन्यासों में प्रमुख है तब हम दूसरे शब्दों में उस प्रोपेगेंडा की ही प्रशंसा करते हैं जो साहित्य कला के नियमों के अनुसार उस कृति में मौजूद है। अंग्रेजी में तो समालोचकों का एक महत्वपूर्ण दल ही उठ खड़ा हुआ है जो केवल (Impresions) प्रभाव के आधार पर साहित्य की जांच करता है। प्रभाव तो प्रोपेगेंडा का ही पड़ता है। प्रोपेगेंडा कोई बुरी वस्तु नहीं है, हम समझते हैं वह अनिवार्य है। हां, जब वह कृत्रिम और कौशलहीन होकर अनपेक्षित अवसरों पर आकर अपनी कीमत कम कर देता है, तब उसकी बदनामी होती है। पर यह तो जान-बूझकर अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारना हुआ। कुशल साहित्यकार प्रोपेगेंडा को अपने हाथों ऐसा मांज लेते हैं कि उससे उनकी समस्त कृतियां चमत्कृत हो उठती हैं। कहा जाता है कि उपदेशात्मक (Didactic) रचना प्रणाली अथवा कार्य-कारण संबंधहीन (Dagmatic) रचना प्रणाली साहित्यकला की निर्जीव और निकृष्ट प्रणाली है। पर प्रतिभावान लेखक उसमें भी जान डाल देते हैं और उसे ऊंचा उठा लेने समर्थ होते हैं। यह प्रोपेगेंडा-कला की ही बदौलत।

परंतु हिंदी में प्रोपेगेंडा शब्द इतना भयावह हो गया है कि उससे बचने की चेष्टा जी जान से की जाती है। स्वयं *कंकाल* के प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है कि *कंकाल* में सामाजिक, धार्मिक और सांसारिक समस्याओं का क्रियात्मक रूप ही अंकित किया गया है, किसी प्रकार का प्रोपेगेंडा नहीं किया गया। पर सत्य यह है कि *कंकाल* की प्रत्येक चरित्र-सृष्टि के मूल में प्रोपेगेंडा है, उसके व्यंग्य मर्म तक प्रवेश कर प्रोपेगेंडा करते हैं। कहा जा सकता है कि प्रोपेगेंडा

कंकाल का 'लक्ष्य' भी है और 'लक्षण' भी। ठीक ये ही शब्द एक प्रतिष्ठित मित्र ने *विशाल भारत* पत्र की 'कौन कैसे चिट्ठी लिखता है' शीर्षक टिप्पणी पर व्यंग्य करते हुए कहे थे। पर वहां मित्र महोदय चतुर्वेदीजी के आत्म-विज्ञापन (Self Advertisment) पर कटाक्ष कर रहे थे, यहां *कंकाल* के संबंध में वैसा कोई आशय नहीं है क्योंकि *कंकाल* का प्रोपेगेंडा शुद्ध सिद्धांत संबंधी और (Impersonal) है।

(शुक्रवार, 31 जुलाई 1931)

जाएंगे या नहीं?

महात्मा गांधी गोलमेज सम्मेलन में शरीक होने विलायत जाएंगे या नहीं? यह सवाल आज सबकी जबान पर है। इसका जवाब तरह-तरह के लोग तरह-तरह से दे रहे हैं और घटनाएं भी ऐसी विचित्र घट रही हैं जिनसे किसी निश्चित बात का पता नहीं लगता। अभी उस दिन सूरत के कलेक्टर को अल्टीमेटम भेजकर महात्मा गांधीजी ने एक उत्तेजनाजनक स्थिति पैदा कर दी थी और उनका विलायत न जाना प्रायः निश्चित जान पड़ता था। पर दूसरे दिन मामला कुछ सुधरा नजर आया। पं. जवाहरलाल से इस संबंध में प्रेस प्रतिनिधि की जो बातें हुईं उनसे भी कुछ ठीक पता नहीं चलता पर ऐसी आशंका होती है कि यदि महात्माजी के विलायत जाने के लिए तय की गई तिथि 8 या 15 अगस्त तक यू.पी. की किसान समस्या का सुधार सरकार की ओर से न किया गया तो उनका विलायत जाना न हो सकेगा। देहली समझौते के पालन न करने की इतनी शिकायतें कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसमैनों द्वारा महात्माजी के पास पहुंचती रहती हैं और प्रेस में भी उनकी रिपोर्ट इतनी कसदन से निकलती रहती हैं कि जिन्हें देखकर सहसा यह धारणा बनती है कि न सरकार की ओर से इन सबके पालन करने का बीड़ा उठाया जाएगा और न महात्माजी विलायत जाएंगे।

पर शिमला में लार्ड विलिंग्डन ने महात्माजी से जो बातें कीं वे संतोषजनक बतलाई गईं। और यू.पी. गवर्नर सर मालकम हेली ने तो और भी संतोषजनक शब्दों में यह कहा है कि देहली समझौते का पालन करना सरकार के लिए सम्मान की बात है। इस प्रकार सरकार अपने नैतिक उत्तरदायित्व को स्वीकार करती है। ऐसी अवस्था में यदि महात्माजी विलायत नहीं जाएंगे तो हमारी समझ में विदेशों की नजरों में महात्माजी का पक्ष ही हल्का होगा। जब सरकार के सबसे बड़े अधिकारी वाइसराय की ओर से समझौते का पालन करने का विश्वास दिलाया जाता है और जब उनके द्वारा महात्माजी से यह अनुरोध किया जाता है कि वे इस अवसर पर प्रतिकूल स्थिति न पैदा कर दें तब सुनने वालों पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ता है। अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से सवाल यह नहीं रह जाता है कि हिंदुस्तान के किसी कोने के कोई सरकारी ओहदेदार देहली समझौते का पालन कर रहे हैं या उसके खिलाफ आचरण कर रहे हैं, सवाल यह रह जाता है कि महात्माजी ने वाइसराय के वचनों और अनुरोधों का उचित मूल्य लगाया या नहीं?

वाइसराय जो कुछ कहते हैं वे सम्राट के भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से कहते हैं और कम से कम विदेशियों की दृष्टि में उसका एक विशेष महत्व है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि वाइसराय अथवा गवर्नर जैसे उत्तरदायी अफसर केवल देहली समझौते के पालन करने की बात कहते हैं और ऐसा कहकर वे अपनी नैतिक जिम्मेदारी से बरी हो जाते हैं। वाइसराय महोदय के पिछले चेम्सफोर्ड क्लब के प्रसिद्ध भाषण से पता चलता है कि वे एक उदार शासक हैं और वे कनाडा की भांति नियमबद्ध (Constitutional) शासक होकर भारत के वाइसराय रहना चाहते हैं। यह तो वर्तमान शासन यंत्र का ही अपराध है कि वह अपने उच्च से उच्च और उदार से उदार संचालक के आदेश की भी सुनी-अनसुनी कर सकता है। यह नौकरशाही का शासन इतना चेतनाहीन और यांत्रिक है कि बड़े से बड़े अधिकारी भी इसका सुधार नहीं कर सकते। इसी का अंत करने का प्रयत्न इतने दिनों से किया जा रहा है और पिछले वर्ष स्वयं महात्माजी ने ही इसकी नींव हिला दी थी। गोलमेज सम्मेलन भी इसी उद्देश्य से किया गया है कि यह शासन चक्र बदल दिया जाए और देहली समझौते के बाद कांग्रेस दल के इस सम्मेलन में शरीक होने के संवाद से तो यह आशा और भी दृढ़ हो गई कि वे गोलमेज सम्मेलन भारत के राष्ट्रीय शासन की व्यवस्था कर सकने में अधिक समर्थ होगा। महात्माजी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती कि वे लड़ाई के मुख्य क्षेत्र को छोड़कर पीछे हटेंगे। इस समय गोलमेज सम्मेलन ही प्रमुख युद्ध क्षेत्र हो रहा है।

यदि महात्माजी विलायत नहीं जाएंगे तो इससे वहां के उन गुमराह, हठवादी अनुदार दल के लोगों को ही खुशी होगी जो हमारे देश के विरुद्ध खार खाए हुए हैं और अपनी सारी शक्ति से हमारे स्वराज्य के मार्ग में अड़ंगे डाल रहे हैं। यदि महात्माजी विलायत जाएंगे तो वे केवल इंग्लैंड पर ही नहीं, समस्त यूरोप और अमेरिका पर अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का प्रभाव डाल सकेंगे जिससे भारत का अपार हित होगा। यही नहीं, वे गोलमेज सम्मेलन में सबसे शक्तिपूर्ण रीति से भारत की राष्ट्रीय मांग उपस्थित कर सकेंगे और हमें विश्वास है कि ब्रिटेन अपना हित समझकर उनकी मांग अस्वीकार भी नहीं कर सकता। यदि अभाग्यवश उसने अस्वीकार भी किया तो विदेशों की दृष्टि में भारत की राष्ट्रीय मांग और भी न्यायपूर्ण हो जाएंगी और स्वयं भारतवर्ष स्वराज्य-प्राप्ति के उद्योग में दूने उत्साह के साथ योग देगा।

लोकमान्य तिलक

एक अगस्त लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की ग्यारहवीं वर्षी है। इसी दिन लोकमान्य अपने जीवन का अधिकांश समय देश सेवा में लगाकर स्वर्ग धाम सिधारे थे। 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' इस सिद्धांत पर अटल रहकर इसे पूरा करने के लिए लोकमान्य को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। जेलयात्रा, निर्वासन आदि कष्टों का उन्होंने वीरता के साथ मुकाबला किया। राजनीतिक दृष्टि से लोकमान्य का स्थान बहुत ऊंचा माना जाता है। वे गरम

दल के राजनीतिक, सिद्धांतवादी और भारतीयों के स्वराज्य के पक्षपाती थे। लोकमान्य ने भारतवर्ष में ऐसे अवसर पर देश प्रेम की जड़ लोगों में जमाई जब कि लोगों का राजनीति में भाग लेना एक बड़ा भारी जुर्म समझा जाता था। गवर्नमेंट का रुख काफी तीखा था। परंतु लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की लगन तथा आदर्शवाद ने वह काम कर दिखाया जो भारत की स्वतंत्रता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाएगा। साहित्यिक दृष्टि से भी लोकमान्य ने *श्रीमद् भगवतगीता* पर अपने गहन विचार प्रकट करके पश्चिमी जगत पर विद्वत्ता की धाक जमा दी। पूना का प्रसिद्ध पत्र *केसरी* आज भी उनकी संपादकीय कुशलता का जीता-जागता नमूना है। एक समय था, जबकि लोकमान्य का यह वाक्य 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' बहुत कम लोगों के मुखों से सुनाई देता था किंतु आज वही भारत के बच्चे-बच्चे के मुख पर विराजमान है और वह उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहा है। लोकमान्य की आत्मा आज हिंदुस्तान की इस जागृति को देखकर अवश्य ही संतुष्ट होती होगी। हम ऐसे महापुरुष की ग्यारहवीं वर्षी के अवसर पर श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

मिस्टर गार्लिक की हत्या

वास्तव में चौबीस परगने के सेशन जज मिस्टर गार्लिक की हत्या का समाचार बड़ा दुखदायी है। ऐसे अवसर पर जबकि देश में समझौते की पुकार मची हुई है इस प्रकार के कांड का घटित हो जाना बड़ा कष्ट पूर्ण और निंदनीय है। इस प्रकार के कामों से देश को कल्याण की आशा न करनी चाहिए। इसी संबंध में कलकत्ते के एंग्लो-इंडियन पत्र *स्टेट्समैन* ने एक टिप्पणी करते हुए लिखा है—'कांग्रेस के लिए अब समझौते की कोई कीमत नहीं रही और समझौते के लिए शक्ति भर प्रयत्न करने के बाद अब हम भी यह कहने को बाध्य हुए हैं कि यह जितनी जल्दी टूट जाए उतना ही अच्छा है।' परंतु *स्टेट्समैन* की उक्त बातों का हम कदापि समर्थन नहीं कर सकते। कांग्रेस वाले हमारी राय में इस प्रकार के कांडों से कदापि सहमत नहीं हैं। महात्मा गांधी ने बराबर ऐसे कांडों का घोर विरोध किया है, और इस प्रकार के काम करने वालों की निंदा करते रहे हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि कांग्रेस के लिए अब समझौते की कोई कीमत नहीं रही और वह जितनी जल्दी टूट जाए उतना ही अच्छा है? मिस्टर गार्लिक की हत्या के संबंध में अनेक कांग्रेस नेताओं ने दुःख प्रकट किया है और उन्होंने स्पष्ट रूप से इस प्रकार की हत्याओं का विरोध किया है। हमारा खयाल है कि कांग्रेस के किसी भी जिम्मेदार व्यक्ति ने 'समझौता टूट जाए तो अच्छा है' कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया और यदि खुदा न खास्ता किसी के मुंह से निकल आवे तो ये गोरे पत्र उसे तुरंत तिल का ताड़ बना लेंगे। फिर *स्टेट्समैन* के ऐसे गैर जिम्मेदारी के शब्दों के प्रयोग का मतलब क्या हो सकता है? मिस्टर गार्लिक की हत्या का गांधी-इर्विन समझौते से कोई संबंध नहीं है। मिस्टर गार्लिक की हत्या से ऐसा कोई समझदार मनुष्य न होगा जो दुःखी न हुआ हो परंतु समझ में नहीं आता कि ये

ऐंग्लो-इंडियन पत्र किसी भी बात को बिना समझे बूझे लोगों को भ्रम में डालने का प्रयत्न क्यों करते हैं?

देशी नरेशों का खर्च

पंजाब प्रांतीय प्रजा परिषद के अध्यक्ष के रूप में श्री ए.बी. ठक्कर ने अपने भाषण में देशी नरेशों की फिजूलखर्ची के संबंध में अच्छा प्रकाश डाला है। आपने कहा है, 'बहुत से देशी नरेश ऐशो आराम में, शिकार में, यूरोपियन मेहमानों के खिलाने-पिलाने में, रागरंग में तथा अमेरिका, फ्रांस की सैर करने में लाखों रुपया स्वाहा कर डालते हैं। यह फिजूलखर्ची इतनी बढ़ी हुई है कि किसी-किसी रियासत में आमदनी का प्रति सैकड़ा पचास अवश्य खर्च हो जाता है। इस प्रकार प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन लंदन, पेरिस के होटल मालिकों की जेबों में तथा आरामतलबी की चीजों के खरीदने में खर्च किया जाता है।' मिस्टर ठक्कर के कथनानुसार भारत के देशी राजाओं के लिए यह कलंकस्वरूप है और ऐसा होते हुए यदि उन पर फिजूलखर्ची का इल्जाम लगाया जाए तो अनुचित नहीं है। इसमें संदेह नहीं है कि राजनीतिक परिस्थिति के कारण जब अनेक राजा अपनी प्रजा की उन्नति में भाग लेने लगे हैं परंतु ऐसों की तायदाद कम नहीं है जो इस वक्त भी प्रजा की गाढ़ी कमाई पानी की तरह बहा रहे हैं। श्री ठक्कर का यह कहना उचित है कि किसी भी राज्य के अधिपति का खर्च उस राज्य की आमदनी के 10 प्रति सैकड़ा से अधिक नहीं होना चाहिए। वास्तव में यदि देशी नरेशों की फिजूलखर्ची बंद हो जाए और अपनी वास्तविक मर्यादा को समझने लगें तो देश को आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से बड़ा लाभ हो। देशी-नरेशों की समस्या को सुलझाने में फिजूलखर्ची का सबसे कठिन प्रश्न है।

कंकाल—2

अफसोस कि *कंकाल* के विकट प्रोपेगेंडा को समझने की योग्यता हिंदी-भाषी समाज में अब तक नहीं हुई है। *कंकाल* को इसकी इंतजारी करनी पड़गी। स्वयं *कंकाल* तथा उसी शैली की अन्य रचनाएं अपने लिए क्षेत्र तैयार करेंगी, तब काम चलेगा। हमने *कंकाल* की एक प्रति अपने एक परिचित महाशय को पढ़ने के लिए दी थी। उनकी सम्मति जानने को हम विशेष उत्सुक थे। वे औसत दर्जे के हिंदी समाज के प्रतिनिधि थे। इसलिए हमें उनके Impresions की बड़ी आवश्यकता थी। दूसरी बात यह भी थी कि वे हिंदी उपन्यासों के बड़े शौकीन, लाइब्रेरियन की नाकों-दम करने वालों में से थे। इस प्रकार हिंदी के सामाजिक और साहित्यिक संस्कारों का पूरा-पूरा प्रभाव उनमें था। *कंकाल* के प्रति उनका कोई असाधारण आकर्षण नहीं दीख पड़ा, हम तो विराग ही कहेंगे। सबके वर्णसंकर होने की उन्हें शिकायत थी। 'घंटी' के

आचरण को वे आदि से अंत तक बुरा बतलाते थे और यदि किसी को अच्छा समझते थे तो गोस्वामी हरिहर शरण को।

साधारण पढ़े-लिखे लोग ही नहीं श्री कालिदास कपूर जैसे शिक्षित सज्जन भी *कंकाल* के दृष्टिकोण को नहीं समझ सके। यह केवल हिंदी की साहित्यिक परंपरा का परिणाम है। समाज के सामने हिंदी के जो उपन्यास अब तक आए हैं, उनमें किसी प्रकार की द्विविधा नहीं है। उनमें से अधिकांश के कथानक एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। पात्रों में कुछ सच्चरित्र और कुछ चरित्रहीन बना लिये जाते हैं और उनका अंत हो जाता है या वे सुधार लिये जाते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों के आलोचक जैसे होने चाहिए, श्री कालिदास कपूर भी वैसे ही हैं। आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस आलोचना शैली की सृष्टि की उसका विकास वे पूरा-पूरा कर भी नहीं पाए थे कि इसी बीच में उन्होंने साहित्य की गृहस्थी छोड़कर संन्यास ले लिया। उनके जो साहित्यिक वंशज हुए वे पुरखे की कमाई पर ही दिन बिताना चाहते हैं, पर इस तरह कितने दिन काम चलेगा?

श्री कालिदास कपूर को यह भ्रम हो गया कि अश्लीलता फैलाना *कंकाल* का उद्देश्य है और उस भ्रम का कारण यह है कि वे हिंदी उपन्यासों की उस छिछली धारा में तैरते रहे हैं, जिसमें डुब्बी लगाने भर को पानी भी नहीं है। अब तक उपन्यासों के अच्छे-बुरे होने की परख यही थी कि जिस उपन्यास में जितने अंश में अश्लीलता हो, वह उतना ही खराब है, जिसमें कम हो वह उतना ही अच्छा। यह अश्लीलता क्या बला है इसको कोई नहीं समझता। किसी उपन्यास में वह स्वयं साध्य है, या साधन बनकर वह किसी दूसरे लक्ष्य का बेध करती है, यह पता लगाने का किसी को समय नहीं, शायद शक्ति भी नहीं है। अश्लीलता के संबंध में तो हमारी धारणाएं बंध ही गई हैं, अश्लीलता की छाप हमने व्यक्तियों पर भी लगाना शुरू कर दिया है। डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी जी कहा करते हैं कि हिंदी के शृंगार काल के अनेक सुंदर संकेतात्मक (Symbolic) पद्यों की रसधारा में लोग डॉक्टर ग्रियर्सन की आज्ञा से कलुष ही देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। यही हाल आधुनिक हिंदी के कथासाहित्य का भी होने लगा है और हो रहा है। डॉक्टर त्रिपाठी का मत है कि हिंदी में इस तरह की प्रवृत्ति के कारण ही पं. बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे आलोचक उत्पन्न हो गए हैं। *कंकाल* के आलोचक श्री कालिदास कपूर के संबंध में भी यही बात समझनी चाहिए।

जो समाज में रहते हुए भी उसकी वस्तु स्थिति (Realities) से परिचित नहीं हैं वे या तो अंधे हैं या बहुत बड़े निर्लिप्त दार्शनिक। जो साहित्य की व्यंजना को, उसकी प्रेरणा को न समझकर केवल काले अक्षरों तक ही पहुंच पाते हैं उनके संबंध में हम कुछ नहीं कहेंगे। पर ऐसे लोगों को यह आगाही दे दी जाए तो अच्छा है कि हिंदी में समय के प्रवाह के अनुकूल अब साहित्य के द्वारा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टाएं की जाने लगी हैं। और अकेली अभिधा ही नहीं, लक्षणा और व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का व्यवहार भी तेजी से चल पड़ा है।

यह भी जान लेने की बात है कि साहित्य-दृष्टि के विविध लक्ष्य और विविध प्रणालियां प्रचलित हो रही हैं जिनसे परिचित हुए बिना आलोचक बनने में बंधी प्रतिष्ठा के खोजने का

खतरा है। तीव्र अंतर्दृष्टि के बिना साहित्यिक कृतियों के उस मूल को पहचान पाना प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है जो उसकी संजीवनी है। जैसे-जैसे संसार में अंतर्राष्ट्रीयता की वृद्धि होती जा रही है वैसे ही वैसे हमारी साहित्य सरिता में भी ऐसी अनेक विचारधाराओं का संगम होना स्वाभाविक है जिनका अब तक हमें कोई परिचय नहीं था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से प्राचीन समाज के ऐसे अनोखे स्वरूपों का पता लग रहा है जिनपर हमें अब विश्वास भी नहीं होता। आधुनिक साहित्य में यह सब प्रवेश पा रहे हैं। ऐसी अवस्था में अपने ही संस्कारों के घेरे के भीतर से साहित्य पर फतवा निकाल देने का इस जमाने में कोई अर्थ नहीं। कम से कम हमें यह आशा तो छोड़ ही देनी चाहिए कि प्रत्येक साहित्य पुस्तक में प्राचीन धर्म युद्ध की प्रणाली की राम-रावण की ही लड़ाई देखने को मिलेगी। यह हमारा दुर्भाग्य भले ही हो पर यही हमारी नियति है। एक कठोर व्यावहारिक युग हमारे सामने आया हुआ है, पश्चिम के संपर्क से हमारी समस्त परंपराएं हिल उठी हैं। बुद्धिवाद का प्रसार हो रहा है। साहित्य की जटिलता और अनेकरूपता प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस युग-जीवन के भीतर प्रवेश करने की शक्ति जिनमें नहीं है वे *कंकाल* के साथ न्याय नहीं कर सकते।

(सोमवार, 3 अगस्त 1931)

श्री चिंतामणि का भाषण

भारत के पिछले अंक में पाठकों ने श्री चिंतामणि का वह मार्मिक भाषण पढ़ लिया होगा जो उन्होंने लिबरल फैडरेशन के अध्यक्ष पद से बंबई में दिया था। यह भाषण कई दृष्टियों से इतना महत्वपूर्ण है कि इसकी अधिक से अधिक चर्चा हुई है और देश के प्रायः सभी राष्ट्रीय पत्रों ने इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। अंग्रेजी पत्रों की टिप्पणियां देखने से पता चलता है कि कांग्रेस दल के मुखपत्रों ने ही इस भाषण की सबसे अधिक प्रंशसा की है और इसे अत्यंत उपयोगी और मानवीय बताया है। जो गोरे और अधगोरे पत्र इस देश से निकलते हैं उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि श्री चिंतामणि गोलमेज सम्मेलन के बड़े समर्थक और उसके उत्साही सदस्य थे फिर भी उन्होंने उसके प्रायः प्रत्येक विभाग की कार्रवाई की कड़ी आलोचना की है। उन्हें यह आशा नहीं की थी कि वे एक लिबरल नेता के मुख से ऐसी बातें सुनेंगे। पर उनकी इस क्षीण आशा को भंग कर श्री चिंतामणि ने अपनी सत्यवादिता, दृढ़ता और देशभक्ति का परिचय दिया है। स्वयं लिबरल फैडरेशन के कुछ सदस्यों ने उनके भाषण को कम बताया है और इस दृष्टि से उसकी आलोचना की है पर राष्ट्रीय लिबरल दल का बहुमत—विशेषकर नवयुवक लिबरल श्री चिंतामणि के भाषण से विशेष प्रसन्न हुए हैं और वे उससे सहमत भी हैं। जिस आशा और विश्वास से लिबरल दल ने श्री चिंतामणि का अपना अध्यक्ष चुना था, वे सफल हुए। देश की प्रतिदिन बढ़ती हुई राष्ट्रीय प्रगति को देखते हुए

लिबरल दल के लिए एक सर्वथा उचित था कि उसके अध्यक्ष का भाषण संपूर्ण रीति से राष्ट्रीय विचारों का प्रतिबिंब हो और हमें यह देखकर विशेष प्रसन्नता होती है कि देश के अग्रगण्य राष्ट्रीय पत्रों ने श्री चिंतामणि के भाषण को वैसा ही बतलाया भी है। उसके द्वारा लिबरल दल गौरव का और श्री चिंतामणि साधुवाद के पात्र हुए हैं।

परंतु श्री चिंतामणि का भाषण केवल राष्ट्रीय भावों के कारण उल्लेखनीय नहीं है, वह गोलमेज सम्मेलन के विवेचनापूर्ण विवेचन और विकृति के लिए और भी अधिक ध्यान देने योग्य है। इस समय सारे देश की आंखें आगामी गोलमेज सम्मेलन पर लगी हुई हैं। जो युद्धप्रिय हैं वे भी और जो शांतिप्रिय हैं वे भी विलायत में होनेवाली आगामी कुछ महीनों की कार्रवाई पर टकटकी लगाए बैठे हैं। ऐसे अवसर पर श्री चिंतामणि का भाषण संपूर्ण स्थिति को इतना विचारशील अथवा स्पष्ट रीति से प्रकट कर देता है कि सम्मेलन से दिलचस्पी रखने वाले सभी व्यक्ति—आज उनकी संख्या करोड़ों तक पहुंच चुकी है—उसे पढ़कर अपनी जानकारी बढ़ा सकते हैं और सम्मेलन की आगामी कार्रवाई का सिलसिला समझ सकते हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस की राय है कि पिछले गोलमेज सम्मेलन में स्वराज्य का सार नहीं मिला और महात्मा गांधी ने कहा है कि वहां आधा स्वराज्य भी नहीं दिया गया। श्री चिंतामणि ने पिछले गोलमेज में दिए गए कथित स्वराज्य का कच्चा-चिट्ठा खोल कर रख दिया है और देखने वाले देखते हैं कि सचमुच वहां आधा स्वराज्य भी नहीं दिया गया।

श्री चिंतामणि की स्मृति-शक्ति अपार है जिससे इनके विपक्षी डरते रहते हैं। यह श्री चिंतामणि की ही विशेषता है कि वे अपना पक्ष पुष्ट करने के लिए ऐसी-ऐसी नजीरें पेश कर सकते हैं जिनके खिलाफ कोई कुछ कह ही नहीं सके। एकबार की देखी, सुनी अथवा पढ़ी बात शायद वे कभी भूलते ही नहीं। बंबई के भाषण में उन्होंने अपनी इस विशेषता का यथोचित उपयोग किया है। उन्होंने बड़े से बड़े अंग्रेज अधिकारियों, सर्वमान्य लेखकों और भारतीय देशभक्तों की मूल्यवान सम्मतियों का उद्धरण देकर स्वार्थी दल के बहुत से रहस्य खोले हैं और जनता को बहुत सी बातों से आगाह किया है। लार्ड चेम्सफोर्ड, मिस्टर मांटेगी, लार्ड आलोभर और एलफिंसटन आदि के साथ-साथ दादा भाई नौरोजी, महामान्य गोखले, सर दिनशा वावा आदि भारतीय देशभक्तों के कथनों का हवाला देते हुए श्री चिंतामणि ने बड़ी ही अकाट्य उक्तियों से यह सिद्ध किया है कि भारत में अंग्रेजी राज की ही बड़ी चेतनाहीन, स्वार्थपूर्ण नीति चल रही है। हिंदू-मुसलमानों में भेदभाव बढ़ाने का काम बड़े ही रहस्यमय ढंग से चल रहा है और जहां देखिए वहीं कूटनीति का प्रचार है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। विलायत के अंग्रेज व्यापारी भारत के भारतीय व्यापारियों के साथ बराबरी का अधिकार चाहते हैं और यह चिल्लाते हुए नहीं थकते कि उनकी यह मांग बराबरी के अधिकार की मांग है, इसलिए सर्वथा न्यायोचित है। पर श्री चिंतामणि ने कहा, 'दादा भाई की उक्ति यह है—भारतीय चींटियों की अंग्रेज हाथियों से कैसी बराबरी?'

श्री चिंतामणि अच्छे विधानविद् भी हैं। अपने भाषण में उन्होंने इसका परिचय दिया है। पहले तो उन्होंने नए गोलमेज सम्मेलन की नई फैडरल स्ट्रक्चर कमेटी में नए सदस्यों के भर्ती

करने के ढंग पर आक्षेप किया है और कहा है कि ऐसा करने का उन्हें (विलायत) अधिकार नहीं है। यह एक उचित आक्षेप है पर सर्व शक्तिमान ब्रिटिश साम्राज्य के महामंत्री के लिए विधान की क्या आवश्यकता है, उनका तो वचन ही विधान है। जहां दो राष्ट्रों में समझौता हो रहा हो और दोनों बराबरी का भाव लेकर मिल रहे हों उस गोलमेज सम्मेलन के लिए जब उक्त महान साम्राज्य के महामंत्री द्वारा मनमाने तौर पर लोग भर्ती किए जा सकते हैं वहां विधान का सवाल ही कहां खड़ा होता है, यह तो गौण बात हुई। श्री चिंतामणि ने गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों के संबंध में, देशी नरेशों के संघ प्रवेश के संबंध में जैसा सूक्ष्म विश्लेषण किया है पाठकों ने उसे देख लिया होगा। 'संघ शासन हो या न हो, देशी नरेश ब्रिटिश भारत के साथ मिलकर काम करें या न करें ब्रिटिश भारत को उत्तरदायी स्वराज्य शीघ्र से शीघ्र मिलना चाहिए, श्री चिंतामणि का यह अत्यंत महत्वपूर्ण कथन उन स्वार्थी राजनीतिज्ञों को सचेत करने के लिए है जो देशी नरेशों के संघ शासन में शरीक होने के मामले में अड़ंगे खड़े कर रहे हैं।

हिंदू-मुस्लिम समझौते के संबंध में बहुतों को श्री चिंतामणि की राय हिंदुओं की तरफदारी करती हुई अथवा कम से कम हिंदुओं से सहानुभूति रखती हुई जान पड़ेगी। पर श्री चिंतामणि ने इस संबंध में कांग्रेस के मस्विदे की आलोचना की है और कहा है कि कांग्रेस ने मुसलमानों की यह मांग स्वीकार कर कि विशेषाधिकार (Siduary powers) प्रांतीय सरकारों के सुपुर्द किए जाएं, अपनी गैर-जिम्मेदारी का परिचय दिया है। श्री चिंतामणि के इस कथन से मुसलमानों में और भी भ्रम फैल सकता है। पर कांग्रेस मस्विदे के उस अंश के विरोधी श्री चिंतामणि ही नहीं, महामना मालवीयजी तथा देश के कितने ही कांग्रेस नेता भी हैं। इस मामले में श्री चिंतामणि की स्पष्टभाषिता का कुछ और ही अर्थ लगाना कदापि उचित नहीं होगा। कांग्रेस के मस्विदे निकलें पर स्थायी समझौता तभी संभव है जब वह न्याय और समता पर अवलंबित हो। रवींद्रनाथ जैसे कवि और चिंतामणि जैसे विचारक का एकमत होना इस बात को निस्संदेह महत्वपूर्ण बना देता है।

अनुदारता की हद

पिछले सप्ताह हाउस ऑफ कामंस में बंगाल के सेशन जज मिस्टर गार्लिक की हत्या के संबंध में अनेक अनुदार दल के सदस्यों ने अपने-अपने दल के गुबार निकालने की भरसक चेष्टा की। सर चार्ल्स ओमन ने भारतीय सरकार के शासन की कड़ी आलोचना की। अल्फ्रेड नाकस ने ब्रिटिश राज्य की रक्षा की दुहाई देते हुए घोषित किया कि गवर्नमेंट अब निष्क्रिय हो गई है। मिस्टर ब्रेकेन ने महात्मा गांधी को भारत में होने वाली हत्याओं का जिम्मेदार बतलाते हुए भारतीय गवर्नमेंट को सलाह दी कि 'गांधी को सेंट जेम्स पैलेस में निमंत्रण देने के बजाय उन पर मुकदमा चलाना चाहिए।' मिस्टर हेकिंग ने लंकाशायर की दुर्दशा पर आंसू बहाते हुए कहा कि 'मि. गांधी को बुलाकर यहां की दशा दिखानी चाहिए।' परंतु अनुदार दल के सदस्यों की

बातों का उत्तर कमांडर केनवर्दी और भारतमंत्री मिस्टर बेजल्ड बेन ने भली प्रकार दिया। हम कई बार लिख चुके हैं कि इंग्लैंड का अनुदार दल कभी भी भारतीय समस्या को ठंडे दिमाग से नहीं सोचता है। यदि हिंदुस्तान में हत्याएं हो रही हैं तो उसका जिम्मेदार सिवा हत्या करने वाले के और कौन हो सकता है? महात्मा गांधी जब बार-बार हत्याओं को बुरा बतलाकर हत्याकारियों की निंदा कर रहे हैं, *टाइम्स ऑफ इंडिया* जैसे अधगोरे पत्र यह कहते हैं कि गांधीजी हिंसावादियों की निंदा खुले दिल से नहीं करते, कुछ न कुछ मीन-मेष रख छोड़ते हैं। उसका कहना है कि बंबई गवर्नर के आक्रमणकारी रुख पर लिखते हुए गांधीजी का लिखना कि आतिथ्य धर्म न होता तो हिंसा कोई विशेष अनुचित न होती। यही अर्थ का अनर्थ किया जाता है महात्माजी की अत्यंत स्पष्ट और मार्मिक टिप्पणियों का। इसे हम अनुदारता की हद ही कहकर संतोष करते हैं।

कंकाल–3

कंकाल समाज के विरुद्ध विद्रोह करता और व्यक्ति के लिए पूरे-पूरे अधिकार चाहता है। समाज के कठघरे में बंद कर व्यक्ति को बौना बना दिया गया है। *कंकाल* को यह सहन नहीं है। समाज के 'साधु' बहुत दिन साधु बने रहे *कंकाल* उनकी साधुता का भंडाफोड़ करता है। *गीता* में श्री कृष्ण वर्णसंकर और आभिजात्य से समाज के नाश होने की बात करते हैं, *कंकाल* सबको वर्णसंकर बनाकर मानो कहता है 'एवमस्तु'। पाप और कुछ नहीं है जो समाज के भय से छिपकर किया जाता है वही पाप है। *कंकाल* की इस परिभाषा में समाज को ही पाप का प्रेरक बतलाया गया है, प्रेरणा चाहे भय द्वारा दी जाए अथवा प्रलोभन आदि द्वारा। बेचारा व्यक्ति इस परंपरागत पाप-भार में बुरी तरह से दबा पड़ा है कि वह क्षण भर के लिए भी अपनी निश्चेतन अवस्था से उठकर यह नहीं समझ सकता कि अपनी आत्मा ही, हम स्वयं ही, पाप-पुण्य का निर्णय कर अथवा यदि यह बहुत बड़ी धृष्टता हो तो कम से कम इस पाप-पुण्य के मामले में समाज को अपनी परिस्थिति का परिचय दे सकें—अपनी पैरवी कर सकें। समाज ने हमसे सुनवाई की प्रार्थना का अधिकार भी छीन लिया है। यही *कंकाल* का आक्रमण पक्ष है, यही उसकी विद्रोह-भूमि है। निश्चय ही यह विद्रोह भूमि बहुत विस्तृत, अनेक सामाजिक समस्याओं के घटाटोप से आच्छन्न है। यहां केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है।

स्मरण रखना चाहिए कि एक संघटित और चुस्त कथानक के अंतर्गत रोचक घटनाचक्र और अत्यंत रोचक वर्णन शैली में अंकित होकर समाज की यह पापकथा अतिशय मर्मभेदनी हो गई है। *कंकाल* की यह सफलता हिंदी में अभूतपूर्व है। यदि आपने स्वर्गीय लाला लाजपत राय लिखित *अनहेपी इंडिया* (दुःखित-भारत) पढ़ी है तो तुलना करके आप *कंकाल* के विशेष करुण प्रभाव का अनुभव कर सकेंगे। आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में मिस्टर गाल्सवर्दी के नाटक व्यक्ति पर समाज के अत्याचारों को दिखाते हैं और विपन्नता के चित्रण में वे सामायिक साहित्य

में शायद सर्वोच्च स्थान रखते हैं, पर उनके पात्रों का अर्थकष्ट हमें उतना अधिक आकर्षित नहीं कर सका जितना *कंकाल* के पात्रों की समाज पीड़ा कर सकी है। समाज का यह भयंकर रूप देखकर हम क्षुब्ध और भयभीत होते हैं, अश्लीलता की शिकायत नहीं करते। ग्लानि, क्षोभ और भय की गंभीर वृत्तियां हम पर स्थायी रीति से अधिकार कर लेती हैं। समाज की यह युग-युगीन महाकार अश्लीलता अदने, निरीह बौने (व्यक्तियों) की एक-आध छोटी-मोटी अश्लील हरकत पर नजर ही नहीं ठहरने देती। हम पहाड़ के सामने तिनके की कहां देखें?

कंकाल के आक्रमण पक्ष की तीव्रता देख लेने के बाद हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होता कि उसका निर्माण पक्ष (constructive side) घोर व्यक्तिवादी—नितांत अनार्किस्ट है। यह साहित्यकला के नियमों के अनुसार यदि अनिवार्य नहीं तो आवश्यक अवश्य थी। क्रिया के अनुरूप प्रतिक्रिया होती ही है। यह अत्यंत स्वाभाविक है कि जिस वस्तु के प्रति जितनी विरक्ति या घृणा होगी, उससे उतना ही दूर रहने का जी चाहेगा। जिसने हमारा अनिष्ट किया है उससे कोई संबंध न रखने की प्रवृत्ति होती ही है। यह प्रवृत्ति जब एक निश्चित सीमा को पार कर जाती है तब संपूर्ण संबंध-विच्छेद का प्रश्न भी आ जाता है। *कंकाल* में भी यह प्रश्न आया हुआ है। *कंकाल* के लेखक को समाज का रोग असाध्य और व्यक्ति की शक्ति अपार जान पड़ती है। प्रसिद्ध जर्मन अनार्किस्ट बेकुनिन राजनीति के क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार की शासन-संस्था का नाश कर डालने का पक्षपाती था। उसकी यह धारणा थी कि व्यक्ति यदि शुद्ध मनुष्य-प्रकृति के नियमों को जानकर उनका अनुसरण करे तो किसी प्रकार के शासन की आवश्यकता ही नहीं है। *कंकाल* में संपूर्ण समाज का नाश करने की बात तो नहीं कही गई पर उसकी अनेक संस्थाओं की जड़ पर आघात किया गया है, उदाहरण के लिए जाति संस्था, विवाह संस्था आदि। व्यक्ति से यह बार-बार आग्रह किया गया है कि वह अपनी हस्ती को समझे। आत्मशक्ति का उपयोग करे। समाज के नकारवाद, यह न करो, वह न करो, की रत्ती भर भी परवा न कर अपनी प्रकृति के आदेश को माने। यह सब बड़े ही शक्तिशाली शब्दों में कहा गया है। *कंकाल* के लेखक को व्यक्ति के शुद्ध स्वभाव पर अटल विश्वास जान पड़ता है। प्रिंस कोपाटकिन ने डार्विन के सिद्धांतों के प्रतिकूल यह मत उपस्थित किया है कि व्यक्ति पर यदि किसी प्रकार का प्रतिबंध न रहे तो उसमें स्वभावतः पारस्परिक 'सद्भाव' और 'सहयोग' की प्रवृत्ति होगी। *कंकाल* का रचनात्मक कार्यक्रम यद्यपि व्यक्तियों के सुपुर्द किया गया है और उसके लेखक का संस्थाओं पर इतना अविश्वास है कि वह व्यक्ति को ही मुखिया (unit) मानते हैं पर *कंकाल* के 'भारत-संघ' का कार्य बड़े ही 'सद्भाव' और 'सहयोग' के साथ चला है।

यदि आदर्श की ओर ध्यान दिया जाए तो यह आदर्श बड़ा ही उच्च है। जो व्यक्ति स्वतंत्र और मुक्त है वह सदा हित-वस्तु की ही इच्छा रखेगा। सब 'व्यक्ति' ऐसे ही स्वतंत्र और मुक्त हो जाएं यही अनार्किस्ट चाहते हैं। मूल अनार्किस्ट विश्वास यह है कि यदि प्रत्येक मनुष्य स्वाधीन हो तो वह कभी संघर्ष नहीं चाहेगा। इसी दृष्टि से अनार्किस्ट प्रोढन ने शासन सत्ता पर आक्रमण करते हुए कहा है कि गवर्नमेंट का बस यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह मनुष्यों को बिना गवर्नमेंट (शासन सत्ता) के काम चलाना सिखा दे। यह बड़ा ही श्रेष्ठ आदर्श है पर

वर्तमान अर्द्धसभ्य समाज के सब व्यक्ति उस ऊंचे धरातल पर कैसे पहुंच सकते हैं, पहुंच भी सकते हैं या नहीं, ये भी विचारने की बातें हैं। व्यक्ति अपनी शुद्ध प्रकृति का आदर्श सुन सके और सुनकर उसका पालन कर सके, समाज को उसका अभिभावक बने रहने का कष्ट न करना पड़े यह सब संभव भी है या नहीं और संभव है तो किस तरह?

कंकाल के लेखक का विश्वास है कि यह सब संभव है और इसके लिए उन्होंने दो व्यवस्थाएं की हैं। लोक शिक्षा की और लोकसेवा की। व्यक्तिवादी दार्शनिक मिल ने अपनी *लिबर्टी* में लिखा है कि समाज को शिक्षा के लिए विशेष उद्योग करना चाहिए। 'वह शिक्षा का प्रवेश घर-घर में बलात् करे पर अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्रत्येक व्यक्ति को दी जाए। जो समाज अपने आदमियों की एक बड़ी तायदाद को बच्चे पैदा करने की इजाजत देता है पर उनके बुद्धि संस्कार की व्यवस्था नहीं करता वह इसके कुफल का स्वयं जिम्मेदार है।' पर *कंकाल* के व्यक्तिवादी लेखक के सामने समाज किसी तरह की भी जिम्मेदारी सौंपे जाने के काबिल नहीं है। *कंकाल* का मंगलदेव प्रायश्चित्त के व्याज से लोक शिक्षण का व्रत लेता है और अनेक कठिन परिस्थितियों में पड़कर भी उसे नहीं छोड़ता। अपने हाथों से ईंट-गारा जोड़कर वह पाठशाला स्थापित करता, लड़के इकट्ठा करता और अपने तथा उनके जीवनयापन के लिए भीख मांगता फिरता है। वह असभ्य, उजड्ड गूजरों के लड़कों को जंगल के किसी गांव में पढ़ाता देखा जाता है। तथापि मंगलदेव केवल एक संकेत है। लेखक का यह उद्देश्य स्पष्ट है कि सारे देश में इस प्रकार के शिक्षा प्रसार के लिए मंगलदेव जैसे व्यक्तियों की आवश्यकता है। लेखक ने जिस शिक्षाक्रम का आयोजन किया है वह भी उपयोगी और उदात्त है। सेवा कार्य की प्रेरणा *कंकाल* में 'भारत-संघ' के द्वारा मिलती है और उपन्यास के अंत में सेवा के शुभ-फल फलते दीख पड़ते हैं। ध्यान देने की बात है कि इस सेवा कार्य में स्त्रियों का प्रमुख स्थान है।

(शुक्रवार, 7 अगस्त 1931)

प्रस्थान—1

पूज्य मालवीयजी विलायत जाने के लिए प्रयाग से प्रस्थान कर चुके हैं। उनसे पूछा गया कि यदि महात्मा गांधी विलायत न जाएं तब भी आप जाएंगे या नहीं? उन्होंने उत्तर दिया, महात्माजी के न जाने का सवाल ही नहीं है, वे अवश्य जाएंगे और उनके साथ मैं भी जाऊंगा। मालवीयजी के इस निश्चित उत्तर के बाद भी यदि गांधीजी के गोलमेज में शरीक होने में कुछ संदेह रह गया था तो वह बंबई की कांग्रेस वर्किंग कमेटी के विषय में प्राप्त समाचारों से प्रायः मिट गया। इसी बीच में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने वाइसराय को तार भेजकर 15 तारीख को विलायत के लिए प्रस्थान करने वाले 'मुल्तान' जहाज में अपने लिए सीट रिजर्व की है। श्रीमती नायडू कांग्रेस की नीति को मानने वाली हैं और उन्हें महात्माजी के विलायत जाने का पूरा-पूरा

निश्चय हो गया होगा, तब उन्होंने अपना जाना तय किया होगा। महात्माजी के दो प्रसिद्ध और अंतरंग मित्र श्री सी.एफ. एंड्रूज और श्री पोलक, जो दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आंदोलन में गांधीजी के साथ थे, को तार देकर विलायत बुला रहे हैं और उन्होंने यह सूचना दी है कि भारत के स्वराज्य के प्रश्न को हल करने का सबसे बड़ा मौका आगामी गोलमेज सम्मेलन है, और गांधीजी के विलायत आने से उसके स्थायी रीति से हल हो जाने की सबसे अधिक संभावना है। इन प्रतिष्ठित और प्रेमी मित्रों का प्रभाव गांधीजी के रहे-सहे असमंजस को दूर करने में अवश्य समर्थ होगा और हम यह मान लेते हैं कि कांग्रेस और देश के सबसे बड़े प्रतिनिधि महात्मा गांधी इसी 5 तारीख को भारतभूमि से विदा होकर सात समुद्र पार की यात्रा पर चलेंगे।

ऐसे अवसर पर हमें प्राचीन युग की वह परम प्रसिद्ध कथा याद आती है जिसमें भारतलक्ष्मी सीता के अन्वेषण के लिए महावीर हनुमान के समुद्र पार जाने का वर्णन है। यह कथा हमें केवल एक बात की शिक्षा दे सकती है और इसीलिए हमने इसका उल्लेख किया है। यह शिक्षा है अटल सेवाभाव की शिक्षा। जब समस्त वानर सेना और उसके बड़े-बड़े सेनाध्यक्ष असमंजस में पड़े हुए थे तब सेवाव्रत में व्रती हनुमान उठ खड़े हुए और आनेवाली संपूर्ण आपदाओं की परवा न कर चल पड़े। आज भी उसी दृढ़ निश्चय और उसी सेवा भाव की आवश्यकता है। हमारे बड़े-बड़े नेता इन्हीं भावों को लेकर विलायत जा रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है। पूज्य मालवीयजी ने प्रयाग से जाते-जाते कहा है कि एक वर्ष के अंदर भारत को स्वराज्य मिल जाएगा, इसका उन्हें विश्वास है। उन्होंने अपने अत्यंत प्रिय आचारधर्म का उल्लंघन कर उससे भी महान लोकसेवा और राष्ट्रसेवा के धर्म को ग्रहण किया है और वीर हनुमान की ही भांति बड़ी से बड़ी विपत्ति का स्वागत करने को आगे बढ़े हैं। क्या ही अच्छा होता यदि गोलमेज सम्मेलन में जाने वाली खिचड़ी सेना के स्थान पर श्री चिंतामणि की अभी उस दिन की वक्तृता में आए हुए 'लोका समस्ताः सुखिनो भवंतु' के अटल आदर्श को लेकर जाने वाले थोड़े से दृढ़व्रती लोकहितैषी उदारबुद्धि नेता ही वहां जाते। यद्यपि राजनीति में अनेक प्रकार के छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष और स्वार्थ बुद्धि काम करती हैं पर उनकी बेदी पर देश के प्राचीन पवित्र आदर्श सर्वथा भेंट ही नहीं चढ़ा दिए जाते। वह मनुष्य मनुष्य ही क्या है जो एक बार अपनी मातृभूमि के प्राचीन पुरुषों की आदर्श कृतियों पर उत्फुल्ल न हो उठे। देश की ये गाथाएं और किस दिन काम आएंगी और किसके लिए काम आएंगी?

महात्माजी का प्रस्थान-समय का संदेश सुनकर हम बरबस मुग्ध हो जाते हैं। उन्होंने कहा है कि मैं यदि विलायत गया तो अपने देश के हित को कदापि नहीं भूलूंगा। उसे खो देना, उसे अन्य किसी भी वस्तु के लिए भेंट कर देना यह मुझसे कदापि हो नहीं सकता। पर साथ ही, अंग्रेजों के प्रति सद्भाव के सिवा मेरे हृदय में कोई दूसरा भाव नहीं है। वे मुझे जिद्दी समझें तो यह उनका भ्रम है। यदि वे मुझे अपना विरोधी समझते हैं तो बिलकुल अकारण। महात्माजी का यह दिव्य आदर्श महावीर हनुमान के आदर्श से भी आगे बढ़ा हुआ है क्योंकि रावण के द्वारा बार-बार अपमानित और तिरस्कृत होकर हनुमान ने कहा था—

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहँउ निज प्रभु कर काजा॥

पर महात्माजी तो किसी अवस्था में किसी अंग्रेज के प्रति कोई बुरा भाव नहीं रखते। हां, 'कीन्ह चहँउ निज प्रभु कर काजा' से मिलते-जुलते शब्द में गांधीजी ने ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटी की इसी बैठक में कहा है कि कांग्रेस वर्तमान शासन सत्ता को दूर करने का लक्ष्य रखती है और इसी के लिए वह उद्योग भी कर रही है। स्मरण रखना चाहिए कि महात्माजी का यह प्रस्थान-संदेश मिस्टर चर्चिल तथा उनके कैंडे के कितने ही जहर उगलने वालों की कटूक्तियां सुन लेने के बाद का है। यदि मिस्टर चर्चित समझ रखते हैं तो वे समझें कि उनके विषोद्‌गारों को अमृत समझने वाली वाणी किसी साधारण पुरुष के मुख से नहीं निकल सकती। चर्चिल द्वारा 'अर्द्धनग्न फकीर' गांधी का बहिष्कार के प्रस्ताव का यह कितना मुंहतोड़ जवाब है यह वे सभी समझ सकते हैं जिन्हें भगवान ने थोड़ी भी बुद्धि दी है। इसके बाद भी यदि मिस्टर चर्चिल और उनके दल का मुंह बंद न हुआ तो हम समझेंगे कि उनके प्रलाप का रोग असाध्य हो गया है।

जिस शासनसत्ता को हमारे देशवासी नहीं रखना चाहते उसी के अधिकारियों ने गोलमेज के सदस्य चुने हैं। यह काम कितने ही निष्पक्ष भाव से क्यों न किया गया हो पर यह तो संभव नहीं है कि वे सभी सदस्य राष्ट्रीय दृष्टि से हमारे अनुकूल हों और हम उन सबसे देश-हित की आशा रखें। जो निष्पक्ष विचारक हैं वे चाहे इस देश के हों अथवा विदेशों के, यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि यदि गोलमेज के लिए भर्ती किए गए भारतीय सदस्यों में मतभेद है और वे व्यापक राष्ट्रीय हित का विचार कर आपस के छोटे-मोटे झगड़ों को दूर नहीं कर सकते तो इसकी अधिक जिम्मेदारी चुनने वाले अधिकारियों पर ही है, हम पर नहीं। प्रस्थान के समय यह आगाही दे देना हम आवश्यक समझते हैं। पर आशा तो हम यह करते हैं कि हमारे विलायत जाने वाले देशवासी घरेलू झगड़े को घर में ही रख जाएंगे, विदेश के लिए प्रस्थान करते समय शुद्धबुद्धि को ही अपनी सहगामिनी बनाएंगे और उसी की सहायता से अपनी विदेश यात्रा शुभ, निर्विघ्न और सफल करेंगे।

अफ्रीका सेवा समिति

इस समय दक्षिणी अफ्रीका की सेवा समिति की समस्या बड़ी जटिल हो रही है। समिति वहां की स्काउट कौंसिल के व्यवहारों से, जो एक यूरोपियन संस्था है, संतुष्ट नहीं है। पिछले वर्ष यूरोपियनों के नेटाल स्काउट कौंसिल और नेटाल की राष्ट्रीय महासभा के सदस्यों ने मिलकर यह तय किया था कि भारतीयों के साथ समता का व्यवहार होना चाहिए, काले-गोरे का भेद मिटा देना चाहिए। परंतु जब यह प्रश्न अंतिम निर्णय के लिए दक्षिण अफ्रीका के स्काउट कौंसिल के सामने उपस्थित किया गया तब पूर्व निश्चय में परिवर्तन हो गया और भारतीयों के साथ समानता के व्यवहार करने के प्रश्न का रूप बदल गया और यह निश्चय हुआ कि

दक्षिण अफ्रीका की भारतीय सेवासमिति नेटाल की स्काउट कौंसिल के अधीन रहेगी और उसके नियमों का उसे पालन करना होगा। परंतु वहां की सेवा समिति ने कौंसिल के इस निर्णय का विरोध किया। इसी संबंध में डरबन के *इंडियन न्यूज* नामक पत्र ने हिंदुस्तान की सेवा समिति के प्रधान नेताओं से यह प्रश्न किया है कि वे इस संबंध में क्या सलाह देते हैं। इस संबंध में हमारा विचार है कि भारत में इस समय अनेक प्रकार की सेवा करने वाली समितियां काम कर रही हैं परंतु उनमें आपस में कोई भेदभाव नहीं हैं। वे अपने ढंग से अलग-अलग काम कर रही हैं। इसी प्रकार अफ्रीका के बॉय स्काउट को भारत की सेवा समिति के ढंग पर अपना एक खास संगठन करना चाहिए। समझ में नहीं आता कि भारतीय सेवा समिति यदि विशद रूप में बाहरी मुल्कों में भी अपने आंदोलन को बढ़ाकर काम करे तो उससे किसी भी यूरोपियन या अन्य किसी संस्था का क्या नुकसान हो सकता है?

तनख्वाहों में कमी

इस समय बंबई की प्रांतीय कौंसिल में बड़े से लेकर छोटे सरकारी कर्मचारियों की तनख्वाह घटाने के संबंध में खूब चर्चा हो रही है। बंबई सरकार ने तनख्वाह की कमी के संबंध में जो कमेटी बनाई थी उसने अपनी रिपोर्ट दे दी है। उसमें यह कहा गया है कि तनख्वाहें घटाई जाएं, खासकर सिविलियनों की और यदि तनख्वाह घटाई जाए तो बड़े कर्मचारी से लेकर छोटे कर्मचारी तक की घटाई जाए। परंतु कौंसिल के अधिकांश सदस्य कहते हैं कि तनख्वाह सिविलियनों की अवश्य घटाई जाए क्योंकि उनको लंबी-लंबी तनख्वाहें मिलती हैं। परंतु यदि कम वेतन पाने वालों की तनख्वाहें घटाई गईं तो उनमें बड़ा असंतोष उत्पन्न होगा। वास्तव में यह समस्या बड़ी जटिल है। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि यदि बड़े-बड़े वेतन पानेवालों को तनख्वाहों में कुछ कमी कर दी जाएगी तो उन्हें विशेष कष्ट नहीं होगा क्योंकि उनके सैकड़ों खर्चे ऐसे होते हैं जिनमें वे कमी कर सकते हैं परंतु साधारण वेतन पाने के लिए वेतन की कमी बड़ी कष्टदायक होगी क्योंकि उसे थोड़ा ही वेतन मिलता है जो उसके थोड़े खर्च के लिए भी काफी नहीं होता। परंतु यहां सुनने वाला कौन है? साधारण लोगों की सुनवाई कम होती है।

(सोमवार, 10 अगस्त 1931)

काश्मीर

सौभाग्य से पिछले 13 जुलाई के दिन काश्मीर के श्रीनगर में एक दंगा हो गया। दंगे कभी सौभाग्य से नहीं हुआ करते पर यह दंगा सौभाग्य से ही हुआ कहा जाएगा। इसमें आश्चर्य

करने की कोई बात नहीं क्योंकि यदि तुलसीदासजी के कहने के अनुसार भोर की चांदनी रात अच्छी नहीं लगती तो हमारे कहने के अनुसार दंगे भी सौभाग्य से हो सकते हैं। किसके सौभाग्य से यह दंगा हो गया यह जानना उतनी आसान बात नहीं है। यह तो हमने सुन रखा था कि स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली ने पहले पहल समरना से सहारनपुर तक एक विशाल विस्तृत मुस्लिम भूखंड की कल्पना की थी और डॉक्टर सर मुहम्मद इकबाल जैसे कट्टर मुसलमान कवि को यह कल्पना अतिशय प्रिय और रुचिर लगी थी। और हम सब जानते हैं कि इस कल्पना को वास्तविकता का रूप देने के लिए भारत में पिछली बार खिलाफत आंदोलन भी चलाया गया और तब से अब तक भारत के मुसलमान विदेशों की मुस्लिम जातियों से संबंध जोड़ने के लिए कितने ही प्रयत्न कर चुके हैं, पर हमें यह आशा नहीं थी कि काश्मीर के पिछले दंगे को सौभाग्य समझकर उससे लाभ उठाने की चेष्टा भी इतनी बेइनसाफी और गैर-जिम्मेदारी के साथ शुरू कर दी जाएगी और *मिलिटरी गजट* जैसे पत्र भी प्रत्यक्ष अथवा छिपे तरीके से उसके साथ सहानुभूति करेंगे।

पिछली बार जब स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली हज करने गए थे तब उन्हें स्वतंत्र मुस्लिम प्रदेशों की राष्ट्रीय मजलिसों में शरीक होने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। स्वतंत्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की बातें सुनने का मौका भी उन्हें मिला था और कमालपाशा जैसे कट्टर राष्ट्रभक्त के संसर्ग में भी वे आए थे। इन सब बातों का असर मौलाना मुहम्मद अली अपने देशवासी हिंदुस्तानी मुसलमानों में कहां तक फैला सके यह तो नहीं कहा जा सकता पर इतना तो कहना ही होगा कि मुसलमान नेताओं का एक दल अब तक मजहब का नाम लेकर उसी गुलामी में पड़ा हुआ है जिसका बहिष्कार विदेशों के मुसलमान कर चुके हैं, और यह दल हिल-मिलकर रहने वाली निरीह जनता को गुमराह बनाकर आपस का विद्वेष बढ़ा रहा है। फिर भी यह दल विशाल अंतर्राष्ट्रीय मुस्लिम संघटन की कल्पना करता है और यह नहीं समझता कि जो स्वतंत्र हैं वे गुलामी पसंद नहीं कर सकते चाहे वह किसी भी प्रकार की हो अथवा किसी भी जाति की हो।

इसी दल के कुछ आदमियों ने शिमले में गत सप्ताह से काश्मीर नरेश के विरुद्ध उधम मचाना शुरू किया है और उन्हें श्रीनगर के पिछले दंगे का बहाना भी मिल गया है। इसे वे अपना सौभाग्य समझते होंगे पर वास्तव में यह उनकी नासमझी है। हिंदू और मुसलमानों के बीच का भेदभाव बढ़ाकर ये लोग किसका हित करना चाहते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता। ऐसा तो हो नहीं सकता कि इससे मुसलमान जाति का हित हो क्योंकि यह हमारा अटल विश्वास है कि हिंदू-मुस्लिम एकता में ही हिंदुओं और मुसलमानों का हित है। यदि मुसलमान समझना चाहें तो उन्हें समझना चाहिए कि हिंदू-मुस्लिम एकता से उनका ही अधिक हित है। उनके बड़े-बड़े नेता इस बात को कह चुके हैं कि वे अल्पसंख्या में होने के कारण अपने त्याग और सहयोग के द्वारा ही अधिक संख्या हिंदुओं के बीच अपने अधिकारों की रक्षा कर सकेंगे और सब प्रकार से अपना विकास कर सकेंगे। मुसलमानों को यह झूठी कल्पना कदापि न करनी चाहिए कि वे अपने देश में गुलामी की जंजीर मजबूत कर दूसरे स्वतंत्र मुस्लिम देशों की सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे। अंगारा से सहारनपुर तक मुस्लिम प्रदेश स्थापित करने की धुन

में वे काश्मीर नरेश को लांछित और पदच्युत कराने की चेष्टा भी कर सकते हैं और इससे थोड़े से अधिकार-लोलुप स्वार्थियों का हित भी हो सकता है। पर इस तरह की हरकत से मुसलमान जाति का कोई हित नहीं हो सकता।

काश्मीर का दंगा वैसा ही था जैसा आए दिन अनेकानेक हुआ करते हैं। उसे लेकर तूफान खड़ा करने से क्या लाभ होगा? जहां चार-पांच हजार दंगाई इकट्ठा होकर सरकारी जेल पर चढ़ाई कर दें, दुकानें लूट लें और हत्याएं करें, वहां यदि गोली चलाकर आधे दर्जन या उससे कुछ अधिक ही आदमी मार डाले जाएं तो इसमें आश्चर्य की गुंजाइश तो नहीं दीख पड़ती। यदि ऐसे दंगों को फिर से न होने देने के लिए सौ-दो सौ गिरफ्तारियां की गई हैं तो इसमें अनुचित क्या किया गया है? सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस दंगे पर मजहबी दंगे का रंग क्यों चढ़ाया गया है जबकि यह सरकारी जेल पर उत्पात करने से संबंध रखता है। यदि ब्रिटिश भारत में ही इस तरह की घटना होती तो क्या यहां भी उन्हीं उपायों द्वारा उसे रोकने का काम न किया जाता? और हम तो यह भी जानना चाहेंगे कि काश्मीर नरेश के जिन कर्मचारियों ने दंगों को रोका क्या उनमें कोई मुसलमान नहीं थे?

यदि किसी को काश्मीर के राज्य प्रबंध के विषय में कोई शिकायत है तो वह खुशी से उन्हें प्रकाशित करे और वैध उपायों से उनके दूर कराने की चेष्टा करे पर ऐसी इच्छा बहुत कम दीख पड़ती है। काश्मीर राज्य में शिक्षा का विस्तार हो, वहां अन्य सुधार संबंधी कार्य हों इन सबके लिए विशेष आग्रह नहीं है। कारण यही है कि वास्तविक सुधार की अभिलाषा नहीं है, अभिलाषा है किसी न किसी तरह एक प्रतिष्ठित राज्य को लांछित करने की। ऐसा न होता तो एक राज्य-संबंधी दंगे को जातीय जामा पहना कर क्यों उपस्थित किया जाता और इसी मौके पर यह सब कार्रवाई क्यों की जाती?

मुस्लिम आउटलुक जैसे पत्र जिस मनमाने तरीके पर काश्मीर नरेश के विरुद्ध विषवमन कर रहे हैं, सरकार को उसे रोक़कर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए था क्योंकि 'प्रिंसेस प्रोटेक्शन एक्ट' के अनुसार देशी नरेशों के विरुद्ध इस प्रकार के बेरोकथाम इल्जाम लगाना नाजायज ठहराया जा चुका है। पर सरकार इसके लिए अब तक कुछ भी नहीं कर रही। इस आंदोलन से हरेक विवेकी हिंदू और मुसलमान को, जो कि देश का हितैषी है, सचेत हो जाना चाहिए। इसके नेता राष्ट्रीयता पर आघात करना चाहते हैं और मजहबी जोश भड़काकर अपनी कूट नीति को सफल करना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में देश की विशाल मुस्लिम जनता को, विशेषकर काश्मीर के मुसलमानों को सचेत होकर अपना हित समझना चाहिए और उन लोगों से अपना संबंध तोड़ लेना चाहिए जो उनके हित के नाम पर अपनी स्वार्थसाधना करते हैं।

बकवाद

अभी हाल में लंदन की सभा में अनुदार दल के लार्ड लायड ने एक गरमागरम व्याख्यान दिया

था। आपने अपने व्याख्यान में भारत सरकार के कामों की निंदात्मक आलोचना करते हुए कहा कि 'प्रांतीयं खजाने जो कभी भरे रहते थे वे आज खाली पड़े हैं। बोल्शेविक प्रचार के कारण सारे प्रांतों में एक ओर से दूसरी ओर तक किसानों का आर्थिक असंतोष भीषण रूप धारण किए हुए है। यह क्यों? इसलिए कि पिछले वर्ष से भारत सरकार अपने शासन के मुख्य कार्यों को भूलकर राजनीतिक समझौते की बातचीत में जरूरत से ज्यादा समय खोती है।' इसके बाद आपने फरमाया कि '40 लाख से ज्यादा हिंदुस्तानी ईसाई गांधी के अत्याचारों के शिकार हो रहे हैं।' आगे आपने सांप्रदायिक मुसलमानों की पीठ ठोंकते हुए कहा कि 'सारा मुस्लिम संप्रदाय दृढ़तापूर्वक एक स्वर में पृथक निर्वाचन चाहता है। परंतु थोड़े से मुसलमान ऐसे हैं जिनका अपने समाज पर या तो कोई प्रभाव नहीं है, यदि कुछ है भी तो हिंदू बहुमत के साथ मिलकर अपने राजनीतिक और भौतिक स्वार्थ की पूर्ति करना चाहते हैं।' लार्ड लायड के इन उद्गारों को पढ़कर ऐसा कौन सा समझदार व्यक्ति है जो उनकी गैर जिम्मेदारी का अनुभव न करेगा। वास्तव में लार्ड लायड का यह कहना कि 40 लाख ईसाई गांधी के अत्याचारों के शिकार हो रहे हैं, बेवकूफी के सिवा और कुछ नहीं। एक ओर संसार के बड़े-बड़े विद्वान ईसा और गांधी की तुलना कर रहे हैं, मि. एंड्रूज ऐसे व्यक्ति जो ईसाई हैं महात्मा गांधी को कितने प्रिय हैं, पर लार्ड लायड को इन सबसे क्या? मुस्लिम दलों में एक की पीठ ठोंकना दूसरे को ढकेलना अनुदारों की प्राचीन पद्धति है। इसी के बल पर उन्होंने अब तक खूब मौज भी उड़ाई। परंतु अब समय बदल गया है। लार्ड लायड हों या मि. चर्चिल उनकी बातों की गहराई का पता सबको चल गया है। वास्तव में लार्ड लायड के कथनानुसार यदि भारत सरकार पिछले वर्ष से समझौते की ओर विशेष ध्यान देती तो आज इंग्लैंड और भारत की कुछ और ही हालत होती। खैरियत इतनी ही है कि लार्ड लायड जैसे व्यक्तियों की बातों से समझदारी की निगाह में बकवाद से अधिक कुछ भी नहीं समझी जाती।

कंकाल—4

कंकाल के इस समाजविद्रोही व्यक्तिवाद के पक्ष-विपक्ष में बड़ी बहस की जा सकती है। यूरोप के समाजवादी और व्यक्तिवादी लेखकों की कृपा से तर्कों की कमी नहीं है। यदि एक (व्यक्तिवाद के) पक्ष में हर्बर्ट स्पेंसर, सिजविक और अनेकानेक फ्रेंच तथा जर्मन अनार्किस्ट हैं तो दूसरे (समाजवाद) के पक्ष में भी ओवेन, हक्सले, हीगेल, डार्विन, कार्ल मार्क्स आदि-आदि न जाने कितने बड़े-बड़े व्यक्ति हैं। यदि इनका एक ही एक सिद्धांत लेकर वाद-विवाद किया जाए तो जितने विवादी पोथे तैयार हो चुके हैं उनकी संख्या काफी बढ़ जाए पर इसके अतिरिक्त भी और कोई लाभ हो यह हम नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए *कंकाल* के अनार्किस्ट व्यक्तिवाद के खिलाफ कहा जा सकता है कि उसमें व्यक्ति को ही एकाकी (unit) मानकर नित्यप्रति के अत्यंत प्राकृतिक और अनिवार्य सामाजिक संबंधों की अवेहलना की

गई है। व्यक्ति के ईर्ष्या-द्वेष आदि अनेक निम्न वृतियों का विचार न कर उसे पूरे-पूरे अधिकार सौंप दिए गए हैं। प्रत्येक सामाजिक संस्था मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार बनी है और इतिहासक्रम से उसका विकास होता आया है, इस बात की जरा भी परवा नहीं की गई। एक विवाह संस्था को ही लेकर *कंकाल* की स्वयंवर (और स्वयंबध) प्रणाली की बड़ी देर तक आलोचना की जा सकती है और हिंदुस्तानी इतिहास के राजपूतकाल में प्रचलित इस प्रणाली का अपरूप दिखाकर इसका शक्तिशाली विरोध किया जा सकता है। और यह सब कर चुकने पर दूसरे पक्ष की भी बहुत सी बातें सुननी पड़ सकती हैं। पर क्या यह सब उचित होगा?

महात्मा गांधी ने एक बार से अधिक, कम से कम दो बार यह घोषणा की है कि प्रत्येक नवयुवक को यह ठान लेना चाहिए कि वह जब विवाह करेगा तब विधवा से ही करेगा और किसी से नहीं। तो क्या मर्दुमशुमारी के जानकार समाजशास्त्रियों को चाहिए कि वे यह दलील करें कि इतनी विधवाएं कहां से पैदा होंगी कि प्रत्येक नवयुवक उनसे विवाह करें। यह आसानी से कह सकता है कि महात्मा गांधी की बात मान लेने में समाज में विधवा समस्या के बाद कुमारी-समस्या उठ खड़ी होगी जो उतनी ही भयानक और उससे भी अधिक करुण होगी। पर हमने तो सुना कि किसी ने इस तरह की बात कभी कही हो। इसी प्रकार जो धार्मिक हैं वे *गीता* का अवलंब लेकर, जो इतिहासविद हैं वे प्राचीन यूनान के पतन का वृत्त लेकर, जो डॉक्टर हैं वे स्त्री के परपुरुष संसर्ग जनित रोगों के आधार पर, जो आदर्शवादी हैं वे सतीत्व का आदर्श ग्रहण कर, इसी प्रकार अन्य कितने ही अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर विवाद के मैदान में जुट सकते हैं पर इस अनंत युद्ध में किसी की कभी विजय हुई है इसका हमें पता नहीं। किसी की कभी विजय होगी इसका हमें विश्वास नहीं। हम तो इस बखेड़े में नहीं पड़ सकते क्योंकि हमने समझ लिया है कि जितने भी सिद्धांत हैं वे सब मनुष्य की पहुंच के बाहर हैं। इसीलिए मनुष्य उनसे चिढ़कर आपस में झगड़ा करता और अपनी खीज मिटाता है। यह सब बेकार है। महात्माओं की वाणी में विरोध नहीं, साम्य ढूंढ़ना चाहिए। लोकहित की खोज करनी चाहिए। आदर्श सब एक हैं चाहे वह व्यक्तिवाद का हो अथवा समाजवाद की ओर। वे सब आदर्श हमारे लिए अप्राप्य हैं। अपने-अपने देश, काल और विद्याबुद्धि के अनुसार विवेकवान साहित्यकार और दार्शनिक महाजन उन आदर्शों की विवृत्ति करके उन्हें आकर्षक और बुद्धिगम्य बनाते और साधारण जनसमूह अपनी-अपनी शक्ति और संस्कारों के अनुसार उनका अनुसरण करते हैं।

कंकाल के लेखक का आदर्श तो व्यक्तिवाद है पर उपन्यास के किसी भी पात्र की पहुंच उस आदर्श तक नहीं देखी जाती। यह अत्यंत स्वाभाविक और यथार्थ सत्य है। जीवन में नित्यप्रति हम जिस सत्य को देखते हैं *कंकाल* के सभी पात्रों में उसी सत्य की झलक है। मानवीय दुर्बलताओं के भीतर से एक उज्ज्वल सत्य की आकर्षक अकांक्षा, उसकी प्राप्ति का मनस्वी प्रयत्न यही तो मानव धर्म है। इससे अधिक तो हम कुछ भी नहीं जानते। इस प्रयत्न की सफलता आंशिक तो होगी ही, मनुष्य का निर्माण उसी धातु से हुआ है। पर इस दुनिया में

तो असफलता की लड़ी की अंतिम कड़ी ही सफलता है। अंग्रेजी में बड़ा अच्छा कहा गया है—Success is nothing but the last of a series of failures। *कंकाल* का बिलकुल यही मत है। *कंकाल* की आत्मा व्यक्ति की मुक्ति की पुकार उठा रही है पर *कंकाल* के शरीर में (उपन्यास में) किसी ओर से वह पुकार पूर्णतः प्रतिफलित होती नहीं दीख पड़ती। उपन्यास का नायक विजय के अतिरिक्त कोई दूसरा हो नहीं सकता पर उपन्यास के अंत में विजय का अत्यंत करुण सूखी हड्डियों का विकृत *कंकाल* देखकर हम नायक के असफल होने और उपन्यास के दुःखांत (Tragic) होने का परिचय पाते हैं। *कंकाल* हिंदी का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण दुःखांत उपन्यास है। हम कह सकते हैं कि अंग्रेजी की यथार्थवादी (Realistic) रचना शैली की यह आधुनिक हिंदी की सर्वश्रेष्ठ रचना है जिसका मूल भाव भारतीय है। समाज के कठोर हाथों से कुचला जाकर नायक विजय का विकास बहुत कुछ दब जाता है। विजय की साधना में अंतरायों की विजय होती है। पर अंतिम समय यमुना और घंटी रूपी सौभाग्य देवियों उसकी सेवा-सुश्रूषा और अंत्येष्टि का प्रबंध करती है। *कंकाल* का संदेश सुनने के लिए जनता की अपार भीड़ दशाश्वमेध पर एकत्र होती है, स्वयंसेवकों का समुदाय भारत संघ के संरक्षण में संघटित होता है ... इस प्रकार उपन्यास के अंत में यद्यपि *कंकाल* के करुण अक्षर ही दीख पड़ते हैं पर सच पूछिए तो आशा और शांति के एक वातावरण में उसकी परिसमाप्ति होती है। मृत्यु तो सब किसी की होती है पर कुछ मृत्युएं ऐसी होती हैं जिनके उपरांत 'राम नाम सत्य है' की ध्वनि बगैर गला रुंधे बेफांस निकलती है। विजय की मृत्यु को भी ऐसी ही समझिए। प्रस्तुत आशा और शांति के सामने हम मृत्यु को बहुत कुछ भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि *कंकाल* के अंत में वहुत कुछ जयंशकरजी के *अजातशत्रु* नाटक की-सी परिस्थिति है। और उस परिस्थिति की राय कृष्णदासजी जैसे भारतीय कलाविद ने बड़ी प्रशंसा की है। इसी से हमें यह कहने का साहस हुआ कि *कंकाल* की दुःखांत परिस्थिति का मूल भाव भारतीय है। तथापि यह तो हम कहेंगे ही कि *कंकाल* दुःखांत होकर 'गिर तिहुं बार कटक संहारा' के अनुसार समाज की नृशंसता पर अंतिम प्रहार करता है और उस प्रहार का अधिक मार्मिक होना अवश्यंभावी भी है।

(शुक्रवार, 14 अगस्त 1931)

नहीं जा रहे

यह खबर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक विद्युत की-सी तेजी से पहुंच गई कि महात्मा गांधी विलायत नहीं जा रहे और पूज्य मालवीयजी तथा श्रीमती सरोजनी नायडू ने भी विलायत-यात्रा की टिकटें वापस कर दी हैं। इस खबर से सारे देश में विचित्र सनसनी फैल गई है और लोगों के मनोभाव अद्भुत ढंग से उमड़ पड़े हैं। इस बात की सूचना अब तक लोगों को नहीं मिली कि महात्मा गांधी और सरकार के बीच किस प्रकार के पत्र-व्यवहार हुए थे और किन कारणों

से कांग्रेस ने गोलमेज में अपना प्रतिनिधि भेजना अस्वीकार कर दिया है, यह सब विवरण तो बाद को मालूम होगा। पर लोगों को इस विवरण से कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। उनके लिए तो इतना ही बहुत है कि गांधीजी विलायत नहीं जा रहे। इतनी खबर के पहुंचते ही महात्माजी का बंबई का मणिभवन जनसमूह से घेर लिया गया। समूह को इससे अधिक और चाहिए ही क्या? पर यह तो केवल द्रष्टांत है। वास्तविक बात यह है कि सारे देश में एक नया प्रवाह-सा आ गया दीख पड़ता है और वर्तमान भयानक आर्थिक अवस्था और व्यापक बेरोजगारी के कारण यह प्रवाह और भी तीव्र हो जाए तो कोई ताज्जुब नहीं। सबके दिल धड़क उठे हैं। साधारण जनता ही नहीं, पढ़े-लिखे आदमी और जिम्मेदार पत्र-पत्रिकाएं भी आशा से अधिक और उचित से तो कहीं अधिक शीघ्रता के साथ जोश में आकर भावापन्न हो गए हैं। महात्मा गांधी ने स्पष्ट कहा है कि वे भरसक देहली समझौता पूरा करेंगे और सत्याग्रह के शुरू करने का अभी कोई विचार नहीं है पर आकाश में यह आवाज गूंज रही है कि सत्याग्रह तो इसलिए स्थगित किया गया था कि कांग्रेस गोलमेज में शरीक होगी और देहली-समझौता का भी यही मतलब था। अब जब गोलमेज में कांग्रेस के शरीक होने का सवाल ही नहीं रहा, तब देहली समझौता निरर्थक हो गया और सत्याग्रह बिना विलंब के शुरू कर देना चाहिए। निश्चय ही यह उतावले दल की आवाज है पर इस दल की एक हस्ती है, और इसके पास पत्र-पत्रिकाओं की भी सुलभ शक्ति है। ये पत्र-पत्रिकाएं कल तक जिस दिन की राह देखती थीं, आज वह दिन आ गया दीख पड़ता है। कल तक की गोलमेज आज ही पूर्ववत अड़ंगा मेज बन गई है और जान पड़ता है, बहिष्कार के काले झंडों का भाग्य उदय होने वाला है। आश्चर्य है यह कि सब एक दिन में ही हो गया और देश के महान नेता महात्मा गांधी के आदेश के प्रतिकूल हो गया। पर इन सबके मूल में जो बात है वह यह है कि महात्माजी विलायत नहीं जा रहे।

सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है जो *सिविल मिलिटरी गजट* पत्र की संपादकीय टिप्पणी में प्रकाशित हुई है। टिप्पणी का शीर्षक 'मजबूती के चिह्न' देकर पत्र ने भारत सरकार की उस दृढ़ता (?) की बड़ी प्रशंसा गाई है जो उसने गांधीजी के आग्रह को न मानकर दिखाई है और जिसके कारण कांग्रेस दल का सम्मेलन की कार्रवाई में भाग लेना असंभव हो गया है। पत्र का कहना है कि 'गांधीजी विलायत जाएं या न जाएं उससे सम्मेलन को शायद ही कुछ नुकसान पहुंचे क्योंकि उसका खयाल है कि गांधीजी का कांग्रेस पर कोई स्वत्व नहीं रह गया और उसके अनुयायी उनसे विद्रोह कर गोलमेज में उनके द्वारा तय की गई बातों को मंजूर नहीं करेंगे।' हमें पत्र के इस विश्वविदित असत्य पर कुछ कहना नहीं है क्योंकि महात्मा गांधी के प्रभाव और लोक नेतृत्व पर इस असत्य का क्या असर पड़ सकता है जब कांग्रेस जैसी विशाल राष्ट्रीय संस्था ने उन्हें पिछले कई वर्षों से अपना सर्वश्रेष्ठ नेता और आज साल भर से अपना सर्वेसर्वा स्वीकार कर लिया है? आश्चर्य यह सुनकर होता है कि जो सम्मति *सिविल मिलिटरी गजट* ने दी है वही शिमला के सरकारी अफसरों का भी रुख है। सहयोगी *लीडर* के संवाददाता की इस सूचना से हम विस्मित और निराश हुए हैं। जब शिमले के इर्द-गिर्द

इस तरह का विषाक्त वातावरण है तब यह आशा कैसे की जाए कि लार्ड विलिंग्डन अपनी कथित और प्रशंसित दूरदर्शिता का परिचय दे सकेंगे। आवश्यकता इस बात की थी कि वाइसराय अपने स्वतंत्र विचारों से काम लेते और एक ओर अपने मातहत अफसरों तथा दूसरी ओर लंदन के भारत-विद्वेषियों की मातहती स्वीकार कर इस अवसर पर उदार और दूरदर्शी नीति से प्रयोग करते। वास्तव में यह ऐसा अवसर है जिसकी संभावनाएं अपार हैं और जिसके खोदने से ब्रिटेन और भारत के भविष्य का इतिहास ही और का और हो जा सकता है। ऐसे अवसर पर पंचायत बटोरकर उसकी राय लेने और सबको राजी करने की कोशिश करने में बुद्धिमानी नहीं है, फूंक-फूंककर कदम रखना शोभा नहीं देता पर जान पड़ता है, वैसी ही नीति बरती जा रही है।

महात्मा गांधी और सरकार के बीच चलने वाले पिछले पत्र-व्यवहार के प्रकाशित हो जाने से हमें सभी बातों पर विचार करने का मौका मिला है। कांग्रेस की शिकायत यह है कि सरकार देहली समझौते को उस दृष्टि से नहीं देखती जिस दृष्टि से कांग्रेस चाहती है कि वह देखे। कांग्रेस अपने को देहली समझौते की एक साझीदार मानती है और वह सरकार को दूसरा साझीदार समझकर उसी के बराबर अधिकार चाहती है। दोनों साझीदारों में जब मतभेद हो तो फैसला कौन करे? कांग्रेस का कहना कि एक तीसरा व्यक्ति या न्यायालय जिसे दोनों साझीदार चुनें वह फैसला करे, सरकार को यह मंजूर नहीं है। उसका कहना है कि ऐसा करने से उसके शासन अधिकार में फर्क पड़ता है। कानूनी तौहीनी का सवाल आ जाता है। माना कि कानूनी निगाह से सरकार का कहना ठीक है और व्यवस्था की रक्षा करने का जिसका कर्तव्य है वह पुलिस वर्ग अपना कर्तव्यपालन नहीं कर सकेगा। यह भी मान लिया कि सरकारी न्यायालयों के उचित अधिकारों में भी रुकावट पड़ सकती है। पर कानून ही संसार में सबकुछ नहीं है, उसके आगे-पीछे भी बहुत कुछ है। यदि कानून की ही रक्षा की बात होती तब भी गनीमत थी पर जैसाकि बंबई के गवर्नर के वक्तव्य से स्पष्ट होता है वे देहली-समझौते के शब्दों की ओर ज्यादा खिंचे हैं, भावों की ओर नहीं। उन्होंने यह तो कह दिया कि देहली समझौते में मालगुजारी वसूल करने के लिए कांग्रेस की राय लेने की बात कहीं नहीं आई है पर यह नहीं देखा कि बात न आने पर भी महात्माजी ने मालगुजारी की वसूली में सरकार को सहायता पहुंचाई है। यदि समझौते में लगान वसूली के लिए कांग्रेस की राय लेने की बात नहीं है तो उसमें महात्माजी की सहायता लेने की भी बात तो नहीं है तथापि तय यह है कि महात्माजी ने सहायता की। और सरकार ने उसकी मनाही नहीं की। ऐसी अवस्था में बंबई सरकार को गांधीजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए थी पर वह गरीब किसानों के लिए थोड़े से रुपए को भी लौटाने को तैयार नहीं है। हम तो समझते हैं कि यदि केंद्रीय और प्रांतीय सरकारें थोड़ी ही उदारता से काम करें तो कांग्रेस की एक तीसरे साधन द्वारा जांच कराने की मांग का कुछ अर्थ ही न रह जाए।

अवस्था कठिन अवश्य है पर बिलकुल निराशाजनक नहीं है। यदि संयम और उदारता से काम लिया जाए तो अभी भी बहुत कुछ संभव है। हम उसी की आशा रखते हैं।

घृणित प्रचार-कार्य

कलकत्ते के एंग्लो-इंडियन पत्र *स्टेट्समैन* ने गत 11 अगस्त के पत्र में 'हिंदुत्व' शीर्षक एक अग्रलेख प्रकाशित किया है। उसमें कहा गया है कि 'जो हिंदू धर्म अहिंसा और त्याग का सिरमौर था वही आज हिंसा और अनीति की ओर झुक रहा है।' इसके साथ ही 'हिंदू महासभा के सभापति श्री विजयराघवाचार्य के सभापति पद से दिए गए व्याख्यान की आलोचना भी की गई है और कहा गया है कि व्याख्यान द्वेष भाव से भरा हुआ है। यों तो एंग्लो-इंडियन पत्र सदा से ही भारतीय हितों के विरुद्ध कभी न कभी विरोधी बातें लिखते रहे हैं और आज भी लिखते हैं, परंतु पिछले दो मास से *स्टेट्समैन* के दिमाग में अधिक फितूर समा गया है। *स्टेट्समैन* का यह कहना कि हिंदू धर्म हिंसा, अनीति की ओर झुक रहा है उसकी कुतर्कता का एक नमूना है। हिंदू धर्म का महान आदर्श अहिंसा ही है और आज भी वह अपने सिद्धांत पर अड़ा हुआ है। पिछला आंदोलन जिसने सारे संसार में एक हलचल सी पैदा कर दी उसका भी मूल सिद्धांत अहिंसा ही था। फिर उन विदेशी जातियों से जिन्होंने हिंसा के ही बल पर अनेक मुल्कों को अपने काबू में किया है और जिनका उद्देश्य दूसरों के सत्वों का अपहरण करना है उनके संबंध में हिंदू धर्म या हिंदू जाति कह ही क्या सकती है? हमें दुःख है कि *स्टेट्समैन* ने ऐसी ऊटपटांग बातें लिखकर विदेशों में हिंदू धर्म के विरुद्ध प्रचार करने की जो नीति अख्तियार की है वह घृणित और निंदनीय है। पर इससे हिंदू धर्म की महानता और उसकी अहिंसात्मक और त्याग की नीति में कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

कंकाल—5

कंकाल की आत्मा व्यक्ति की मुक्ति की आवाज उठाती है पर *कंकाल* के शरीर में वह किसी ओर से पूर्णतः प्रतिफलित होती नहीं दीख पड़ती।' इसे एक बार कहकर दूसरी बार कहने की और सुनकर फिर-फिर सुनने की जरूरत है क्योंकि संपूर्ण उपन्यास के प्राण इसी में हैं। यहीं से *कंकाल* बर्नार्ड शा जैसे आजकल के पश्चिमीय बुद्धिवादियों की कृतियों से अलग हो जाता है जो कठोर वस्तुस्थिति से एक इंच घटना-बढ़ना नहीं जानते और जिनकी कृतियों की आधारशीला अकाट्य तर्कों पर ही स्थित होती है। कल्पना उनके यहां बहक समझी जाती है और भावना दिमाग की कमजोरी। अंग्रेजी में उन्हें Problem कहा जाता है। उनसे *कंकाल* की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि यद्यपि *कंकाल* के सामने व्यक्ति की मुक्ति की समस्या (Problem) है तथापि वह ऐसी नहीं जिसके सुलझाने में लेखक ने बहुत बड़ी दिमागी कसरत की हो अथवा बुद्धि की प्रणाली का ही प्रयोग किया हो। *कंकाल* के व्यक्तिवाद का आदर्श एक कोरा सिद्धांत मात्र नहीं है उसमें बहुत कुछ अर्थवाद भी है। हमारे युग की सामाजिक दुर्व्यवस्था भी *कंकाल* के व्यक्तिवाद को प्रेरित और पुष्ट करती है। एक उदाहरण लेकर देखा

जाए। मंगलदेव वेश्यालय से बचाकर यमुना का उद्धार करता है। क्रूर पिता के अस्वीकार कर देने पर यमुना के भरण-पोषण का भार भी वही लेता है। अत्यंत स्वाभाविक परिस्थिति में एक दिन दोनों का समागम भी हुआ है। मंगल पीछे नहीं हटा पर कुछ दिनों के बाद यमुना को दो महीने की गर्भवती सुनकर वह विचलित होने लगा। यदि विवाह हो गया होता तब तो कोई बात नहीं थी, पर संयोगवश विवाह की तिथि टलती ही रह गई, वह हो नहीं पाया। बस इतनी ही बात से वह उत्साही और वीर मंगलदेव पुरुष होकर अपनी पवित्र प्रणयिनी को ही नहीं, अपने ही अंशजात भावी शिशु को मृत्यु के मुंह में ढकेलकर अलग हो गया। *कंकाल* ने इस प्रसंग से अधिक से अधिक लाभ उठाकर विवाह संस्था पर मार्मिक आघात किया है पर हमारी समझ में संस्था को उतने जोर की चोट नहीं लगी जितनी हमारी भावना को लगी है। शा जैसे बुद्धिवादी इस प्रणाली को पसंद नहीं करते। भावना की उन्हें रत्तीभर परवा नहीं रहती। विशाल फ्रांस देश के करोड़ों निवासी आज कितनी ही शताब्दियों से जोन ऑफ आर्क नाम की राष्ट्र भक्त महिला की बार-बार अर्चना करते आए हैं और समष्टि में उसका बड़ा शुभ प्रभाव फैला हुआ है। पर बर्नार्ड शा बड़े अनुसंधान के बाद एक दिन यह संदेश लेकर निकल पड़े कि जोन ऑफ आर्क डरपोक औरत थी और मरने के पहले उसने कई बार माफी मांगी थी। यह भावना रहित बुद्धिवाद की चरम सीमा है जो अब तक पुरातत्व, इतिहास आदि में दीख पड़ती थी अब उपन्यासों में भी प्रयोग में लाई जा रही है। *कंकाल* भी बुद्धिवाद की ओर उन्मुख है पर इतना अधिक नहीं।

दूसरी ओर *कंकाल* असाधारण पात्रों की सृष्टि कर एक प्रकार के दंभपूर्ण आदर्शवाद को प्रश्रय नहीं देता जिसका हमारे साहित्य में शायद अतिभाव हो चुका है। कहा जा सकता है कि *कंकाल* में इस प्रकार की रचना प्रणाली की प्रतिक्रिया हुई है। प्रेमचंदजी के *कायाकल्प* से *कंकाल* की तुलना कीजिए। हिंदू-मुस्लिम समस्या का प्रसंग दोनों में आया हुआ है। प्रेमचंदजी ने मुश्किल को आसान कर देने के लिए एक ऐसा महापुरुष खड़ा कर दिया है जो स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंद अथवा श्री गणेशशंकर विद्यार्थीजी से शायद किसी तरह कम न पड़े बल्कि व्याख्यान देने में तो उनसे भी तेज तर्रार निकले। ऐसी अवस्था में काम क्यों न सिद्ध हो? पर सच तो यह है कि काम इतना आसान नहीं कि इतनी शीघ्र सिद्ध हो जाए। *कंकाल* सामान्य-मानवीय धरातल से भी नीचे गिरकर मानो प्रणत होकर विनती करता है 'दुर्बल मनुष्य पहले अपने को देख वासना के जिस आदि-अंतहीन प्रवाह में बहा जा रहा है, पहले उससे उबार पा ले तब लड़ने का नाम लेना।' 'हम हिंदू हैं, हम मुसलमान हैं, हाय हम सब पामर हैं। हम बड़े धार्मिक हैं, खानदानी हैं। पर हमारी किसी की नस्ल का कोई ठिकाना नहीं।' और ऐसा कहकर वह समाज के मुकुट में प्रत्येक हिंदू-मुसलमान का चित्र दिखा देता है जो सबका सब एकसा भद्दा, कुरूप और ग्लानिजनक है। हम कह सकते हैं कि कम से कम समाज की वर्तमान नाड़ी को देखते हुए *कंकाल* की दवा *कायाकल्प* की दवा से अधिक कारगर होगी।

इस समय हमारा देश एक नवीन चेतना से सचेतन हो युग-युगों से तिरोहित प्रकाश की

प्रत्यागत उषा-रश्मि में आंखें खोल रहा है। आज जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्वराज्य की झांकी मिली है। शक्ति का इतना तीव्र उन्मेष हुआ है कि यदि कहीं उसका समीकरण हो सके तो नवीन भारतीय राष्ट्र का नवीन कला-कौशल, साहित्य, संगीत और ज्ञान-विज्ञान देखकर संसार स्तब्ध हो जाए। डॉक्टर एनी बेसेंट जैसी विवेकवती विदेशी विदुषी भारत की इस नवीन जाग्रति में अनंत महान संभावनाएं देख रही हैं। हमारे स्वराज्य में हमारी ये सभी संभावनाएं अंतर्निहित हैं। *कंकाल* व्यक्ति के लिए बुद्धि और क्रियाजन्य स्वराज्य चाहता है। प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रीय परिषद कांग्रेस ने नवीन भारतीय विधान में इस स्वराज्य की हामी भर ली है। पर राष्ट्रीय परिषद की विचार समिति की ही भांति *कंकाल* ने अधिकार पक्ष के साथ कर्तव्य पक्ष का भी याद रखा है। यह हमने कहा है कि *कंकाल* व्यक्तिवादी कृति है पर व्यक्तिवादी की अपेक्षा उसे व्यक्तिगत साधना-वादी कहना अधिक उचित होगा क्योंकि आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल ने तुलसीदास की *विनयपत्रिका* का यही नामकरण किया है और यदि तुलना की जाए तो युग भेद, पात्र भेद और विषय भेद के होते हुए भी इन दोनों की ध्वनि में एक ऐसा सम मिलेगा जिसे सभी रसज्ञ पहचान सकेंगे। आचार्य श्यामसुंदर दास ने *कंकाल* को ही दृष्टि में रखकर यह समीक्षा की है कि बाबू जयशंकर प्रसाद जीवन के पक्ष को ही अधिक देखते हैं। निष्पक्ष रूप से साहित्य की आलोचना करने वालों की ऐसी सम्मति है। हम समझते हैं *विनयपत्रिका* के संबंध में भी ऐसी ही सम्मति दी जाएगी। यही दोनों के साम्य की पहचान कर लीजिए।

(सोमवार, 17 अगस्त 1931)

उचित मांग

भारत सरकार ने वह पत्र व्यवहार प्रकाशित कर दिया है जो महात्मा गांधी और गवर्नमेंट के बीच चल रहा था। उसका आवश्यक सार हम पिछले अंक में प्रकाशित कर चुके हैं। उस पत्र व्यवहार को पढ़कर कुछ लोगों को यह भ्रम हो गया था कि महात्मा गांधी एक ऐसी मांग के लिए हठ कर रहे थे कि जिसे सरकार मंजूर नहीं कर सकती थी। उन्हें ऐसा खयाल हो रहा था कि महात्माजी कांग्रेस को सरकार के मुकाबले दोहरी सरकार के रूप में खड़ा कर रहे थे और कहते थे कि इन दोनों सरकारों में मतभेद होने पर तीसरा निष्पक्ष न्यायालय फैसला करे। पर महात्माजी ने इस तरह के अधिकार के लिए जिद कभी नहीं की। यह बात बंबई में पूज्य मालवीयजी द्वारा दिए गए वक्तव्य से स्पष्ट हो जाती है। मालवीयजी ने साफ शब्दों में यह कहा है कि कांग्रेस केवल न्याय चाहती है और महात्माजी की मांग भी बस उतनी ही है। इस वक्तव्य के बाद भी यदि कोई संदेह रह गया हो तो वह महात्माजी के उस अंतिम पत्र से बिलकुल मिट जाएगा जो उन्होंने वाइसराय को लिखा था और जिसे आज प्रकाशित कर दिया गया है। उस पत्र में महात्माजी इस गलतफहमी को दूर करते हैं कि कांग्रेस दोहरी सरकार बनाकर

सरकार के अधिकार में बट्टा लगाना चाहती है। उन्होंने बड़े ही विनीत शब्दों में कहा है कि हम तो सरकारी कलेक्टर की बराबरी भी नहीं करना चाहते, हम तो केवल गांवों के स्वयंसेवक मुखिया अथवा पटेल का काम कर रहे थे और वह भी सरकार की इजाजत से। महात्माजी ने वाइसराय की आशंका और कुछ लोगों के भ्रम को दूर करते हुए यह भी लिखा है कि वे सरकार और कांग्रेस से भिन्न एक तीसरे व्यक्ति या न्यायालय की मांग के लिए कुछ भी आग्रह नहीं करते। वे कहते हैं कि कांग्रेस हाईकोर्ट के जज जैसे किसी निष्पक्ष व्यक्ति की जांच और उसके फैसले को मानने को तैयार है। पूज्य मालवीयजी ही नहीं, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर जैसे व्यक्तियों ने भी इस मांग को उचित बतलाया है।

सरकार क्या इतना भी नहीं कर सकती? यदि वह अपने कानूनी अधिकारों की रक्षा एड़ी-चोटी का पसीना एक करके करना चाहती है तो खुशी से करे। यदि वह पिछली बार का कटु अनुभव रखते हुए भी प्रेस्टीज मौन को नहीं छोड़ना चाहती तो न छोड़े, हम इतना ही कहेंगे कि यह सब अच्छा नहीं है, और इसका फल भी अच्छा नहीं होगा। हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि कानून ही दुनिया में सबसे बड़ी वस्तु है—चाहे वह किसी महान साम्राज्य का कानून ही क्यों न हो। पर यहां तो कानून की तौहीन अथवा प्रेस्टीज-भंग का सवाल भी नहीं है। यहां तो केवल एक न्यायोचित मांग है। कांग्रेस सरकार की बराबरी का अधिकार नहीं चाहती वह सरकार की कर्तव्यपरायण पुलिस के 'शांति और व्यवस्था' के रक्षक होने में न संदेह करती है और न दस्तंदाजी। वह केवल जनता की ओर से पैरवीकार बनकर न्याय कराना चाहती है, वह भी सरकार के ही कर्मचारी, हाईकोर्ट के जज द्वारा।

क्या सरकार को इतना भी मंजूर नहीं है कि कांग्रेस जनता की पैरवीकार बने? महात्माजी कहते हैं कि सरकार कांग्रेस का इतना भी अधिकार स्वीकार नहीं करना चाहती। तब क्या यह सवाल नहीं खड़ा होता कि देहली के गांधी-इर्विन समझौते का मतलब क्या था? उसे संधि कहिए, समझौता कहिए अथवा पैक्ट, वह था तो कांग्रेस और सरकार के ही बीच। महात्मा गांधी की बातचीत कांग्रेस की ही बातचीत थी क्योंकि कांग्रेस ने ही उन्हें बातचीत करने की अनुमति दे दी थी। और कांग्रेस की भी क्या हस्ती है? उसकी तह में तो देश की जनता की ही आवाज है जिसने पचासों हजार की संख्या में जेल भर दिए थे और लाखों की संख्या में सत्याग्रह किया था। यदि आज उन्हीं आदमियों के लिए न्याय की प्रार्थना कांग्रेस की ओर से की जाती है तो क्या सरकार को यह उचित है कि वह इसकी भी मंजूरी न दे। आखिर कांग्रेस अपने उत्तरदायित्व की रक्षा और कैसे कर सकती है? अथवा इतना भी नहीं तो कम से कम न्याय किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है?

परंतु सरकार को कांग्रेस के उत्तरदायित्व की क्या परवा है? उसे न्याय की भी विशेष चिंता नहीं दीख पड़ती। बारडोली के मामले में उसने प्रत्यक्ष अन्याय किया है यद्यपि वह देहली समझौते की आड़ लेकर अपना बचाव करना चाहती है। बंबई सरकार का यह कहना कि वह लगान वसूल करने के मामले में कांग्रेस की राय लेने को बाध्य नहीं है, गांधी-इर्विन समझौते के भाव (spirit) का संहार करना है। इस बात को हम पहले भी कह चुके हैं और फिर कहते

हैं कि गांधीजी ने सरकार की मदद करके 96 प्रतिशत लगान वसूली कराई। तब सरकार ने वह सहायता क्यों स्वीकार की? देहली समझौते में तो ऐसी कोई शर्त नहीं है। इस तरह 'मीठा-मीठा गप्प और कड़ुवा कड़ुवा थू' की नीति कदापि अच्छी नहीं समझी जाएगी। दूसरी स्थिति में इस तरह की नीति चल भी जाती पर वर्तमान विकट स्थिति को देखते हुए ब्रिटेन और भारत दोनों के ही हितों में यह बहुत बड़ा कुठाराघात होगा। पर जान पड़ता है, कुछ अफसर लोग ब्रिटेन और भारत की उतनी भी चिंता नहीं कर रहे जितनी अपनी लंबी-लंबी तनख्वाहें और बड़े-बड़े अधिकारों की रक्षा के लिए कर रहे हैं। यह उनके लिए स्वाभाविक भी है क्योंकि स्वार्थ तो सारा संसार चाहता है। पर इस अवसर पर सम्राट के भारतीय प्रतिनिधि लार्ड विलिंग्डन को साम्राज्य के महान स्वार्थ का विचार कर इन छोटे स्वार्थियों से होशियार होना चाहिए और कांग्रेस की नर्म और उचित मांग को स्वीकार कर गोलमेज सम्मेलन को अधिक से अधिक करने का उद्योग करना चाहिए। ब्रिटिश साम्राज्य का हित इससे बढ़कर और किसी दूसरी बात से नहीं है।

कहना और करना

कहने और करने में बड़ा अंतर है। प्रयाग में प्रांतीय मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के अवसर पर मि. मुहम्मद अली जिन्ना ने जो भाषण दिया है उसकी प्रशंसा तो होनी ही चाहिए क्योंकि उन्होंने संयुक्त निर्वाचन और हिंदू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया है और बार-बार इस बात को दुहराया है कि एकता के बिना राउंड टेबल कॉन्फ्रेंस सफल न होगी। साथ ही साथ अपनी 14 शर्तों को मानने के लिए भी अनुरोध किया है। यह हम मान लेते हैं कि बिना एकता के कॉन्फ्रेंस सफल न होगी, क्योंकि महात्मा गांधी का भी वही कहना है परंतु क्या मिस्टर जिन्ना ने राष्ट्रीय दल के मुसलमानों से मिलकर इस काम को वास्तविक स्वरूप देने के लिए कुछ किया है? क्या उन्होंने सांप्रदायिक मुसलमानों की गैर जिम्मेदारी की ऊटपटांग बातों का कभी विरोध किया है? यू.पी. कॉन्फ्रेंस में मिस्टर जिन्ना ने जो बातें कही हैं वे सिद्धांत रूप से ठीक भी मानी जा सकती हैं। परंतु मौलाना शौकत अली साहब ऐसे व्यक्तियों की बातों का विरोध भी क्या उन्होंने यहां किया था? इन्हीं बातों से एक निष्पक्ष आदमी को संदेह होता है। व्याख्याता बनकर कुछ कह देना और बात है और लगनपूर्वक किसी भी राष्ट्रीय-समस्या को हल करना दूसरी बात है। डॉक्टर अंसारी आदि राष्ट्रीय मुसलमानों ने सांप्रदायिक मुसलमानों को कई बार समझौते के लिए अवसर दिया, उनकी खास सहूलियत दी परंतु उसका कुछ भी असर न हुआ। हम मिस्टर जिन्ना के राष्ट्रीय विचारों की प्रशंसा करते हैं परंतु किसी भी काम के संबंध में कुछ कहने के साथ-सँाथ उसकी पूर्ति के लिए काम करना अधिक लाभदायक है।

हमारे ग्राम-जीवन का उज्ज्वल भविष्य–1

आज से कुछ वर्ष पहले बंगाल में एक बड़ी मनोमोहिनी आवाज सुन पड़ी थी। यह आवाज कलकत्ते से उठी थी जो उस समय अपने विलास-वैभव में जगमग-जगमग हो रहा था। उस समय तक कलकत्ता पश्चिम की नागरिक सभ्यता और नागरिक जीवन का अच्छा अनुभव प्राप्त कर चुका था। और बहुत कुछ तृप्त भी हो चुका था। तृप्ति के बाद विरक्ति हुई। इस विरक्ति के मूल में सबसे अधिक आर्थिक कारण थे। कलकत्ते का बढ़ा-चढ़ा खर्च निबाहना बहुत कठिन काम था। आमदनी थोड़ी थी, जीवन महंगा था। मिलों के धुएं में, किरानीगिरी में, जमादारी और कर्जे चुकाने में दिन भर सिर खपाकर संध्या को जब कमाई के पैसे गिने जाते तो उतने भी न होते जितने से दोनों वक्त का भोजन मिल सकता। परिवार लेकर कलकत्ते में रहना हजारों-लाखों आदमियों के लिए असंभव हो गया। जहां अधिकांश लोगों की यह दशा थी, वहां थोड़े से धन कुबेर ऊंचे-ऊंचे प्रासाद बनवाकर मानो स्वर्ग के समीप जाकर निवास करते थे। पर जिनके बल पर यह स्वर्ग टिक रहा था वे उसके भार में दबे जा रहे थे। इन सबकी प्रतिक्रिया शुरू हुई। कृत्रिम जीवन यों ही ऊब उठने के लिए काफी था, फिर वहां तो अर्थ कष्ट की भी व्यावहारिक समस्या थी। फलतः वह मनोमोहिनी आवाज उठी जिसका जिक्र ऊपर आया है। यह आवाज थी ग्रामों को लौट चलने की, शहर से भाग कर देहातों में शरण लेने की। पर चूंकि इस आवाज में अधिकतर स्वार्थ था इसलिए यह एक भावुक पुकार ही बनी रही, इससे देहातों का कुछ विशेष उपकार नहीं हो सका।

इसी समय के बांग्ला उपन्यासों में देहाती समाज के बड़े ही आकर्षक अथवा करुण चित्र मिलते हैं। 500 रुपयों का पुरस्कार प्राप्त *बंगाल ग्रामीण जीवन* (*Bengal Peasant Life*) नामक पुस्तक में जो चित्र हैं वे बहुत कुछ यथार्थ हैं। पर यह विशेष महत्वपूर्ण रचना नहीं थी। बंकिमचंद्र और शरच्चंद्र के उपन्यासों के क्षेत्र में आते ही लोगों को ग्रामों की भयानक स्थिति का पता चला। बंकिम बाबू के *कर्मक्षेत्र* का कर्मक्षेत्र देहात ही है और शरत् बाबू ने तो कितने ही उपन्यासों में मलेरिया से लेकर अनेक सामाजिक कुरीतियों के बड़े ही मर्मभेदी चित्र खींचे हैं। इस प्रकार ग्रामीण जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू को जानने, जानकार द्रवित होने, और द्रवित होकर सुधार करने का अवसर मिला। इस समय बंगाल में आदर्शवादी नवयुवकों का एक समाज तैयार हो रहा था पर अभाग्यवश इसकी आंखें देहातों की सड़ी-गली गलियों में रहने वालों, रोगग्रस्त बालकों, किंकर्तव्यविमूढ़ नवयुवकों और मृतप्राय वृद्धों पर न जाकर राजनीतिक मुक्ति की ओर अधिक खिंची और उस मुक्ति के साधन ऐसे थे जिनसे मुक्ति तो मिली नहीं, बंधन ही मिला। तथापि श्री आशुतोष मुखर्जी जैसे कुछ पुरुषों की दूरदर्शिता से देहातों में शिक्षा का विशेष प्रचार हुआ और बंगाल के प्रायः प्रत्येक कस्बे में स्कूल-कॉलेज खुल गए। इस व्यापक शिक्षा प्रचार का उतना अधिक लाभ नहीं हुआ जितने की आशा की जा सकती थी क्योंकि शिक्षा प्रणाली ही सदोष थी। पढ़-लिखकर कलकत्ता

पहुंचने की मृगतृष्णा बराबर बनी रही जिसका फल यह हुआ कि देहातों की दशा तो विशेष सुधरी नहीं, शहर खचाखच भरने लगे। बेकारी बढ़ने लगी और सभी प्रकार का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पतन शुरू हुआ। ऐसे नवयुवक बंगाल में बहुत थोड़े निकले जो पढ़-लिखकर देहातों का सरल, विनीत जीवन ही पसंद करते, अपने माता-पिता और कुटुंबों की ही दशा सुधारते और प्रकृति की रम्य गोद में बसकर जीवन व्यतीत करते। इन्हीं से सुधार की आशा थी पर इन्हें अंग्रेजी शिक्षा का नशा चढ़ा था।

हम समझते हैं, ग्राम सुधार का वास्तविक कार्य व्यापक रीति से सबसे पहले गुजरात में शुरू हुआ। महात्मा गांधी उसके नेता और अध्वर्यु हुए। गांधीजी का उत्कट सेवा भाव उनके अनुयायियों में संक्रामक होकर फैल गया और उनके अथक प्रयत्न से सारा गुजरात जाग उठा। राजनीतिक चेतना के साथ ही साथ सामाजिक जीवन के प्रायः सभी अंगों का विकास हुआ। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि गांधीजी केवल भावुकता की प्रेरणा नहीं करते थे, उनके पास एक अत्यंत व्यावहारिक रचनात्मक कार्यक्रम था जो ग्रामीणों की आर्थिक दशा सुधारने में भी योग दे सका। उनका चरखे का संदेश गांव-गांव में व्याप्त हो गया।

आज गुजरात के ग्राम निवासी सारे देश में प्रसिद्धि पा रहे हैं। बारडोली के किसानों का त्याग, बलिदान और सबसे बढ़कर उनका संघटन देश भर की ग्रामीण जनता के लिए पथ प्रदर्शक है। परंतु इसके साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गुजरात के ग्रामीणों की आर्थिक दशा भी अन्य प्रांतों की अपेक्षा बहुत अच्छी है। इस बात का अनुभव पिछले सत्याग्रह संग्राम के अवसर पर यहां आए हुए प्रसिद्ध अंग्रेजी नेता मिस्टर बेल्सफोर्ड ने भी किया था। यह सच है कि जब तक गांठ नहीं होती तब तक साधारण समाज किसी प्रकार का असाधारण त्याग करने को तैयार नहीं हो सकता। दुनिया में ऐसे लोग थोड़े ही होते हैं जो भूखों रहकर देश की सेवा करें, कम से कम भर पेट भोजन का तो प्रबंध होना ही चाहिए। गुजरात के किसानों ने इतना प्रबंध कर लिया है। पर दूसरे प्रांतों में अब तक क्षुधा-निवृत्ति का ही सवाल हल नहीं हुआ, देश सेवा तो पीछे आवेगा। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारे नेता लोग मोटरों पर चढ़कर छठे-छमाहे देहातों में फेरा लगा आते हैं और यज्ञ करके बैठ रहते हैं। नेताओं का कर्तव्यक्षेत्र देहातों के अंतरंग में नहीं है। ये सबके सब शहर के बाशिंदे हैं, बहुत से अपने-अपने काम-धंधों में लगे हुए हैं और कुछ तो गांधीजी के शिष्य इसलिए हुए हैं कि नामवरी हासिल होगी। उनकी अहिंसा कांग्रेस की बैठकी में हाथ उठाने तक ही परिमित है और उनका सेवा-भाव तो ग्रामों की दुर्दशाग्रस्त जनता की आर्तवाणी में अच्छी तरह सुन पड़ता है।

हम यह नहीं कहते कि कोई देशसेवा के पीछे अपना कामकाज ही छोड़ दे और न हम यही आशा रखते हैं कि गांधीजी की तरह सबके सब महात्मा और सर्वस्वत्यागी बन जाएं। यह तो हमारी मिथ्या कल्पना कहलाएगी। हम यह जानते हैं कि देशसेवा व्यवसाय और रोजगार भी बनाई जा सकती है और हम यहां तक मानने को तैयार हैं कि यह रोजगार बहुत से अन्य रोजगारों की अपेक्षा फिर भी अच्छा है। आज जब हम कांग्रेस कमेटियों के चुनाव के समय

दलबंदी और झगड़े होते देखते हैं और जन्म भर शहर में रहते हुए भी लोगों को देहाती अथवा तहसीली कांग्रेस कमेटियों में ऊंचे पदों की उम्मीदवारी करते सुनते हैं तो हमें कोई विशेष आश्चर्य नहीं होता। हम यह सब अच्छी तरह देख, सुन और समझ सकते हैं। पर क्या हमारे देशवासी अपने नेताओं से इतनी भी आशा न रखें कि अपनी स्वार्थ-साधना में लगे हुए भी कम से कम अपनी विद्याबुद्धि का थोड़ा सा अंश निरविलंब अनाथ ग्रामनिवासियों के हित में लगा सकेंगे। क्या नेतागण इतना भी नहीं समझते कि इस समय की बढ़ती हुई शिक्षित जनता की वेकारी देहातों की दशा सुधारने के काम में लाई जा सकती है? कांग्रेस ने स्वराज्य के मूल अधिकारों की घोषणा की है। क्या उसका महत्व कागज तक ही सीमित रहेगा अथवा क्या वह देहातों में नहीं पहुंच सकता। अपने प्रभाव से, अपनी भाषण पटुता से और अपने बुद्धिबल से क्या नेतागण इतना भी नहीं कर सकते कि वे हजारों-लाखों बेरोजगारों को देहातों में भेजकर उनकी रोजी लगा दें। क्या उन्हें यह समझना अभी बाकी ही है कि कांग्रेस की घोषणा के अनुसार स्वराज्य शासन में देहातों का भविष्य अत्यंत उज्ज्वल है और जो अभी से उस दिशा में काम करेंगे वे आगे चलकर लाभ उठाएंगे। नेताओं में इतना तो विवेक होना ही चाहिए कि वे कांग्रेस के अधिक से अधिक 500 रुपए मासिक वेतन के प्रस्ताव का अर्थ समझ सकें और वर्तमान बेकार नवयुवक वर्ग को समझाकर ऊंची तनख्वाहों की मृगतष्णा मिटा सकें और उन्हें ग्राम जीवन की ओर आकर्षित कर उनकी बेरोजगारी की ऐसी दवा कर सकें जिससे दोनों पक्षों को चिरस्थायी लाभ हो। पर जब तक स्थिति स्पष्ट नहीं की जाती और देहातों का उज्ज्वल भविष्य नहीं समझाया जाता जब तक ग्राम-जीवन आज का-सा ही दयनीय बना रहेगा और इसकी पूरी जिम्मेदारी विदेशी सरकार पर नहीं, हमारे स्वदेशी नेताओं पर ही अधिक होगी।

(शुक्रवार, 21 अगस्त 1931)

वाइसराय का उत्तर

स्थिति इतनी जटिल और कठिन हो गई है कि वाइसराय को अपना वर्षा-विनोद (Monsoon tour) समय के पहले ही समाप्त कर देना पड़ा और कलकत्ता से शिमला रवाना हो जाना पड़ा। यह काफी आश्चर्य की बात है कि वाइसराय ने कलकत्ता से ही महात्मा गांधी के पिछले पत्र का उत्तर दे दिया है। यद्यपि अनुमान यह किया जाता था कि वे शिमला पहुंचकर, विलायत से आई हुई सूचनाओं को देखेंगे, अपनी कार्यकारिणी की सलाह लेंगे और तब किसी प्रकार का उत्तर देंगे। पर जान पड़ता है, घटनाएं अद्भुत रीति से घटती जा रही हैं। कलकत्ता से ही महात्माजी के अत्यंत महत्वपूर्ण पत्र का उत्तर देकर वाइसराय ने तरह-तरह के अनुमानों की गुंजाइश कर दी है। पहला सवाल तो यह है कि क्या यही अंतिम उत्तर है? पर यदि यही

अंतिम उत्तर होता तो फिर शिमला लौट पड़ने की इतनी जल्दी क्या थी? यदि यही अंतिम उत्तर नहीं है तो इसकी आवश्यकता ही क्या थी? क्या केवल इतनी ही कि गांधीजी ने अपना पत्र प्रकाशित करा दिया है इसलिए सरकार को अपनी स्थिति फौरन से पेशतर प्रकट कर देना आवश्यक था? हम तो ऐसा नहीं समझते। तब क्या वाइसराय अपने उत्तर को इतना साधारण और निश्चित समझते थे जिसके लिए बंगाल गवर्नर और सर जेम्स क्रेरर की ही राय लेनी आवश्यक थी अथवा किसी की भी राय लेनी आवश्यक नहीं थी? क्या वाइसराय महोदय की यह धारणा नहीं है कि उन्हीं के पत्र पर कांग्रेस का और बहुत कुछ देश का भविष्य कार्यक्रम निर्भर है? क्या वे यह नहीं मानते कि यही अंतिम सूचना है जो वे दे रहे हैं और इसी से कांग्रेस का गोलमेज में जाने, न जाने का फैसला हो जाएगा? अथवा क्या इस फैसले का कोई महत्व उनकी निगाह में नहीं है?

वे सभी बातें हो सकती हैं और शायद इनमें से कोई भी बात नहीं। जो कुछ भी बात होगी, दो-एक दिन में ही खुल जाएगी। फिलहाल हमारे सामने उनका पक्ष है। हम देखते हैं कि इस पत्र के दो अंश हैं। एक तो वह जिसमें यह प्रकट किया गया है कि सरकार ने देहली समझौते के पालन में अब तक किस प्रकार नीति बरती है। इस अंश में वाइसराय ने सरकार के द्वारा बड़ी ही मुस्तैदी के साथ समझौते के पूरा करने की बात कही है। यह भी दिखाया गया है कि कांग्रेस से खूब मेल-जोल का भाव रखा गया है और समझौते में न आने वाली बातों पर भी कांग्रेस की खातिर सरकार एक कदम आगे ही बढ़कर मिली है। हां, जहां कहीं कांग्रेस की ओर से ज्यादती की गई वहां सरकार ने उचित कार्रवाई की। पत्र का दूसरा अंश अधिक महत्वपूर्ण है। वाइसराय महोदय का कहना है कि कांग्रेस के गोलमेज में न शरीक होने के निर्णय से देहली-समझौते का मुख्य लक्ष्य असफल हो गया, फिर भी सरकार समझौते का पालन करेगी। वह प्रांतीय सरकारों को ताकीद करेगी कि समझौते के अनुसार जो-जो काम होने चाहिए थे, वे किए जाएं। इसका मतलब यह हुआ कि आज पांच महीने के बाद भी यदि समझौते के अनुसार छूटने वाले कैदी नहीं छूटे हैं तो अब छोड़े जाएं, जब्त जमीन, जायदाद वापस की जाए आदि आदि। इसके अलावा सरकार नमक के संबंध की रियायत मौजूद रखेगी और जहां तक संभव होगा आर्डिनेंस नहीं जारी करेगी। कांग्रेस के प्रति सरकार का वैसा ही व्यवहार होगा जैसा वह आचरण करेगी। वाइसराय के पत्र का सार हमें इतना ही जान पड़ता है।

पत्र के पहले अंश में स्पष्टतः वाइसराय की ओर से की गई कांग्रेस की सफाई है। महात्माजी ने जो आरोप अपनी चार्जशीट में कांग्रेस की ओर से किए हैं, यह भी उसी ढंग की चीज है, यद्यपि बहुत मुक्तसर में है। सुना जाता है, शिमले से एक बड़ा पोथा तैयार होकर निकलने वाला है जिसमें कांग्रेस के विरुद्ध इल्जाम होंगे। वाइसराय ने शायद उसी पोथे का प्राक्कथन अपने पत्र में प्रकाशित किया है। पर इस प्रकार समझौते के काम में सहायता क्या मिलेगी, यह हम नहीं समझ पाते? पर समझौते के काम में सहायता मिले या न मिले, उसका लक्ष्य पूरा हो, समझौता बना अवश्य रहे। यही बात कांग्रेस की ओर से कही जाती है और

यही वाइसराय महोदय ने भी कहा है। यह भी एक बड़ा ही पेचीला और आश्चर्यजनक मामला है। यदि वाइसराय महोदय के कहने के अनुसार, जैसाकि ठीक भी है, कांग्रेस के गोलमेज में न जाने से देहली समझौते का मुख्य लक्ष्य नष्ट हो गया तो समझौते का दूसरा कौन सा लक्ष्य रह गया जिसके लिए उसकी ठठरी दोनों ओर से खींची-तानी जा रही है? हम इसे केवल एक राजनीतिक दांवपेच के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते। जैसाकि प्राप्त समाचारों से भी पुष्ट होता है, कांग्रेस आत्मरक्षा में शस्त्र ग्रहण करना चाहती है और सरकार कसूर होने पर दंड देना चाहती है। जिस समझौते के भंग हो जाने के कारण कांग्रेस ने अपना प्रतिनिधि गोलमेज में नहीं भेजा और जिसके भंग होने की बात वाइसराय महोदय कह रहे हैं, वह भंग होकर भी भंग नहीं हुआ। आश्चर्य है।

पर जो वस्तु भंग होकर भी भंग नहीं हुई वह निश्चय ही बड़ी ही असाधारण वस्तु होगी। यदि वह सचमुच अंतिम बार भंग होने से बचाई जा सके तो शायद इतिहास की एक स्मरणीय स्मृति के रूप में वह बनी रह सके। हम चाहते हैं कि वह बचाई जाए पर उस तरह नहीं जिस तरह वह तोड़-तोड़कर बचाई जा रही है और शायद आगे भी तोड़-तोड़कर बचाई जाएगी। ऐसी मूल्यवान वस्तु के साथ इस तरह का व्यवहार उचित नहीं कहा जाएगा। हमारा आग्रह है कि उसकी हिफाजत की जाए ताकि उसका टूट-टूट कर बचना बंद हो। महात्माजी चाहते हैं कि एक निष्पक्ष व्यक्ति उसकी हिफाजत करे। जान पड़ता है, सरकार भी उसे हिफाजत के लायक समझती है। जो निष्पक्ष व्यक्ति उस वस्तु की जांच करेगा जो टूट-टूटकर अब तक बची है, हमारा विश्वास है वह इतना अदूरदर्शी नहीं होगा कि स्वयं उसे तोड़ डालने का कारण बने। यह बड़ा ही अनोखा और मनोरंजक प्रसंग है। यदि सरकार एक सुखांत नाटक देखना चाहती है तो उसे इस अवसर से लाभ उठाना चाहिए। पर यदि वह कुछ अधिक गंभीर अथवा जटिल मनोवृत्ति रखती हो तो बात दूसरी है।

हमारे ग्राम-जीवन का उज्ज्वल भविष्य–2

आज से कुछ वर्ष से पहले ग्रामों का भविष्य निश्चित नहीं था और वह आशा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। विचारकों का एक शक्तिशाली दल यह कह रहा था कि यूरोप की ही भांति भारत में भी शीघ्र ही मशीन युग आने वाला है और कृषि की प्रधानता नष्ट हो व्यवसायों (Industries) की उन्नति और वृद्धि होने वाली है। दूसरे शब्दों में उसका अर्थ यह था कि देहातों की जनता शहरों की ओर खिंचेगी जिससे देहात उजड़ जाएंगे और उनके स्थान पर बड़े-बड़े शहर बसेंगे। परंतु धीरे-धीरे इस तरह के विचार उठे जा रहे हैं और आज हमारे ग्रामजीवन का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल दीख पड़ता है। महात्मा गांधी जैसे प्रभावशाली नेता ग्रामों का अस्तित्व दृढ़ करने में लगे हुए हैं। उनका कहना है कि स्वराज्य प्राप्त भारत का प्रत्येक ग्राम आत्मनिर्भर (Self-Sufficing) होगा और अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा

करेगा। महात्माजी मशीनों की माया को अपार जनसमूह के लिए अहितकर ही नहीं, घातक भी समझते हैं। वे नहीं चाहते कि छोटे-छोटे ग्रामीण धंधे नष्ट हो जाएं और बड़े-बड़े कल कारखाने खुलें जिससे देश का धन शोषण होकर थोड़े से पूंजीपतियों का घर भरे। भारत कृषिप्रधान देश है और कृषिप्रधान ही बना रहे। कृषि के साथ-साथ अन्य उद्योग-धंधे, विशेषकर चरखे का प्रचार हो। यूरोप के मशीनयुग के विषाक्त परिणाम देखे जा चुके हैं और भारत के लिए यह कदापि उचित नहीं होगा कि वह जान-बूझकर उसी गड्ढे में गिरे जिसमें पश्चिम वाले गिर चुके हैं और गिरने के बाद अब उबार पाने की चेष्टा कर रहे हैं। संक्षेप में यही महात्मा गांधी का संदेश है।

यह संदेश केवल भावुकता जन्य नहीं है, आज इसके समर्थक देश के बड़े-बड़े वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री भी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनका संदेश घर-घर पहुंचा दिया जाए और ग्रामों का भविष्य अत्यंत उज्ज्वल समझकर तुरंत तदनुकूल काम शुरू कर दिया जाए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारे ग्रामों का अस्तित्व नष्ट नहीं होगा। प्रकृति की रमणीक गोद में खिले हुए वे फूल मुरझाएंगे नहीं। सृष्टि की आदिम आशा ज्यों की त्यों रहेगी, हरियाली और सदाबहार युग-युग दीख पड़ेंगे। आज जो मिलों के धुएं से, नगरों के आदि-अंतहीन कोलाहल से, अपनी विपन्नता और विवशता से हारे हुए हैं, उनके लिए यह आशा ही नहीं, सम्मोहन का संदेश है। जो वर्षों में एक बार किसी गांव की हवा खा आते हैं तो मुक्ति मिल जाने का अनुभव करते हैं, वे धैर्य धरें सुख के दिन आने वाले हैं। कवियों और प्रकृति प्रेमियों को तो अभी से दिल थामकर रखना चाहिए नहीं तो आनंद के अतिरेक में कहीं वह बहक न जाए।

जो इतने सम्मोहन हैं और जिनके लिए सब तैयारी है, उनकी ओर एक बार आंखें उठाकर देखिए। आप जिस घर में बसने वाले हैं, जहां बसकर दिगंत की हरियाली और वर्षा-बहार का रस लेने वाले हैं आज वे घर अश्रु बिंदुओं से चू रहे हैं। आइए, उनकी मरम्मत कर ली जाए। इस दिगंतव्यापिनी हरीतिमा के बीच में ये कांटे क्यों पड़े हुए हैं, इन्हें चुनकर फेंक दें। इस उज्ज्वल अंचल में काले दाग भी पड़ गए हैं। इन्हें धो डालना चाहिए। राम और सीता के वनवास को सौभाग्य मानकर उन्हें सिर-आंखों रखने वाली, उनके साथ कोसों तक निकल जाने वाली, अपने वार्तालाप से उनका जी लुभानेवाली ग्रामवधूटियां आज मलिनमुखी और मौन क्यों हैं? ब्रज की गोपियों का यह मान भंग किस निष्ठुर ने कर दिया है—आज वे सबकी सब मथुरा क्यों चली जा रही हैं। हाय? नहीं जानतीं वहां से वंशी वाले बिदा हो गए हैं। काले कारखाने और अजगर का-सा वाष्टप-पुंज मुंह बाए खड़ा है। लौटो, लौटो।

कोई कठिन काम करना नहीं है। कठिन तब तक था जब तक बेगार समझकर या परोपकार का नाम लेकर किया जाता था। सरकार क्यों नहीं सहायता दे रही है, वहां रहने का, खाने-पीने का, कहां ठौर-ठिकाना होगा, होटल वहां कहां है आदि आदि सवाल पहले किए जाते थे। अब वे दिन गए। आज ग्राम सुधार का प्रश्न हमारा अपना प्रश्न बनना चाहिए और वह ऐसा ही बन रहा है। हमारी आंखें तरस गई हैं। एक बार उस स्वच्छ कुटीर को देखने

की लालसा रोके नहीं रुकती जिसमें वह निष्कपट पुरुष अपनी कमाई से संतुष्ट होकर बैठा है। वह सरला कामिनी आंगन लीप कर किसी अतिथि की आवाई निरख रही है। वे बूढ़े *रामचरितमानस* का पारायण कर रहे हैं और वे 'धूल धूसरित बाल हठीले'—उनका तो कहना ही क्या है?

पर यदि आप जीवन की कविता और उसका रस खो चुके हैं और रुपया-आना-पाई के पैमाने से दुनिया को नापते है तो भी हम आप से पूछते हैं कि आप आजकल बेकार क्यों घूम रहे हैं? यदि आप बुरा न मानें तो सुनिए यह आपकी बेकारी कभी दूर नहीं होगी। इसे द्रोपदी का चीर समझिए। सर आशुतोष मुकर्जी ने बंगाल के घर-घर में ग्रेजुएट पैदा करने का इरादा किया था और आपके दुर्भाग्य से आज भी भारतीय शिक्षा विशेषज्ञ अधिक से अधिक ग्रेजुएट तैयार करने का इरादा रखते हैं। आप देखते ही होंगे, प्रतिवर्ष कितने हजार एफ.ए., बी.ए. और एम. ए. होते जा रहे हैं। मेट्रीकुलेशन का तो कोई हद-हिसाब ही नहीं है। क्या यह अनंत प्रवाह बंद होगा? ऐसी कल्पना भी मत करिए। हिंदू विश्वविद्यालय भारत की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय संस्था है पर उसके प्रधान आचार्य आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव का मत है कि जितने ही अधिक संख्या में हम देश के नवयुवकों को विश्वविद्यालय में खींच सकें और शिक्षित कर सकें उतना हो देश कल्याण है। आप इस बात से सहमत नहीं होंगे और शायद उन्हें अदूरदर्शी समझेंगे। आप अपनी बेकारी के कारण ऐसा समझ सकते हैं। पर यह बेकारी तो आपने अपने हाथों मोल ली है। इसमें दूसरे किसी का क्या कसूर है। आप रुपयों की खास तायदाद के लिए, एक खास तरह के खरीदारों के पास जाकर आरजू-मिन्नत करते हैं, 'हमें खरीद लो', 'हमें खरीद लो'। आपको यह समझना चाहिए कि गले लगने से कोई मुफ्त में भी लेने को तैयार नहीं होता। फिर आप तो यह भी जानते हैं कि खरीदार थोड़े हैं और आपके जैसे बिकने वाले हजारों। आचार्य ध्रुव का क्या अपराध? वे तो आपको काम बतला रहे हैं, कह रहे हैं, देहातों में घुसो और दस-दस, बीस-बीस, सौ-सौ घर बांट लो। सब तुम्हारे ही घर हैं। सबको अपना-सा ही बना लो, देश के कोने-कोने से शिक्षा का संदेश गूंज उठे।

पर रुपए? रुपए फिलहाल कम मिलेंगे, मान लीजिए नहीं ही मिलेंगे। हम पूछते हैं ऐसे ही आप कौन सी हुंडी भुना ले रहे हैं? यहां तो सूखे शंख बजाना है। देहातों में फिर भी बहुत अच्छा है। आर्थिक दृष्टि से व्यय थोड़ा है। भोजन-पानी की कमी नहीं होगी। रम्य प्रकृति, थोड़ी आकांक्षाए, तृप्ति। और जो कुछ चाहिए, आज नहीं पर शीघ्र ही वह भी प्राप्त होगा क्योंकि ग्राम जीवन का भविष्य विशेष उज्ज्वल है। कृषि में उन्नति होगी, गोपालन की ओर प्रवृत्ति बढ़ेगी। आज यूरोप का हॉलैंड देश इसी की बदौलत भरा-पूरा है। बहुत से अन्य व्यवसाय चल पड़ेंगे। ग्रामजीवन में नवीन उत्साह और स्फूर्ति आवेगी। देश धन-धान्य से पूर्ण होगा और इन सबका श्रेय और इनकी विरासत मिलेगी आपको और आपकी संतान को।

एक झूठा कृत्रिम संकोच हमें शोभा नहीं देता विशेषकर ऐसे अवसर पर जब राष्ट्र के सामने और स्वयं आपके सामने जीवन-मरण का प्रश्न खड़ा हो रहा है। आज की भीषण

बेरोजगारी के साथ कितने दिन खिलवाड़ किया जा सकेगा? कांग्रेस ने 500 रुपए की हद रखकर वेतन संबंधी प्रश्न को थोड़ा-बहुत सुलझाया है। अभी उस दिन राष्ट्रपति सरदार वल्लभ भाई पटेल ने घोषणा की थी कि स्वराज्य मिलने पर वकीलों को मुफ्त में काम करना होगा। इसका मतलब यह नहीं था कि स्वराज्य में वकील भूखों मरेंगे—मतलब यह था कि रुपयों का पैमाना तोड़ दिया जाएगा। रुपया तो खाया नहीं जाता, खाया तो अन्न जाता है। सरदार पटेल की इस व्यंजना को यदि हम समझें तो हमारा संकोच आज मिट जाए। हमें समझना चाहिए कि हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जो शताब्दियों में कभी एक बार आता है। इस अनुभव से हमारा उत्साह बढ़ेगा। भारतीय राष्ट्र एक महान परिवर्तन की आशा ज्योति देख रहा है। हमारा धर्म और उत्तरदायित्व यह है कि हम उसी ज्योति को जगाने में सहायक हों। हम निधड़क देहातों में चलें और उनका स्नेह-संचित करें।

(सोमवार, 24 अगस्त 1931)

भयंकर उलटफेर

ब्रिटिश राजनीति में जबर्दस्त उलटफेर हो जाने के कारण आज ब्रिटेन भर में आतंक छा गया है। पार्लियामेंट का रूप बिलकुल वदल गया है। प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड ने मंत्रिमंडल से इस्तीफा देकर नई सरकार की स्थापना कर ली जिसमें तीनों दलों के सदस्य शामिल हुए हैं। पुराना मजदूर मंत्रिमंडल भंग हो गया और उसके बहुत से मंत्री अलग हो गए। इन अलग होने वालों में भारतीय सचिव मिस्टर बेजल्ड बेन और मिस्टर हेंडरसन विशेष उल्लेखनीय हैं। नए मंत्रिमंडल में मिस्टर बेजल्ड बेन का पद सर सेमुएल होर को मिला है। यह परिवर्तन भारत के लिए अच्छा नहीं हुआ। पर राष्ट्र सचिव मिस्टर हेंडरसन के अलग हो जाने से आगामी महत्वपूर्ण निरस्त्रीकरण परिषद (Disarmament Council) की सफलता पहले से कहीं अधिक संदेहपूर्ण हो गई है। इस प्रकार मजदूर सरकार के अचानक भंग हो जाने की आशंका बहुत कम लोगों को थी। मजदूर सरकार के स्थान पर जिस राष्ट्रीय (सर्वदल) सरकार की रचना हुई है वह केवल कामचलाऊ है। वह स्थायी नहीं रह सकती। मिस्टर मेकडानल्ड प्रधानमंत्री बने रहेंगे पर नए मंत्रिमंडल के अनुसार ही उन्हें अपनी नीति बनानी पड़ेगी। इस मंत्रिमंडल में अनुदार दल की बहुत बड़ी ताकत रहेगी। ऐसी अवस्था में मिस्टर मेकडानल्ड के प्रधानमंत्री बने रहने के समाचार से हम विशेष आशान्वित नहीं होते। यह सर्वदल-संगम का प्रबंध बहुत थोड़े दिनों तक टिक सकेगा। और विश्वास किया जाता है कि शीघ्र ही पार्लियामेंट भंग हो जाएगी और नए चुनाव होंगे।

महात्मा गांधी से इस संबंध में प्रश्न किया गया तो उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, सिर्फ इतना ही कहा कि यह राजनीति मेरी पहुंच के परे है। वास्तव में स्थिति इतनी पेचीली और जटिल हो गई है कि सहसा कुछ कहा नहीं जा सकता। यों तो मंत्रिमंडल के भंग होने के जो

समाचार आए हैं वे अत्यंत अल्प हैं पर हैं। वास्तविक स्थिति का अंदाज उतने से ही नहीं लग सकता। खबर तो इतनी ही है कि ब्रिटेन का राष्ट्रीय व्यय कम करने के लिए और आर्थिक दशा सुधारने के लिए अनुदार दल जोर-शोर से आग्रह कर रहा था और मजदूर सरकार को एक प्रकार की चुनौती दे रहा था कि वह फौरन कोई कार्यक्रम राष्ट्र के सामने रखे नहीं तो इस्तीफा दे। प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड और अर्थमंत्री मिस्टर स्नोडन ने मिलकर एक कार्यक्रम तैयार किया। कार्यक्रम यह था कि बेरोजगार व्यक्तियों, जिनकी संख्या लगभग तीस लाख है, की परवरिश में सरकार जितना व्यय करती है उसमें कमी की जाए और सिविल सर्विस आदमियों का वेतन घटाया जाए। परंतु मजदूर मंत्रिमंडल के अनेक सदस्यों को यह कार्यक्रम मंजूर नहीं था। इस कार्यक्रम को वे मजदूर हित के खिलाफ समझते थे और मजदूर सरकार के हाथों मजदूरों का हित नहीं करना चाहते थे। मजदूरों की एक शक्तिशाली संस्था ट्रेड-यूनियन कांग्रेस ने प्रधानमंत्री और मिस्टर स्नोडन के कार्यक्रम का विरोध किया और उन्हें यह सलाह दी कि वे टेरिफ कर बढ़ाकर राष्ट्रीय अर्थसमस्या का सुधार करें। पर मिस्टर स्नोडन इस प्रकार के अतिरिक्त कर के विरोधी हैं और उन्होंने तथा प्रधानमंत्री मिस्टर मेकडानल्ड में भी ट्रेड-यूनियन कांग्रेस का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। यहीं से मंत्रिमंडल में फूट शुरू हुई। अनेक प्रकार से कोशिश की गई कि किसी तरह का समझौता हो जाए और फूट दूर हो पर वैसा नहीं हो सका।

ऐसी अवस्था में मिस्टर मेकडानल्ड के सामने दो ही उपाय रह गए थे। एक तो यह कि वे मंत्रिमंडल के साथ स्वयं इस्तीफा दे देते, पार्लियामेंट भंग हो जाती और नए चुनाव होते। अथवा वे विरोधी दल के सामने झुककर समझौता करते जिसमें अपने दल के सिद्धांत को किसी न किसी अंश में छोड़ना पड़ता। यह दोनों ही उपाय मजदूर दल के लिए हानिकारक थे। पहला उपाय तो प्रत्यक्ष अनिष्टकर था क्योंकि यदि इस मौके पर मजदूर सरकार इस्तीफा दे देती तो अगले चुनाव में उसे सिर उठाने में भी संकोच होता। वोट देने वाले पूछते कि पिछली बार तुम जिस सवाल को हल नहीं कर सके और जिसके कारण इस्तीफा दे दिया वह सवाल ज्यों का त्यों मौजूद है। ऐसी अवस्था में तुम यह आशा कैसे करते हो कि हम तुम्हें वोट देकर फिर अधिकार पद देंगे, जबकि एक बार तुम अपने को उस पद पर अयोग्य साबित कर चुके हो। दूसरा उपाय था विरोधी दल से समझौता करने का। मिस्टर मेकडानल्ड ने यही किया। कहा जा सकता है कि नवीन सर्वदल के प्रधानमंत्री होकर मिस्टर मेकडानल्ड अनुदार दल के हाथ के पुतले ही रहेंगे। पर जैसी कि स्थिति थी उसे देखते हुए मिस्टर मेकडानल्ड ने अपनी पद की रक्षा और मजदूर दल की साख रखने की कोशिश बड़ी बुद्धिमानी से की है। इसका फलाफल आगामी चुनाव के समय मालूम होगा जो छह महीने के भीतर होने वाला है।

ब्रिटेन के इस क्रांतिकारी उलटफेर के मूल में केवल स्थानीय कारण नहीं हैं और न इसका प्रभाव केवल ब्रिटिश राजनीति पर पड़ेगा। ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति भयानक रीति में डावांडोल हो गई है जिसकी पूरी भयंकरता ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इसलिए प्रकट नहीं करते कि उससे विदेशी राष्ट्रों में ब्रिटेन की साख कम होगी और व्यापार में धक्का लगेगा। परंतु यह तो स्पष्ट है कि मजदूर दल उस भीषण अर्थसमस्या को सुलझाने में समर्थ नहीं हो

सकता। पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपनी सम्मति देते हुए कहा कि ब्रिटेन में पूंजीवाद इतनी शीघ्रता से टूट रहा है जितनी कि आशा संसार को नहीं थी। ब्रिटेन को बड़ी ही गंभीरतापूर्वक अपनी स्थिति पर विचार करना पड़ेगा। देखना है नवीन सर्वदल सरकार किस प्रकार अर्थ प्रश्न को हल करती है।

जहां तक भारत का संबंध है, कहा जाता है कि स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। समझा जाता है कि राउंड टेबुल कॉन्फ्रेंस का काम पहले की तय की हुई रीति से ही होता रहेगा। पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा है कि भारत के लिए तो ब्रिटेन में बराबर ही राष्ट्रीय (सर्वदल) सरकार रही है। भारत का प्रश्न किसी विशेष दल का प्रश्न नहीं बनाया जाता। पिछली बार गोलमेज में पार्लियामेंट के तीनों दलों के सदस्य थे। और इसी बात की बड़ी कोशिश की गई थी कि कहीं किसी प्रकार का रत्ती भर मतभेद भी न खड़ा हो पावे। कहा जाता है कि यह स्थिति आगे भी बनी रहेगी। पर हमारा ऐसा विचार नहीं है। हम समझते हैं कि ब्रिटेन के इस उलटफेर के कारण भारतीय गोलमेज सम्मेलन की सफलता और भी संदेहग्रस्त हो गई है। मजदूर दल के भंग हो जाने से अनुदार दल की शक्ति अभी ही बढ़ गई है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि आगामी चुनाव में उसकी ही जीत होगी। इसका मतलब यह हुआ कि मिस्टर बाल्डविन और मिस्टर चर्चिल की सरकार के सामने भारतीय स्वराज का सवाल पेश किया जाएगा। सर सेमुएल होर भारतीय मंत्री चुने गए हैं और आशा है कि वे आगे भी इस पद पर बने रहेंगे। यह पहली बात है। दूसरी बात यह है। कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपने घरेलू मामलों में इतने व्यस्त रहेंगे कि भारतीय प्रश्न की ओर वे विशेष ध्यान नहीं दे सकेंगे।

पर ब्रिटेन को यह समझना चाहिए कि इस समय उसके सामने केवल एक घरेलू प्रश्न नहीं है, एक बड़ी महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय समस्या है। सचमुच पूंजीवाद और उसी से संबंधित साम्राज्यवाद की परीक्षा का समय आया हुआ है। उसे इस स्थिति का बोध होना चाहिए। सहयोगी *लीडर* अपने संपादकीय लेख में लिखता है कि पिछले महायुद्ध के बाद ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी पर जबर्दस्त ऋण का बोझा लादकर संतोष की सांस ली थी जो पूंजीवाद के लिए अत्यंत अनिष्टकर हुआ। उसने उपाय बतलाते हुए पूंजीवादी देशों का अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर त्याग करने की सलाह दी है। उसने कहा कि ऐसा करने से ही पूंजीवाद की रक्षा संभव है। जो बात पूंजीवाद के विषय में कही गई है उससे मिलती-जुलती बात साम्राज्यवाद के विषय में भी कही जा सकती है। इन दोनों का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस क्षेत्र में ब्रिटेन को त्याग और सहयोग दोनों से काम लेने की आवश्यकता है। भारतीय प्रश्न, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा प्रश्न है। ब्रिटेन को इस ओर उचित ध्यान देना चाहिए। वर्तमान उलटफेर के कारण स्वभावतः ब्रिटिश राजनीतिज्ञ घरेलू प्रश्नों की ओर अधिक आकर्षित होंगे पर यदि वे दूरदर्शी हैं तो समझ सकते हैं कि उनका घरेलू प्रश्न वास्तव में उनकी अंतर्राष्ट्रीय नीति का ही फल है और उस नीति में भारत का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है।

(शुक्रवार, 28 अगस्त 1931)

प्रस्थान—2

कोई तीन सप्ताह हुए जब पूज्य मालवीयजी प्रयाग से विदा होकर बंबई गए थे और बंबई से महात्मा गांधी आदि के साथ विलायत जाने वाले थे। उनकी विलायत यात्रा के संबंध में हमने उसी समय 'प्रस्थान' शीर्षक लेख लिखा था और यह आशा नहीं की थी कि इतने शीघ्र दूसरी बार इसी शीर्षक का लेख लिखना पड़ेगा। उस समय पूज्य मालवीयजी ने बड़े ही विश्वासपूर्वक कहा था कि वे विलायत जा रहे हैं और महात्मा गांधी भी विलायत जा रहे हैं। हमको भी ऐसा ही विश्वास था। पर इस बीच में घटनाएं ऐसी अद्भुत रीति से घटीं कि हालत कुछ की कुछ हो गई और राजनीति का प्रवाह बिलकुल विपरीत दिशा में बहता दीख पड़ा। कांग्रेस वर्किंग कमेटी के महत्वपूर्ण निर्णय के बाद एक बार स्थिति इतनी विकट हो गई कि आकाश में सत्याग्रह के फिर से शुरू होने की आवाज गूंज उठी। उस समय मालवीयजी ने बंबई के *नकल* पत्र के प्रतिनिधि से अपनी अपूर्व आशावादिता कां परिचय दिया और वाइसराय को तार देकर आग्रह किया कि वे महात्मा गांधी की उचित मांग को स्वीकार कर ब्रिटिश जाति की उदारता और विवेक का परिचय दें। परंतु गांधीजी का अनुभव इतना कटु था कि वे निराश ही नहीं, प्रायः हताश-से हो गए थे। इस बीच में सरकार की ओर से अपने निर्णय पर स्थिर रहने की जो विज्ञप्तियां निकलीं, उन्हें देखकर पत्र-पत्रिकाओं ने यह घोषणा कर दी कि गांधीजी आदि का विलायत जाना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। हालत ही वैसी थी। पर अंत में असंभव भी संभव हो गया, मालवीयजी की आशा सच निकली, सरकार ने विवेक का परिचय दिया और गांधीजी अहमदाबाद से शिमला, शिमला से बंबई लौटे और इन पंक्तियों के प्रकाशित होते-होते बंबई से विलायत के लिए चल चुकेंगे। यह सब इतनी आश्चर्यजनक रीति से हुआ है कि जान पड़ता है कि किसी उद्योगपूर्ण नाटक का अभिनय हुआ हो। हमने पिछली बार के एक अग्रलेख में यह लिखा था कि जो देहली समझौता टूट-टूटकर अब तक अंतिम बार नहीं टूटा और तोड़-तोड़कर भी रमणीय समझा जा रहा है वह एक असाधारण वस्तु है और यदि अंतिम बार उसे टूटने से बचाया जा सके तो वह इतिहास की एक स्मरणीय स्मृति बन जाए। प्रसन्नता की बात है कि सरकार और कांग्रेस दोनों ने उसका मूल्य समझ लिया है और दोनों ने मिलकर उसकी रक्षा कर ली है। अब ब्रिटेन और भारत के पारस्परिक संबंध में देहली समझौता एक प्रकार का ग्रंथिबंधन हो गया है और इस ग्रंथिबंधन का अर्थ जैसा भारत में समझा गया है यदि वैसा ही विलायत में और खासकर गोलमेज सम्मेलन में समझा जाए तो दोनों राष्ट्रों का संबंध दृढ़ और अटूट बन जाए। पर यदि यह संबंध किसी कारण से कभी टूट भी जाए तो भी इतिहास में देहली का समझौता उल्लेखनीय होकर रहेगा और वह एक प्रकार की कसौटी बनेगा जिससे ब्रिटेन और भारत के आपसी व्यवहारों के खरे अथवा खोटे होने का पता लगाया जा सकेगा। कहना न होगा कि महात्मा गांधी, पूज्य मालवीयजी आदि के विलायत प्रस्थान के योग्य परिस्थिति बनने का अर्थ उपर्युक्त व्यवहार का खरा होना है। यदि वही परिस्थिति उस समय बन सकती जिस समय बंबई में कांग्रेस कार्यकारिणी की

पिछली बैठक हो रही थी तो गांधी जी, मालवीय जी, श्रीमती नायडू आदि राष्ट्रीय नेता अब तक विलायत के निकट पहुंच गए होते। पर यदि सुबह का भूला शाम तक भी घर आ जाए तो कोई हर्ज नहीं होता, बल्कि अधिक प्रसन्नता ही होती है। आवश्यकता इस बात की है कि एक बार भटककर रास्ता पहचान लिया जाए जिससे दूसरी बार भटकने की नौबत न आए।

पहले 'प्रस्थान' और इस दूसरे 'प्रस्थान' के बीच में विलायत में महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हो गया है। मजदूर दल जो अब तक ब्रिटेन का शासन कर रहा था, भंग हो गया है और उसकी जगह पर एक ऐसी सरकार बनाई गई है जिसमें अनुदार दल की ही ताकत सबसे अधिक रहेगी। इसका प्रभाव भारतीय गोलमेज सम्मेलन पर नहीं पड़ेगा, ऐसा हमारा विश्वास नहीं है। पूज्य मालवीयजी ने कल प्रस्थान करते समय जो विज्ञप्ति प्रेस प्रतिनिधि को दी थी उसमें उन्होंने नई सरकार के प्रति निराशा की अपेक्षा विश्वास ही अधिक प्रकट किया है। हम चाहते हैं कि उनका विश्वास सफल हो। ब्रिटेन की नवीन सरकार ने 'राष्ट्रीय सरकार' नाम रखा है क्योंकि वह सभी दलों की सरकार है। यदि वह अपना नाम सार्थक कर सके तो मालवीयजी का विश्वास अवश्य सफल हो और राष्ट्रीय दृष्टि से ब्रिटेन का अपार हित हो। यदि विलायत की वर्तमान 'राष्ट्रीय सरकार' सचमुच राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था है और ब्रिटेन के सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान और विवेकवान व्यक्ति उसमें सम्मिलित हैं तो उससे बढ़कर अच्छी बात क्या हो सकती है। पर नवीन 'राष्ट्रीय सरकार' अपने नाम के अनुकूल काम भी करेगी इसकी हमें बहुत थोड़ी आशा है। भारतीय समस्या पर इस नवीन सरकार का क्या रुख होगा इसका अनुमान यदि सर सेमुएल होर जैसे व्यक्ति के भारत सचिव के पद पर प्रतिष्ठित होने से लगाया जा सकता है तो वह अनुमान निराशाजनक है। फिर भी जिस प्रकार अभी-अभी असंभव संभव हो गया है और जिनके जाने की कोई आशा नहीं थी वे राष्ट्रीय नेता विलायत के लिए चल पड़े हैं, यदि उसी प्रकार अद्भुत सहयोग से ब्रिटेन की नई सरकार भी असंभव संभव कर सके तो यह हमारे लिए उतने आश्चर्य की बात नहीं होगी जितना वह ब्रिटेन के लिए गौरव और कल्याण की बात होगी।

हम एक बार पहले भी कह चुके हैं और फिर दोहरा देना चाहते हैं कि गोलमेज के संबंध में ब्रिटेन अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह समझ ले। सम्मेलन के असफल होने पर उसका कितना विकट परिणाम हो सकता है यह उसे जान लेना चाहिए। भारत के पिछले आंदोलन का ताजा अनुभव उसे है और लार्ड इर्विन जैसे दूरदर्शी व्यक्ति उसे सलाह देने के लिए वहीं मौजूद हैं। भारत का असंतोष बढ़ाना और सत्याग्रह आंदोलन का शक्ति को बढ़ाना दोनों एक ही बात हैं। कड़ाई और दमनचक्र की चर्चिल-नीति का अवलंबन करने से भारत की स्थिति और भी भयानक हो जाएगी और ब्रिटेन अपनी उस नीति का नैतिक समर्थन कहीं से प्राप्त नहीं कर सकेगा। विलायत को यह न समझना चाहिए कि वह गोलमेज के भारतीय प्रतिनिधियों में मतभेद पैदा कर दुनिया को यह दिखला सकेगा कि भारत की कोई एक मांग नहीं है, उसके प्रतिनिधि आपस में ही लड़ते-झगड़ते हैं। उसे यह जान लेना चाहिए कि दुनिया को यह मालूम है कि गोलमेज सम्मेलन के सदस्य भारतीय राष्ट्र के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं हैं बल्कि ब्रिटेन के ही द्वारा भर्ती किए हुए

आदमी हैं जिनमें से अनेक के संबंध में भारत को घोर असंतोष है। जातीय और मजहबी प्रतिनिधियों को चुनने में तो इतना प्रत्यक्ष अन्याय किया गया है कि आज भारत की प्रायः सब पत्र-पत्रिकाएं उस पर ऐतराज कर रही हैं। संघवाद का प्रश्न खड़ाकर देशी नरेशों को ब्रिटिश भारत की स्वराज्य प्राप्ति के लिए अनिवार्य अंग बनाया गया है और यह बहुतों की दृष्टि में एक बड़ी बाधा है। भारत की प्रमुख व्यवसायी संस्था गोलमेज सम्मलेन में अपना एक भी प्रतिनिधि नहीं भेज रही क्योंकि सरकार ने उसका एक ही प्रतिनिधि चुना था जो वास्तव में अनुचित और अन्याय था। इन सब बातों को देखते हुए जो निष्पक्ष विचारक हैं जो चाहे इस देश के हों अथवा विदेश के, यह अस्वीकार नहीं करेंगे कि गोलमेज सम्मेलन के असफल होने की जिम्मेदारी भारत से कहीं अधिक ब्रिटेन की है। यह बात किसी से छिपी नहीं है। और यह एक ऐसी बात है जो भारत के प्रति विदेशों की सहानुभूति और ब्रिटेन के प्रति उनके विरोध को बढ़ाने वाली है। विलायत के किसी भी विचारवान व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं है और ब्रिटेन की नवीन 'राष्ट्र सरकार' को इसका फलाफल समझकर काम करना चाहिए।

कैसे कहें कि राष्ट्र नेताओं के प्रस्थान को हम बड़ी आशा और उत्साह की दृष्टि से देखते हैं, पर निश्चय ही इसका यह अर्थ नहीं है कि हम बंबई के उग्र और उतावले नौजवान दल के काले झंडे दिखाने और गांधीजी के विरुद्ध प्रदर्शन करने वालों का समर्थन करते हैं। एक सिद्धांत के रूप में हम गांधीजी का विलायत जाना अत्यंत आवश्यक समझते हैं। हमारा यह विश्वास है कि जो काम समझौते से हो सकता है कि उसके लिए लड़ाई-झगड़े से काम लेना अच्छा नहीं। हम यह मानते हैं कि गांधी जी, मालवीयजी तथा श्रीमती नायडू के गोलमेज में शरीक़ होने से भारत के राष्ट्रीय दल की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाएगी। महात्माजी के संबंध में जो गलत धारणाएं विलायत में थोड़ी-बहुत प्रचलित हैं वे मिट जाएंगी। एक-दूसरे को समझाने का मौका मिलेगा, एक-दूसरे के साथ मिलकर कठिनाइयों को हल करने का अवसर प्राप्त होगा। यदि ब्रिटेन का विवेक लुप्त नहीं हो गया है तो कोई कारण नहीं कि समझौता एकदम असंभव ही हो। विदेशों की दृष्टि गोलमेज सम्मेलन की ओर आकृष्ट होगी और महात्माजी का व्यक्तित्व उन पर अपना प्रभाव छोड़गा ही। यह तो बहुत से काम हुए, इनमें से कोई एक भी सिद्ध हो तो समझना चाहिए कि नेताओं का प्रस्थान सार्थक हुआ। हमारी कामना तो यह है कि उनका प्रस्थान केवल सार्थक ही न हो, वह सफल भी हो और ईश्वर की कृपा से पूरा-पूरा सफल हो।

काश्मीर के मुसलमान

अभी हाल में काश्मीर के मुसलमानों का डेपूटेशन महाराज-काश्मीर के पास गया। डेपूटेशन ने महाराज से इस बात की शिकायत की कि हिंदू लोग उनके साथ अच्छी तरह पेश नहीं आते, उनके जायज कामों में हस्तक्षेप किया जाता है। डेपूटेशन ने काश्मीर की पुलिस की भी शिकायत

करते हुए कहा कि उनके साथ पुलिसवालों का सुलूक भी अच्छा नहीं है, वे मुसलमानों के साथ बुरी तरह से पेश आते हैं, उनके काम में अड़ंगा डालते हैं। यद्यपि हम लोग की संख्या काश्मीर में अधिक है तो भी हमारी मांगों और सत्वों की रक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। महाराज-काश्मीर ने डेपूटेशन की मांगों अच्छी तरह विचार किया और मुसलमान की मांगों की तथा उनके सत्वों की रक्षा करने के लिए संतोषजनक उत्तर दिया। इसके साथ ही दूरदर्शी महाराज ने काश्मीर-निवासी मुसलमानों से खासतौर से एक बात और कही। आपने कहा कि काश्मीर निवासी मुसलमानों को चाहिए कि वे काश्मीर से बाहर रहने वाले मुसलमानों के द्वेषभाव तथा आपस में फूट फैलाने वाले लोगों की बातों पर जरा भी ध्यान न दें। क्योंकि कुछ बाहरी मुसलमानों ने अशांति का वातावरण फैलाकर राज्य की हानि करनी चाही, इसलिए काश्मीर निवासी मुसलमानों को बाहरी विद्वेष से बचना चाहिए। काश्मीर निवासी चाहे वह मुसलमान हो या हिंदू उसके साथ राज्य का व्यवहार एकसमान होगा और उनकी भलाई तथा उनकी मांगों को पूर्ण कराने में राज्य विशेष सुविधा देगा। वास्तव में यह बात ठीक भी है। काश्मीर राज्य स्वतंत्र राज्य है। उसे अपने निवासियों के लाभ का स्वयं विशेष ध्यान होना ही चाहिए।

काश्मीर में अशांति का जो वातावरण आज दिखाई देता है उसकी जिम्मेदारी कुछ थोड़े से उन मुसलमानों पर है जिनका काश्मीर राज्य से कोई ताल्लुक नहीं है। लाहौर की ताजा खबर है कि वहां के अहरारी मुस्लिम दल ने यह तय किया कि स्वयंसेवकों के जत्थे काश्मीर की राजाज्ञा का उल्लंघन करने जम्मू जाएंगे। इससे बढ़कर दुराग्रह क्या होगा क्योंकि जम्मू के मुसलमानों ने 20 हजार की तादाद में इकट्ठा हो काश्मीर-नरेश का फर्मान स्वीकार कर लिया है। लाहौर अहरारी दल की बेजा हरकत के रोकने का कर्तव्य पंजाब सरकार का है। उसे ब्रिटिश भारत की प्रजा को देशी राज्यों में इस प्रकार उद्यम मचाने से रोकना चाहिए।

काश्मीर-नरेश के लिए भी यह उचित होगा कि वे बाहर से आकर राज्य के भीतर अशांति उत्पन्न करने वालों का कड़ा नियंत्रण करें।

भूल सुधार

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि सर प्रभाशंकर पट्टनी, सर गवासजी जहांगीर और डॉक्टर अंसारी के प्रयत्न से वाइसराय और महात्मा गांधी में समझौता हो गया और महात्माजी लंदन को रवाना हो गए। वास्तव में डॉक्टर अंसारी ऐसे देशभक्त मुसलमान ने इस समय बहुत बड़ा प्रयत्न किया। परंतु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि कुछ सांप्रदायिक और दकियानूसी विचार वालों, धांधली मचाने वालों तथा सरकार का उनके प्रभाव में आ जाने के कारण डॉक्टर अंसारी गोलमेज सम्मेलन के प्रतिनिधि नहीं चुने गए। जहां मौलाना शौकत अली, डॉ. इकबाल, शफी दाऊदी ऐसे संप्रदायवादी मुसलमान गोलमेज सम्मेलन के प्रतिनिधि चुने जाते हैं वहां डॉक्टरी अंसारी ऐसे राष्ट्रीय विचार वाले मुसलमान का प्रतिनिधि न चुना जाना कितने दुःख

की बात है। क्या इस बात से यह पता नहीं चलता गवर्नमेंट उन संप्रदायवादी मुसलमानों के प्रभाव में आ गई जो राष्ट्रीयता के विरोध और हिंदू-मुस्लिम एकता से कोसों दूर रहने वाले हैं। क्या डॉक्टर अंसारी का प्रभाव भारत में उन इने-गिने सांप्रदायिक मुसलमानों के प्रभाव से कम है? कदापि नहीं। इससे साफ जाहिर होता है कि डॉक्टर अंसारी का गोलमेज का प्रतिनिधि न चुना जाना अन्यायपूर्ण है। इसी प्रकार सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास के लिए भी कहा जा सकता है। उन्हें जिस सिद्धांत पर गोलमेज सम्मेलन में जाने का निश्चय किया है, वह ठीक है। उन्होंने जो विरोध किया है वह विचारणीय है। अब भी समय है कि गवर्नमेंट इस संबंध में विचार करे और डॉ. अंसारी ऐसे राष्ट्रीय विचार वाले मुसलमान को अवश्य गोलमेज का प्रतिनिधि चुने। इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स के संबंध में भी शीघ्र ही निर्णय होना चाहिए। ऐसा करने से गवर्नमेंट और भारत दोनों का लाभ होगा।

स्वर्गीय संगीतज्ञ

अभी हाल ही में सुप्रसिद्ध संगीत विद्या विशारद पंडित विष्णु दिगंबर गायनाचार्य का स्वर्गवास हो गया। आपने संगीत विद्या का प्रचार एक नए ढंग से किया। खासकर पढ़े-लिखों में। आपने पूना में 'गंधर्व महाविद्यालय' की स्थापना की जो संगीत का एक प्रसिद्ध स्थान माना जाता है। यहां अनेक संगीत विद्या के प्रेमी संगीत सीखते हैं। आपके अनेक योग्य शिष्यों में भारत में आपके द्वारा चलाई हुई संगीत कला का खूब प्रचार किया है और कर रहे हैं। अनेक स्कूलों, कॉलेजों और पाठशालाओं में आपकी नीति द्वारा निर्धारित संगीत-विद्या सिखाई जाती है। आज से कुछ दिन पहले सभ्य समाज में गाना-बजाना छैल-छिकनियों का काम समझा जाता था। पर स्वर्गीय विष्णु दिगंबर ने अपने व्यक्तित्व की ताकत से संगीत का धरातल बहुत ऊंचा कर दिया है। राजनीतिक कॉन्फ्रेंसों, सभाओं तथा उत्सवों पर भी मनोरम गीत गाए जाते हैं। 'रघुपति राघव राजाराम' की मधुर ध्वनि आज भी हजारों पढ़े-लिखे लोगों की जबान पर है।

स्वर्गीय विष्णु दिगंबरजी संगीत कला के मर्मज्ञ और विद्वान थे। आपके निधन से भारत के संगीत समाज का एक रत्न उठ गया। इसके लिए हमें हार्दिक दुःख है। हम अपनी संवेदना प्रकट करते हैं और स्वर्गीय व्यक्ति की मुक्ति-कामना करते हैं।

(सोमवार, 31 अगस्त 1931)

एक सवाल

हम लिख चुके हैं कि ब्रिटिश पार्लियामेंट के पिछले उलटफेर के कारण भारत का भाग्य अनुदार

दल के हाथों में चला गया है और यह किसी से छिपा नहीं है कि इस दल का भारत के प्रति कितना विरोधीभाव है। पिछली मजदूर सरकार के जमाने में इसी दल ने उत्तेजना दे-देकर और धमकी दे-देकर प्रत्यक्ष और परोक्ष नीति से गोलमेज के कार्यक्रम में अड़ंगे खड़े किए थे और इसी की प्रेरणा अथवा भय से पिछले सत्याग्रह आंदोलन को दबाने के लिए असाधारण अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया गया था। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि अनुदार दल का एक शक्तिशाली समूह समझौता नीति को ही पसंद नहीं करता और कड़े शासन पर विश्वास रखता है। मि. चर्चिल आदि की बातें अभी कल की हैं। सर सेमुएल होर जो पिछले गोलमेज सम्मेलन में अनुदार दल के प्रतिनिधि की हैसियत से अपनी संकीर्ण नीति का परिचय दे चुके थे, इस बार भारत सचिव पद पर प्रतिष्ठित किए गए हैं और पहले ही दिन इस पद-प्राप्ति के उपलक्ष्य में भाषण करते हुए आपने विश्वास दिलाया है कि वही पहली ही रफ्तार आगे भी रहेगी। इससे हमारी निराशा और भी दृढ़ होती है। यों तो मजदूर दल भी भारतीय समस्या को सुलझाने में बिलकुल निष्कपट भाव नहीं दिखला सका। प्रतिनिधियों के चुनने की नीति तथा संरक्षणों के संबंध की विज्ञप्तियों आदि से इस धारणा की पुष्टि भी होती है, पर निश्चय ही मजदूर दल उतना कट्टर साम्राज्यवादी नहीं था, जितना अनुदार दल है। भारतीय मांग को यदि थोड़ी-बहुत उदारता से सुनने और सामने आई हुई विकट स्थिति को दूरदर्शिता से देखने की शक्ति ब्रिटेन के किसी दल में थी तो मजदूर दल में। आज मजदूर दल के भंग हो जाने के बाद भी मजदूर परिषद ने भारत की पूर्ण स्वाधीनता का समर्थन किया है और उसका पद ग्रहण करने का वचन दिया। जब तक असंभव भी किसी दैवयोग से संभव न हो जाए तब तक अनुदार दल से उदारता की आशा किसी को नहीं है। फिर भी एक निश्चित कार्यक्रम और सिद्धांत के अनुसार भारत के प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन में शरीक होंगे और उम्मीद न रखते हुए भी आशा का त्याग नहीं करेंगे। यही उनका कर्तव्य भी है।

इसी कर्तव्य के पालन करने के लिए भारतीय प्रतिनिधि विलायत गए हैं और महात्मा गांधी के शब्दों में आशा के विरुद्ध भी आशा कर रहे हैं। विलायत के लिए प्रस्थान करने के अवसर पर महात्माजी ने जो मार्मिक संदेश दिया है उसे हमें ही नहीं, ब्रिटिश सरकार को मान करना चाहिए। कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से वे यह ध्येय सामने रखेंगे कि देश के प्रत्येक फिरके और दल के अधिकारी की रक्षा हो ताकि किसी के साथ अन्याय न हो सके। दरिद्र जनता के हित उनका सर्व प्रमुख लक्ष्य रहेगा। गांधीजी का यह संदेश एक ओर कराची कांग्रेस के मूल अधिकारों की ओर संकेत करता है और दूसरी ओर देहली के गांधी-इर्विन समझौते की इस शर्त को स्पष्ट करता है जिसमें कहा गया कि परिवर्तन काल में जो संरक्षण रखे जाएं वे भारत के हित की दृष्टि से रखे जाएं। महात्मा गांधी की इस अत्यंत महत्वपूर्ण विज्ञप्ति का स्पष्ट अर्थ सरकार को समझना चाहिए। यह एक प्रकार की आगाही है कि सरकार देहली समझौता शर्तों को दोबारा पढ़े और देखे कि उसमें संरक्षणों के संबंध में क्या कहा गया है। भारत सरकार ने महात्मा गांधी को जहाज पर बैठाकर वाइसराय महोदय ने गांधीजी की शुभ यात्रा की कामना प्रकट कर देहली समझौते का अपना उत्तरदायित्व एक प्रकार से पूरा कर

दिया है। अब ब्रिटिश सरकार को जिम्मेदारी पूरी करनी है। पर क्या वह ऐसा करेंगे?

यदि दैव संयोग से जो प्रायः असंभव है वह भी संभव हो जाए और ब्रिटिश सरकार भारत की मांगों को मंजूर कर ले तो इससे बढ़कर ब्रिटेन और भारत के हित की बात दूसरी क्या हो सकती है? पर यदि ऐसा नहीं हुआ तो? यह एक बड़ा ही भयानक सवाल है। तथापि इसकी ओर से आंख मींच लेने से काम नहीं चलेगा। बहुत संभव है इस प्रश्न का सामना निकट भविष्य में ही करना पड़े। ब्रिटेन को इस फलाफल का अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए। गोलमेज से निराश और असंतुष्ट होकर लौटे हुए भारत की कल्पना बड़ी ही भीषण है। पिछले सत्याग्रह आंदोलन के समय भारतीय राजनीतिज्ञों का एक दल लड़ाई से अलग था पर सरकार के दमनचक्र के प्रतिकूल उनकी सम्मति का शायद ही कुछ असर हुआ हो। इससे निराश होकर अनेक ऐसे व्यक्ति केवल पीड़ितों के कष्ट से द्रवित होकर आंदोलन में शरीक हो गए जिससे उसकी शक्ति विशेष रूप से बढ़ी। पर इस बार की समस्या और भी कठिन हो सकती है। गोलमेज सम्मेलन के असफल होने से एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न यह खड़ा होगा कि समझौता-प्रणाली की उपयोगिता ही क्या रह गई है? संभव है, जिसे आज वैध उपाय कहा जाता है उसके लिए जगह ही न रह जाए। सरकार ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकती है। उसी अवस्था में यदि परिस्थितियों के कारण कुछ व्यक्ति सत्याग्रह में व्यक्तिगत रूप से भाग न भी लें तथापि उसके प्रति उनकी सहानुभूति तो नित्यप्रति बढ़ती ही जाएगी। इस प्रकार एक शक्तिशाली राष्ट्रीय दल नवीन उत्साह आंदोलन शुरू कर सकता है और उस अवस्था में सभी निष्पक्ष विदेशी राष्ट्रों का नैतिक समर्थन उसे प्राप्त होगा। दूसरी ओर अनुदार दल की सरकार अपने सलाहकारों की सत्य सम्मति से वंचित रहकर राष्ट्रीय जाग्रति को दबाने की कोशिश कर सकती है और प्रत्येक प्रकार के उपाय काम ले सकती है। देशव्यापी दमनचक्र बड़े से बड़े पैमाने पर चलाया जा सकता है और सांप्रदायिक वैमनस्य के उभारने की चेष्टा की जा सकती है। इस प्रकार जो तुमुल द्वंद्व शुरू होगा इसका आदि-अंत कौन बतला सकता है? इतिहास में इससे मिलते-जुलते जो नमूने हैं, उनके स्मरण कर हम कांप उठते हैं। अभी तो हम यही कहेंगे और जब तक आशा की एक किरण भी दिखाई पड़ेगी तब तक हम यही कहेंगे कि सरकार इतिहास के उदाहरण से लाभ उठावे और ऐसी स्थिति न उत्पन्न करे जो भारत के लिए कष्टप्रद हो। पर ब्रिटेन के लिए भी ऐसी स्थिति खतरे से खाली नहीं है। अभी तो हम 'शुभम् भूयात' ही कहेंगे, यद्यपि घटनाचक्र के भीतर से हमारा यह सवाल भी झांक रहा है कि यदि समझौते का काम सफल न हुआ तो नतीजा क्या होगा?

भारतमंत्री का वक्तव्य

इंग्लैंड में अभी हाल में जो राष्ट्रीय गवर्नमेंट कायम हुई है उसमें भारतमंत्री सुप्रसिद्ध प्रत्यक्षवादी मिस्टर सेमुएल होर बनाए गए हैं। पिछले सप्ताह में एक पत्र प्रतिनिधि को भारत की वर्तमान

राजनीति के संबंध में वक्तव्य देते हुए श्री सेमुएल होर ने कहा है कि मैं प्रत्यक्षवादी हूं और भरसक इस बात की चेष्टा करूंगा कि भारत का मेरे द्वारा हित हो। इसमें संदेह नहीं कि मिस्टर सेमुएल होर एक राजनीतिज्ञ हैं परंतु साथ ही साथ वह पूंजीवाद के कट्टर समर्थक हैं। पिछले दिनों जब इंग्लैंड में मजदूर सरकार की हुकूमत थी तब कई अवसरों पर आपने ऐसे-ऐसे भाषण दिए थे तथा भारतीय समस्या पर जो विचार व्यक्त किए थे उनसे आपके हृदय की सच्चाई और भारत की हितैषिता के नाते का पूरा पता चल जाता था। हो सकता है कि सर सेमुएल ने भारत का हित करने की जो इच्छा प्रकट की है उसमें कोई भीतरी बात हो परंतु यह निश्चित है कि मिस्टर सेमुएल होर साम्राज्यवादियों के उन समर्थकों में से हैं जिनका उद्देश्य पूंजीवाद का साम्राज्य बढ़ाना और एक तंग सीमा के भीतर ही परतंत्र देशों को स्वतंत्रता दिलाना है। मिस्टर सेमुएल होर पिछले राउंड टेबुल कॉन्फ्रेंस के विचाराधीन संरक्षणों के कट्टर समर्थक हैं। वे इस राष्ट्रीय सरकार के मंत्रिमंडल में आ जाने के कारण और भी लगन के साथ इस नीति पर कार्य करेंगे।

वे राजभक्त हैं, साम्राज्यवादी हैं, प्रत्यक्षवादी हैं, साथ ही साथ प्रभुत्व के पुजारी हैं। ऐसी दशा में वे भरसक भारत का हित करने में कमी न करेंगे, इस पर विश्वास कर लेने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

भगवान कृष्ण और महात्मा गांधी–1

एक भयानक रूखे व्यावहारिक और उपयोगितावादी युग में रहते हुए एक विलक्षण तरह की मनोवृत्ति हमारे चारों ओर पैदा हो गई है जिसके सिर-पूंछ का पता नहीं है। कहते हैं हम बुद्धिवादी हैं पर हमारी तमाम बुद्धि खर्च होकर खाली हो जाएगी फिर भी इस मनोवृत्ति का पता नहीं लगा सकेगी जो राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियां इस मनोवृत्ति के लिए जिम्मेदार हैं। उनका विश्लेषण करना सरल काम नहीं है और यदि सरल भी हो तो खतरे से खाली नहीं है। आज इतनी किसकी हिम्मत है जो कह सके कि स्वराज प्राप्ति की अतिशय उतावली में हमने अपने युग को अत्यंत अप्राकृतिक, एकपक्षीय अथवा परस्पर विरोधी तत्व से भर दिया। कोई बड़े भारी स्वतंत्र बुद्धि के व्यक्तिवादी हों पर जरा समूह के प्रवाह से अलग खड़े होकर देखें तो कैसे खड़े रह सकते हैं। पलक भांजते तो गिरा न दिया जाएं और बड़े वीर हों तो आज के किसी राजनीतिक नेता के चरित्रभ्रष्ट धूर्त नेता के प्रतिकूल एक जरा सा संकेत करें तो मजाल नहीं कि एक शब्द भी कह सकें। आत्मा को दबाकर कुचल डालो, तब स्वराज मिलेगा, एक बात। दूसरी बात यह कि हमारी आंखों की ज्योति मंद पड़ गई है। जरा से फासले के चीज नहीं दीख पड़ती। 'आंख ओट पहाड़ ओट' का व्यंग्य आज एक सीधी सच्ची बात हो रही है। शब्दाडंबर का सहारा लेके इसे हम 'यथार्थवाद' के नाम से पुकारते और गौरव का अनुभव करते हैं। पर यह नहीं समझते कि यह यथार्थ-वथार्थ कुछ नहीं है, एक निश्चेतन स्थिति

है जिसका दूसरा नाम मृत्यु है। अंग्रेजी की कहावत के मुताबिक हम कल की बात को आज भूल जाने के नमूने बने हुए हैं और इस सन्निपात को गंभीरता से आड़ में छिपा रखना चाहते हैं। हद है! राष्ट्रीय स्थिति का यह प्रभाव हमने केवल दो बातें लिखकर दिखाया है। अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के संबंध में केवल एक बात कहेंगे। हमारे सदाचार का बांध तोड़ दिया है और आज हम सबकुछ कर लेने के बाद सिर ऊंचा करके कह सकते हैं कि हम श्रेष्ठ सदाचारी हैं। हम परले सिरे के दुश्चरित्र होते हुए भी तर्क पर तर्क पेश कर सकते हैं और कोई कारण नहीं कि हमारे तर्क का असर नहीं। अब तो मीमांसा यह होने लगी है कि 'सु' और 'कु' नाम की कोई अलग-अलग वस्तुएं नहीं हैं। इसलिए जो आपके लिए 'कु' है वह हमारे लिए 'सु' है। क्या जवाब है। आज यदि बर्नार्ड शा महाशय संसार के नौ सर्वश्रेष्ठ पुरुषों को गिनाते हुए यूरोप के ही आठ आदमियों का नाम लेते हैं तो प्रगल्भतावश एक स्थान अपने लिए रिजर्व कर छोड़ते हैं तो उन्हें कोई असदाचारी नहीं कहता। यद्यपि असदाचार का इससे अधिक ज्वलंत उदाहरण कोई दूसरा हम नहीं दे सकते। तब अंत में यही कहना पड़ता है कि वे स्वतंत्र देश के स्वतंत्र व्यक्ति हैं जो चाहे कहें जो चाहे करें। पर इस तरह मनुष्य जाति के इतिहास की अवहेलना कर मौलिक मानवीय संदेशों का तिरस्कार कर और परंपरा प्राप्त चिरंतन आदर्शों के अपरिमित प्रभाव से नसमझी जाहिर कर मिस्टर बर्नार्ड शा अहंकार और प्रांतीयता के वश में जो फतवा निकालते हैं यदि हम भी उसी का अनुकरण करने लगें तो कोई रोक नहीं सकता पर टोक जरूर सकता है। हमें यह मानना पड़ता है कि इस तरह का अनुकरण हमारे यहां शुरू कर दिया गया है। पिछले जमाने के मिडिल पास आर्यजन जो नए मुल्ला की तरह यह धारणा रखते थे और आवश्यकता से अधिक यह घोषणा भी करते थे कि महत्व में पहला नंबर तो 'ओम' का है पर इसके बाद ही दूसरा नंबर ऋषि दयानंद का है अब उन मिडिलचियों का स्थान हमारे बुद्धिवादी अंग्रेजीदां लोग ग्रहण करते जाते हैं और आज मध्य श्रेणी के शिक्षित समाज में यह कहा-सुना जाने लगा है कि महात्मा गांधी तो भगवान कृष्ण से भी श्रेष्ठ हैं। बाजार में कुछ ऐसी किताब और भ्रष्ट कविताएं पहुंच रही हैं जो केवल बिकने की गरज से अथवा अधिक से अधिक प्रोपेगेंडा की दृष्टि से इस प्रकार की तुलना करती हैं पर जब ये बाजारू बातें सभ्य समाज में प्रवेश पाती हैं और काफी विश्वास के साथ पेश की जाती हैं तब जरा ठहरकर विचार करने का मौका आता है। अभी उस दिन हमारे एक स्थानीय मित्र जो अपने आदर्श, प्रयाग विश्वविद्यालय की चोटी की डिग्री हासिल करने के बाद यहीं की एक पत्रिका का संपादन का काम करते हैं, बड़े ही भोले-भाले तरीके से कह रहे थे, महात्मा गांधी तो कृष्ण से कहीं बड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि गहनतम विचार के उपरांत इस निर्भ्रांत तथ्य पर पहुंच पाए हैं और अब यहां से कभी डिगेंगे नहीं। हमें हंसी आई पर वास्तव में यही बात हमने कई बार पहले भी सुनी है। इस प्रांत के प्रमुख साप्ताहिक पत्र के वर्तमान संपादक भी जो एक अच्छे कवि हैं, ऐसी ही धारणा रखते हैं। यह बात हमने एक प्रतिष्ठित मित्र से सुनी थी जो उक्त संपादक महोदय के साथ ही, लगभग दो वर्ष हुए लखनऊ की कालाकांकर कोठी में महात्माजी से मिले थे और वहीं प्रसंगवश यह चर्चा भी चली थी। इन उद्धरणों का प्रयोजन यह मालूम

करा देने का है कि जो व्यक्ति इस प्रकार की सम्मति देते हैं वे ऐसे हैं जिन्हें शासन सत्ता ने अथवा समाज ने काफी बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा है और जिनमें से कुछ तो उस उत्तरदायित्व का निर्वाह भी अच्छा कर रहे हैं।

आखिर तुलना का धरातल क्या है? गांधी वर्तमान युग के महापुरुष हैं और कृष्ण परम पुरुष हो गए हैं। इन नामों को मानिए या न मानिए इनसे घबड़ाइए मत। अंग्रेजी में जिसे कहेंगे (Man idealised) आदर्श पुरुष वे थे श्री कृष्ण। आज कृष्ण के साथ एक भी जड़ बिंदु नहीं है, शुद्ध चैतन्य का ही स्वरूप प्रतिभासित होता है। प्रश्न हो सकता है, शुद्ध चैतन्य कैसे? उत्तर में कहा जाएगा, जैसे भी समझिए, साहित्य ने, कला ने, युग युगों की परंपरा ने उन्हें यह स्वरूप प्रदान किया है और आज उनका वही स्वरूप सत्य है। आज कृष्ण का लौकिक जीवन लीला कहलाता है। लीला कभी सत्य नहीं होती। इस प्रकार कृष्ण की संपूर्ण जीवन घटनाएं केवल एक संकेत, एक रूपक मात्र रह जाती हैं, सब की परिणति एक पूर्णता, एक आदर्श में होती है जिसे समझाने की चेष्टा हमारे अपरिमित साहित्य, हमारे अपार शिल्प में सर्वत्र की गई है और जिसे हम न समझ पाए तो गजब ही है। भारतीय कला लीलामूर्ति कृष्ण का अनिंद्य सौंदर्य अंकित कर कृत हुई है, भारतीय साहित्य श्री कृष्ण चरित से ही अनुप्राणित और सजीव हुआ है। इस देश का अनंत संगीत कृष्ण की वंशी की ही प्रतिध्वनि है और *गीता* के अनुष्ठुपों में तो पांचजन्य का शंखनाद स्पष्ट सुन पड़ता है। हमारे कल्पना जगत पर कृष्ण का अशेष आधिपत्य है। मौलिक जगत में भी सर्वत्र उन्हीं की छाप दीख पड़ती है। ब्रज के कुंज-कुंज में जो आकर्षण है, यमुना के बिंदु-बिंदु में जो उमंग है, हम सबकी सांस-सांस में जो प्राण है सब उन्हीं के तो हैं। कितने आदि हीन युगों से कितने अंतहीन युगों तक यह प्रसन्न अनवरत आत्मसमर्पण चलता-चलता चलता जाएगा और हमारे-आपके-से कितने संख्याहीन अज्ञात नाम-रूप जीवधारी आंखों में आंसू भरे मुखों में कांति और प्राणों में विद्युत वेग लिये उसी एक में एकाकार होते चले जाएंगे। इस अनिंद्य सुंदर, स्वच्छ, उच्छल प्रवाह का रस न लेकर यदि आप दूर से ही भागेंगे तो तुलना क्या करेंगे?

(शुक्रवार, 4 सितंबर 1931)

हिंसा का निषेध

तारीख 30 अगस्त को चटगांव के पुलिस इंस्पेक्टर खां बहादुर अशातुल्ला फुटबाल का खेल देखने गए थे, वहीं गोली के शिकार हुए। जैसा कि नाम से जाहिर है ये एक हिंदुस्तानी अफसर थे। अब तक ज्यादातर अंग्रेज अफसरों पर ही हमले होते थे। पर जान पड़ता है, मामला कुछ बढ़ रहा है और अंग्रेज या गैर-अंग्रेज का सवाल नहीं रह गया, खतरा सबके लिए है। इससे अशांति और उत्तेजना की बढ़ती हुई गति का ही परिचय मिलता है। खां बहादुर की हत्या जिस मौके पर हुई है वह और भी भयानक है। खेल के मैदान में सात्विक आनंद और मनोरंजन

का वातावरण रहता है और आमतौर से वहां की परिस्थिति निरापद समझी जाती है। परंतु ऐसे स्थान पर इस प्रकार का कृत्य किया गया यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। कहा जाता है कि वहां पुलिस का प्रबंध भी अच्छा था और यदि पुलिस न भी होती तो भी हत्याकारी को अपने लिए खतरे का अनुभव करना चाहिए था। हजारों आदमियों के बीच से बच निकलने में तो कठिनाई हो सकती थी। जान पड़ता है, उसकी जरा भी कल्पना नहीं की गई। यह एक भयानक मनोवृत्ति का फल है, जिसे पागलपन या अंधबुद्धि भी कहा जा सकता है। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि हत्याकारी सोलह वर्ष का ब्राह्मण नवयुवक बतलाया जाता है। इतनी थोड़ी उम्र में ब्राह्मणत्व के संस्कार खोकर जो उग्रवृत्ति दिखाई गई है उससे संपूर्ण स्थिति और भी उग्र हो गई है। अल्प वयस्क युवक जगत को छोड़कर इस प्रकार नृशंस कृत्य करते हैं यह एक अत्यंत विकारयुक्त आबहवा का फल है। इस विकट स्थिति को दूर करने की चेष्टा प्रत्येक मानवजाति के प्रेमी और प्रत्येक देशभक्त को करनी ही होगी।

कांग्रेस ने अच्छा किया जो अपनी कार्यकारिणी की पिछली बैठक में निहायत खुले शब्दों में प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक हिंसा को बिना मीन-मेष के जिक्र किया कि कराची में सरदार भगतसिंह आदि के प्रति सहानुभूति का प्रस्ताव पास करने का फल अच्छा नहीं हुआ। हम नहीं कह सकते कि सचमुच उस प्रस्ताव का फल क्या हुआ, क्या नहीं, पर इतना अवश्य है कि कांग्रेस की किसी भी प्रकार की सहानुभूति प्राप्त करने की आशा रखते भी हैं या नहीं, यह हम नहीं कह सकते क्योंकि उनकी जैसी अपरिणामदर्शी मनोवृत्ति है उसे देखते हुए यह कहना कठिन होगा कि उनकी आशा-निराशा क्या है, वे अपने कामों में किसी प्रकार का आगा-पीछा सोचते भी हैं या नहीं। एक महान अहिंसात्मक वातावरण के बीच में रहते हुए भी और उसके शुभ राजनीतिक फलों को देखते हुए भी जो व्यक्ति हिंसात्मक कार्य करते हैं वे साधारण प्रकृति के व्यक्ति नहीं जान पड़ते। प्रमाण पर प्रमाण और तर्क पर तर्क के मौजूद रहते भी जो अपनी अनिष्टकर कार्रवाई से बाज नहीं आते उनकी तबीयत का पता लगाना आसान नहीं। आकाश में मजहबी द्वेष का जमघट इस प्रकार छाया हुआ है कि हिंदुस्तानी अफसर की हत्या राजनीतिक दृष्टि से होने पर भी हिंदू-मुस्लिम दंगे में बदल गई और लाखों करोड़ों की संपत्ति नष्ट हो गई और कितने ही हताहत हुए। ऐसी हालत में भी यदि हिंसा के कार्यों से किसी प्रकार का लाभ समझा जाता हो तो भ्रष्टबुद्धि और उत्तेजना का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा? प्रेस के प्लेटफार्म से और साहित्य के भीतर से भी अहिंसा का पक्ष स्पष्ट किया जा चुका है फिर भी उसका कोई असर नहीं पड़ रहा।

हत्याकारियों की यह मनोवृत्ति बड़ी ही अद्भुत है। न उन पर महात्मा गांधी की अहिंसा का प्रभाव दीख पड़ता है और न सरकारी दमननीति ही विशेष कारगर हो रही है। हाल में जितने हत्याकारियों को मृत्युदंड प्राप्त हुआ है प्रायः सब फांसी में लटकते समय प्रसन्न थे और उनके अंतिम संदेश नवीन क्रांतिकारियों के लिए उत्साह और उत्तेजना का काम करते हैं। फांसियों के बाद भी हत्याएं होती ही जाती हैं। आखिर इन हत्याओं का अंत कैसे हो? कलकत्ता का *स्टेट्समैन* पत्र लिखता है कि सरकार की शिथिल नीति के कारण हत्याएं बढ़ती

जा रही हैं। वह ब्रिटेन की नई राष्ट्रीय सरकार से सिफारिश करता है कि वह इस मामले में सख्ती और मुस्तैदी से काम ले और हत्याओं का मूलोच्छेद कर डाले। उसने सर सेमुएल होर को भारतमंत्री होने की बधाई दी है और उनसे हत्याओं को दबाने का आग्रह किया है। यदि किसी तरह हत्याओं का अंत किया जा सके तो हम उसके लिए सभी उपायों का स्वागत करेंगे पर हत्याकारियों की मनोवृत्ति को देखते हुए सख्ती का शायद ही कुछ अच्छा असर हो। हम समझते हैं भारत को राजनीतिक स्वराज्य मिलते ही इस प्रकार की हत्याएं कम हो जाएंगी। तथापि हमारा यह विश्वास है कि भारत की राष्ट्रीय मांग पूरी होते ही हत्याएं अवश्य कम पड़ेंगी। *स्टेट्समैन* पत्र ने कड़ाई की सिफारिश तो की पर इस पहलू पर जरा भी विचार नहीं किया।

महात्मा गांधी ने हिंसाकारियों की मनोवृत्ति की बड़ी ही उत्तम जानकारी यह कहकर प्रकट की है कि जो आज सरकारी अफसरों को मारते हैं, स्वराज्य शासन में वे स्वदेशी अफसरों अथवा प्रजा को मारेंगे अथवा आपस में लड़ें-कटेंगे। गांधीजी एक आदर्शवादी के नाते प्रत्येक प्रकार की लड़ाई-झगड़े को बंद कर देने का सुखस्वप्न देखते हैं। उनका वह आदर्श जिस दिन प्राप्त होगा वह संसार के लिए बड़े ही गौरव और आनंद का दिन होगा। उस दिन को लाने के लिए अहिंसा से हिंसा को जीतने की कोशिश की जानी चाहिए। समाज में पवित्र भावों का प्रचार होना चाहिए और हिंसा के प्रति प्रत्येक प्रकार की सहानुभूति छोड़ देनी चाहिए। ये काम यदि संघटित रीति से प्रारंभ किए जाएं और साथ ही भारत की राष्ट्रीय मांग की पूर्ति की जाए तो कोई कारण नहीं कि हत्याओं का अंत न हो जाए और मनुष्य सुख, शांति और सहयोग का जीवन न व्यतीत करने लगे।

महात्माजी का संदेश

महात्मा गांधी ने राजपूताना जहाज से भारतीयों को संदेश देते हुए कहा है, मैं भारतीयों से अनुरोध करता हूं कि मेरी अनुपस्थिति में वे अहिंसा का अच्छी तरह पालन करें और चर्खा चलाने, खद्दर बनाने, अछूतों की उन्नति करने, नशे की चीजों तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने, ग्राम संगठन तथा हर जाति में एकता स्थापित करने के कामों को पूर्ण उद्योग से करें। इसमें संदेह नहीं है कि महात्माजी जिस सदुद्देश्य से विलायत गए हैं वह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए उनकी अनुपस्थिति में पूर्ण रूप से शांति रक्षा का प्रयत्न करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है। अहिंसा का पालन करना प्रत्येक राष्ट्र प्रेमी का धर्म है। महात्माजी ने भारतीयों को जिन कामों के करने का आदेश दिया है वह देश की उन्नति के स्थायी साधन हैं। अछूतोद्धार, स्वदेशी का प्रचार, ग्राम संगठन, हिंदू-मुस्लिम एकता की ही नींव पर स्वतंत्रता की सुदृढ़ दीवार खड़ी होगी और आगे भी सफलता होगी। महात्माजी अहिंसा के पुजारी हैं इसलिए जिस काम के लिए वे आगे बढ़ रहे हैं उसमें प्रत्येक को सहायता देने के लिए यह आवश्यक है कि वह

शांति स्थापित करने का सतत् उद्योग करता रहे। यह ठीक भी है कि ऐसे समय में हमको, प्रत्येक को सार्वजनिक खतरों के लांछन से बचना चाहिए क्योंकि देश के महात्मा गांधी ऐसे नेता इस समय यहां अनुपस्थित हैं। हम शांत रूप से सद्भाव पैदा करने वाले कामों में लगे रहेंगे तो अंत में हमारी विजय अवश्य होगी।

भगवान् कृष्ण और महात्मा गांधी–2

जब तक हम अपने अशेष साहित्य, संगीत और कला-कौशल की हत्या कर जीवन को नए सिरे से आरंभ नहीं करते तब तक कृष्ण के परमपुरुष होने में जरा भी संदेह नहीं कर सकते। शायद हत्या कर डालने के बाद भी उनका वह स्वरूप भुलाया न जा सके क्योंकि वे तो साहित्य, संगीत, कला आदि में ही नहीं, इस देश के अशेष आकाश में समा रहे हैं और प्रतिपल के जीवन में वे ही झलक रहे हैं। महात्मा गांधी ने कृष्ण के इसी स्वरूप का अनुभव कर यह लिखा है कि *महाभारत* आजकल के अर्थ में ऐतिहासिक पुस्तक नहीं है, वह धर्म पुस्तक है। जिसका बिलकुल सीधा मतलब यह है कि *महाभारत* अनंत महासागर की भांति सीमा रहित है। देश और काल के लघु बिंदु के रूप में वे उसे नहीं देखते। 'इतिहास' नाम के आते ही सीमा का बोध होता है पर *महाभारत* के कृष्ण की आज कौन सी सीमा है? गांधीजी की इस अत्यंत विशुद्ध अनुभूति को बिना समझे ही पं. लक्ष्मणनारायण गर्दे और उनके पीछे पं. पद्मसिंह शर्माजी उन पर आक्षेप करते हैं और उनके इस कथन में अंग्रेजी सभ्यता का प्रभाव ढूंढ़ते हैं। इससे अधिक अर्थ का अनर्थ दूसरा कुछ नहीं हो सकता। महात्माजी *महाभारत* को इतिहास नहीं मानते इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वे कृष्ण के विराट रूप के दर्शन करते हैं पर जिन्हें केवल तर्क करना है उनसे भगवान हमारी रक्षा करें। आधुनिक अर्थ में *महाभारत* को इतिहास मानते ही कृष्ण के परमपुरुषत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, पर आश्चर्य है कि तर्क करने वाले अपने ही विश्वास के विरुद्ध तर्क करते हैं। पं. पद्मसिंह शर्माजी ने एक लेख लिखकर गांधीजी के *गीता भाष्य, अनासक्तियोग* की आलोचना की है। हमने सुना है कि पं. पद्मसिंह शर्माजी आर्यसमाजी हैं लेकिन अपने इस लेख में उन्होंने आर्यसमाज के सिद्धांतों से कोई संबंध नहीं रखा, 'आर्यसमाजी दलील' भले ही की हैं। उन्होंने गांधीजी के सत्याग्रह का अर्थ रत्ती भर भी नहीं समझा यद्यपि महात्माजी ने अपनी तमाम जिंदगी उसे ही समझाने में व्यतीत कर दी है। पं. पद्मसिंह शर्मा ने यदि कभी सत्याग्रह नहीं किया तो कम से कम पिछले साल भर में एक-आध बार उसे देखा अवश्य होगा। पर देखकर भी उन्होंने आंखों में पट्टी चढ़ा ली है। पं. पद्मसिंहजी ने जिस ढंग से सत्याग्रह की तुलना अर्जुन के मोह से की है वह अत्यंत अनुचित और असत्य है। और आंखों देखे दृश्य के प्रतिकूल भी है। सत्याग्रही मोह के वश होकर नहीं, शुद्ध कर्तव्य के वश होकर प्रहार सहता है और प्रहार नहीं करता। यह एक अत्यंत उच्च साधना है। आंतरिक द्वंद्वों के मिट जाने के बाद ही जिसकी चरम सिद्धि होती है। पं. पद्मसिंह शर्माजी

'निष्क्रिय' सत्याग्रह में निष्क्रिय शब्द का भ्रामक अर्थ समझते हैं और यह कल्पना नहीं कर सकते कि क्रिया की चरम सीमा और निष्क्रियता की चरम सीमा दोनों एक ही हैं। *गीता* के निस्संग कर्म और गांधी के निष्क्रिय सत्याग्रह दोनों का धरातल एक है। गांधी की सविनय अवज्ञा एक ज्वलंत शक्ति है जिसको पं. पद्मसिंह शर्माजी जैन और बौद्धमत के अथवा स्वयं हिंदू धर्म के निषेधवाद की रूढ़ि से मिलाते हैं। पर यह अपनी ही अनुभवहीनता अथवा अपने ही अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। सत्याग्रह का यह विकृत अर्थ समझाकर गांधीजी के *अनासक्ति योग* पर टीका-टिप्पणी करने का मूल्य क्या हो सकता है? आश्चर्य तो यह है कि पं. पद्मसिंह शर्माजी शंकर के, रामानुज के और तिलक के *गीताभाष्यों* के पारस्परिक वैषम्य में साम्य का अनुभव कर सकते हैं, पर गांधीजी के *अनासक्ति योग* में हिंदू धर्म के लिए भयानक उद्‌गार ही ढूंढ़ पाते हैं। सारा प्रसाद सत्याग्रह का अर्थ समझने में है पर पंडित पद्मसिंह शर्माजी को कम से कम 'अनासक्ति' शब्द की व्यंजना अवश्य समझनी चाहिए थी।

यदि ऊपर के प्रसंग में जरा-सा विषयांतर हो गया है तो उससे भगवान् कृष्ण और महात्मा गांधी के संबंध को समझने में सहायता भी मिली है। जब गांधीजी *महाभारत* को ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं मानते तब वे कृष्ण की महिमा ही स्वीकार करते हैं। वे भगवान् की *भगवत्‌गीता* पर अपनी विनीत अनासक्ति अनुभूति की पुष्पांजलि चढ़ाकर कृष्ण के चरणों की ही शरण लेते हैं। उन्होंने भक्त और भगवान के अविच्छिन्न, अविच्छेद चिर उज्ज्वल और चिर कल्याणकर संबंध को संदेहवादियों और अज्ञानियों की आंखों में अंजन की भांति लगा दिया है। आशा है, धुंधलापल दूर होगा और निखरी हुई निर्मल दृष्टि प्राप्त होगी। भगवान कृष्ण के अशेष सौर चक्र में जो अनेकानेक विचरने वाले प्रकाशमान ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादि ज्योति पुंज हैं, उनमें महात्मा गांधी एक अत्यंत तेजोमय आलोक बिंदु की भांति चिरकाल तक किरण-विकीर्ण करते रहेंगे और लक्ष-लक्ष मानव पथिक अपनी अंतहीन यात्रा में उस आलोक किरण से आनंदोत्फुल और कृतकृत्य होते रहेंगे। जहां शंकर, रामानुज और तिलक हैं, सूर, तुलसी और कबीर हैं, वहीं महात्मा गांधी भी हैं। हमारे अत्यधिक निकट होने के कारण वे सबसे अधिक कल्याणप्रद हैं, हमारे विपन्न राष्ट्र के सबसे प्रमुख संरक्षक और हम अज्ञातलक्ष्य भूले भटकों के सबसे शुद्ध पथप्रदर्शक हैं। वे संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष भी माने जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार का निर्णय करने के पहले कुछ और समय बीत जाने देना आवश्यक है। लोकमान्य ति़लक को उनके परवर्ती जीवन में भगवान् तिलक की उपाधि मिली थी। पर इन ग्यारह वर्षों में ही हम उन्हें भूलते-से जा रहे हैं। अच्छा है, महात्मा गांधी को भगवान की उपाधि नहीं मिली है। वे अभी तो हमारे इसी युग में मौजूद हैं, पर उनका सामूहिक सत्याग्रह संसार के लिए एक नवीन आविष्कार सिद्ध हो रहा है और हम आशा करते हैं कि इस आविष्कार के कारण वे शीघ्र ही Idealised होकर, साहित्य और कलाओं के स्थायी विषय बन जाएंगे। पर इस संबंध में अभी निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

काल की गति इतनी विचित्र है और मनुष्य की बुद्धि इतनी अव्यवसायात्मक है कि महापुरुषों के संबंध में प्रत्येक प्रकार के निर्णय प्रमादग्रस्त होंगे ही। युग की विशेष आवश्यकताओं

के अनुसार ही हम अपनी धारणाएं बनाते हैं और विश्वयुगीन चिरंतन सत्य को समझ नहीं पाते। हम प्रभाव देखकर ही प्रभावित होते हैं पर यह उचित नहीं है। कर्मनिष्ठ गांधी और वैरागी रामकृष्ण के प्रभाव में जमीन-आसमान का अंतर है पर केवल इसी कारण रामकृष्ण की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। हिमालय के कितने अज्ञात नामधेय तपस्वी महाशून्य में विलीन हो गए हैं और आज भी कितने ही तपस्यारत हैं। समष्टि में उन सबका प्रभाव व्याप्त है जिसे हम अपनी चमड़े की आंखों से नहीं देख सकते पर जिसके कारण उसके अस्तित्व में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। भगवान की विभूति भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न महापुरुषों में पाई जाती है। उसके प्राप्त करने की रीति एक नहीं, अनेक हैं। *ये यथा मां प्रपद्‌यंते* भगवान कृष्ण का ही वचन है। भिन्न-भिन्न प्रकृतियां, भिन्न-भिन्न साधनाएं हैं जिनके संबंध में अनर्गल प्रलाप करने की अपेक्षा मौन रहना श्रेष्ठ है।

(रविवार, 6 सितंबर 1931)

मिस्टर जिन्ना

पिछली बार के गोलमेज के जलसे के बाद से मिस्टर जिन्ना अपनी सूरत-शक्ल बदलकर एक अजीब नाटक-सा खेलने लगे हैं। परसाल यहां से विलायत जाते हुए आपने ऐलान किया था कि हम हिंदुस्तान की भलाई करने की गरज से विलायत में रहकर वहीं बैरिस्ट्री करेंगे और पार्लियामेंट में पहुंचने की कोशिश भी करेंगे। आपके कहने से ऐसा जान पड़ता था कि आपके विलायत में रहने से ही भारत का उद्धार हो सकेगा यद्यपि उस उद्धार की रूपरेखा हमें कुछ भी नहीं बतलाई गई थी। विलायत में रहकर भारत का उद्धार किया जा सकेगा यह खयाल आज से बहुत वर्ष पहले डॉक्टर एनी बेसेंट और उनकी होम रूल लीग वालों का था पर पीछे से वह बहुत कुछ बदल गया था। कई वर्षों के बाद मिस्टर जिन्ना ने उसी पुराने खयाल को दोहराया है और उसी के स्वर में स्वर मिलाया है। यह देखकर हमें आश्चर्य अवश्य हो सकता है पर इसके लिए हम किसी प्रकार का ऐतराज नहीं कर सकते। जो व्यक्ति जहां चाहे वहां रहकर, जिसका चाहे उसका उपकार कर सकता है, बशर्ते कि वह इस उपकार के बोझ को बलात किसी के सिर पर न लाद दे। यदि मिस्टर जिन्ना की उच्चाकांक्षा भारत की व्यवस्था-सभा के दायरे में नहीं समा सकती और वे ब्रिटेन की पार्लियामेंट के सदस्य बनना चाहते हैं तो एक प्रकार से यह एक प्राइवेट बात हुई जिस पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी नहीं की जा सकती। बैरिस्ट्री करना अथवा कोई भी काम करना मिस्टर जिन्ना की एक व्यक्तिगत और घरेलू समस्या है। हां, जब वे इसके साथ भारत के उद्धार का सवाल ले जोड़ते हैं तब भले ही हम लोगों को यह जानने का मौका आता है कि आखिर उद्धार किस प्रकार का होगा। होगा भी या नहीं।

अब तक एक से अधिक भारतवासी पार्लियामेंट के सदस्य रह चुके हैं पर उन्होंने भारत

का कोई बड़ा उद्धार कर दिया हो ऐसा तो नहीं दीख पड़ता। बड़े-बड़े मजदूर हितैषी, अंतर्राष्ट्रीय संगठनकारी पार्लियामेंट में मौजूद रहते हैं पर भारत का उनसे प्रायः कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। हम समझते हैं मिस्टर सकलतवाला भी भारत का उद्धार करने की ही आकांक्षा रखते हैं पर हम तो कहेंगे कि उन्होंने पार्लियामेंट में रहकर हमारे राष्ट्रीय हित का कोई भी ऐसा ठोस कार्य शायद ही किया है जिससे भारतीय स्वराज्य की समस्या कुछ भी सुलझी हो। डॉक्टर एनी बेसेंट किसी समय यह विचार रखती थीं कि भारत के संबंधों में ब्रिटेन की जानकारी बढ़ाने के लिए और ब्रिटेन की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए विलायत में रहकर प्रचार करने की आवश्यकता है। पर वे विचार पुराने जमाने के हैं जिन्हें स्वयं श्रीमती बेसेंट छोड़ चुकी हैं। पिछली बार जब साइमन कमीशन भारत आया हुआ था तब हमें स्मरण है कि श्रीमती बेसेंट ने काशी की एक सभा में महत्वपूर्ण भाषण करते हुए कहा था कि भारत में ही रहकर आंदोलन करने की आवश्यकता है। इंग्लैंड पर जो कुछ दबाव या असर पड़ेगा, भारत से पड़ेगा। विलायत जाकर समझाने और मनाने के दिन बीत गए हैं। पर मिस्टर जिन्ना का कहना है कि अभी वे दिन बीते नहीं हैं बल्कि अभी ही आए हुए हैं। जब तक मिस्टर जिन्ना कुछ करके नहीं दिखलाते तब तक तो हम यही कहेंगे कि वे पुरानी लीक पीटने में लगे हुए हैं।

यदि किसी के उद्देश्य का पता उसके कामों से लगाया जा सकता हो तो हम कहेंगे कि हिंदुस्तान का उद्धार करने का जिस प्रकार का उद्देश्य मिस्टर जिन्ना रखते हैं उससे भगवान हिंदुस्तानियों की रक्षा करें। हाल में मिस्टर जिन्ना विलायत से यहां आए हुए थे और आते ही उन्होंने दकियानूसी, हठवादी शौकत अली पार्टी की कार्रवाइयों में अपनी खास दिलचस्पी दिखलाई। उन्होंने यहां प्रयाग में भाषण देते हुए कहा कि व्यक्तिगत रीति से मैं सम्मिलित निर्वाचन के पक्ष में हूं पर चूंकि मेरा खयाल है कि अधिकांश मुसलमान जनता पृथक निर्वाचन चाहती है इसलिए पृथक निर्वाचन का अधिकार मिलना चाहिए। यह बड़ी ही अद्भुत बात है कि मिस्टर जिन्ना एक प्रखर बुद्धि के व्यक्ति हैं और वे यह जानते और मानते भी हैं कि पृथक निर्वाचन से राष्ट्र निर्माण में बाधा पड़ेगी पर उजड्ड, अशिक्षित और गुमराह मुस्लिम जनता को अंधकार से उबारना तो दूर वे स्वयं भेड़ियाधसान की कहावत के नमूने बन गए हैं। यदि यही भेड़ियाधसान का भाव लेकर वे पार्लियामेंट में पहुंचकर कहीं यह दलील न पेश करने लग जाएं कि मैं तो भारत को स्वराज्य दिलाना चाहता हूं पर चूंकि अधिकांश अंग्रेज वैसा नहीं चाहते इसलिए लाचार मुझे भी उनकी हां में हां मिलानी पड़ती है। ऐसी आशंका बिलकुल स्वाभाविक रीति से होती है। मिस्टर जिन्ना ने ही उसे हमारे दिलों में उत्पन्न कर दिया है।

मिस्टर जिन्ना भारत आए भी और चले भी गए। उनके आने का क्या उद्देश्य था और उसमें उन्हें कहां तक कामयाबी मिली यह हम नहीं कह सकते। यदि मिस्टर जिन्ना के कथनानुसार वे मुस्लिम दलों में एका करने आए थे तो हम कहेंगे कि एका तो नहीं तफरका ही वे अधिक बढ़ा गए हैं। ऐसी आशा की जाती थी कि वे अपने प्रभाव के द्वारा मौलाना शौकत अली और उनके दल वालों को डॉक्टर अंसारी आदि राष्ट्रीय मुसलमानों के अधिक नजदीक खींच लाएंगे,

पर उन्होंने वैसा नहीं किया। राष्ट्रीय मुस्लिम दल मि. जिन्ना की चौदह शर्तों में तेरह तक को मान चुका है ऐसी अवस्था में मिस्टर जिन्ना का यह कर्तव्य था कि वे राष्ट्रीय मुस्लिम दल की उदारता की प्रशंसा करते और उसी की शक्ति बढ़ाते पर उन्होंने ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। तब वे कौन सा मेल मिलाने भारत आए थे।

भारत से विलायत के लिए रवाना होते-होते मिस्टर जिन्ना ने मुस्लिम विद्यार्थियों की सभा के भाषण में जो बातें कही हैं वे इस बात को स्पष्ट कर देती हैं कि वे अपनी पुरानी शक्ल बदलकर विलायत जाते समय मजहबी जामे को पहन गए हैं और वहां वे इसी रूप में दिखाई देंगे। जिस असामयिक और अनुचित तरीके से उन्होंने मुसलमानों के लिए विशेषाधिकारों का आग्रह किया और उनके न मिलने पर विधान को तोड़ फेंकने की धमकी दी है उससे वे मुसलमानों का एका तो नहीं कर गए हिंदू-मुसलमानों का झगड़ा बढ़ा गए हैं। अपनी वाक्पटुता के द्वारा उन्होंने हिंदुओं के ऊपर जो आक्षेप किए हैं उसका जरा भी अच्छा असर किसी पर नहीं पड़ सकता। स्वयं मुस्लिम विद्यार्थी सभा के मिस्टर चागला ने उनके भाषण की तीव्र निंदा की है और कहा है कि बंबई मुस्लिम युवक समाज मिस्टर जिन्ना की बातों को नहीं मानता। दीवान बहादुर रामचंद्र राव जैसे अत्यंत संयमी और मितभाषी सज्जन ने मि. जिन्ना के भाषण पर आश्चर्य प्रकट किया है। यह सब देखकर हम तो यही कहेंगे कि मिस्टर जिन्ना विलायत जाते हुए अपने साथ भारतीयों का अविश्वास और संदेह ले गए हैं तथा भारत में फैली हुई अपनी प्रतिष्ठा भी बहुत कुछ समेट ले गए हैं। यह सब समेटकर वे जहाज में बैठे हैं और हम समझते हैं कि अब इन सबके साथ उनका भारत लौटना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

दंगे पर रवि बाबू

महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने चटगांव के नए दंगे के संबंध में वक्तव्य देते हुए कहा है, 'एक के बाद एक जो दंगे हुए हैं, उन्हें देखकर केवल दुख ही नहीं होता वरन् ऐसी लज्जा मालूम पड़ती है जिसे किसी तरह सहन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के जो दंगे हुए हैं उनसे शांति और सभ्यता की नींव हिला डाली गई है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि जो अब तक व्यर्थ के झगड़े-फसाद हुए उनसे—खासकर कानपुर और चटगांव में होने वाले दंगों से, वर्तमान राष्ट्रीय आंदोलन को जबर्दस्त धक्का लगा और शांति और सभ्यता की नींव हिल गई है।' हिंदू-मुस्लिम एकता पर जोर देते हुए रवि बाबू ने आगे कहा है कि 'हिंदू-मुसलमान एक ही भूमि के बच्चे हैं। विनय और लज्जा के दोनों ही बराबर हकदार हैं। दोनों ही कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रधर्म को बनाएंगे। इन सब बातों का दोष दोनों ही के सिर पर है।' हिंदू-मुस्लिम एकता के संबंध में काफी लिखा जा चुका है और महात्मा गांधी ने जन्म भर इस प्रश्न पर जोर दिया है। रविबाबू का यह कहना बिलकुल ठीक है कि दोनों ही कंधा से कंधा मिलाकर

राष्ट्रधर्म को बनाएंगे? आगे चलकर आपने अच्छे भाव रखने वाले मुसलमानों से अपील की है कि वे मजहब के नाम पर होने वाले ऐसे रक्तपात से मनुष्यत्व की रक्षा करें। यह बात ठीक है कि आज कल जहां कहीं दंगों की खबरें सुनाई दे रही हैं उसमें कुछ कट्टर मजहबी मुसलमानों का विशेष हाथ देखा जाता है। रविबाबू के कथनानुसार इस रक्तपात से मनुष्यत्व का नाश हो रहा है। हिंदू-मुसलमान दोनों मिलकर दंगों को होने से रोकें और मनुष्यत्व की रक्षा करें।

स्वर्गीय के.सी. राय

इसी सप्ताह सोमवार को सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री केशव चंद्र राय का स्वर्गवास हो गया। स्वर्गीय राय सुप्रसिद्ध खबर देने वाली संस्था एसोसिएटेड प्रेस के संस्थापक थे। भारत ही नहीं, संसार के प्रसिद्ध पत्रकारों में आपका विशेष स्थान था। आपने एसोसिएटेड प्रेस ऐसी संस्था की स्थापना करके प्रत्येक पत्र के लिए ताजा न्यूज प्राप्त करने का जो स्थायी कार्य किया है वह स्तुत्य है। देश के प्रसिद्ध नेताओं ने आपके निधन पर शोक प्रकट किया है। महात्मा गांधी ने भी 'पत्रकार जगत का एक रत्न खो गया', कहकर दुःख प्रकट किया है। वास्तव में श्री राय के निधन से जो हानि हुई है वह दुःखपूर्ण है और उनके स्थान की पूर्ति जल्दी नहीं हो सकेगी।

(शुक्रवार, 11 सितंबर 1931)

प्रेस-बिल

प्रेसों की स्वतंत्रता छीनने वाला प्रेस बिल असेंबली में पेश हो चुका है और अनुमान किया जाता है कि वह बहुमत से स्वीकार होकर जल्द ही सिलेक्ट कमेटी के सुपुर्द किया जाएगा। जब एक ओर स्वराज्य की डिग्री इजराय कराने के लिए महात्मा गांधी विलायत गए हुए हैं, तब दूसरी ओर भारत सरकार प्रेस-बिल पास करा रही है। यह एक अद्भुत संयोग है। प्रेसों की स्वतंत्रता के बड़े ही प्रबल समर्थक एसोसिएटेड प्रेस के संचालक श्री के.सी. राय की शोचनीय मृत्यु के साथ मानो प्रेसों की स्वतंत्रता का भी अंत हो रहा है। भारत की प्रतिनिधि संस्था कहलाने वाली असेंबली में यह बिल पास हो रहा है यह इस देश के दुर्भाग्य का सबसे बड़ा नमूना है। असेंबली आज वीरान-सी हो रही है, उसके भीतर की राष्ट्रवाणी क्षीण होती-होती इस समय बिलकुल धीमी पड़ गई है। आज भारत की यह प्रतिनिधि संस्था नाममात्र को ही प्रतिनिधि है। असल में सरकारी और सरकार के तरफदार आदमियों की ही इसमें भरमार हो गई है। देश के ही प्रतिनिधियों में एका नहीं है, मिस्टर गजनबी जैसे आदमी मौजूद हैं जो कट्टर से कट्टर भारत विरोधी अंग्रेजों से अच्छी तरह टक्कर ले सकते हैं और जो अपनी हां-हजूरी

के सामने देशभक्ति को कोई चीज नहीं समझते। यह कहना हमें शोभा नहीं देता कि एंग्लो-इंडियन पत्रों की धमकी से दबकर यह बिल पेश किया जा रहा है क्योंकि जो एंग्लो-इंडियन नहीं हैं वे भी खुद हमारे देश के रहने वाले ही अपने गले में गुलामी की जंजीर पहन रहे हैं। यदि *स्टेट्समैन* पत्र हिंसा की प्रायः प्रत्येक घटना के बाद यह अग्रलेख लेकर निकला है कि 'कांग्रेस का मंसूबा पूरा हुआ', 'उसके प्रस्ताव सफल हुए', तो यह कोई विशेष अनुचित बात नहीं है क्योंकि यहां तो ऐसे-ऐसे हिंदुस्तानी मौजूद हैं जो केवल कांग्रेस को ही कोस कर खुश नहीं होते बल्कि कांग्रेस के साथ समझौता करने वाले लार्ड इर्विन को भी खरी-खोटी सुनाने में रत्ती भर लज्जा का अनुभव नहीं करते। आश्चर्य यह है कि लार्ड इर्विन के इन निंदकों के प्रति सरकार का कोई बुरा भाव नहीं देखा जाता बल्कि तरफदारी ही देखी जाती है।

जो प्रेस बिल पास होने वाला है उसके मुताबिक प्रत्येक नए प्रेस के कीपर को शुरू में पांच हजार तक की जमानत देनी पड़ेगी, बरी केवल वे हो सकेंगे जिन पर जिला मजिस्ट्रेट का रहम हो। जमानत लेने के बाद प्रेस से जब कभी आक्षेप योग्य कोई पत्र, पुस्तक अथवा पुर्जा प्रकाशित होगा तुरंत जमानत जब्त कर ली जाएगी। प्रेस कीपर को नया डिक्लेरेशन देना होगा और नए डिक्लेरेशन के साथ दस हजार रुपयों तक की जमानत मांगी जाएगी। फिर कोई आक्षेप योग्य लेख निकला कि वे दस हजार भी गए। यही नहीं, उस हालत में प्रेस और आक्षेप संबंधी समस्त कागज पत्र अथवा पुस्तकें छीन ली जाएंगी। जो हाल प्रेसों का है, वही समाचारपत्रों का भी। दो बार जमानत जब्त होने के बाद किसी भी समाचारपत्र को प्रकाशित करने का अधिकार प्रांतीय सरकार की अनुमति के बिना प्राप्त नहीं हो सकेगा। प्रेस बिल की कठोरता का अंदाज इतने से ही लगाया जा सकता है कि यह एक आम दस्तूर बन जाएगा कि प्रत्येक प्रेस को जमानत देनी पड़ेगी। सरकार के पास यह समझने का क्या सबूत है कि भारतीय प्रेस और समाचारपत्र आम तौर से हिंसा का प्रचार कर रहे हैं? गृह मंत्री सर जेम्स क्रेरर ने केवल थोड़े से पत्रों का उद्धरण देकर अपना पक्ष पुष्ट करना चाहा है और उतने ही के आधार पर वे एक ऐसे बिल का समर्थन करते हैं जो प्रत्येक प्रेस और प्रत्येक समाचारपत्र पर लागू होता है। यह अन्याय है। मजिस्ट्रेट महोदय जिस प्रेस पर कृपा करेंगे उसे अपना सौभाग्य मानना पड़ेगा। इस धांधली से बखेड़ा घटने के बनिस्पत बढ़ सकता है। यह साबित करने का भार सरकार पर है कि हिंदुस्तान के अधिकांश पत्र हिंसावादी हो गए हैं और जब तक वह यह साबित नहीं करती तब तक इस प्रकार का कानून बनाना कदापि न्याय नहीं है।

दूसरी बात यह है कि बिल का घेरा छोटा नहीं है, बहुत बड़ा है। इसके अनुसार केवल हिंसा की प्रेरणा करने वाले पूरे लेख ही नहीं, उनके अंश भी, एक वाक्य अथवा उसका एक अंश भी आक्षेप योग्य समझा जा सकता है और जमानत जब्ती का फर्मान निकल सकता है। षड्यंत्रकारियों के मुकदमों का हाल देना भी समाचारपत्रों के लिए कठिन हो जाएगा क्योंकि वह भी खतरे से खाली नहीं है। कहीं एक शब्द भी उत्तेजनाकारी आ गया कि कानून लागू हो जाएगा। यह बड़ी भयंकर समस्या है। यदि यह बिल इसी रूप में पास हो गया और इसमें परिवर्तन न किए गए तो प्रेस और पत्र रखना बड़े साहस का काम हो जाएगा। जमानतजब्ती

के विरुद्ध यदि समाचारपत्र न्यायालय में अपील करेंगे तो भी उसका नतीजा शायद ही अच्छा निकल सकेगा क्योंकि जहां हिंसा की उत्तेजना देने वाला प्रत्येक शब्द जुर्म है वहां जुर्म से बरी होना बहुत ही कठिन, असंभव ही है।

जरा खयाल करने की बात है कि यह बिल कितने बुरे मौके पर पेश किया जा रहा है। हाल में हत्याएं कुछ अधिक संख्या में हुई हों तो भी कांग्रेस की ओर से उनकी खुल्लमखुल्ला निंदा की गई है और आशा की जाती है कि उसका अच्छा असर पड़ेगा। यदि सरकार का खयाल है कि उसका अच्छा असर नहीं पड़ेगा तो हम समझते हैं प्रेसों की मुंहबंदी का भी कोई विशेष प्रभाव शायद ही पड़ेगा। पिछले सत्याग्रह आंदोलन के जमाने में प्रेस आर्डिनेंस से पत्र-पत्रिकाओं के बंद हो जाने के बाद भयानक अफवाहें फैलती थीं जिससे सनसनी ही बढ़ी थी, कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला था।

हिंसा की कौन सराहना करता है? हिंसात्मक कार्य किसके लिए खतरनाक नहीं है? जैसे ब्रिटिश राज्य में वैसे ही स्वराज्य में भी हिंसाओं का रोका जाना परम आवश्यक होगा। सबके जान-माल को सुरक्षित रखने के लिए शासनसत्ता को प्रत्येक प्रकार की चेष्टा करनी ही चाहिए। पर जिस रोग की ओषधि की जाती है उसका पहले निदान कर लिया जाता है। एक साथ दो-दो ओषधियां दी भी तो एक-दूसरे की विरोधी, फायदा नहीं कर सकतीं। महात्मा गांधी एक ओषधि लेने विलायत गए हैं। जब तक वे वहां से लौटें तब तक सरकार वहां जो दूसरी दवा तैयार कर रही है, उससे यदि *बांबे क्रॉनिकल* के संपादक के अनुसार सरकार का विश्वासघात नहीं प्रकट होता तो कम से कम उसकी बेहद उतावली अवश्य जाहिर होती है। इस उतावली से कोई लाभ नहीं होगा।

बेतुकी बातें

भारतवर्ष के संबंध में अनेक विदेशी लेखकों ने पुस्तकें लिखी हैं। उनमें अच्छी और बुरी दोनों हैं। कुछ वर्ष हुए मिस मेयो ने *मदर इंडिया* लिखकर भारतीयों पर बुरी तरह आक्षेप किया था और संसार के सामने उन्हें जलील सिद्ध करने का प्रयत्न किया था परंतु उसका कोई परिणाम नहीं हुआ। अभी हाल में सर हारकोर्ट बटलर ने एक पुस्तक प्रकाशित कराई है उसमें आपने अनेक बेतुकी बातें लिखकर अपने हृदय का परिचय दिया है। सर हारकोर्ट बटलर महोदय ने भारतवर्ष का कई वर्षों तक नमक खाया है और क्या वे उसके खिलाफ इस प्रकार की बातें कहकर अपना नमक अदा कर रहे हैं? आपने कहा है, 'भारतवर्ष का हिंदुत्व चाहे नीची श्रेणी का कहो या ऊंची वह सदियों से एक-सा चला आता है और पश्चिमी सभ्यता से बिलकुल अछूता है।' आप आगे फरमाते हैं कि 'यदि इस बात की सच्चाई को जानना हो तो सहवास कमेटी की रिपोर्ट को पढ़ना चाहिए। अभी भारतवर्ष में संगठन की कमी है, ब्रिटिश गवर्नमेंट और पार्लियामेंट को उसकी बराबर देख-रेख करते रहने की बड़ी आवश्यकता है।' पता नहीं

सर हारकोर्ट बटलर ने अपनी आंखों से देखी हुई बातों को भी क्यों इस प्रकार बनाकर लिखा। यदि यह कहा जाए कि इस प्रकार की पुस्तकों के लिखने का उद्देश्य भारतवर्ष के विरुद्ध दूसरे मुल्कों में गंदा प्रचार करना है तो अनुचित न होगा। इसी संबंध में मिस्टर चर्चिल ने सर हारकोर्ट बटलर के भतीजे को जो वर्तमान भारतमंत्री के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं, अपने चाचा की इस पुस्तक की एक प्रति सर सेमुएल होर की लिखने की मेज पर रखने की सलाह भी दी है। यह सब क्या है, केवल भारत के विरुद्ध षड्यंत्र और खुले आम आंदोलन परंतु इन षड्यंत्रों और नीच प्रवृत्तियों से भारत तथा भारतवासियों की कोई हानि नहीं है। इस प्रकार के जितने आंदोलन अनुदार दलवालों तथा उनके पिट्ठुओं द्वारा हो रहे हैं, उससे सभ्य राष्ट्रों में भारतवर्ष की इज्जत कम कदापि नहीं हो सकती। सर हारकोर्ट बटलर, मिस्टर चर्चिल तथा उनके अनुयायी एक न एक दिन सत्य को समझेंगे और पछताएंगे।

हिंदी की पढ़ाई के संबंध में विश्वविद्यालयों के ध्यान देने योग्य बातें–1

आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी एक निजी पत्र में लिखते हैं, 'पं. पद्मसिंह शर्मा अंग्रेजी नहीं जानते, वे पुराने ढंग के रसिक और साहित्य प्रेमी हैं, यह बात भूलनी नहीं चाहिए।' यह बड़ा ही अर्थगर्भित वाक्य है पर हिंदी में आजकल अर्थ का अनर्थ करने का रिवाज चला हुआ है। एक बार हमने भी लिखा था कि 'पं. पद्मसिंह शर्मा हिंदी और संस्कृत के बहुपठित विद्वान होंगे पर उन्हें अंग्रेजी नहीं आती।' तब बादरायण संबंध जोड़ने वालों ने महात्मा तुलसीदास और पद्मसिंह शर्माजी को एक पंक्ति में खड़ाकर कहा था, 'देखो, दोनों ही अंग्रेजी नहीं जानते।' द्विवेदीजी की उपर्युक्त टिप्पणी पर इस तरह की ऊल-जलूल बातें न की जाएं तो अच्छा हो। आज जब राजनीतिक चर्चा में हर खास और आम यह मानता है कि आधुनिक जाग्रति के मूल में अंग्रेजी शिक्षा ही प्रमुख है तब साहित्यिक चर्चा में ऐसी ही सत्य और सीधी-सी बात को स्वीकार करने में प्राण संकट में क्यों पड़ते हैं? जब यह कहा जाता है कि हिंदी साहित्य के आधुनिक विकास में अंग्रेजी की समीक्षा-प्रणाली ग्रहण की जा रही है और पिछले जमाने के दकियानूसी ढर्रे का त्याग किया जा रहा है तब क्या कोई पाप-कथा कही जाती है? यदि आचार्य द्विवेदीजी कहते हैं कि पं. पद्मसिंह शर्मा (अथवा कोई भी) पुराने ढंग के रसिक और साहित्य प्रेमी हैं तो इससे समस्त संस्कृत (पुराने) साहित्य पर कोई लांछन नहीं लगता, केवल उसकी एक परंपरा पर प्रकाश पड़ता है। संस्कृत में काव्य-समीक्षा (रीति-ग्रंथों) की जो परिपाटी हमें मिली है वह वाल्मीकि के समय में नहीं थी। वह संस्कृत साहित्य के पतन काल की वस्तु है और कितने ही कारणों के संयोग से एकांगी, परिमित और विकार युक्त भी हो गई है। आज अंग्रेजी से अपरिचित काशी के संस्कृत प्रेमी समाज में संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन की जो विधि प्रचलित है, उसे जान लेने से बड़ा लाभ होगा। सबसे मार्के की बात यह है कि साधारणतः कोई भी पिता अपने

पुत्र को अथवा कोई भी गुरु अपने शिष्य को बाल्यावस्था में 'काव्य' नहीं पढ़ाता। वय प्राप्त शिष्य ही 'काव्य' पढ़ते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि 'काव्य' का विषय कठिन समझा जाता है, कारण यह है कि काव्य पढ़ने से रसिकता आती है और लड़का बिगड़ सकता है। यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह कि संस्कृत के पुराने कैंडे के काव्य पारखी माघ के सामने कालिदास की कोई बिसात नहीं समझते अर्थात् उक्तिवैचित्र्य, अर्थ गौरव (एक-एक के तीन-तीन अर्थ) आदि के मुकाबले सरल, अकृत्रिम काव्य प्रवाह का मूल्य कम मानते हैं। घर के भीतर बैठकर 'काव्य शास्त्र विनोदेन' समय काटने वालों की यह प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं है और आश्चर्यजनक तो बिलकुल नहीं। तीसरी बात यह कि एक ही विषय के धुरंधर बनने की परिपाटी चल निकलना जिससे व्याकरण, साहित्य, तर्क, न्याय, धर्मशास्त्र आदि विषय अलग-अलग पिंजड़ों में पड़े पक्षियों की तरह जन्म भर अलग ही बने रहें, कभी एक-दूसरे से मिले नहीं। फल यह हुआ कि साहित्य जीवित न रह सका और साहित्य समीक्षा भी उसी के साथ सती हो गई।

आशा है, आचार्य द्विवेदीजी के उपर्युक्त अर्थगर्भित वाक्य को समझने में सहायता मिली होगी। पं. पद्मसिंह शर्मा ही नहीं, हिंदी के अनेक प्रसिद्ध विद्वान इसी पुराने ढंग के आदमी हैं और अंग्रेजी विश्वविद्यालयों में हिंदी की जो पढ़ाई पिछले कुछ वर्षों से प्रारंभ हुई है, उसमें भी इनका विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। अब तक इन्हीं की टीका-टिप्पणियां और इन्हीं के 'भाष्य' हिंदी के विद्यार्थियों को उपलब्ध हो रहे हैं। इनसे विद्यार्थियों की तृप्ति नहीं होती, उनके मानसिक विकास में बाधा ही पड़ती है। ऊंची से ऊंची कक्षाओं की परीक्षाएं भी इन्हीं में से होती हैं जिसका फल यह होता है कि बी.ए. तक अंग्रेजी साहित्य की साधारणतया अच्छी जानकारी हासिल कर लेने के बाद अच्छे ग्रेजुएट को एम.ए. में हिंदी लेने का जरा भी आकर्षण नहीं होता और यदि अपवादस्वरूप किसी को हुआ भी तो नायिका भेद और अलंकार भेद की नई दुनिया में दो वर्ष बिताकर जब वह भूलभुलैया से बाहर निकलता है तब अपने उन सहपाठियों को पहचान भी नहीं पाता जो दो वर्ष पहले उसके साथ-साथ थे। बी.ए. तक स्वतंत्र अध्ययन के बाद एम.ए. में रटंत विद्या का आश्रय लेना पड़े यह बिलकुल अप्राकृतिक है तथापि सत्य यह है कि अब तक इन परीक्षाओं में विशेष सफलता उन्हें ही मिली है जो रट कर काम चलाते हैं। जब अंग्रेजी का क्लिष्ट व्याकरण एंट्रेंस में ही खत्म कर दिया जाता है, और छंदशास्त्र भी एफ.ए. के बाद रटाया नहीं जाता तब हिंदी का पाठ्यक्रम यह है कि एम.ए. में इन्हीं में अधिकांश समय बिताया जाता है, पुराने ढंग के परीक्षक महाशय भी इन्हीं से विशेष दिलचस्पी रखते हैं और शायद इसके अतिरिक्त और कुछ जानते भी नहीं। पर बीसवीं शताब्दी के इस दूसरे चरण में ऊंचे दर्जे के विद्यार्थी को 'वीप्सालंकार' का एक उदाहरण घोटते देखना कितनी हंसी की अथवा कितनी लज्जा की बात है तथापि उसके बिना काम नहीं चलता। जो प्रतिभा साहित्य कला के ऊंचे से ऊंचे सिद्धांतों, ऐतिहासिक परिस्थितियों, कवि-जीवन की मासिक घटनाओं आदि के गंभीर अध्ययन में लगती, वह इस प्रकार खर्च हो रही है।

(सोमवार, 14 सितंबर 1931)

नंददुलारे वाजपेयी का जन्म 4 सितंबर 1906 को मगरायर में (जिला उन्नाव, उत्तर प्रदेश) हुआ था। हजारी बाग (बिहार) के मिशन हाई स्कूल से उन्होंने मैट्रिकुलेशन और वहीं के सेंट कोलंबस कॉलेज से इंटरमीडिएट की परीक्षा पास की। फिर काशी हिंदू विश्वविद्यालय से उन्होंने बी.ए. और एम.ए. किया।

वाजपेयी जी ने अपना साहित्यिक जीवन पत्रकार के रूप में आरंभ किया। 1 सितंबर 1930 से लेकर 10 नवंबर 1932 तक उन्होंने प्रयाग से प्रकाशित अर्धसाप्ताहिक पत्र *भारत* का संपादन किया। पत्रकारिता के इस अनुभव से उनकी भाषा में प्रखरता और तेजस्विता आई जो अंत तक बनी रही। इसी दौर में उनका आलोचक व्यक्तित्व निर्मित हुआ। उनकी सर्वश्रेष्ठ आलोचना-कृति *हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी* काफी हद तक भारत में प्रकाशित उनके साहित्यिक मूल्यांकनों पर आधारित है।

1933 से 1937 तक वाजपेयी जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के लिए *सूरसागर* का संपादन किया, फिर 1937 से 1939 तक गीता प्रेस, गोरखपुर में *रामचरितमानस* का संपादन। 1939 से 1941 तक वे प्रयाग में रहकर स्वतंत्र लेखन-कार्य करते रहे। जुलाई 1941 में उनकी नियुक्ति काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुई जहां वे फरवरी 1947 तक रहे। 1943 में उन्होंने काशी में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। मार्च 1947 से 30 सितंबर 1965 तक वे सागर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे। अप्रैल 1956 के 18वें अंक से लेकर अप्रैल 1959 के 26वें अंक तक उन्होंने प्रसिद्ध पत्रिका *आलोचना* का संपादन किया। अक्टूबर 1965 को वे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के कुलपति बने। इस पद पर वे अपनी मृत्यु-पर्यंत 21 अगस्त 1967 तक रहे।

नंददुलारे वाजपेयी शुक्लोत्तर समीक्षा को संचालित करने वाले प्रमुख आलोचक माने जाते हैं। रामचंद्र शुक्ल अपने युग की मुख्य काव्य-धारा 'छायावाद' को अपेक्षित सहानुभूति नहीं दे सके थे। अनेक पुराणपंथी लेखक भी छायावाद के खिलाफ थे। ऐसे समय वाजपेयी जी ने आगे बढ़कर छायावाद को प्रतिष्ठित करने में अग्रणी भूमिका निभाई। प्रसाद-निराला-पंत को उन्होंने 'हिंदी कवियों की वृहत्त्रयी' के रूप में स्थापित किया। रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद की, उनके जीवनकाल में ही उन्होंने तीखी आलोचना की और उनकी सीमाओं का निर्देश किया। आलोचना-प्रतिमानों के विकास में सामयिक जीवन-प्रवाह और समसामयिक रचनाशीलता की भूमिका पर इतना बल शायद ही किसी आलोचक ने दिया हो। सामयिक जीवन से विच्छिन्न होने के कारण ही उन्होंने रत्नाकर के काव्य को युग का 'अनिवार्य' काव्य नहीं माना। प्रसाद के नाटकों और उनके उपन्यास *कंकाल* के मूल्यांकन में उन्होंने सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचय दिया। आलोचक के रूप में यह उनका युगांतरकारी कार्य था— और इनमें से अधिकांश उपलब्धियां *भारत* के संपादन के दौर की हैं।

कृष्णदत्त शर्मा : जन्म (1942) कम्पिल, ज़िला फर्रुखाबाद (उ.प्र.) में। उच्च शिक्षा इलाहाबाद और दिल्ली में। 1971-83 हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) में सहायक निदेशक, फिर 1983-88 वहीं संयुक्त निदेशक। 1988 से हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन। अप्रैल 1996 से मार्च 1999 तक तोक्यो विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय (तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ़ फ़ारेन स्टडीज़), तोक्यो (जापान) में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर। लेखक के अन्य उल्लेखनीय प्रकाशन हैं : *ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत* (1994), *टी.एस. इलियट : रचना-संघर्ष और सामाजिक समीक्षा* (2003)। प्रकाशनाधीन : *वर्ड्सवर्थ और कोलरिज : आलोचना-सिद्धांत*।

आई.एस.बी.एन. : 978-81-7975-187-9 (सेट) मूल्य : 1500 रु. (दोनों खंड)



अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि.
4697/3, 21 ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002